एकादशोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मनो-योग

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्रजापति और देवता 'सविता' है (सु प्रसवैश्वर्ययोः)। यह ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **मनः**=मन को **युञ्जानः**=उस आत्मतत्त्व में लगाने की वृत्तिवाला बनता है। वस्तुतः मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का नाम ही योग है। इधर से उखाड़ना, उधर लगाना। २. इस योग के द्वारा यह **सविता**=ज्ञानैश्वर्य का साधक **धियः**=बुद्धियों को **तत्त्वाय**=(तनित्वा) विस्तृत करके उस प्रभु की ज्योति को देखता है। वह परमात्मा सब भूतों के अन्दर गूढ़ होते हुए भी दिखता नहीं। बुद्धि के द्वारा उस प्रभु का दर्शन तब होता है जब हम बुद्धि को तीव्र व सूक्ष्म करने का प्रयत्न करते हैं। **(एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः)**। ३. योगभ्यास के द्वारा सूक्ष्म हुई इस बुद्धि से **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ज्योतिः**=प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से उपलब्ध करके ही मनुष्य **पृथिव्या अध्याभरत्**=इन पार्थिव भोगों से अपने को ऊपर उठा पाता है। **'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** विषय-रस तो उस परम प्रभु के दर्शन पर ही निवृत्त होता है और वस्तुतः इस विषय-रस की निवृत्ति होने पर ही मनुष्य इस पार्थिव देह से ऊपर उठता है, अर्थात् बन्धन से ऊपर उठकर मोक्ष का भागी होता है। ४. यहाँ प्रसङ्गवश यह स्पष्ट है कि वे प्रभु 'प्रकाश' रूप हैं। एक योगी अन्दर-ही-अन्दर इस ज्योति के दर्शन करता है। यह योग ही इस ज्योति के दर्शन का साधन है। इसे अनिर्विण्ण चित्त से करते चलने में ही कल्याण है। दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदर से सेवित होने पर यह योग दृढ़भूमि होता है और हमें प्रभु से मिलाता है।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग का क्रम यह है—१. मन को आत्मतत्त्व में लगाना २. योग द्वारा बुद्धि का तनूकरण, बुद्धि को तीव्र बनाना ३. प्रभु के प्रकाश को देखना ४. विषय-रस निवर्तन तथा ५. मोक्ष।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—शुङ्कुमतीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

कर्मयोग

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥२॥

१. पिछले मन्त्र में मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का प्रतिपादन था। यही 'योग' कहलाता है। 'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा' इस योग को अनिर्विण्ण चित्त से सदा करते ही रहना चाहिए। इस योग के द्वारा **युक्तेन**=एकाग्र हुए **मनसा**=मन से **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार **शक्त्या**=यथाशक्ति **स्वर्ग्याय**=स्वर्गसाधक कार्यों

के लिए प्रयत्न करें। २. योग के अभ्यास से हमने मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस स्थिरता को नष्ट न होने देने के लिए आवश्यक है कि हम इसे किन्हीं उपयुक्त कर्मों में लगाये रक्खें अन्यथा यह फिर विषयोन्मुख हो हमें निरन्तर भटकानेवाला हो जाएगा। मन की दिशा को ही बदला जा सकता है, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका वेग उत्तम कर्मों की दिशा में हो जाने पर यह सदा उन्हीं में लगा रहेगा और हमारे जीवन को स्वर्गतुल्य बना देगा। ३. उत्तम कर्म वे ही हैं जिनकी प्रेरणा प्रभु से दी गई है। वस्तुत: धर्म की अन्तिम कसौटी ही यह है कि जो हमारी आत्मा को, अर्थात् अन्त:स्थित प्रभु को प्रिय लगे, अत: मन को वश में करके हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत किये रहें। यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है। यही सच्चा कर्मयोग है। ४. अकर्मण्य पुरुष का मन फिर पापों में जाने लगता है, अत: उसे उत्तम कर्मों में ही लगाये रखना है।

भावार्थ—१. मन को युक्त करें २. प्रभु से आदिष्ट कर्मों में उसे यथाशक्ति लगाये रक्खें ३. यही स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—सविता। **छन्द:**—निचृदनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

इन्द्रिय-संयम

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योति: करिष्यत: सविता प्रसुवाति तान्॥३॥

गत मन्त्र का **सविता**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी 'स्वर्ग्याय शक्त्या' शक्ति के अनुसार स्वर्ग-साधक कर्मों को करनेवाला है। यह **स्वर् यत:**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से स्वर्ग की ओर जानेवाली **देवान्**=इन इन्द्रियों को **युक्त्वाय**= मनो-निरोध के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर लगाकर **धिया**=बुद्धि व प्रज्ञानों से **दिवम्**=प्रकाशमय **बृहत्**=वृद्धि की कारणभूत **ज्योति:**=ज्ञान की ज्योति परमात्मा को **करिष्यत:**=आत्मीय करता है। इस प्रकार **सविता**=यह आत्म-प्रेरणा देनेवाला योगी **तान् देवान्**=उन प्रकाशक इन्द्रियों को **प्रसुवाति**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

संक्षेप में, १. सविता—इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी इन्द्रियों को बहिमुर्खता से हटाकर अन्तर्मुखता की ओर ले-चलता है—यही इन्द्रियों का युक्त करना है २. यज्ञादि कर्मों से यह उन्हें स्वर्ग की ओर जानेवाला बनाता है ३. बुद्धि के द्वारा उस 'प्रकाशमय बृहत् ज्योति:' अर्थात् परमात्मा को अपनानेवाला होता है। ४. यह इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा देता रहता है। 'हे आँख! तूने भद्र ही देखना है। हे कान! तूने भद्र ही सुनना है।' इस प्रकार यह इन्द्रियों को सचमुच 'देव' बना डालता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम-यज्ञ को करते हुए हम स्वर्ग साधक-कर्मों को ही करें। ज्ञान प्राप्त करें। परमात्म-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों। इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा दें।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—सविता। **छन्द:**—जगती। **स्वर:**—निषाद:॥

ईश-ध्यान

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित:।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितु: परिष्टुति:॥४॥

१. **विप्राः**=विशेषरूप से ज्ञान द्वारा अपना पूरण करनेवाले **होत्राः**=सदा यज्ञ करके खानेवाले ज्ञानी लोग **मनः युञ्जते**=मन को उस परमात्मा में लगाते हैं। २. **उत**=और **विप्रस्य**=ज्ञानी **बृहतः**=सदा वर्धमान **विपश्चितः**=सर्वद्रष्टा उस प्रभु के **धियः**=प्रज्ञानों को **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। ३. वह **एकः इत्**=एक ही **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला है और **विदधे**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। ४. उस **सवितुः देवस्य**=प्रेरक देव की **परिष्टुतिः**=वेदों में सब ओर सुनाई पड़नेवाली स्तुति **मही**=महान् है। ५. जब हम अपने मन को विषयों से हटाकर उसे आत्मतत्त्व के दर्शन में लगाने का प्रयत्न करते हैं तब उस महान् ज्ञानी प्रभु की ज्ञानवाणियों को अपने साथ जोड़नेवाले बनते हैं। उन वाणियों द्वारा हम जान पाते हैं कि उस प्रभु ने ही सारे लोक-लोकान्तरों को बनाया है और उस प्रभु की स्तुति महान् है।

भावार्थ—हम अपने मनों को प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें और उसकी बनाई इस सृष्टि में उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वाणी का श्रावण

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को **नमोभिः**=नमन के द्वारा **पूर्व्यम्**=सृष्टि से पहले होनेवाले (अग्रे समवर्त्तत) **ब्रह्म**=प्रभु से **युजे**=सङ्गत करता हूँ। प्रातः-सायं नमस् की उक्तियों के द्वारा तुम प्रभु के समीप पहुँचते हो। २. इस प्रकार समीप पहुँचने पर **सूरेः**=उस उत्तम प्रेरणा देनेवाले ज्ञानी प्रभु की **श्लोकः**=छन्दोरूप वाणियाँ **पथ्या इव**=पथ-प्रदर्शिका के रूप में **विएतु**=तुम्हें विशिष्टरूप से प्राप्त हों। इन वाणियों में हम 'जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाना'—इस बात का विविध रूपों में उपदेश पाते हैं। ३. **विश्वे**=सब **अमृतस्य पुत्राः**=उस अमृत प्रभु के पुत्र, अर्थात् उस अमृत पिता की भाँति ही विषयों के पीछे न मरनेवाले योगिजन **शृण्वन्तु**=इन वाणियों को सुनें। ये वाणियाँ विषयासक्त पुरुषों को सुनाई नहीं पड़तीं। इन्हें तो वही सुनते हैं **ये**=जो **दिव्यानि धामानि**=प्रकाशमय तेजों के **आतस्थुः**=अधिष्ठाता बनते हैं। विषय-व्यावृत्त होकर यदि हम नम्रता से उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं तो उस प्रभु की प्रकाशमयी वाणियों को सुन पाते हैं। यह विषय-व्यावृत्ति हमें दिव्य तेजों का अधिष्ठाता बनाती है।

भावार्थ—हम विषय-व्यावृत्त होकर उस अमृत पिता के अमृत पुत्र बनें, और उस पिता की प्रकाशमयी वाणियों को सुनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु-स्तुति

यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजांꣳसि देवः सविता महित्वना॥६॥

१. **यस्य देवस्य**=जिस देव के **प्रयाणम् अनु**=प्रयाण के निर्देशानुसार **अन्ये देवाः**=अन्य सब देव **इत्**=निश्चय से **ययुः**=चलते हैं। प्रभु ने इन देवों का जो भी मार्ग निश्चित

किया है उसी मार्ग पर ये सब निरन्तर चल रहे हैं। २. **यस्य ओजसा**=जिस देव के ओज से **अन्ये देवा:**=दूसरे सब देव **महिमानम्**=महिमा को **ययु:**=प्राप्त होते हैं। **'प्रभास्मि शशिसूर्ययो:'** इत्यादि वाक्यों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा आदि को उस प्रभु से ही प्रभा प्राप्त हुई है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=उसी की चमक से सब पदार्थ चमक रहे हैं। जहाँ कहीं भी विभूति, श्री व ऊर्ज् है यह सब उस महान् देव का ही अंश है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**=देवों को देवत्व प्रभु से ही प्राप्त हुआ है। ३. **य: सविता देव:**=जो सबका उत्पादक देव **महित्वना**=अपनी महिमा से **पार्थिवानि रजांसि**=इन सब पार्थिव लोकों को **विममे**=विशेष माप से बनाता है। ४. **स:**=वही देव **एतश:**=(एतानि शेते) इन सब लोकों में निवास कर रहा है। उसके निवास से ही सब लोकों का धारण हो रहा है। सूर्यादि में प्रभु का निवास न हो तो वे एक बुझे कोयले की भाँति ही लगेंगे।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रशासन में ही सब देव गति कर रहे हैं। २. उसके ओज से ही ये महिमावाले हो रहे हैं। ३. वही इन सबका निर्माण करते हैं। ४. वही इनका धारण करनेवाले हैं।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—सविता। **छन्द:**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

प्रभु-भक्त के लक्षण (ज्ञान+माधुर्य)

देव सवित: प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्व: केतपू: केतन्न: पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न: स्वदतु॥७॥

१. हे **देव सवित:**=दिव्यताओं के पुञ्ज, सबके प्रेरक प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=आप हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम यज्ञशील हों। २. **यज्ञपतिम्**=मुझ यज्ञपति को, यज्ञों की निरन्तर रक्षा करनेवाले को, यज्ञशील को **भगाय प्रसुव**=ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। यज्ञमय जीवनवाला मैं यज्ञिय उपायों से ही सेवनीय धन का लाभ करूँ। ३. वह **दिव्य:**=प्रकाशमयरूप में स्थित होनेवाला **गन्धर्व:** =वेदवाणी का धारण करनेवाला **केतपू:**=ज्ञान को पवित्र करनेवाला प्रभु **न:**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। उस प्रभु की कृपा से हमारी ज्ञानाग्नि पवित्र पदार्थों के ज्ञान से ही दीप्त हो। हम अपने मस्तिष्क में कूड़ा-करकट ही न भरते चलें। ४. और **वाचस्पति:**=वाणी का पति प्रभु **न: वाचम्**=हमारी वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बना दे। हमारी वाणी में माधुर्य हो।

भावार्थ—१. हमारा जीवन यज्ञमय हो। २. यज्ञिय उपायों से ही हम सेवनीय धन को प्राप्त करें। ३. हमारा ज्ञान पवित्र व उज्ज्वल हो। ४. वाणी मधुर हो। संक्षेप में यज्ञ का परिणाम भग—धन है, ज्ञान का परिणाम माधुर्य। यज्ञ से हम भग को प्राप्त करें, ज्ञान से माधुर्य को। यही प्रभु-भक्त के लक्षण हैं। प्रभु-भक्त के अन्दर ज्ञानाग्नि दीप्त हो रही होती है तो उसके बाह्य व्यवहार में मधुर, शान्त-वचनों का जल बहता है।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—सविता। **छन्द:**—भुरिक्शक्वरी। **स्वर:**—धैवत:॥

विज्ञान+स्तुति

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳसखिविदꣳसत्राजितं धनजितꣳस्वर्जितम्।
ऋचा स्तोमꣳसमर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥८॥

१. हे **देव सविता**=प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **न:**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ

को **प्रणय**=आगे बढ़ाइए। (क) **देवाव्यम्**=जो यज्ञ वायु आदि सब देवों को (अवति=प्रीणयति) प्रीणित करनेवाला है। (ख) **सखिविदं**=जो यज्ञ हमें अपने सखा (परमात्मा) को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाला है। (ग) **सत्राजितम्**=जो सत्य का विजय करनेवाला है। (घ) **धनजितम्**=धन को जितानेवाला है। (ङ) **स्वर्जितम्**=सुख व स्वर्ग को जितानेवाला है। २. एवं, हमारे जीवन में उस यज्ञ का स्थान हो जो यज्ञ इहलोक व परलोक—दोनों का कल्याण सिद्ध करता है। वायु आदि सब देवों का शोधक होने से यह '**देवाव्य**' है, परमात्मा को प्राप्त करानेवाला है, जीवन को सत्यमय बनाता है। ३. हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **ऋचा**=विज्ञान से **स्तोमम्**=स्तुति को **समर्धय**=समृद्ध कीजिए। '**ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते**'=ज्ञान हमारे ध्यान में विशेषता उत्पन्न करनेवाला हो। पदार्थों के विज्ञान से हमें कण-कण में उस प्रभु की महिमा दिखे। उदाहरणार्थ—उड़द वातनाशक हैं, उड़द की दाल वातकारक है। प्रभु ने उड़द के दो दलों में एक पतली सींक-सी रक्खी है जो वातनाशक है। दाल बनाने पर वह छिटकी जाकर अलग हो जाती है, अतः उसका वातनाशक तत्त्व नष्ट हो जाता है। ४. **गायत्रेण**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-तत्त्व की रक्षा से **रथन्तरम्** =(ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरं—तै० २।७।१।१)। हमारे ब्रह्मवर्चस् को **समर्धय**=बढ़ाइए। हमारा शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न हो तो हमारा मस्तिष्क ज्ञान की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो। ५. हमारा **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत स्तोम **गायत्र-वर्त्तनि**=प्राण के मार्गवाला हो, अर्थात् हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों और उस स्तुति के करनेवाले हों जो हमारी वृद्धि का कारण बनती है। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ हो। विज्ञान के साथ स्तुति हो। प्राणशक्ति के साथ ब्रह्मवर्चस् हो। प्राणशक्ति की वृद्धि के साथ हमारे जीवन में वह स्तुति हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'गायत्र-त्रैष्टुभ' छन्द

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं
पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए मैं **त्वा**=तुझे अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=सर्वोत्पादक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतिमात्रा न अ-मात्रा में, अपितु यथोचित मात्रा में। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् बिना श्रम के मैं किसी वस्तु को लेना पाप समझता हूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्** =पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार करता हूँ। वस्तुओं के ग्रहण में 'उपयोगिता' न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' मेरा मापक है, इसीलिए तो भोगों का शिकार नहीं होता। ४. **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, त्र रक्षण) प्राण-रक्षण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति मैं इस संसार में चलता हूँ। जो व्यक्ति इन भौतिक वस्तुओं की कामना 'प्राणरक्षण की उपयोगिता' के विचार से करता है वह '**अङ्गिरस्**'=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् सदा लोच और लचक से युक्त अङ्गोंवाला बना रहता है—उसका शरीर

सूखे काठ की तरह नहीं हो जाता। प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **सधस्थात्**=(सहस्थानात्) मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(**यः सुखं पृणाति स पुरीषः तत्र साधुम्**–द०) जीवन को सुखी बनानेवाले **अग्निम्**=अग्नि को **आभर**=तू हव्यद्रव्यों से आभृत कर **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरा की भाँति तू नियमितरूप से अग्निहोत्र करनेवाला बन। अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति नीरोग बनकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। उसके शरीर के सब अङ्ग नीरोगता के कारण रसमय बने रहते हैं। ५. **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=अब तू 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति बनने का प्रयत्न कर। ६. अङ्गिरा बनने के लिए 'गायत्र' व त्रैष्टुभ' छन्द साधन रूप हैं। प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल कामना हममें हो तथा काम-क्रोध-लोभ को रोकने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

भावार्थ–मैं संसार में प्रभु की अनुज्ञा के अनुसार, यत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं का ग्रहण करूँ। 'प्राणशक्ति की रक्षा व काम-क्रोध-लोभ के वेग को रोकना' मेरे जीवन का ध्येय हो। मैं 'अङ्गिरस' बनूँ। अङ्गिरस् की भाँति अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ।

ऋषिः–प्रजापतिः। **देवता**–सविता। **छन्दः**–भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

'जागत' छन्द

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳसधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥१०॥

१. श० ६।४।१।५ में 'वाग्वा अभ्रिः' (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) इन शब्दों में वेदवाणी को 'अभ्रि' कहा है। इस वेदवाणी के द्वारा हमारे सब मल दूर होते हैं, अतः **अभ्रिः असि**=तू अभ्रि है। इन ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन पवित्र होता है। २. **नारी असि**=जीवन को पवित्र करके तू नरहित को सिद्ध करनेवाली है। ३. **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **खनितुं शकेम**=खोदने में समर्थ हों। **खन्**=excavate, cave में से–गुहा में से–बाहर ला सकें। वे प्रभु 'गुहाहितं'-गह्वरेष्ठम्' हैं। हम एक-एक कोश को अलग करते हुए उस प्रभु तक पहुँच सकें। ४. **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना से **सधस्थे**=मिलकर एक स्थान पर बैठने की इस जगह पर, अर्थात् यज्ञवेदी पर **आ**=एकत्र होकर हम **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनें। यह अग्निहोत्र, वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा नीरोगता को उत्पन्न करके लोकहित का साधक होता है।

भावार्थ–हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। उस कार्य में यह वेदवाणी हमारी सहायिका होगी। यह हमारे सब मलों को दूर करती है। शुद्ध हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। लोकहित के दृष्टिकोण से हम अग्निहोत्र को अपनाएँ। यह वायु-शुद्धि द्वारा नीरोगता को उत्पन्न कर जगती का कल्याण करता है।

ऋषिः–प्रजापतिः। **देवता**–सविता। **छन्दः**–भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**–पञ्चमः॥

'आनुष्टुभ' छन्द

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिꣳहिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥११॥

१. **सविता**=अपने में ज्ञानैश्वर्य उत्पन्न करनेवाला 'सविता' गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी

को **हस्ते आधाय**=हाथ में धारण करके, (on the tip of his fingers), अर्थात् वेद-ज्ञान को आत्मसात् (assimilate) करके इस **हिरण्ययीम्**=ज्योतिर्मयी-ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण **अभ्रिम्**=मलों के दूर करनेवाली (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) वेदवाणी को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **अग्नेः ज्योतिः**=उस अग्रेणी प्रभु के प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से प्राप्त करके **पृथिव्याः अधि आभरत्**=अपने को पृथिवी से ऊपर उठाता है, अर्थात् सविता (क) वेदवाणी को अपनाता है। (ख) उसके ज्योतिर्मय ज्ञान को धारण करता है। (ग) प्रभु के प्रकाश को देखता है। (घ) और परिणामतः उस प्रभु-दर्शन के सुख की तुलना में उसके लिए सब पार्थिव भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। २. अब यह **आनुष्टुभेन**=अनुक्षण उस प्रभु के स्तवन की **छन्दसा**=इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन जाता है। वस्तुतः जिस व्यक्ति का जीवन सतत प्रभु स्मरणवाला हो जाता है उसका जीवन कभी भी इन प्राकृतिक विषयों से बद्ध नहीं होता, वह कभी भी भोगों का शिकार नहीं होता। परिणामतः उसके जीवन में उसके अङ्ग कभी नीरस नहीं होते।

भावार्थ—हम वेदवाणी का स्मरण करें। उसकी ज्ञान-ज्योति को देखें। प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। प्रतिक्षण प्रभु-स्मरण से जीवन को सरस बनाएँ।

सूचना—मन्त्र ९ से ११ तक क्रमशः 'गायत्र, त्रैष्टुभ, जागत व आनुष्टुभ' छन्दों का उल्लेख है। सामान्यतः ब्रह्मचारी को 'गायत्र' छन्दवाला होना है, वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणशक्ति का उचित पोषण करना उसका कर्त्तव्य है। गृहस्थ में प्रवेश करते समय 'त्रैष्टुभ' छन्द का पोषण करना है कि मुझे 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकना है। वनस्थ होकर उसका छन्द 'जागत' हो गया है—जगती के हित के लिए वह अपने को साधना में चला रहा है और अन्त में संन्यस्त होकर वह आनुष्टुभ छन्दवाला हुआ है, यह अनुक्षण प्रभु का स्मरण करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण कर रहा है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सर्वोत्तम संविभाग

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥१२॥

१. गत मन्त्र का आनुष्टुभ छन्द को अपनानेवाला, निरन्तर प्रभु-स्मरण करनेवाला 'सविता' सदा प्रभु के समीप रहने से 'नाभानेदिष्ठ' बना है—केन्द्र के समीप रहनेवाला। प्रभु संसार की नाभि-केन्द्र हैं, यह सदा प्रभु का उपासक रहता है। प्रभु की शक्ति से यह शक्ति-सम्पन्न बनता है और वाज=शक्तिवाला होने से 'वाजिन्' शब्द से यहाँ सम्बोधित हुआ है। हे **वाजिन्**=शक्तिशालीन् उपासक! **प्रतूर्तम्**=शीघ्रता से, आलस्य-शून्यता से **आद्रव**=समन्तात् गतिवाला हो—अपने सब कर्त्तव्यों को करनेवाला बन। २. तू अपने कर्त्तव्यों को **वरिष्ठां संवतं अनु (सम् वन् क्विप्)**=उत्कृष्ट सम्भजन-संविभाग के अनुसार करनेवाला हो। तू किसी एक ही कर्त्तव्य में न उलझ जा। यह उत्कृष्ट सम्भजन व संविभाग यह है कि—३. (क) **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में **ते**=तेरा **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास हो, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक ले-जाने का प्रयत्न कर। ज्ञान-प्राप्ति में तू सन्तोष करके कभी बैठ न जा। (ख) **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **तव**=तेरा **नाभिः**=बन्धन हो (नह बन्धने)। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है—तू अपने मन को हृदय में स्थिर

करने का प्रयत्न कर। अथवा **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **तव**=तेरा **नाभिः** =बन्धन हो, अर्थात् तू सदा मध्यमार्ग में चलनेवाला बन। (ग) **इत्**=निश्चय से **योनिः**=तेरा घर **पृथिव्याम् अधि**=पृथिवी के ऊपर हो, तू अपने इस पार्थिव शरीर के अन्दर ही रहनेवाला हो—'स्वस्थ' हो। अथवा निश्चय से तेरा यह स्वस्थ शरीर तेरी सब उन्नतियों का कारण बने। 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी पुरुषार्थों का मूल यह आरोग्य ही तो है। एवं, तू ज्ञान से अपने मस्तिष्क को उज्ज्वल बना, सदा मध्यमार्ग पर चलते हुए अपने मन को वासनाओं से बचा और आरोग्य को सब उन्नतियों का मूल जानते हुए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील हो। इस प्रकार तेरा प्रयत्न मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों के लिए संविभक्त हो। ४. एवं, नाभानेदिष्ठ अपने प्रयत्न को उचित संविभागपूर्वक विनियुक्त करता हुआ अपने उपास्य प्रभु की भाँति ही त्रि-विक्रम बनता है। उसका पुरुषार्थ शरीर, मन व बुद्धि तीनों के लिए होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का केन्द्र प्रभु हों। उस केन्द्र से ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य की रश्मियों का प्रसार हो।

ऋषिः—कुश्रिः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

रासभ-योग

युञ्जाथा॒ꣳरास॑भं युवम॒स्मिन् यामे॑ वृषण्वसू। अ॒ग्निं भर॑न्तमस्म॒युम्॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो पति-पत्नी प्रभु को अपने जीवन का केन्द्र बनाते हैं वे **वृषण्वसू**=शक्तिशाली अथवा सुखों के वर्षक प्रभुरूप धनवाले होते हैं। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि—२. **युवम्**=तुम दोनों **अस्मिन् यामे**=इस जीवन-मार्ग में **रासभम्**=(रास् शब्दे) हृदयस्थ होकर सदा ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु को **युञ्जाथाम्**=अपने साथ युक्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारा मन उस प्रभु में लगे और तुम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिए यत्नशील होओ। ३. वे प्रभु **अग्निं भरन्तम्**=हमारे अन्दर अग्नि का भरण करनेवाले हैं—हमारे जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हैं और **अस्मयुम्=(अस्मान् कामयमानम्**—उ० **)** सदा हमारा हित चाहनेवाले हैं, अतः प्रभु की वाणी को सुनने से अवश्य हमारा भला ही होगा और हमें जीवन में कभी निराशा न होगी। हम सदा सोत्साह बने रहेंगे। ३ वे प्रभु प्रस्तुत मन्त्र में 'रासभ' कहे गये हैं—वे (रास् शब्दे) हृदयस्थरूपेण सब विद्याओं का उपदेश देते रहते हैं। इन विद्याओं का उपदेश देने से ही वे '**कु**' (**कौति सर्वा विद्याः**) कवि हैं। उनकी (श्रि सेवायाम्) उपासना करने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कु-श्रि' है। यह इस '**कु**'=कवि की काव्यमय वाणियों में उत्साह व हित देखता है। उसी का उपासन, मनन करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को अपने से युक्त करके चलें। उस प्रभु की वाणियाँ हमारे जीवन में अग्नि=उष्णता व उत्साह का सञ्चार करेंगी।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

तवस्तर

योगे॑योगे त॒वस्त॑रं॒ वाजे॑वाजे हवामहे। सखा॑य॒ऽइन्द्र॑मू॒तये॑॥१४॥

१. गत मन्त्र में अपने जीवन-मार्ग में प्रभु को युक्त करने का उपदेश था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **योगेयोगे**=जब-जब हम प्रभु से अपना योग करते हैं तब वे प्रभु **तवस्तरम्**=(तवस्=बल) हमारे बल को अधिक और अधिक बढ़ाते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु

से मेल करनेवाले पति-पत्नी को **'वृषणवसू'** कहा था—शक्तिशाली, प्रभुरूप धनवाले। प्रभु को अपना धन बनाकर वे वाजी=शक्तिशाली बने थे। उस १३वें मन्त्र का विषय (देवता) यह 'वाजी' ही था। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **'शुनःशेप'**=सुख का निर्माण करनेवाला है। शक्तिशाली का ही जीवन सुखी होता है। यह 'शुनःशेप' भी प्रभु के योग के कारण 'क्षत्रपति' है, बल का स्वामी है। यही प्रस्तुत मन्त्र का देवता=विषय है। २. **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः उस प्रभु ने ही विजय करानी है। हमारी शक्ति विजय करने की नहीं। हमारा रथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो विजयी होता है अन्यथा इसके लिए पराजय-ही-पराजय है। ३. **सखायः**=अतः हम उस प्रभु के सखा बनने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वे प्रभु हमारे **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**=सयुज् सखा हैं—कभी साथ न छोड़नेवाले मित्र हैं। ४. **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए हम अपने साथ युक्त करते हैं। प्रभु से युक्त होने पर इस प्रभु के नाम-श्रवण से ही शत्रुओं के सेनापति काम का संहार हो जाता है। सब शत्रुओं का विजय करके हम अपने जीवन को बड़ा सुखी बना पाते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है। शत्रुओं के साथ संग्राम में हमें विजयी करती है। हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—गणपतिः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

गणपतित्व

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥१५॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार प्रत्येक संग्राम के अवसर पर प्रभु को पुकारते हुए **अशस्तीः**=सब अशुभ-अशंसनीय बातों को **अवक्रामन्** (क्रमु पादविक्षेपे)=पाँवो तले कुचलते हुए **प्रतूर्वन्**=आसुरवृत्तियों को प्रकर्षेण हिंसित करते हुए **एहि**=तू गति कर। मनुष्य के लिए यही उचित है कि अशुभ कर्मों को कुचल डाले। २. इस प्रकार करता हुआ **मयोभूः**=कल्याण का भावन करनेवाला तू **रुद्रस्य**=(रुत्+र) ज्ञान का उपदेश देनेवाले रुद्र के **गाणपत्यम्**=गणपतित्व को **एहि**=प्राप्त हो। जो भी व्यक्ति अशुभ बातों को अपने जीवन में नहीं आने देते और परिणामतः कल्याण का भावन करते हैं वे प्रभु के गण कहलाते हैं, इस गण के मुख्य स्थान में होना ही 'गाणपत्य' की प्राप्ति है। ३. इस गाणपत्य से प्रभु कहते हैं कि **उरु अन्तरिक्षं वीहि**=तू विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त कर। तेरा हृदय विशाल हो। तू संकुचित हृदय न बन। ४. **स्वस्तिगव्यूतिः**=कल्याण के मार्गवाला हो (गव्यूतिः=मार्गः)। तू कभी अशुभ मार्ग पर चलनेवाला न हो। तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों की चरागाह कल्याण-ही-कल्याण को देनेवाली हो। तेरी इन्द्रियाँ अशुभ मार्ग पर जानेवाली न हों। ५. अशुभ मार्ग पर न जाकर **अभयानि कृण्वन्**=तू अपने जीवन को निर्भय बनानेवाला हो। पाप में ही तो भय है। न पाप हो, न भय हो। ६. **सयुजा पूष्णा सह**=तू सदा अपने साथ रहनेवाले मित्र और पोषण करनेवाले प्रभु के साथ रहनेवाला बन। प्रभु के साथ रहना ही निर्भयता का मार्ग है।

भावार्थ—हम अशुभ का विनाश करें। उस रुद्र के गण के पति बनें। विशाल हृदयवाले, शुभ-मार्गवाले, निर्भय तथा सदा प्रभु के सयुज् सखा बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्नि=अग्निहोत्र की ओर

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः॥१६॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूष्णा सयुजा सह' इन शब्दों में सदा प्रभु के उपासन का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्निहोत्र' का प्रतिपादन करते हैं। 'शुनःशेप' के लिए—जीवन को सुखी बनाने की इच्छावाले के लिए—'सन्ध्या व अग्निहोत्र' दोनों ही आवश्यक हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः सधस्थात्**=पृथिवी के इस सधस्थ से—मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(पुरीषम्=उदकं तत्र साधुः) वृष्टिरूप जल को देने में उत्तम अथवा (पृणाति सुखं, तत्र साधुः) नीरोगता के द्वारा सुख देनवालों में उत्तम **अग्निम्**=इस यज्ञ की अग्नि को **आभर**=धारण कर। घर का सबसे पहला कमरा 'हविर्धानम्'=अग्निहोत्र के लिए ही तो बनाना है। उस कमरे में अग्निहोत्र के समय घर के सभी व्यक्ति मिलकर बैठें। यह स्थान 'सधस्थ' समझा जाए। ३. प्रभु की इस वाणी को सुनकर 'शुनःशेप' कहता है कि हम **पुरीष्यम्**=सुखों का पूरण करनेवाली, वृष्टिजल की कारणभूत **अग्निं अच्छ**=अग्नि की ओर **इमः**=आते हैं, उसी प्रकार '**अङ्गिरस्वत्**' जैसेकि अङ्गिरस् लोग जाते हैं। इस अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले लोग नीरोग और अतएव अङ्गिरस् बनते हैं। इनके अङ्ग सदा जीवन-रस से परिपूर्ण बने रहते हैं। ४. शुनःशेप का निश्चय है कि हम **अङ्गिरस्वत्**=इन अङ्गिरस् लोगों की भाँति **पुरीष्यं अग्निम्**=सुखों की पूरक इस अग्नि को **भरिष्यामः**=भविष्य में भी सदा अग्निकुण्ड में धारण करनेवाले बनेंगे। ५. **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।३ **'प्रातःप्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।४। अर्थात् प्रत्येक सायंकाल प्रबुद्ध किया हुआ हमारे घरों का रक्षक यह अग्नि प्रातः तक शुभ चित्त का देनेवाला होता है और प्रत्येक प्रातःकाल प्रबुद्ध किया हुआ यह गृहपति अग्नि सायं तक शुभ चित्तवृत्ति का देनेवाला होता है। एवं, यह अग्निहोत्र सचमुच हमारे जीवन को सुखी बनाता है और हम शुनःशेप बनते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र को सदा अपने घरों का पति बनाएँगे, जिससे हमारी मनोवृत्तियाँ शुभ बनी रहें और हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—पुरोधाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'पुरोधाः' का दैनिक कार्यक्रम

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ॥१७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरोधाः' है, जो औरों से पहले अपना धारण करता है। 'यह अपने को अग्रभाग में कैसे स्थापित कर पाया है', इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देते हैं कि १. यह **अग्निः**=निरन्तर अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला व्यक्ति **उषसाम् अग्रम् अनु**=उषा के अग्रभागों के साथ-साथ, अर्थात् प्रत्येक उषाकाल के प्रारम्भ में **अख्यत्**=उस प्रभु के गुणों का प्रकथन करता है। (ख्या प्रकथने)। इसका दैनिक कार्यक्रम प्रभु-गुण स्मरण से प्रारम्भ होता है। २. **अहानि अनु**=प्रत्येक दिन के साथ, अर्थात् प्रतिदिन यह **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, शक्ति-विस्तार के लिए

यह प्रतिदिन के व्यायाम आदि को नियम से करता है। ३. **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नैत्यिक स्वाध्याय से यह अपने ज्ञान को बढ़ाता चलता है। एवं, प्रभु-स्तवन, व्यायामादि व स्वाध्याय तो यह सूर्योदय से पहले ही कर लेता है **च**=और ४. **सूर्यस्य रश्मीन् अनु**=सूर्य की रश्मियों के ख़ूब फैलने के साथ **पुरुत्रा**=यह बहुत ही स्थानों पर जाता है। जीविकोपार्जन के लिए यह विविध स्थानों पर आता-जाता है, परन्तु यह ध्यान रखता कि कहीं इसके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो जाए। ५. जीविकोपार्जन के अपने प्रयत्नों को यह **आततन्थ**=विस्तृत तो करता है, परन्तु **द्यावापृथिवी अनु**=अपने मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए। इनके स्वास्थ्य के साथ-साथ यह धनार्जन करने का विचार करता है। कार्य को इतना नहीं फैला देता कि उसके न सँभलने से वह इसकी सिरदर्दी का ही कारण बन जाए।

भावार्थ—१. उषा के प्रारम्भ से पहले ही उठकर यह प्रभु-कीर्तन करता है। २. उचित व्यायाम करता है। ३. प्रभु के बनाये पदार्थों की रचना का ज्ञान प्राप्त करता है जिससे इनमें प्रभु की महिमा को देखे और इन पदार्थों का ठीक प्रयोग कर सके। ४. अब आजीविका के लिए कर्म में लगता है। ५. कार्य को इतना नहीं फैला लेता कि यह उसके मस्तिष्क की चिन्ताओं का कारण बन जाए और शरीर को दूषित कर दे।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'मयोभू' के तीन कार्य

आगत्य वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार दैनिक कार्यक्रम को चलानेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है। यह **वाजी**=शक्तिशाली व्यक्ति **अध्वानम् आगत्य**=मार्ग पर आकर २. **सर्वाः मृधः**=सब हिंसकों को, कार्य के विघ्नों को **विधूनुते**=कम्पित करके दूर कर देता है। संक्षेप में, यह मार्ग पर चलता है, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यह मार्ग में आये विघ्नों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। इसके जीवन में कभी निराशा व निरुत्साह नहीं आ जाते। ३. मार्ग पर चलता हुआ तथा आये हुए विघ्नों को दूर करके आगे बढ़ता हुआ यह **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **महति सधस्थे**=महनीय—जीवात्मा और परमात्मा के साथ ठहरने के उत्तम स्थान में, अर्थात् हृदयाकाश में **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त चक्षु के द्वारा, अन्तर्मुखदृष्टि के द्वारा **निचिकीषते**=(पश्यति—उ०) देखता है, अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को कभी भूलता नहीं। प्रतिदिन प्रातःसायं अन्तर्दृष्टि होकर हृदयरूप गुहा में विचरनेवाले अपने मित्र प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाला तीन बातें करता है—१. सन्मार्ग पर चलता है। २. विघ्नों को दूर करता है। ३. अन्तर्मुख होकर हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करता है।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-अन्वेषण (Seeking after God)

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥१९॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **पृथिवीम् आक्रम्य**=इस पृथिवी पर आक्रमण करते हुए, अर्थात् सफलतापूर्वक संसार-यात्रा को चलाते हुए **त्वम्**=तू **रुचा**=दीप्ति के हेतु से **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **इच्छ**=चाह, उसका अन्वेषण कर। जीव शक्तिशाली बने। शक्तिशाली बनकर गत मन्त्र के अनुसार सन्मार्ग पर चले, विघ्नों को दूर करे और इस प्रकार सफलता से इस पार्थिव संसार में जीवन-यात्रा को चलाते हुए प्रभु की खोज की वृत्तिवाला बने (seeker after God)। ऐसा बनने से जीवन दीप्त हो उठता है। पृथिवी पर सफलता से आक्रमण का अभिप्राय स्वर्ग की प्राप्ति है तो 'प्रभु के अन्वेषण की इच्छा' उस सोने पर सुहागे का काम करती है। यह स्वर्ण चमक उठता है। २. **भूम्याः**=भूमि से अर्थात् इन पार्थिव भोगों में फँस जाने की अपेक्षा **वृत्वाय**=प्रभु का वरण करके **नः ब्रूहि**=तू हमारे प्रति भी उस प्रभु का प्रवचन कर **यतः**=जिससे **वयम्**=हम भी **तम्**=उस प्रभु को **खनेम**=खोजनेवाले बनें। 'खनेम' शब्द का अर्थ खोदकर निकालना है। पर्वतों में छिपाकर रखे सोने को हम खोदकर निकालते हैं। वहाँ उपरले आवरणों को हटाना होता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशों के आवरण को हटाकर आत्मा तक पहुँचते हैं। इस आवरण के हटाने के लिए हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठें। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'** का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि आत्म-प्राप्ति के लिए पार्थिव भोगों को छोड़ना ही होता है। जीवन तभी चमकता है। ऐहिक कल्याण सफलतापूर्वक जीवन-यात्रा को चलाने में है तो आमुष्यिक कल्याण उस प्रभु को खोजने में है। इन दोनों अभ्युदय व निःश्रेयस को मिला देना ही सच्चा धर्म है।

भावार्थ—१. हम शक्तिशाली बनकर जीवन-यात्रा को सफलता से चलाएँ २. पार्थिव भोगों में न फँसकर आत्मा का अन्वेषण करें, तभी जीवन दीप्त होगा।

ऋषिः—मयोभूः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

चमकता हुआ जीवन

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षःसमुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः ॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में 'चमकते जीवन' का संकेत था। उसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन करते हैं कि **द्यौः ते पृष्ठम्**=द्युलोक=मस्तिष्क का ज्ञान ही तेरा पृष्ठ हो, आधार हो, मेरुदण्ड=(backbone) हो, अर्थात् ज्ञान तेरे जीवन का मूलाधार हो। तेरा जीवन ज्ञानमय हो। २. **पृथिवी सधस्थम्**=यह पृथिवी तेरा मिलकर रहने का स्थान हो। तू स्वयं भी रह और औरों को भी रहने दे। 'Live and let live' यह तेरे जीवन का सिद्धान्त हो। अथवा तेरा यह शरीर परमात्मा के साथ मिलकर रहने का स्थान हो। ३. **आत्मा**=मन **अन्तरिक्षम्** **(अन्तराक्षि)**=सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला हो। अति में न जाकर यह सदा प्रत्येक वस्तु का यथोचित प्रयोग करे। ४. **समुद्रः**=सदा आनन्द के साथ होना ही (स+मुद्र) तेरा **योनिः**=निवास-स्थान—उत्पत्ति का कारण हो, अर्थात् तेरे लिए आनन्द सहज हो जाए। ५. **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त अन्तर्मुखीभूत आँख से **विख्याय**=आत्मतत्त्व का दर्शन करके **त्वम्**=तू **पृतन्यतः**=संग्राम के इच्छुक इन काम, क्रोध व लोभादि के आसुर भावों को **अभितिष्ठ**=पाँवों तले रोंद डाल। परमात्मदर्शन ही वासनाओं को कुचलने का साधन है।

भावार्थ—'ज्ञान, मिलकर रहना, मध्यमार्ग में चलना, प्रसन्नता, आत्मदर्शन तथा कामादि का पराभव' ये बातें तेरे जीवन के मुख्य अङ्ग हों।

ऋषि:—मयोभू:। **देवता**—द्रविणोदा:। **छन्द:**—आर्षीपङ्क्ति:। **स्वर:**—पञ्चम:।।

महान् सौभाग्य

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्।
वयꣳस्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्या: ॥२१॥

१. **द्रविणोदा:**=धन देनेवाला अतएव **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! (धन का त्याग करनेवाला व्यक्ति व्यसनों में नहीं फँसता, अत: शक्तिशाली बना रहता है) तू **अस्मात्**=इस **आस्थानात्**=सबके मिलकर बैठने के स्थान से **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्क्राम**=ऊपर उठनेवाला बन। इन शब्दों से ये बातें स्पष्ट हैं—(क) यह पृथिवी हमारा 'आस्थान'—मिलकर रहने की जगह होनी चाहिए। (ख) यहाँ रहते हुए हम कमाएँ, परन्तु खूब देनेवाले हों (**द्रविणोदा:**)। (ग) धन का त्याग ही व्यसनों से बचाकर हमें शक्तिशाली बनाता है (**वाजिन्**)। (घ) हमारे जीवन का ध्येय पृथिवी से ऊपर उठना हो (उत्क्राम)। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही हम 'महान् सौभाग्य' को प्राप्त कर सकते हैं। २. **वयं सुमतौ स्याम**=हम सदा कल्याणी मति में बने रहें। हमारे विचार सदा शुभ रहें। **अस्या: पृथिव्या: उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में रहते हुए, अर्थात् इस पार्थिव जीवन को व्यतीत करते हुए हम **अग्निम्**=उस प्रकाश के स्रोत प्रभु को **खनन्त:**=खोजते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। साधना एवं चिन्तन के द्वारा अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठते हुए हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों। जिस दिन हम प्रभु का दर्शन कर रहे होंगे वह दिन हमारे महान् सौभाग्य का दिन होगा। इस महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए हमें निरन्तर ऊपर उठना है। ऊपर उठते हुए वैषयिक संसार से परे पहुँचना है, तभी तो प्रभु से मेल होगा।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ही महान् सौभाग्य है। उसके लिए हमें वैषयिक जगत् से परे पहुँचना है, अत: हमारी वृत्ति धन के त्यागवाली हो और हम शक्तिशाली हों।

ऋषि:—मयोभू:। **देवता**—द्रविणोदा:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

स्वर् आरोहण

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाक: सुलोकꣳसुकृतं पृथिव्याम्।
तत: खनेम सुप्रतीकमग्निꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

१. **द्रविणोदा:**=धन का दान करनेवाला **वाजी**=शक्तिशाली पुरुष **उदक्रमीत्**=विषयों से ऊपर उठता है। २. यह **अर्वा**=(अर्व हिंसायाम्) विषय-वासनाओं की हिंसा करनेवाला—भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **सुकृतम्**=पुण्यों से निर्मित **सुलोकम्**=उत्तम लोक को **अक:**=निर्मित करता है, अर्थात् धन के त्याग द्वारा वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठकर यह शक्तिशाली बनता है, पुण्य की प्रवृत्तिवाला होकर उत्तम लोक का निर्माण करता है। २. **तत:**=इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **उत्तमम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **नाकम्**=(**न अकं यस्मिन्**) दु:ख से शून्य **स्व:**=स्वर्गलोक में **अधिरुहाणा:**=आरोहण करते हुए **सुप्रतीकम्**=शोभन मुखवाले=अत्यन्त तेजस्वी **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **खनेम**=खोजने में समर्थ हों। जब हम जीवन को उत्तम बनाते हैं तब हमारा जीवन सुखमय होता है, अभ्युदय-सम्पन्न होता है तथा हम प्रभु को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—नि:श्रेयस को सिद्ध

कर पाते हैं। ३. एवं, 'मयोभूः' का जीवन सामान्यरूप से 'विषय-वासनाओं में न फँसकर प्रभु की खोजनेवाला' है। वस्तुतः 'ऐहिक जीवन का सुख' विषय-वासनाओं में न फँसने में ही है और 'आमुष्मिक कल्याण' प्रभु के अन्वेषण में है। यह 'मयोभूः' इस प्रभु का स्तवन करता है, अतएव 'गृत्स' **(गृणाति इति)** कहलाता है और सदा प्रसन्न रहता है **(माद्यति)** अतः 'मद' कहलाता है। यह 'मयोभूः' गृत्समद बनकर कहता है कि-'**आ त्वा जिघर्मि**'=हे प्रभो! मैं तो आपको ही अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ-जीवन को सुखी बनाने का मार्ग यही है कि हम (क) धन का दान करें। (ख) वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठें। (ग) पुण्यवाले उत्तम लोक का निर्माण करें। (घ) घर को स्वर्ग बनाते हुए प्रभु-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः-गृत्समदः। **देवता**-प्रजापतिः। **छन्दः**-आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

देश-काल से अनवच्छिन्न प्रभु

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥२३॥

१. गृत्समद प्रभु का स्तवन करते हुए कहता है कि-हे प्रभो! मैं तो **आ**=सब प्रकार से **त्वा**=आपको ही **जिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। आपका ही प्रकाश देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस आपके प्रकाश को मैं चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से तो देख ही नहीं पाता। आपका वह प्रकाश इन इन्द्रियों का विषय नहीं, इसी से आप अतीन्द्रिय हो। मैं आपके प्रकाश को **मनसा**=मन से देखता हूँ, परन्तु कौन-से मन से? **घृतेन** =(घृ क्षरणदीप्त्योः) उस मन से जिसके सब मलों का क्षरण करके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त करने का प्रयत्न किया गया है। ३. मैं उस आपको देखता हूँ जो आप **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **प्रतिक्षियन्तम्**=निवास कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उन्हें देखना तो हमें अपने हृदयों में ही है। ४. वे प्रभु **तिरश्च पृथुम्**=यह ब्रह्माण्ड एक सिरे से दूसरे सिरे तक जितना विस्तृत है, उससे अधिक विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे), अर्थात् प्रभु अधिक-से-अधिक विस्तृत देश से भी अविच्छिन्न नहीं हो सकते। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में ही है। ५. **वयसा** =(वय् गतौ) निरन्तर गतिवाले इस काल से भी वे **बृहन्तम्**=बड़े हैं। काल भी उन्हें सीमित नहीं कर सकता। ६. देश-काल से अनविच्छिन्न (असीमित) वे प्रभु **व्यचिष्ठम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं (**व्यवस्**=expanse, wastness)। ७. **अन्नैः**=विविध अन्नों से **रभसम्**=वे प्रभु हमें शक्ति (strength) देनेवाले हैं। अथवा अन्नों से वे हमें (रभस=joy) आनन्दित करनेवाले हैं। ८. **दृशानम्**=वे प्रभु हमें तत्त्व का दर्शन करानेवाले हैं। अन्नों से वे हमारे शरीरों को सशक्त करते हैं तो तत्त्व-ज्ञान से हमारे मस्तिष्कों को दीप्त बनाते हैं।

भावार्थ-वे सर्वव्यापी प्रभु पवित्र मन से दिखते हैं। वे देश व काल से सीमित नहीं हैं। अत्यन्त विस्तारवाले वे प्रभु अन्नों से हमें शक्ति देते हैं और तत्त्व-दर्शन से मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः-गृत्समदः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥२४॥

१. गृत्समद का ही स्तवन चल रहा है कि **आ**=सब प्रकार से **विश्वतः प्रत्यञ्चम्**=सब ओर गये हुए, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु को **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। २. मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा मनसा**=राक्षसी व आसुरी भावनाओं से रहित पवित्र मन से **तत्**=उस ब्रह्म का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। प्रतिदिन आदर-श्रद्धा के साथ उस प्रभु का चिन्तन करने से ही तो हम उस प्रभु के प्रकाश को देख पाएँगे। ३. जिस दिन मैं प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता हूँ, उस दिन **मर्यश्रीः**=मनुष्यों में शोभावाला बनता हूँ या दुःखी पुरुषों से आश्रयणीय होता हूँ। प्रभु के तेज को प्राप्त करके मैं तेजस्वी बनता हूँ और श्रीसम्पन्न होता हूँ। साथ ही (श्रि=सेवायाम्) सब पीड़ित पुरुष अपनी पीड़ा के निराकरण के लिए मेरे समीप पहुँचते हैं। ४. **स्पृहयद्वर्णः**=मैं स्पृहणीय वर्णवाला होता हूँ, अन्दर दीप्त होती हुई प्रभु की ज्योति मेरे चेहरे पर भी प्रतिबिम्बित होती है। ५. **अग्निः न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(मृश् to rule, strike) मैं शत्रुओं को कुचल देता हूँ। अग्नि के तेज में जैसे सब मल भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु के तेज से तेजस्वी होने पर मेरे भी राग-द्वेष के सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। ६. और मैं **तन्वा**=अपने इस शरीर से **जर्भुराणः**=निरन्तर भरण-पोषण करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन पवित्र मन से होता है। एक सच्चा उपासक लोगों में शोभावाला होता है, उसके चेहरे पर अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश चमकता है, जिसके तेज में सब मल भस्म हो जाते हैं। वह अपने शरीर को प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है।

ऋषिः—सोमकः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वाजपतिः कविः

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑॥२५॥

१. पिछले मन्त्र का गृत्समद ऋषि प्रभु-स्तवन करता हुआ शक्तिशाली बनता है, परन्तु उस सब शक्ति का पति प्रभु को समझता हुआ वह अत्यन्त विनीत बना रहता है। इस विनीतता के कारण वह 'सोमक' कहलाता है (सौम्य=विनीत)। यह सोमक कहता है कि—२. वह **वाजपतिः**=सब अन्नों व शक्तियों का स्वामी प्रभु **कविः**=क्रान्तदर्शी है, तत्त्व का ज्ञान रखनेवाला है। वह प्रभु ही वस्तुतः अपने भक्तों को अन्नों से शक्तिशाली बनाता है और तत्त्व-ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार वे प्रभु **अग्निः**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं, हमारी सब उन्नतियों के कारण हैं। ४. वे प्रभु ही **हव्यानि**=(ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि—द०) सब ग्रहण के योग्य वस्तुओं को **परिअक्रमीत्**=चारों ओर आक्रान्त किये हुए हैं। सब उपादेय वस्तुओं के अधिष्ठाता वे प्रभु ही हैं। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। ५. वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालनेवाले के लिए **रत्नानि**=रमणीय पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। जैसे एक बालक स्वयं अपनी आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार नहीं समझता, परन्तु उसकी माता उसे सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है, इसी प्रकार समर्पण करनेवाले भक्त को प्रभु भी जननी की भाँति सब रमणीय पदार्थ देते हैं। इन रमणीय पदार्थों से अपनी सम्यक् उन्नत्ति करता हुआ प्रभु-भक्त शरीर में शक्ति का पति बनता है तो मस्तिष्क से तत्त्व-द्रष्टा बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए हम प्रभु से दिये रमणीय पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से शक्ति व ज्ञान के पति बनें।

ऋषिः—पायुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

परितो-धारण—स्थितप्रज्ञता

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳसहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम्॥२६॥

१. गत मन्त्र का 'सोमक'=विनीत प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके पूर्णरूप से अपना रक्षण कर पाता है, उसी प्रकार जैसेकि माता की गोद में आत्मार्पण करनेवाला बालक। इस अर्पण को करनेवाला यह 'पायुः' (पा रक्षणे) नामवाला होता है। यह कहता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। जो आप ३. **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) अपनी विविध क्रियाओं के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपने हमारे पालन के लिए अनेकविध ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है। ४. **विप्रम्**=आप ज्ञानी हो, क्रान्तदर्शी=कवि हो। ज्ञान के द्वारा विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले हो। ज्ञानाग्नि ही तो दोषों को विच्छिन्न करती है। ५. **सहस्य**=हे प्रभो! आप सहस् में उत्तम हो अथवा सहस् में निवास करनेवाले हो। जिस पुरुष में सहनशक्ति होती है उसी में आपका निवास है। ६. **धृषद्वर्णम्**= **(धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भो वर्णो यस्य तम् असह्यरूपम्—म०)** असह्य तेजवाले आप हैं। आपके तेज के सामने अन्य सब तेज पराभूत हो जाते हैं। ७. इस तेज से ही आप **दिवे-दिवे**=प्रति-दिन **भङ्गुरावताम्**=तोड़-फोड़ के कामों में लगे हुए राक्षसों के **हन्तारम्**=नष्ट करनेवाले हैं। अथवा **भंगुर**=अनवस्थित मनवालों के—डाँवाँडोल मनोवृत्तिवालों के आप समाप्त करनेवाले हैं। स्थितप्रज्ञ दैवीवृत्तिवाला व्यक्ति ही आपका रक्षणीय होने से 'पायु' (one who is protected) है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-पुरं-विप्र-सहस्य-धृषद्वर्ण व भंगुरावत्—हन्ता' हैं। हम भंगुर-वृत्तिवाले न बनकर स्थितप्रज्ञ बनें और प्रभु के रक्षणीय हों। प्रभु को परितः धारण करनेवाला ही प्रभु का रक्षणीय होता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्योति का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने द्यु॒भिस्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑॥२७॥

१. प्रभु से रक्षित गत मन्त्र का 'पायु' फिर से प्रभु-स्तवन में आनन्द लेता हुआ 'गृत्समद' बनता है और इस रूप में स्तुति करता है—२. हे **अग्ने**=अपने तेज से सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! **त्वम्** =आप और **त्वम्**=आप ही **द्युभिः**=अपनी ज्ञान-ज्योतियों से **आशुशुक्षणिः**=शीघ्रता से हमारे सब काम, क्रोध व लोभादि शत्रुओं का शोषण करनेवाले हैं। प्रभु की ज्योति से दीप्त हृदय में वासना-लताएँ नहीं पनपतीं। २. हे **नृपते**=वासना-शोषण द्वारा मनुष्यों के रक्षक प्रभो! **शुचिः**=आप पूर्ण पवित्र व पूर्ण दीप्त हो। ३. **त्वम्**=आप **अद्भ्यः**=समुद्र के विस्तृत जलों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। **'यस्य समुद्रम्**=ये समुद्र भी

तो आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ४. **त्वम्**=आप **अश्मनः**=मेघ से (नि० १।१०) **परिजायसे**=अन्तरिक्ष में चारों ओर आविर्भूत हो रहे हो। अन्तरिक्ष में उमड़ते हुए बादल आपकी महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ५. **त्वं वनेभ्यः**=आप ही इन मीलों-मील फैले हुए वनों में प्रकट हो रहे हैं। इन वनों में भी आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। ६. **त्वम् ओषधीभ्यः**=आप ही इन वनोत्पन्न ओषधियों में प्रकट होते हो। ओषधियाँ भी आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। इस महिमा को ज्ञानी ही सुन पाता है। ७. **त्वम्** =आप **नृणाम्**=(नृ नयने) अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले पुरुषों में **जायसे**=आविर्भूत होते हो। वे श्रेष्ठ पुरुष भी आपकी ही विभूति होते हैं। ८. यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन वे ही करते हैं जो मेघस्थ जलों का या वन की वनस्पतियों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के लिए वनौषधियों को ही भोजन बनाएँ, मेघजलों को ही पेय द्रव्य समझें। निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अवश्य हममें प्रभु की ज्योति जगेगी और उस ज्योति से सब वासनाएँ भस्म हो जाएँगी।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

आनन्द एवं शक्ति

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य᳖मङ्गिर॒स्वत् ख॑नामि। ज्योति॑ष्मन्तं त्वाग्ने सु॒प्रती॑क॒मज॑स्रेण भा॒नुना॒ दीद्य॑तम्। शि॒वं प्र॒जाभ्यो॒ऽहि॑ꣳसन्तं पृ॒थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य᳖मङ्गिर॒स्वत् ख॑नामः॥२८॥

१. गृत्समद कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ। उसका आदेश यही तो है कि 'ओदन एव ओदनं प्राशीत्' केवल यह अन्न का विकार भौतिक शरीर ही ओदन को खाये, अर्थात् शरीर की आवश्यकतानुसार ही भोजन करना—न अधिक, न कम बस, मात्रा में। २. **अश्विनोः बहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से पदार्थों को ग्रहण करूँ। मैं सेंतमैंत किसी वस्तु को न लूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषण के हाथों से ही लूँ, अर्थात् जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो उतना ही मैं इन भौतिक वस्तुओं का स्वीकार करूँ। ४. इस प्रकार इन भौतिक भोगों में आसक्त न हुआ-हुआ मैं **पृथिव्याः सधस्थात्**=इस शरीर के सधस्थ से, अर्थात् हृदयदेश से (यह हृदय ही जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान है) **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक **पुरीष्यम्**=(पृणाति सुखम्) सुख-प्राप्ति में उत्तम प्रभु को **खनामि**=उसी प्रकार खोजता हूँ जैसेकि **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् लोग खोजा करते हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्रभु का खोजनेवाला बनता है वह भोगों में आसक्त न होने के कारण 'अङ्गिरस्' बनता ही है, उसका शरीर रसमय अङ्गोंवाला बना रहता है। ५. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वा**=हम उस तुझे खोजते हैं जोकि **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। आपको प्राप्त करके हमारी ज्ञान की ज्योति दीप्त होती है। ६. **सुप्रतीकम्**=आप उत्तम मुखवाले हैं। आपका स्वरूप तेजस्वी है। भक्त आपको तेजोमय रूप में ही देखता है। ७. **अजस्रेण भानुना दीद्यतम्**=निरन्तर दीप्ति से आप देदीप्यमान हैं। ८. **शिवं प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए आप कल्याण करनेवाले हैं। ९. **अहिंसन्तम्**=आप हिंसा नहीं होने देते। १०. **पृथिव्याः**

सधस्थात्=इस पार्थिव शरीर के मिलकर रहने के स्थान से, अर्थात् हृदयदेश से **पुरीष्यम्**=सब सुखों के पूरण करनेवाले आपको **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनामः**=खोजते हैं। हृदयदेश में ध्यान से आपका दर्शन करके अनिर्वचनीय आनन्द को अनुभव करते हैं और अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चार से अङ्गिरस् बनते हैं।

भावार्थ—इस ज्योतिर्मय प्रभु का दर्शन ही हमारे जीवन का ध्येय हो। इसी में आनन्द है, इसी में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का मूल है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गृत्समद का लक्षण

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२९॥

१. स्तोता 'गृत्समद' को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **अपां पृष्ठम् असि**=व्यापक कर्मों का (आप् व्याप्तौ) तू पृष्ठ है, अर्थात् तेरे जीवन से व्यापक कर्म ही प्रवृत्त होते हैं। ये कर्म तेरे जीवन-मन्दिर की नींव ही हैं। २. **अग्नेः योनिः**=तू उत्साह (अग्नि) का उत्पत्ति स्थान है। तेरे जीवन में उत्साह की उष्णता है। निराशा की शीतता ने तुझे जकड़ नहीं लिया। ३. **अभितः पिन्वमानं समुद्रं (इव) वर्धमानः**=सब ओर से नदियों से पूर्ण होते हुए समुद्र की भाँति तू बढ़ रहा है। (**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥** —गीता०) इन सारे संसार के काम्य पदार्थों से परिपूर्ण होता हुआ भी तू अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता—उन विषयों के गर्व से फूल नहीं जाता, उनमें फँसता नहीं ४. **च**=और **पुष्करे**=इस कमलवत् निर्लिप्त हृदय में **महान्**=तू बड़ा बनता है। तू अपने दिल को संकुचित नहीं होने देता। ५. **दिवः**=ज्ञान की **मात्रया**=मापक शक्ति से **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति के विस्तार से तू **प्रथस्व**=विस्तृत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान भी बढ़े तथा सब अङ्ग भी सशक्त हों। तू अपने बढ़े हुए ज्ञान से विषयों को ठीक माप सके, वस्तुओं को ठीक रूप में समझ सके और सशक्त इन्द्रियों से उस ज्ञान के अनुसार कार्य कर सके।

भावार्थ—गृत्समद के लक्षण ये हैं—१. व्यापक कर्म ही इसके जीवन का आधार होते हैं। २. इसके जीवन में कभी उत्साह-शून्यता नहीं आती। ३. काम्य पदार्थों को प्राप्त करता हुआ यह मर्यादा में रहता है। ४. अपने निर्लिप्त हृदय को विशाल बनाता है। ५. ज्ञान की मात्रा से तथा शक्ति की वृद्धि से यह अपने को विस्तृत करता है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गृत्समद पति-पत्नी

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुलेऽउभे।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम्॥३०॥

जो पति-पत्नी अपने जीवन को प्रभु-स्तवनवाला बनाते हैं वे १. **शर्म च स्थः**=आनन्दमय जीवनवाले होते हैं (**शर्म**=Happines)। जैसे घर में मनुष्य आनन्दपूर्वक निवास करते हैं उसी प्रकार ये भी उस प्रभुरूप गृह में सानन्द रहते हैं। २. **वर्म च स्थः**=प्रभु ही इनका कवच हो जाता है। उस प्रभु से ऊपर-नीचे निहित (ढके) हुए ये व्यक्ति वासनाओं के

आक्रमण से आक्रान्त नहीं होते। ३. इसी का परिणाम है कि **अछिद्रे**=ये दोषरहित जीवनवाले होते हैं। ४. **उभे**=ये दोनों पति-पत्नी **बहुले**=विशाल (broad) हृदयवाले होते हैं, ये अपनी मैं में बहुतों को समाविष्ट कर लेते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारी पृथिवी को अपना परिवार ही समझते हैं। ५. इस प्रकार **व्यचस्वती**=ये विस्तारवाले होते हैं। अपने को अधिक और अधिक फैलाते चलते हैं। ६. **संवसाथाम्**=घर में मिलकर निवास करते हैं। इनके घर में कभी कलह व क्लेश नहीं होता। ७. हो भी क्यों? क्योंकि **पुरीष्यम्**=सुखों के पूरण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **भृतम्**=ये धारण करते हैं। 'उस आनन्द के भण्डार प्रभु को धारण करो' यही इनके जीवन का सूत्र होता है।

भावार्थ—१. प्रभु के उपासक पति-पत्नी प्रभुरूप घर में ही निवास करते हैं। २. प्रभु ही इनका कवच होता है। ३. इसी से इनका जीवन दोषशून्य होता है। ४. इनकी 'मैं' में बहुतों का समावेश होता है। ५. ये विस्तारवाले होते हैं। ६. मिलकर रहते हैं। ७. आनन्दमय प्रभु को धारण करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—जायापती। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी का गृह-संवास

संवसाथाᳬस्वर्विदा समीचीऽउरसा त्मना।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित्॥३१॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी **संवसाथाम्**=घर में सम्यक् निवासवाले होते हैं। ये परस्पर कुत्ते-बिल्ली की भाँति न लड़ते हुऐ बड़ी मधुरता से चलते हैं। २. परिणामतः **स्वर्विदा**=ये स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इनका घर एक छोटा-मोटा स्वर्ग ही बन जाता है। मेलवाले घर में क्लेश का क्या काम? ३. **समीची**=अपने उस स्वर्गतुल्य घर में ये सदा सम्यक् मिल-जुलकर कर्म करनेवाले होते हैं। दोनों दो बैलों की भाँति गृहस्थ-शकट में जुते हुए गृहस्थ की गाड़ी को बड़ी उत्तमता से खैंचते हैं। ४. **त्मना**=स्वयं **उरसा**=अपनी छाती के ज़ोर से ये इस गाड़ी को खैंचते हैं, औरों के भरोसे बैठे नहीं रह जाते। ये पराश्रित नहीं होते—ये संसार में आत्मविश्वास के साथ चलते हैं। ५. चल इसलिए सकते हैं क्योंकि ये **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=प्रभु की भावना को—उत्साह को **भरिष्यन्ती**=भरनेवाले होते हैं (भरिष्यन्ती=धारयमाणः—उ०)। जो प्रभु **इत्**=निश्चय से **अजस्रम्**=निरन्तर, बिना विच्छेद के, **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। प्रकाशमय प्रभु को हृदय में धारण करने से इनका जीवन सदा प्रकाशमय रहता है। इन्हें कहीं अन्धकार प्रतीत नहीं होता। उस प्रकाश में ये उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त पति-पत्नी की विशेषताएँ निम्न हैं—१. मेल से चलते हैं, २. घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हैं, ३. उत्तम गतिवाले होते हैं, ४. आत्मनिर्भरता से चलते हैं, ५. हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, परिणामतः कभी अन्धकार में नहीं होते।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्लिप्त मन+दीप्त मस्तिष्क—भरद्वाज का प्रभु-स्तवन

पुरीष्योऽसि विश्वभराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥३२॥

१. 'गृत्समद' का वर्णन गत मन्त्रों में था। यह 'प्रभु-स्तवन करता है, और मस्त

रहता है' अत: अपने में शक्ति का भरण करके 'भरद्वाज' बन जाता है। शक्ति का ह्रास मौलिकरूप से दो कारणों से होता है। (क) हम प्रभु से दूर हो जाते हैं तो हमें पग-पग पर घबराहट होती है। (ख) जब जीवन में प्रसन्नता नहीं रहती तो चिन्ता हमें खाये चली जाती है। चिन्ता शक्ति के लिए चिता के समान है। चिन्ता गई और मनुष्य 'भरद्वाज' (शक्ति-सम्पन्न) बना। यह भरद्वाज प्रभु-स्तवन करता है कि-२. **पुरीष्य: असि**=हे प्रभो! आप स्तोताओं के जीवन में आनन्द का पूरण करनेवाले हो। ३. **विश्वभरा**=सबका भरण करनेवाले हो। ४. **अग्ने** =प्रभो! **प्रथम:**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अथर्वा**=(न थर्वति) न डाँवाँडोल होनेवाला, अडोल मनवाला, स्थितप्रज्ञ ही **त्वा**=आपका **निरमन्थत्**=निश्चय से मन्थन कर पाता है। जैसे एक व्यक्ति दही का मन्थन करके घृत का दर्शन करता है, इसी प्रकार हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **अथर्वा**=अडोल मनवाला पुरुष ही **त्वाम्**=आपको **पुष्करात् अधि**=इस कमल-पत्र की भाँति निर्लेप मन से **निर् अमन्थत**=निश्चय से मन्थित करता है, अर्थात् अपने इस हृदयाकाश में आपका दर्शन करता है। अथर्वा की भाँति **वाघत:**=मेधावी पुरुष-ज्ञान का वहन करनेवाला पुरुष **विश्वस्य**=(**विशति**) व्यापक ज्ञान में प्रवेश करनेवाले **मूर्ध्न:**=मस्तिष्क से आपका मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आपके ज्ञान के लिए वासनाओं से अनान्दोलित मन तथा ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों के ज्ञान का वहन करनेवाला मस्तिष्क दोनों ही आवश्यक हैं-'निर्लिप्त मन तथा दीप्त मस्तिष्क।'

भावार्थ-प्रभु ही सुखों का पूरण करनेवाले तथा सबका भरण करनेवाले हैं। हम अपने हृदयों को विषय-पङ्क से अलिप्त रक्खें, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान से भरने का प्रयत्न करें-यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषि:-भरद्वाज:। **देवता**-अग्नि:। **छन्द:**-निचृद्गायत्री। **स्वर:**-षड्ज:॥

दध्यङ्+ऋषि:+पुत्र:-इन्धन

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्रऽई॑धे॒ऽअथ॑र्वण: । वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥३३॥

१. भरद्वाज ही कहते हैं कि **तम् उ त्वा**=निश्चय से उस आपको **ईधे**=अपने हृदय-कमल में (पुष्कर में) समिद्ध (विकसित) करता है। कौन? (क) **दध्यङ्**=निरन्तर ध्यान करनेवाला, दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक प्रभु से योग करता हुआ (योगं युञ्जन्), प्रतिदिन सन्ध्या करता हुआ। (ख) **ऋषि:**=तत्त्वद्रष्टा वस्तुओं की वास्तविकता का चिन्तन करनेवाला और परिणामत: उनमें न फँसनेवाला, (ग) **पुत्र:**=जो अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और वासनाओं से अपने को बचाता है (त्रायते)। २. कहाँ समिद्ध करता है ? **अथर्वण:**= डाँवाँडोल न होनेवाले मन में। प्रभु का दीपन हृदय में होता है, उस हृदय में जिसमें वासनाओं की लहरें नहीं उठती रहतीं। जो हृदय-समुद्र वासनाओं के तूफ़ानों से क्षुब्ध नहीं है। क्षुब्ध हृदय-समुद्र में प्रभु-दर्शन नहीं होता। ३. किसको समिद्ध करता है? उस प्रभु को जो (क) **वृत्रहणम्**=प्रभु-ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाले हैं। (ख) **पुरन्दरम्**= शरीर, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ-प्रभु-दर्शन उन्हें होता है जो ध्यानी, तत्त्वद्रष्टा, पवित्र व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। यह दर्शन वासनाओं से अनान्दोलित मन में होता है। दर्शन होने पर वासना विनष्ट हो जाती है, असुरों के किले भूमिसात् हो जाते हैं और हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों ही पवित्र हो जाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पाथ्यः+वृषा—समिन्धन

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्युह॒न्त॑मम्। ध॒न॒ञ्ज॒यꣳरणे॑रणे॥३४॥

१. **तमु त्वा**=निश्चय से उस आपको **समीधे**=अपने हृदय-कमल में समिद्ध करता है। कौन? (क) **पाथ्यः**=पथ पर, मार्ग पर चलनेवाला। प्रभु का दर्शन वही करता है जो अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी भ्रष्ट नहीं होता। (ख) **वृषा**=जो शक्तिशाली है अथवा औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। वस्तुतः मार्ग-भ्रष्ट न होनेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है और यह व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है कि औरों पर भी सुखों की वर्षा करनेवाला बने। वह पापी होता है जो केवल अपने लिए जीता है **'केवलाघो भवति केवलादी'**। २. किस प्रभु को यह समिद्ध करता है? (क) **दस्युहन्तमम्**=जो प्रभु दस्युओं के सर्वाधिक हन्ता हैं। वे प्रभु नाशक वृत्तियों के ध्वंसक हैं। हम प्रभु का नामोच्चारण करते हैं और काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ विलुप्त हो जाती हैं। (ख) वे प्रभु **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयम्**=धनों के विजेता हैं। प्रभु का हृदयों में प्रकाश होता है तो हम उन धनों के विजेता बनते हैं, जिनसे हमारा जीवन धन्य हो जाता है।

भावार्थ—१. प्रभु का स्मरण करनेवाला 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है। २. प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो मार्ग पर चलता है और मार्ग पर चलने के कारण शक्तिशाली बनता है। अथवा जो मार्ग पर चलता है और औरों पर भी सुखों की वर्षा करता है। ३. प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति नाशक तत्त्वों व आसुर वृत्तियों का संहार कर पाता है और संग्रामों में उत्तम धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—देवश्रवो देववातः। **देवता**—होता। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पाथ=मार्ग

सीद॑ हो॒तः स्वऽउ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञꣳसु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान् ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः॥३५॥

१. गत मन्त्र में उल्लेख था कि मार्ग पर चलनेवाला प्रभु-दर्शन करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस मार्ग का वर्णन करते हैं। २. हे **होतः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **सीद**=अपने इस शरीररूप घर में निषण्ण हो। तू अपने शरीर में ही ठहरनेवाला बन। तू स्वस्थ बन। ३. **उ** और **स्वः**=अपने ही **लोके**=(लोकृ दर्शने) देखने में तू स्थित हो। तू अपना ही निरीक्षण करता हुआ, अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करनेवाला बन। तू 'आत्म-निरीक्षण में स्थित हो'। ४. **चिकित्वान्**=(कित ज्ञाने) तू ज्ञानी बन, समझदार बन। इस संसार में प्रत्येक कार्य को कुशलता से करनेवाला हो। ५. इस **सुकृतस्य**=बहुत पुण्यों के **योनौ**=घर में, अर्थात् उस शरीर में जो 'बहुपुण्यलब्धम्' न जाने कितने पुण्यों से प्राप्त हुआ है और 'धर्मैकहेतु'=केवल धर्म के कार्यों के लिए दिया गया है, उस शरीर में **यज्ञम्**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को **सादय**=तू बिठा। यह पृथिवी तो देवयजनी=देवों के यज्ञ करने की भूमि है। यह हमारी छोटी पृथिवी, अर्थात् शरीर भी यज्ञों के लिए ही उद्दिष्ट है—**'पुरुषो वाव यज्ञः'**=पुरुष तो है ही यज्ञ। ६. **देवावीः**=(अव, भागदुघे) तू उत्तम कर्म कर, दिव्य गुणों के अंशों का अपने में दोहन करनेवाला हो। तू अपनी दैवी सम्पत्ति को बढ़ा। ७. तू **देवान्**=दिव्य गुणों को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, त्यागवृत्ति से ही **यजासि**=अपने साथ सङ्गत करनेवाला होता

है। त्यागपूर्वक उपभोग शरीर को स्वस्थ व नीरोग बनाता है तो मन को भी दिव्य गुणों से परिपूर्ण करता है। ८. हे **अग्ने**=अपने सखा जीव की सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजमाने**=इस यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति में **बृहद् वयः**=इस वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण कीजिए। यज्ञ के स्वभाववाला यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाए। इसका जीवन वृद्धिशील हो। ९. इस प्रकार दिव्य गुणों के कारण यश को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'देवश्रवस्' कहलाता है, देवों के कारण यशवाला यह देवों— विद्वानों व सूर्यादि देवों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करने के कारण 'देववात' है।

भावार्थ—मार्ग यह है—हम १. दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनकर स्वस्थ बनें। २. आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने ही दोषों को देखें। ३. समझदार बनें। ४. इस धर्मार्थ प्राप्त शरीर में निवास करते हुए यज्ञों को करनेवाले बनें। ५. दिव्य गुणों का अपने में दोहन करें। ६. त्यागवृत्ति से दिव्य गुणों को बढ़ाएँ। ७. वृद्धिशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गृत्समद का जीवन

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२॥ऽअसदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः॥३६॥

१. मार्ग को ही स्पष्ट करने के लिए गृत्समद (स्तोता व सदा प्रसन्न) के जीवन का वर्णन करते हैं कि यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोक्ता होता है। २. **होतृषदने न्यसदत्**=होताओं के घर में निवास करता है—यह प्रयत्न करता है कि उसके घर में, उसके परिचितों के घर में सभी की वृत्ति 'होता' की वृत्ति हो। सभी में दानपूर्वक यज्ञ-शेष को ही खाने का भाव हो। ३. **विदानः**=यह ज्ञानी हो, समझदार हो। लोक-व्यवहार को समझता हो, भौंदू न हो। ४. **त्वेषः**=भोगवृत्तिवाला न होने से स्वस्थ हो और इसके चेहरे पर स्वास्थ्य की दीप्ति हो। ५. **दीदिवान्**=इसके मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति हो। यह ज्ञानाग्नि को अपने में प्रज्वलित करनेवाला बने। ६. **सुदक्षः**=बड़ा कार्यकुशल हो। दक्ष dexterous=निपुण हो। ७. **अदब्धव्रतप्रमतिः**=अहिंसित व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाला हो। ८. अहिंसित व्रतों व बुद्धि के कारण ही यह **वसिष्ठः**=उत्तम निवासवाला हो। अथवा वशियों (वश में करनेवालों में) में यह श्रेष्ठ हो। ९. जितेन्द्रियता के परिणामरूप यह **सहस्रम्भरः**=हज़ारों का पोषण करनेवाला हो, यह केवल 'स्वोदरम्भरि'= अपने पेट को भरनेवाला ही न बना रहे। १०. **शुचिजिह्वः**=इसकी जिह्वा शुचि=दीप्त व पवित्र हो। यह शुभ ही शब्द बोले अशुभ नहीं। ११. इस प्रकार **अग्निः**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—'गृत्समद' वही है जो उल्लिखित ११ बातों को अपने जीवन में लाता है। वस्तुतः जीवन का ठीक मार्ग है ही यह।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

'प्रस्कण्व' की 'ज्ञान-सृष्टि'

सꣳसीदस्व महाँ२॥ऽअसि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥३७॥

१. गत मन्त्र का गृत्समद (जो स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है) ही वस्तुतः प्रस्कण्व=मेधावी है। प्रभु इस मेधावी पुरुष से कहते हैं कि १. **संसीदस्व**=तू अपने इस शरीर में सम्यक् निवासवाला हो। २. **महान् असि**=तूने अपने हृदय को महान् बनाया है। ३. **शोचस्व**=तू इस विशालता के कारण शुचि व पवित्र बना है, तेरा जीवन उज्ज्वल हुआ है। ४. **देववीतमः**=तू अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला है। (वी=प्राप्ति) ५. **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक जीव! **प्रशस्त**=उत्तम प्रशंसनीय जीवनवाले जीव! **मियेध्य**= (मेध्य) यज्ञिय जीवनवाले जीव! तू उस ज्ञान को विविध रूपों में उत्पन्न कर जो (क) **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) सब वासनाओं को कम्पित करके तेरे जीवन को उन्नत करनेवाला है। (ख) **अरुषम्**=जो ज्ञान तुझे (अ-रुषं) क्रोध-शून्य बनाता है। (ग) तथा, **दर्शतम्**=जो ज्ञान दर्शनीय व सुन्दर है अथवा जो सदा तुझे कर्त्तव्य का दर्शन कराता है।

भावार्थ—हम उस ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जो १. हमारी वासनाओं को नष्ट करता है। २. हमें क्रोध-शून्य बनाता है। ३. और कर्त्तव्य-पथ दिखाता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—न्यङ्कुसारिणीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्वास्थ्य व जल

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥३८॥

१. पिछले तीन मन्त्रों में उस मार्ग का प्रदर्शन है, जिसपर चलकर हमें प्रभु का दर्शन करना है। मार्ग पर चलना तभी सम्भव है यदि हम स्वस्थ हों, अतः यहाँ 'सिन्धुद्वीप' ऋषि के तीन मन्त्रों में स्वास्थ्य के मौलिक साधनों 'जल, वायु व अग्नि' पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है। २. जल के विषय में कहते हैं कि हे प्रभो! आप **अपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाले जलों का **उपसृज**=समीपता से सृजन करो। आपकी कृपा से उत्तम गुणोंवाले जल हमें समीपता से सुलभ हों। जहाँ हम रहते हैं वहाँ उत्तम जल सुप्राप्य हो। ३. ये जल **मधुमतीः**=माधुर्यवाले हों। इनसे हमारे शरीर में उन रसादि धातुओं का निर्माण हो जो हमारे जीवनों को मधुर बना दें। ४. ये जल **प्रजाभ्यः**=सब प्रजाओं के लिए **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों से राहित्य के लिए हों। इनके सेवन से यक्ष्मादि रोग भी दूर हो जाएँ, ऐसी शक्ति इन जलों के अन्दर हो। ५. **तासाम्**=उन जलों के **आस्थानात्**=चारों ओर ठहरने के स्थान से **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **उज्जिहताम्**=उद्गत हों, उत्पन्न हों। इन जलों से सिक्त क्षेत्रों में उत्तम फलोंवाली ओषधियाँ विकसित हों। यह सामान्य अनुभव है कि गन्दे पानी से सिक्त खेतों की सब्जियाँ कूप जल से सिक्त खेतों की सब्जियों से बड़ी हीन होती हैं। ६. एवं, इस संसार-समुद्र में सिन्धु=बहनेवाले ये जल द्वीप=शरण हैं जिसके ऐसा यह 'सिन्धुद्वीप' ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। अगले मन्त्र में 'वायु' का वर्णन है वे भी बहनेवाले होने से 'सिन्धु' हैं। चालीसवाँ मन्त्र 'अग्नि' का है। 'अधिक तापांशवाले पदार्थ से निम्न तापांशवाले पदार्थ की ओर बहने से वह भी 'सिन्धु' है। इन तीनों के ठीक प्रयोग से अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनेवाला यह ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणोंवाले हैं, ये माधुर्य को उत्पन्न करते हैं, यक्ष्मा को नष्ट करते हैं। इनसे उत्पन्न ओषधियाँ उत्तम फलवाली होती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वायुः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वायु व दिव्य जीवन

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्॥३९॥

१. घर में पति-पत्नी दो ही मुख्य प्राणी हैं। इनमें पत्नी के लिए कहते हैं कि **उत्तानायाः**=(उत् तन्) उत्कृष्ट गुणों के विस्तार करनेवाली **ते**=तेरे लिए **मातरिश्वा वायुः**=यह अन्तरिक्ष में सञ्चरण करनेवाला वायु, प्राणायाम के समय हृदयान्तरिक्ष में विचरनेवाला प्राणवायु **हृदयम्**=उस हृदय को **सन्दधातु**=उत्तमता से धारण करे **यत्**=जो **विकस्तम्**=विकासवाला है। प्राणायाम के द्वारा शरीर में शुद्ध वायु को बारम्बार गहराई तक पहुँचाने से मलों का भस्मीकरण होकर नीरोगता उत्पन्न होती है और मन में द्वेषादि मल भी नहीं रहते। इस प्रकार मलों का विनाश होकर हृदय में गुणों का उत्तमता से विकास होता है। २. पत्नी की भाँति पति भी समतावाला होकर प्राणायाम द्वारा निर्मल बनकर ऐसा हो जाता है कि **यः**=जो **देवानां प्राणथेन**=देवों के जीवन से **चरसि**=विचरता है। पति का जीवन ऐसी भद्रतावाला हो जाता है कि लोग कहते हैं कि यह तो दिव्य जीवनवाला हो गया है। ३. इस पति-पत्नी का यह पवित्र जीवन हे **देव**=सब दिव्य गुणों के स्रोत प्रभो! **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **तुभ्यम्**=आपके लिए **वषट् अस्तु**=अर्पित हो। इस वायु के द्वारा अपने जीवनों को शुद्ध बनाकर ये पति-पत्नी तेरे प्रति समर्पण करनेवाले बनते हैं। प्रभु-चरणों में पवित्र वस्तु का ही तो अर्पण समुचित है।

भावार्थ—शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा अपने हृदय का विकास करके तथा अपने जीवन को दिव्य बनाकर हम इन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विश्वरूप वस्त्र का धारण

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत्स्वः।
वासोऽअग्ने विश्वरूपꣳसंव्ययस्व विभावसो॥४०॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित जल और वायु के समुचित प्रयोग के साथ प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि के धारण का प्रस्ताव है, परन्तु मुख्यतया यह अग्नि वे प्रभु ही हैं। गौणरूप से यज्ञाग्नि भी अभिप्रेत है ही। २. **सुजातः**=इस अग्नि के धारण से यह जीव उत्तम (सु) विकासवाला (जातः) होता है। ३. **ज्योतिषा सह**=यह सदा ज्योति, अर्थात् प्रकाश के साथ होता है। ४. **शर्म**=आनन्द को **आसदत्**=प्राप्त होता है। ५. **वरूथम्**=शरीर के लिए रक्षक आवरण का काम देनेवाले (वरूथ=wealth) धन को प्राप्त करता है। ६. **स्वः**=प्रकाश को व स्वर्ग को भी **आसदत्**=प्राप्त करता है। ७. हे **विभावसो**=हे प्रकाशरूप धनवाले जीव! **अग्ने**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **विश्वरूपम्**=सारे ब्रह्माण्ड को रूप देनेवाले **वासः**=उस आच्छदक-वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले प्रभुरूप वस्त्र को **संव्यस्व**=उत्तमता से धारण कर। जब प्रभु मेरा वस्त्र होंगे, मैं प्रभुरूप वस्त्र से आच्छादित होऊँगा तब वासनाओं की सर्दी-गर्मी व वर्षा-ओले मेरी हानि करनेवाले न होंगे। प्रभु ही उपस्तरण हैं, प्रभु ही अपिधान तब उस प्रभु में सुरक्षित होकर मैं कहीं भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त

कैसे हो सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभुरूप वस्त्र को धारण करने पर मैं सर्दी-गर्मीरूप वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—विश्वमनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उठ खड़ा हो

उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।

दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः॥४१॥

प्रभु कहते हैं कि—१. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। उदास व निराश बनकर पड़ा मत रह। २. **स्वध्वरावा**=(सु अध्वर अव)=उत्तम-हिंसा-शून्य कर्मों की रक्षा करनेवाला बन। ३. हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **नः**=हमारे पास **आयाहि**=आ! किस प्रकार! (क) **देव्या धिया**=(देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्ध्या—म०) इस संसार में प्रत्येक स्थिति को क्रीड़ापरक बुद्धि sportsman like spirit से लेते हुए, जय-पराजय में सम रहते हुए। दूसरे शब्दों में, स्थितप्रज्ञता के द्वारा। (ख) **दृशे च**=और सब संसार को ठीक रूप में देखने के लिए **बृहता भासा**=वृद्धिशील दीप्ति से—बढ़ते हुए ज्ञान से। नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बढ़ती हुई ज्ञान-दीप्ति ही तो तुझ मेरे सान्निध्य को प्राप्त कराएगी। (ग) इस प्रकार **सुशुक्वनिः**=(**साधु शुचो रश्मीन् वनति सम्भजति**—म०)। उत्तम ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला तू **सुशस्तिभिः**=उत्तम कीर्तियों के द्वारा। उत्तम कर्मों के कारण प्राप्त यश के द्वारा तू हमारे समीप आनेवाला बन। ४. संक्षेप में, हृदय में दिव्य विचारों के द्वारा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा, मस्तिष्क में वर्धमान ज्ञानाग्नि के द्वारा तथा हाथों में उत्तम यशस्वी कर्मों के द्वारा तू हमारे पास आनेवाला बन।

भावार्थ—तू उठ खड़ा हो, अहिंसात्मक कर्मोंवाला बन। पवित्र बुद्धि, बढ़ते हुए ज्ञान तथा उत्तम प्रशंसनीय कर्मों से हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तैयार पर तैयार—सदा उद्यत

ऊर्ध्वऽऊ षु णऽऊतये तिष्ठा देवो न सविता।

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥४२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वमना वैयश्व'=नैत्यिक स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर 'कण्व' मेधावी बना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ऊ**=निश्चय से आप **नः**=हमारी **सुऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् तैयार-पर-तैयार हैं। २. **सविता देवः न**=ऊपर खड़े सूर्य की भाँति आप भी हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा तो निरन्तर चलती ही है। ३. **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञानों के **सनिता**=संविभक्ता—देनेवाले आप **ऊर्ध्वः**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् शक्ति व ज्ञान देने के लिए सदा उद्यत हैं। ४. **यत्**=ज्योंहीं हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज गतौ) क्रियाशील, कर्मठ **वाघद्भिः**=ज्ञान-निधि का वहन करनेवालों (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः) के साथ **विह्वयामहे**=विविध विषयों पर ज्ञान की विशिष्ट चर्चा करते हैं। हम विद्वानों के साथ ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें, वे प्रभु अवश्य हमारा रक्षण करेंगे—ऊर्ध्वस्थित सूर्यदेव के समान सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और शक्ति व ज्ञान देंगे।

भावार्थ—हम विद्वानों के सम्पर्क से मेधावी बनकर प्रभु से यही आराधना करें कि १. प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए। २. हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए। ३. शक्ति व ज्ञान दीजिए।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रित का प्रभु-स्तवन

स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृतऽओषधीषु।

चित्रः शिशुः परि तमांश्स्यक्तून् प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद् गाः॥४३॥

१. गत मन्त्रों का मेधावी (कण्व) अपने ज्ञान को बढ़ाकर 'त्रित'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैरनेवाला बनता है। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' तीनों का विस्तार करता है (त्रीन् तरति, त्रीन् तनोति इति त्रितः) और इन शब्दों में प्रभु-स्मरण करता है कि—२. **जातः**=सदा से प्रसिद्ध (प्रादुर्भूत) **सः**=वह आप **रोदस्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के **गर्भः**=गर्भ हो। आपने सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में धारण किया हुआ है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**) ३. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **चारुः**=आप सुन्दर-ही-सुन्दर हो अथवा सारे संसार को गति देनेवाले हो (चारयति=भ्रामयन् सर्वभूतानि)। ४. **ओषधीषु**=दोषों का दहन करनेवाली इन ओषधियों-वनस्पतियों के होने पर **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किये गये हो, अर्थात् जब एक भक्त वानस्पतिक सात्त्विक भोजन से अपने अन्तःकरण की शुद्ध कर लेता है तब आप उसके हृदय में आविर्भूत होते हैं। भक्तों के पवित्र हृदय ही आपके निवास-स्थान होते हैं। ५. उन हृदयों में स्थित हुए-हुए आप **चित्रः**=(चित्-र) संज्ञान देनेवाले हैं। ६. **शिशुः** (शो तनूकरणे)=भक्त की बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाते हैं। ७. **तमांसि परि**=अन्धकारों को दूर करते हो (**परि**=वर्जन) **अक्तून् प्र**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो (**प्र**=बढ़ाना) ८. **मातृभ्यः**=प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर करनेवाले के लिए अथवा ज्ञान का निर्माण करनेवालों के लिए **गाः**=वेदवाणियों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन उच्चारण करते हो। बादल की गर्जना की भाँति हृदयस्थ प्रभु से वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा है। हम यदि नहीं सुनते तो इसमें हमारा ही दुर्भाग्य है। हम माता=बड़ा माप-तोल कर चलनेवाले बनें, ज्ञान के निर्माण की प्रबल कामनावाले हों तब अवश्य इन वाणियों को सुनेंगे।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन के लिए निर्दोष अन्तःकरण चाहिए। वे प्रभु हृदयस्थ हो वेदवाणियों का उच्चारण कर रहे हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया मपी-तुली हो तो हम अवश्य उन वाणियों को सुन पाएँगे।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु का त्रित को उपदेश

स्थिरो भव वीड्वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन्।

पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥४४॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था 'मपी-तुली क्रियावाले को प्रभु ज्ञानोपदेश देते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में वही उपदेश निर्दिष्ट हुआ है। उपदेश यह है—१. **स्थिरो भव**=तू स्थिर हो—चञ्चलता को छोड़ दे, प्रतिक्षण इधर-उधर भागा न फिर। २. **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। व्यर्थ की चञ्चलताओं को छोड़कर तू शान्त-वृत्तिवाला बन और अपनी शक्ति को नष्ट न होने देते हुए दृढ़ व पुष्ट अङ्गोंवाला हो। ३. **आशुःभव**=कर्मों में सदा व्याप्तिवाला हो

अथवा आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बन। **वाजी**=शक्तिशाली हो। **अर्वन्**=(अर्व हिंसायाम्) मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तू नष्ट करनेवाला हो। विघ्नों से न घबराता हुआ तू शक्ति-सम्पन्नता से कार्यों को शीघ्रता से पूर्ण करनेवाला हो। ४. **पृथुर्भव**=तू विशाल हृदयवाला हो। **सुषदः**=उत्तमता से इस घर में बैठनेवाला हो अथवा सदा उत्तम कार्यों में स्थित हो। ५. इस प्रकार **त्वम्** =तू **अग्नेः**=एक अग्रणी नेता के **पुरीषवाहणः**=पालन-पूरणादि उत्तम कर्मों को वहन करनेवाला होता है, अर्थात् अग्रणी बनकर तू इस प्रकार कार्य करता है कि सभी का पालन हो और उनकी कमियाँ दूर होकर वे पूरण हो पाएँ।

भावार्थ—हम अचञ्चलता, दृढाङ्गता, कार्यव्याप्तता, शक्तिमत्ता=विघ्नों का दूरीकरण—हृदय की विशालता, उत्तम कार्यों में स्थिति तथा नेता के पालनात्मक गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—चित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्पथ्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

कल्याण-अहिंसा

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥४५॥

१. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले! **त्वम्**=तू **मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः**=मानव प्रजाओं के लिए **शिवः भव** =कल्याण करनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो जिससे औरों का कल्याण-ही-कल्याण हो, अकल्याण नहीं। तू औरों का घात-पात करनेवाला न होकर औरों की रक्षा करनेवाला बन। २. तू **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **मा अभिशोचीः**=मत सन्तप्त कर **मा अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत कर, अर्थात् तीनों लोकों में रहनेवाले किसी भी प्राणी को तू दुःखी मत कर। तुझसे सभी का कल्याण ही हो। ३. प्राणियों की बात तो दूर तू **मा वनस्पतीन्**=वनस्पतियों की भी हिंसा मत कर। '**ओषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषम्**'=इस उपदेश के अनुसार ओषधि के मूल को विच्छिन्न करनेवाला न बन। इनके लोम-नखरूप फल-फूलों का ही प्रयोग करनेवाला बन।

भावार्थ—त्रित (काम, क्रोध, लोभ-विजयी) का जीवन लोक-कल्याण के लिए ही होता है, अकल्याण के लिए नहीं।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

तीन समुद्र

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भꣳसमुद्रियम्। अग्नऽआयाहि वीतये ॥४६॥

१. **वाजी**=गत मन्त्र की भावना के अनुसार सबके साथ मधुरता से वर्त्तता हुआ, शाक-सब्जियों का प्रयोग करता हुआ यह शक्तिशाली जीव **प्रएतु**=आगे और आगे बढ़े। उन्नति-पथ पर बढ़ता चले। २. **कनिक्रदत्**=यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ, **नानदत्**=साम-मन्त्रों की ध्वनिवाला, **रासभः**=ऋचाओं को बोलता हुआ, **पत्वा** (पद गतौ)=उनके अनुसार गति करके, अर्थात् उन यजुः, ऋक् व साम मन्त्रों को जीवन में क्रियान्वित करके, ३. **पुरीष्यम्**=सब सुखों का पूरण करनेवाली **अग्निम्**=अग्नि को, अर्थात् प्रभु को **भरन्**=अपने हृदय में भरण करता हुआ, ४. **आयुषः पुरा**=पूर्ण जीवन के अन्त से पहले **मा पादि**=यहाँ से मत जाए, अर्थात् पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाला बने। ५. **वृषाः**=शक्तिशाली और अपनी

शक्ति से सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला तू **वृषणं अग्निम्**=उस शक्ति व सुखों के वर्षक अग्रेणी प्रभु को **भरन्**=अपने अन्दर धारण करनेवाला बन। ६. उस प्रभु को जो **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं को गर्भ में धारण करनेवाले हैं व **समुद्रियम्**=समुद्र में निवास करनेवाले हैं। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्' ऋक्, यजुः, साम ही तीन प्रकार के मन्त्र हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं, इन सबमें परमात्मा का प्रतिपादन है, अतः प्रभु 'समुद्रिय' हैं। ७. इस समुद्रिय प्रभु को हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक जीव! तू **आयाहि**=प्राप्त हो। जिससे तू **वीतये**=सुखों को व्याप्त और अज्ञानान्धकार को दूर कर सके।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'ऋक्-यजुः-साम' मन्त्रों को पढ़कर उनके अनुसार क्रिया करते हुए जीवन-यापन करें, प्रभु को अपने हृदयों में धारण करके पूर्ण आयुष्य का उपभोग करें। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके प्रकाश को धारण करें।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऋत-सत्य व पुरीष्य अग्नि

ऋतꣳसत्यमृतꣳसत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳशिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वाऽअनिराऽअमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहि॥४७॥

१. गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में 'समुद्रिय'=प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन का चित्रण करते हैं। इन व्यक्तियों का निश्चय होता है कि हम **ऋतम्**=जीवन की भौतिक क्रियाओं में ऋत (right) को, सामाजिक शक्तियों में **सत्यम्**=सत्य को और आध्यात्मिक जीवन में **ऋतं सत्यं अग्निं पुरीष्यम्**=ऋत और सत्य के उत्पत्ति स्थान, सब सुखों का पूरण करनेवाले अग्रेणी प्रभु को **भरामः**=धारण करते हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनते हैं। वस्तुतः खाना-पीना, सोना-जागना आदि शारीरिक क्रियाएँ बिलकुल ठीक समय व स्थान पर हों, अर्थात् ऋत (right) हों, व्यवहार में सत्य होने से मन बिलकुल परिशुद्ध हो तथा उस ऋत और सत्य के उद्गम स्थान, सुखों के पूरक (पुरीष्य) प्रभु का स्मरण हो तो मनुष्य का अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल, सशक्त व सरस बना रहता है। २. एक बालक के जीवन को इस प्रकार का बनाने में आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे आचार्य 'ओषधया:' हैं, दोषों का दहन (उष दाहे) करनेवाले हैं। इन आचार्यों से कहते हैं कि **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **प्रतिमोदध्वम्**=आप आनन्दित होओ। **अत्र**=यहाँ **युष्माः अभि**=आपकी ओर (युष्मान्) **एतम्**=इस **शिवम्**=मङ्गल स्वभाववाले, जिसके अन्दर माता-पिता ने मङ्गलमयी वृत्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है, **अग्निम्**=जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है उसको **आयन्तम्** =आते हुए देखकर आप प्रसन्न हों। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि **'दमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा क्षमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा'** मुझे दम और क्षमवाले ब्रह्मचारी प्राप्त हों। इस प्रकार के विद्यार्थी का निर्माण आचार्य के लिए सुगम होता है। ३. विद्यार्थी कहते हैं कि हे आचार्य! **निषीदन्**=डाँवाँडोल न होते हुए—अवस्थित रूपवाले आप **विश्वाः**=सब **अनिरा** (अन्+इरा)= (इरा=godess of speech) ज्ञान की वाणियों की विरोधी **अमीवा**=बीमारियों को **व्यस्यन्**=हमसे दूर फेंकते हुए **नः**=हमसे **दुर्मतिम्**=दुर्मति को **अप जहि**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए। ४. एवं, यदि आचार्य अपना यह कर्त्तव्य समझेंगे कि ज्ञान की विघ्नभूत सब बीमारियों को दूर रखना

है और सु-मति को उत्पन्न करना है तो आचार्य सचमुच 'ओषधि' होंगे, विद्यार्थियों के दोषों का दहन करेंगे और ऐसे स्नातकों के जीवन में 'ऋत, सत्य व पुरीष्य अग्नि' का वास होगा।

भावार्थ—हमारा जीवन भौतिक क्षेत्र में ऋतवाला, व्यावहारिक क्षेत्र में सत्यवाला तथा अध्यात्म में 'पुरीष्य अग्निवाला' हो।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्यकुल से विद्यार्थी का समावर्तन

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भऽऋत्वियः प्रत्नꣳसधस्थमासदत्॥४८॥

१. **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **पुष्पवतीः**=उत्तम पुष्पोंवाली **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली वाणियों को **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण करो। **'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'** (नि० १।१८)। (क) अर्थ ही वाणी का पुष्पफल है। इस प्रकार आचार्य अर्थसहित वाणी का ज्ञान रखता है। (ख) अथवा 'यज्ञ' वाणी के पुष्प हैं और देवता उसके फल हैं, अतः आचार्य वाणी में निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाला और देवताओं के ज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। (ग) अथवा देवताओं का, अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान वाणी का पुष्प है और अध्यात्म व ब्रह्म-ज्ञान वाणी का फल है। एवं, आचार्य अपरा व परा दोनों ही ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला होता है। वह सम्पूर्ण ज्ञान का पारङ्गत है। ब्रह्मचर्यसूक्त में इसी दृष्टि से आचार्य को ज्ञान का समुद्र कहा है। २. आचार्य अपने समीप आये हुए विद्यार्थी को गर्भ में धारण करता है और उसे प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान न होने तक, अर्थात् तीन रात्रियों तक उदर में धारण करता है। आचार्यों से कहते हैं कि **अयम्**=यह **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भ में वास करनेवाला **ऋत्वियः**=समय पर दुबारा जन्म लेनेवाला ब्रह्मचारी है। **'तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः'**=इस उत्पन्न हुए विद्यार्थी को देखने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। ३. अब यह विद्यार्थी आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर में लौटता है और **प्रत्नम्**=अपने पुराने **सधस्थम्**=परिवार के व्यक्तियों के मिलकर ठहरने के स्थान में, अर्थात् पितृगृह में **आसदत्**=आसीन होता है। सारे अध्ययनकाल में २४, ४४ वा ४८ वर्ष इसका घर से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहा था, कुल ही उसका घर बन गया था। आज वह फिर पुराने घर में लौटता है।

भावार्थ—आचार्य परा व अपरा विद्या में निपुण हैं। विद्यार्थी आचार्य के समीप विद्या-ग्रहण के काल तक रहता है। समावृत्त होकर पुराने पितृगृह में लौटता है।

ऋषिः—उत्कीलः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के नेतृत्ववाला उत्कील

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ॥४९॥

१. आचार्यकुल में परा व अपरा विद्या का ज्ञान प्राप्त करके जब विद्यार्थी संसार में आता है तब हीन आकर्षणवाला नहीं बनता। इसकी रुचि उत्कृष्ट बनी रहती है और **उत्**=उत्कृष्ट लक्ष्य के साथ **कील**=अपने को बाँधनेवाला यह 'उत्कील' कहलाता है।

इस उत्कील से कहते हैं कि तू २. **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा** =शक्ति से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से ख़ूब चमकता हुआ हो। शक्ति की क्षीणता हीनाकर्षण, भोगवृत्ति में ही है। 'उत्कील' भोगों की ओर नहीं झुकता परिणामतः विशिष्ट शक्ति से देदीप्यमान होता है। ३. तू अपने जीवन से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **बाधस्व**=रोककर दूर रखनेवाला हो। द्वेषाग्नि में तूने जलते नहीं रहना। ४. **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को, अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को तू अपने से दूर रख। अपनी स्वार्थहानि करके भी तू परार्थ को सिद्ध करनेवाला बन। ५. **अमीवाः**=तू सब शारीरिक रोगों को अपने से दूर रख। शारीरिक रोग तुझे आक्रान्त न कर पाएँ। ६. तेरी सदा एक ही आराधना हो कि उस **बृहतः**=(बृहि वृद्धौ) सब वृद्धियों के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम कल्याणमय प्रभु के **शर्मणि**=शरण में **स्याम्**=होऊँ। प्रभु ही मेरी शरण हों, प्रभु पर ही मुझे आस्था हो। मैं यथासम्भव ब्रह्मनिष्ठ बन पाऊँ। ८. **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=शोभन पुकारवाले, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु के **प्रणीतौ**=प्रणयन में रहूँ, अर्थात् प्रभु जिधर ले-चलें उधर ही चलूँ। प्रभु नेता हों, मैं उनका अनुयायी होऊँ।

भावार्थ—उत्कृष्ट बन्धनवाला बनकर मैं शक्ति से चमकूँ। द्वेष, हिंसा व रोगों से दूर रहूँ। प्रभु की शरण में मेरा वास हो। प्रभु नेता हों मैं उनका अनुयायी बनूँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।।

मयोभुवः आपः

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥५०॥

१. 'उत्कील' गत मन्त्र का ऋषि था। उत्कील बनने के लिए यह जलों का ठीक प्रयोग करके जीवन को सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। इन स्यन्दमान जलों का **द्वि**=दो प्रकार से प्रयोग करने से यह 'सिन्धु द्वीप' कहलाता है (सिन्धवः द्विर्गता आपो यस्मिन्)। जलों का बाह्य व अन्तः समुचित प्रयोग करके यह जीवन को बहुत ही सुन्दर बनाता है। यह कहता है कि २. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले **ष्ठाः**=हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। **महे रणाय चक्षसे**=महान् रमणीय दर्शन, अर्थात् ब्रह्मदर्शन के लिए धारण करो, अर्थात् जलों के प्रयोग से जहाँ ऐहिक लाभ होता है और हमारे शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न बनते हैं, वहाँ इनका समुचित प्रयोग हमें आमुष्मिक लाभ भी प्राप्त कराता है और हम उस महान् रमणीय ब्रह्म का दर्शन करनेवाले होते हैं। ३. अथवा ये जल हमें (क) **महे**=महत्त्व के लिए धारण करें, हमारे शरीर का उचित भार बढ़ानेवाले हों। (ख) **रणाय**=रमणीयता के लिए हों, स्वास्थ्य का सौन्दर्य देनेवाले हों अथवा (रण शब्दे) शब्दशक्ति को बढ़ानेवाले हों, तथा दोष को दूर करें। (ग) और **चक्षसे** =हमारी दृष्टिशक्ति को ठीक करनेवाले हों।

भावार्थ—जलों का ठीक प्रयोग हमारा कल्याण करनेवाला है। हमें बल व प्राणशक्ति देनेवाला है, भार को ठीक करता है, शब्दशक्ति को बढ़ाता है और दीर्घदृष्टि देता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।।

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥५१॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=

उस रस का **नः**=हमें **इह**=इस मानव-जीवन में **भाजयत**=भागी बनाओ। हे जलो! **उशतीः**=सन्तान के भले की कामना करती हुई **मातरः इव**=माताओं के समान तुम हमारे लिए होओ। २. यहाँ 'रसः' शब्द का प्रयोग बड़ा सुन्दर संकेत कर रहा है कि हमें जल का रस लेना है, बड़ा स्वाद लेकर धीमे-धीमे उसे पीना है, उसे अपने अन्दर उलट नहीं लेना। 'We must eat water' अर्थात् 'हमें पानी को खाना चाहिए' इस वाक्य की भावना यही है। इस प्रकार जलों का रस ग्रहण करेंगे तो ये जल हमारे लिए माताओं के समान हितकर होंगे।

भावार्थ—हम जलों का आचमन करें। धीमे-धीमे पीएँ, तभी जल हितकर होंगे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।।

जनयथा

तस्मा॒ऽअरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥५२॥

१. हे जलो! **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस को पाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **गमाम**=जानेवाले हों, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करें, **यस्य क्षयाय**=(क्षयेण) जिस रस के निवास के कारण **जिन्वथ**=तुम प्रीणित करते हो, तृप्त करते हो। जलों में एक रस है जो एक अद्भुत तृप्ति अनुभव कराता है। शुद्ध जल से प्राप्त होनेवाली यह तृप्ति अन्य कितने भी स्वादिष्ट पेय-द्रव्यों से प्राप्त नहीं होती **'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा'**। २. **च**=और हे **आपः**=जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जननशक्ति से युक्त करो अथवा शक्तियों के प्रादुर्भाववाला करो। स्पष्ट है कि जलों के समुचित प्रयोग से जहाँ तृप्ति अनुभव होती है वहाँ ये जल हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले होते हैं और जननशक्ति की हीनता को दूर करते हैं।

भावार्थ—ये जल अपने अद्भुत रस से हमें प्रीणित करते हैं और शक्तियों के विकास के कारणभूत होकर जननशक्तियुक्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

सुजात

मि॒त्रः स॒ꣳसृज्य॑ पृ॒थि॒वीं भूमिं॑ च॒ ज्योति॑षा स॒ह।
सु॒जा॑तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा॒ सꣳसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५३॥

१. प्रभु सिन्धुद्वीप से कहते हैं कि तू **पृथिवीम्**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष (प्रथ विस्तारे) को **भूमिं च**=और जिसमें मनुष्य बना ही रहता है (भवन्ति यस्यां सा भूमिः), अर्थात् स्वस्थ शरीर को **ज्योतिषा**=मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञान की ज्योति के **सह**=साथ **संसृज्य**=मिलाकर **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हुआ है। जब मनुष्य हृदय, शरीर व मस्तिष्क तीनों का समानरूप से ध्यान करता है, तभी वह पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। २. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क के समविकासवाले **जातवेदसम्**=पर्याप्त धनवाले को (वेदस्=धन, 'विद्' लाभे) **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों का शिकार न होने देनेवाला करता हूँ। संसार में पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उचित धन भी आवश्यक है, क्योंकि निर्धनता मनुष्य की चिन्ताओं का कारण बन, उसे क्षीणशक्ति कर देती है। ३. **त्वा**=तुझ स्वस्थ व्यक्ति को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, अर्थात् तेरा जीवन प्रजाओं के हित के लिए हो।

भावार्थ—१. मनुष्य विशाल हृदय, स्वस्थ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला बनकर नीरोग व निष्पाप बनता है। २. यह समविकासवाला व्यक्ति उचित धन प्राप्त करके पूर्ण नीरोग होता है। ग़रीबी भी तो एक रोग ही है। ३. इस व्यक्ति को चाहिए कि अब लोकहित के कार्यों में संलग्न रहे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहत् ज्योतिः—शुक्रः

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्रऽइच्छुक्रो देवेषु रोचते॥५४॥

१. **रुद्राः**=वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बने हुए लोग अथवा (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभु का नामोच्चारण करके कार्यों में तत्पर हुए लोग **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयान्तरिक्ष से **संसृज्य**=संसृष्ट होकर, विशाल हृदय से युक्त होकर, उस पवित्र हृदय में **बृहत् ज्योतिः**=उस सदा बढ़ी हुई ज्योति, अर्थात् परमात्म-ज्योति को **समीधिरे**=सम्यक्तया समिद्ध करते हैं, अर्थात् विशालता से पवित्र हुए अपने हृदय में उस प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करते हैं। २. **तेषाम्**=इन परमात्मदर्शियों का **भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **इत्**=निश्चय से **अजस्रः**=निरन्तर होता है। इनके ज्ञान पर वासना का आवरण नहीं आता। ३. **शुक्रः**=यह अनावृत ज्ञानवाला पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में भी **रोचते**=चमकता है। 'शुक्र' शब्द के दो अर्थ हैं 'शुच् दीप्तौ'=(क) इसका ज्ञान चमकता हुआ होता है और (ख) (शुक् गतौ) यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। वस्तुतः यह ज्ञान और कर्म का समन्वय ही इसे देवों में भी देदीप्यमान करता है **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पण्डितः'** (क्रियावान् पुरुष ही पण्डित है)—इस उक्ति के अनुसार 'शुक्र' बनना आवश्यक है। ४. यह शुक्र अपने जीवन में 'शुक् गतौ' शरीर की क्रिया को, (शुचि=पवित्र) हृदय की पवित्रता को तथा 'शुक् दीप्तौ' मस्तिष्क की दीप्ति को समन्वित करके चलता है।

भावार्थ—१. वासनाओं को नष्ट करके हम पवित्र हृदय में प्रभु की ज्योति जगाएँ। २. उस ज्योति के जगने पर हमारा यह प्रकाश अविच्छिन्न हो, सतत रहनेवाला हो। ३. हम क्रियाशील, पवित्र व दीप्त बनकर देवों में भी शोभा पाएँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—सिनीवाली। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सिनीवाली

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥५५॥

१. जीवन को गत मन्त्र के अनुसार बनाने की इच्छावाला वह पुरुष जो स्वयं **कृत्वा**=(करोति=कृ+वन्) बड़ा क्रियाशील है वह, जो **सिनीवाली**=(चन्द्रकलायुक्त अमावास्या-भिमानिनी देवता) सदा आह्लाद की मनोवृत्ति से युक्त, कभी भी पति को न त्यागनेवाली, सदा साथ (अमा) रहनेवाली (वसु) तथा (सिन=अन्न, वल्=to increase) घर में अन्न को बढ़ानेवाली, न कि कपड़ों व अन्य टीप-टाप पर अधिक व्यय कर देनेवाली है **ताम्**=उसे **कृणोतु**=अपनी पत्नी बनाएँ। पत्नी कितनी भी अच्छी हो, पर पति को स्वयं भी **कृत्वा**=क्रियाशील होना है तभी उन्नति करना सम्भव होगा। २. कैसी कन्या को पत्नी बनाएँ? (क) **वसुभिः**

संसृष्टाम्=जो ब्रह्मचर्यकाल में वसुओं के सम्पर्क में आई है। वसु वे विद्वान् हैं जो मुख्यरूप से इस बात का ज्ञान देते हैं कि निवास के लिए क्या-क्या करना चाहिए, किन-किन बातों से बचना चाहिए तथा हमारा भोजनाच्छादन कैसा हो, जिससे हम रोगों से बचे रहें। संक्षेप में वसु वे हैं जो आयुर्वेद के आचार्य हैं। पत्नी के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि नीरोगता के दृष्टिकोण से घर का सारा प्रबन्ध उसी ने करना है। जो (ख) **रुद्रैः संसृष्टाम्**=वासनाओं का विनाश करने के लिए, मन को उत्तम बनाने के लिए उपदेश देनेवाले के सम्पर्क में आई है। पत्नी वही ठीक है जो कि वासनाओं से मुक्त होती है। (ग) **धीरैः संसृष्टाम्**=(धी+र) जो आत्म-ज्ञान देनेवालों के सम्पर्क में आई है, ऐसी पत्नी भोगप्रधान जीवनवाली न होगी। ३. **कर्मणाम्**=कर्मनिष्ठ, सदा क्रियाशील जीवन बितानेवाली को पत्नी बनाएँ। अकर्मण्य व आलस्य के स्वभाववाली गृहिणी वैषयिक वृत्ति होती है तथा उसका शरीर भी नीरोग नहीं होता। ४. **मृद्वीम्**=(Mild) कोमल स्वभाववाली को पत्नी बनाएँ। **हस्ताभ्याम्**=(हन् हिंसागत्योः) जो मार्ग में आये विघ्नों को विनष्ट करती हुई आगे बढ़ती है और विघ्ननाश व अग्रगति के गुणों के कारण मृद्वी=बड़े कोमल स्वभाववाली है। अकर्मण्य स्त्री अधिक बोलनेवाली व कर्कश स्वभाववाली होती है। उसके साथ तो गृहस्थ नरक-सा बन जाएगा।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो आयुर्वेद, मनोविज्ञान व आत्मविज्ञान का अध्ययन किये हुए है, जो क्रियाशील, कोमल स्वभाववाली है, सदा प्रसन्न रहनेवाली तथा घर में अन्न की वृद्धि करनेवाली है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उखां दधातु

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥५६॥

१. **सिनीवाली**=आह्लादयुक्त मनोवृत्तिवाली, सदा पति के साथ रहनेवाली **सुकपर्दा**=(सु-कस्य परम्=पूर्तिं ददाति) उत्तमता से सुख की पूर्ति करनेवाली, अर्थात् घर के वातावरण को सदा सुखद बनाये रखनेवाली **सुकुरीरा**=उत्तम शब्दों को देनेवाली, अर्थात् **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'**=पत्नी पति के लिए माधुर्यमयी, शान्ति देनेवाली वाणी बोले' इस मन्त्र के अनुसार सदा मधुर शब्दों को बोलनेवाली तथा **स्वौपशा**=(सु आ उप श) उत्तमता से, सब प्रकार से पति के समीप ही निवास करनेवाली, अर्थात् छोटी-छोटी बातों के कारण मायके न भाग जानेवाली **सा**=वह पत्नी, हे **महि अदिते**=महनीय अखण्डन की देवते! महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य की देवते। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उखाम्**=पतीली को **हस्तयोः**=अपने हाथों में **आदधातु**=धारण करे। २. 'पतीली को अपने हाथों में धारण करे' का अभिप्राय यह है कि रसोई के काम को नौकरों के हाथ में न सौंप दे। वस्तुतः स्वास्थ्य भोजन पर ही निर्भर है, अतः भोजन के विभाग को पत्नी ने स्वयं सँभालना है। नौकरों के बने भोजन में वह प्रेम नहीं होता जो पत्नी के हाथ से बने भोजन में उपलभ्य होता है। ३. भोजन को बनानेवाली यह पत्नी आह्लादमय मनोवृत्तिवाली है (सिनीवाली), उत्तम स्वास्थ्यप्रद भोजन से यह स्वास्थ्य के सुख को देनेवाली है (सुकपर्दा) भोजनादि परोसने के समय शुभ शब्दों का ही प्रयोग करनेवाली है (सुकुरीरा) सदा पति का साथ देनेवाली है (स्वौपशा)।

भावार्थ—पत्नी को भोजन का विभाग सदा अपने हाथ में रखना चाहिए। इसे नौकरों को नहीं सौंप देना चाहिए।

सूचना—आचार्य दयानन्द ने 'स्वौपशा' का अर्थ 'भोजन के अच्छे पदार्थ बनानेवाली' किया है। उव्वट ने अर्थ किया है—'उत्तम अवयवोंवाली'।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मखस्य शिरः

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि॥५७॥

१. गत मन्त्र की सिनीवाली **उखाम्**=पाकस्थाली को **शक्त्या**=शक्ति के दृष्टिकोण से **कृणोतु**=करे, अर्थात् जिन भी भोजनों का परिपाक करे उनमें दृष्टिकोण शक्ति का हो। भोजन का मापक स्वाद व सौन्दर्य न हो, अपितु पौष्टिकता हो। ३. **अदितिः**=घर में सबके स्वास्थ्य को अखण्डित रखनेवाली यह गृहिणी **बाहुभ्याम्**=अपने हाथों से **धिया**= बुद्धिपूर्वक **कृणोतु**=इस पाक को करे। 'बुद्धिपूर्वक करे' का अभिप्राय यह कि समझदारी से ऋतुओं के अनुसार भोजन बनाये। ऋतुओं का विचार न करके बनाया गया भोजन स्वास्थ्य को विकृत ही तो करेगा। ३. **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **यथा**=जैसे **उपस्थे**=गोद में धारण करती है, इसी प्रकार **सा**=वह गृहिणी **अग्निम्**=इस पाकाग्नि को **गर्भे**=अपने गर्भ में **आबिभर्तु**=धारण करे। माता को पुत्र प्रिय होता है, गृहिणी को पाकाग्नि प्रिय हो, वह भोजन को प्रेम से बनाती हो, उसे बेगार न समझती हो। ४. हे गृहिणि! वस्तुतः तू ही **मखस्य**=इस गृहस्थ-यज्ञ का **शिरः असि**=सिर है। इसका निर्भर तुझपर ही है। घर में प्रधान-स्थान पत्नी का ही होता है, वह जैसा चाहे घर को बना सकती है। तामस भोजनों के द्वारा वह सबकी वृत्ति को तामसी, राजसी भोजनों से वृत्तियों को राजसी, सात्त्विक भोजनों से वह सबके अन्तःकरणों को शुद्ध और पवित्र कर देती है। इसप्रकार घर में सर्वोपरि स्थान पत्नी का ही है। इस गृहस्थ-यज्ञ की मूल-सञ्चालिका वही है।

भावार्थ—१. पत्नी भोजनों को शक्ति के दृष्टिकोण से बनाये। २. अपने हाथों से बुद्धिपूर्वक भोजनों को बनाती हुई यह सबको स्वस्थ रखती है। ३. माता पाकाग्नि को अत्यन्त प्रिय वस्तु समझे, भोजन बनाने में उसे आनन्द आता हो। ४. सबके स्वास्थ्य की साधिका होने से पत्नी गृहस्थ-यज्ञ की मूर्धन्य है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्सङ्कृतिः[क], अभिकृतिः[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशाः

[क]वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानायाऽऽ[र]दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं

गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय ॥५८॥

१. हे पत्नि! **वसवः**=उत्तम निवास देनेवाले, आयुर्वेद के विद्वान् आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षा) **अङ्गिरस्वद्**=अङ्गिरा की भाँति, अर्थात् एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें, अर्थात् तू वसुओं के सम्पर्क में आकर आयुर्वेद को समझने के कारण सशक्त अङ्गोंवाली है, तेरा खान-पान प्राणशक्ति की रक्षा के दृष्टिकोण से होता है। **ध्रुवा असि**=तू इस पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है। **पृथिवी असि**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली है। (क) **मयि**=मुझमें **प्रजाम्**=प्रजा को **धारय**=धारण कर, अर्थात् गृहस्थ में हम दोनों के प्रवेश का उद्देश्य उत्तम सन्तान का निर्माण ही हो। (ख) **रायस्पोषम्** (धारय)=धन के पोषण को धारण करनेवाली हो। यह धन का पोषण तेरी मितव्ययिता से ही तो होगा। तेरा सारा व्यवहार 'समृद्धिकरण' होना चाहिए। (ग) **गौपत्यम्** (धारय)=तू गौपत्य को धारण कर। तेरी सहायता से मैं गोपति बनूँ, घर में गौ रखनेवाला बनूँ अथवा 'गावा इन्द्रियाणि' इन्द्रियों का पति, जितेन्द्रिय बन सकूँ। (घ) **सुवीर्यम्** (धारय)=जितेन्द्रियता के द्वारा तू उत्तम वीर्य को मुझमें धारण कर। (ङ) **यजमानाय** =यज्ञ के स्वभाववाले मेरे लिए **सजातान्**=मेरे सजातों को भी, बिरादरी के लोगों को भी तू धारण कर। जब पति यज्ञ के स्वभाववाला होगा तो सबसे मेल-जोल के कारण उनका धारण (खिलाना-पिलाना) भी आवश्यक हो जाता है। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम के धारणपूर्वक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें। **ध्रुवा असि**=तू पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है, **अन्तरिक्षम् असि** =सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। **मयि**=मुझमें **प्रजां धारय**=प्रजा को धारण कर, सन्तान को जन्म दे। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यजमान के लिए **सजातान्**=सजातों को धारण कर। ३. **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्योति को—ब्रह्म-ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला करें। **ध्रुवा असि**=तु ध्रुवा है। **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाली है, क्रीड़ादि स्वभाववाली है, तत्त्व को समझने के कारण सब बातों को sportsman like spirit में लेनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को तथा उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय सजातान्** (धारय)=मुझ यजमान के लिए मेरी बिरादरीवालों का उचित आतिथ्य करनेवाली बन। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव, **वैश्वानराः**=जो सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्मरण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्** =सरस अङ्गोंवाला करें। **ध्रुवा असि**=तू ध्रुवा है। **दिशः असि**=तू उत्तम निर्देशोंवाली—उत्तम सलाह देनेवाली है। सभी आनेवाले लोगों को उचित निर्देश देनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यज्ञशील के लिए **सजातान्**=सब बिरादारीवालों का धारण कर।

भावार्थ—पत्नी विशाल हृदयान्तरिक्षवाली, मध्यमार्ग पर चलनेवाली, प्रकाशमय

जीवनवाली तथा सभी को उचित निर्देश देनेवाली हो।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदितिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अदिति की रास्ना

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमुग्नये। पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति॥५९॥

१. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=अदिति के लिए **रास्ना**=मेखला है, अर्थात् अदिति बनने के लिए कटिबद्ध है। तुझे 'अदीना देवमाता' बनना है, सब प्रकार की दीनताओं से ऊपर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली बनना है। २. अब पिता सन्तान से कहता है कि **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **ते**=तेरे **बिलम्**=(भरण—द०) भरण-पोषण को **गृभ्णातु**=स्वीकार करे, अर्थात् तेरा ऐसी उत्तमता से पालन करे कि तू सब रोगों से मुक्त, पूर्ण स्वस्थ हो और तुझमें अदीनता व दिव्य गुणों का विकास हो। ३. **सा अदितिः**=वह अदिति माता **महीम्**= अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उखाम्**=पाकस्थाली **कृत्वाय**=करके तथा **मृन्मयीम्**=मिट्टी के बने हुए **अग्नये योनिम्**=अग्नि के लिए स्थान को, अर्थात् चूल्हे को **कृत्वाय**=करके **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम भोजन को **प्रायच्छत्**=देती है, **श्रपयान् इति**=जिससे उनका ठीक परिपाक हो सके। ४. सन्तानों के जीवन का निर्माण बहुत कुछ भोजन पर निर्भर है। उस भोजन के परिपाक को गृहपत्नी अत्यन्त महत्त्व देती है। बच्चों की माता इस बात के लिए कटिबद्ध हो कि मैंने 'अदिति' बनना है। (क) सन्तानों के स्वास्थ्य को कभी खण्डित नहीं होने देना है, (ख) उन्हें अदीन बनाना है, (ग) उनमें दिव्य गुणों का पोषण करना है।

भावार्थ—माता का मुख्य कर्त्तव्य बच्चों को स्वस्थ बनाना तथा उनके जीवन का उत्तम परिपाक करना है। इसी दृष्टिकोण से वह भोजन को महत्त्व देती है, क्योंकि भोजन ने ही उनके शरीर व मनों को स्वस्थ करना है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्संकृतिः। **स्वरः**—गान्धारः॥

धूपन (जितेन्द्रियता-निर्द्वेषता)

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु॥६०॥

१. हे जीव! **वसवः**=आयुर्वेद के आचार्य, उत्तम निवास का मार्ग सिखानेवाले विद्वान् **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षण की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, धूपित करें। जैसे धुआँ देकर किसी कमरे का संस्कार किया जाता है और उसके अन्दर होनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर दिया जाता है, इसी प्रकार प्राण-शक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा तेरे शरीर को संस्कृत करे, उसमें किसी प्रकार की अशुभ वासनाएँ न रहने से नीरोगता का निवास हो। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारण द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन पाये। तेरा प्रत्येक अङ्ग जीवनी-शक्ति के रस के सञ्चारवाला हो। ३.

आदित्याः=सूर्य समान ब्रह्म-ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की कामना से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बने। ५. (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ख) **वरुणः**=द्वेष-निवारण की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ग) **विष्णुः त्वा धूपयतु**=हृदय की विशालता तुझे संस्कृत करे। जीवन को पवित्र बनाने के लिए जितेन्द्रियता, द्वेष-निवारण तथा हृदय की विशालता तीनों आवश्यक हैं।

भावार्थ—'प्राण-रक्षण की इच्छा, काम-क्रोध-लोभ को रोकने की इच्छा, लोकहित की भावना, अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता तथा विशालता' ये बातें मानव-जीवन को संस्कृत करती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। **देवता**—अदित्यादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः[क], निचृत्प्रकृतिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], धैवतः[र]॥

प्रभु-दर्शन किसे?

[क]अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद॒भीन्धतामुखे॒ वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वच्छ्रू॑पयन्तूखे॒ ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे॒ जन॑य॒स्त्वाऽछि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒-स्वत्प॑चन्तूखे ॥६१॥

१. हे **अवट**=(वट परिभाषणे) अपरिभाषित, अनिन्दित (Parliamentary भाषा में named=परिभाषित) पूर्ण प्रशस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **अदितिः**=अदीना देवमाता **देवी**=दिव्य गुणोंवाली **विश्वदेव्यावती**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=इस विशाल हृदयाकाश के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनतु**=खोजे। 'अङ्गिरस्' हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, इसी प्रकार यह अदीन बनकर, दिव्य गुणों के निर्माण व रक्षणवाली बनकर उस प्रभु को देखती है। २. **उखे**= (उत्खन्यते इति उत्खा=उखा, परोक्षप्रियत्वात् देवानाम्) अन्नमयादि कोशों को उखाड़ते-उखाड़ते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **देवानां पत्नी**=देवों की पत्नियाँ, **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयदेश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**= अङ्गिरस् की भाँति **दधतु**=धारण करें। ३. हे **उखे**=एक-एक कोश को खोजते-खोजते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखनेवाले प्रभो! **त्वा**=तुझे **धिषणाः**=बुद्धि की पुञ्जभूत **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ, **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयाकाश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **अभीन्धताम्**=दीप्त करें। ४. हे **उखे**=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्) खोजने योग्य (खन्) प्रभो! **त्वा**=आपको

वरूत्रीः=द्वेषादि का निवारण करनेवाली और इस प्रकार **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **श्रपयन्तु**=परिपाक करें। अपने हृदय में तेरी ही भावना को दृढ़मूल करें। ५. **उखे**=हे भोगों से ऊपर उठकर खोजने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **ग्नाः**=छन्दों का अध्ययन करनेवाली देवपत्नियाँ **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=विशाल हृदयान्तरिक्ष के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **पचन्तु**=विकसित (Develop) करती हैं, अर्थात् उस प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखती हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनने का प्रयत्न करती हैं। ६. हे **उखे**=आत्मन्! **त्वा**=आपको **जनयः**=उत्तम माता बननेवाली **अछिन्नपत्राः**=अविच्छिन्न गतिवाली (पत् गतौ) अर्थात् निरन्तर क्रियाशील **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः सधस्थे**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष के सहस्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **पचन्तु**=विकसित करें।

भावार्थ—१. प्रभु 'अवट'=अनिन्दित व 'उखा'=भोगों से ऊपर उठकर देखने योग्य हैं। २. प्रभु-दर्शन करनेवाला अङ्गिरस्=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला बनता है। ३. प्रभु-दर्शन विशाल हृदयान्तरिक्ष में होता है। ४. प्रभु-दर्शन 'अदिति, देवपत्नी, धिषणा, वरूत्री, ग्ना, आच्छिन्नपत्रा, जनयः तथा देवी विश्वदेव्यावती' को होता है। अदीना देवमाता, देवपत्नी, बुद्धिमती, द्वेष से शून्य, छन्दोमय जीवनवाली, निरन्तर क्रियाशील उत्तम माता—प्रकाशमय जीवनवाली, दिव्यताओं की रक्षिका ही प्रभु-दर्शन के योग्य है।

सूचना—यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रभु-दर्शन के प्रसङ्ग में दर्शक के सब नाम स्त्रीलिङ्ग में हैं। सम्भवतः प्रभु पति हैं और उनका दर्शन करनेवाला जीव पत्नी है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—निचृद्गायत्रीः। **स्वरः**—षड्जः॥

विश्वामित्र

मि॒त्रस्य॑ चर्षणी॒धृतोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि। द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम्॥६२॥

गत मन्त्र का प्रभु-दर्शन करनेवाला प्राणिमात्र का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह विश्वामित्र कहता है कि—१. (क) **मित्रस्य**=(ञिमिदा स्नेहने) सभी जीवों के साथ स्नेह करनेवाले अथवा (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व मृत्यु से बचानेवाले (ख) **चर्षणीधृतः**=(चर्षणयः कस्मात् कर्षणयो भवन्ति) कृषि आदि श्रम करनेवालों के पालक (ग) **देवस्य**=सारे व्यवहारों के साधक प्रभु का **अवः**=रक्षण (क) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय (ख) **चित्रश्रवस्तमम्**=(श्रवः=यश) अत्यद्भुत यश और **सानसि**=(षणु दाने) उत्तम फलों को देनेवाला है, २. अर्थात् विश्वामित्र प्रभु को 'मित्र' के रूप में देखता हुआ कहता है कि वे प्रभु सभी के साथ स्नेह करते हैं, सभी को रोगों व पापों से बचाते हैं। वे प्रभु श्रमशील जीव का धारण करने से 'चर्षणीधृत्' हैं। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'**। प्रभु से देवत्व को प्राप्त हुए-हुए ये सब देव श्रमशील के अनुकूल होते हैं। प्रभु 'देव' हैं, वे भक्त के जीवन को क्रियाशून्य नहीं होने देते, अपितु उसके जीवन को सदा प्रकाशमय रखते हैं। ३. प्रभु-दर्शन से सब सम्भजनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं (सानसि), जीवन प्रकाशमय बनता है (द्युम्नं) तथा अद्भुत यश की प्राप्ति होती है (चित्रश्रवस्तमम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें। प्रभु-भक्त सभी का मित्र होता है, सभी का धारण

करता है, सभी के कामों को सिद्ध करता है। यह स्वयं सम्भजनीय वस्तुओं को प्राप्त करता है, ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है, संसार में यशस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

उद्वपन

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण॥६३॥

१. हे प्रभु-भक्त! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब दिव्य गुणों के बीज बोनेवाला, दैवी सम्पत्ति का स्वामी प्रभु **उद्वपतु**=उत्कृष्ट दिव्य बीजों से उप्त करे। तेरे हृदयक्षेत्र में प्रभु द्वारा उत्तम गुणों के बीज बोये जाएँ, परिणामतः २. तू उत्तम हाथोंवाला **सुपाणिः**=बन, तेरे हाथ सदा औरों की रक्षा के लिए विनियुक्त हों (पा रक्षणे)। वही हाथ पाणि है जो रक्षा में विनियुक्त होता है। ३. **स्वंगुरिः**=तू उत्तम अँगुलियोंवाला हो। (अगि गतौ) तेरी अंगुलियाँ सदा कार्यव्यापृत हों। इन्हें वेद में 'दीधिति' नाम भी दिया जाता है 'धीयन्ते कर्मसु' जो सदा उत्तम कर्मों में लगी रहती हैं। ४. **सुबाहुः**=तू उत्तम बाहुओंवाला हो (बाहृ प्रयत्ने)। तेरे प्रयत्न सदा उत्तम हों। ५. **उत**=और **शक्त्या**=शक्ति के कारण **अव्यथमाना**=कभी श्रान्त न होता हुआ तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर अथवा **दिशः**=सब दिशाओं को **आशाः आपृण**=आशाओं से परिपूर्ण कर दे, अर्थात् तू सर्वत्र आशावाद का सञ्चार करनेवाला बन। हमारे उत्तम प्रयत्नों का परिणाम इतना तो होना ही चाहिए कि कहीं भी निराशा न हो। घर के सब व्यक्तियों का जीवन आशामय हो। ६. यहाँ मन्त्र में क्रम यह है कि (क) उत्तम गुणों का बीज बोया जाए (ख) हम सुपाणि, स्वंगुरिः व सुबाहु बनकर अश्रान्त होते हुए शक्तिपूर्वक कार्य करें जिससे सर्वत्र सुख-ही-सुख हो और चारों ओर आशावाद का सञ्चार हो। (ग) इस क्रम से यह बात स्पष्ट है कि क्रियाशीलता में ही गुणों का वास है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उत्तम गुणों के बीज ही अंकुरित हों और हम अनथकभाव से सदा कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—मित्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाकस्थाली

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि॥६४॥

१. हे प्रभु-भक्त पत्नि! **उत्थाय**=उठकर, आलस्य छोड़कर **बृहती भव**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाली हो। आलस्य में गुणों का वास नहीं, गुण क्रियाशीलता में ही रहते हैं। गत मन्त्र में मूल भावना यही थी। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** योगी लोग आत्म-शुद्धि के लिए सदा अनासक्तभाव से कर्म करते हैं, अतः तू २. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=सदा विषयासक्ति से ऊपर उठी रह। क्रियाव्यापृत व्यक्ति विषयों से बचा रहता है। ३. वैषयिक वृत्तिवाली न होने से **त्वम्**=तू **ध्रुवा**=स्थिर हो। विषय-वासना हमारे जीवनों को भटकनेवाला बना देते हैं। ४. हे **मित्र**=अपने को पापों से बचाकर पवित्र बने रहनेवाले व्यक्ति! **एताम्**=इस **ते**=तुझे **उखाम्**=पाकस्थाली को **परिददामि**=देता हूँ, इसलिए देता हूँ कि **अभित्या**=अ-भेदन हो। **एषा**=यह पत्नी **मा भेदि**=तुझसे भिन्न न हो जाए। यह पतिव्रतत्व

को छोड़कर परपुरुषासक्तिवाली न हो जाए। ५. मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि पत्नी कार्यव्यापृत हो। मनु ने पत्नी के लिए **'गृहकार्येषु दक्षया'**='घर के कार्यों में वह चतुर हो' इन शब्दों से यही संकेत किया है कि पत्नी को सदा कार्यव्यापृत रखना आवश्यक है। पत्नी के लिए पाकस्थाली की अध्यक्षता ही ऐसी है जो उसे अवकाश प्राप्त न होने देगी। इस कार्य का संकेत इसलिए भी हुआ है कि यही कार्य स्वास्थ्य का मूल साधन है। ऋतुओं के अनुकूल अन्न का ठीक परिपाक सभी को स्वस्थ रक्खेगा।

भावार्थ—पत्नी आलस्य शून्य हो, विषयों से ऊपर उठी हुई, घर में स्थिरता से रहे। घर के पाकादि कार्यों में अपने को व्यापृत रक्खे, जिससे वृत्ति सदा स्वस्थ रहे।

ऋषि:—विश्वामित्र:। **देवता**—वस्वादयो लिङ्गोक्ता:। **छन्द:**—भुरिग्धृति:। **स्वर:**—ऋषभ:॥

उच्छर्दन

वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाछृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानराऽआछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥६५॥

१. हे प्रभु-भक्त! **वसव:**=उत्तम निवास की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे **अङ्गिरस्वत्**=तू अङ्गिरस् की भाँति बन सके। २. **रुद्रा:**=वासनाओं के विनाश की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ३. **आदित्या:**=सूर्यसम-ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **त्वा**=तुझे **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ४. **वैश्वानरा:**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवा:**=सब देव (विद्वान्) **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **आछृन्दन्तु**=सर्वत: दीप्त करनेवाले हों, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ५. चार बातें ही हमें **अङ्गिरस्**=जीवन-शक्ति से परिपूर्ण, रसमय अङ्गोंवाला बना सकती हैं—(क) प्राणरक्षण की इच्छा, प्राणशक्ति को क्षीण न होने देने की प्रबल भावना (ख) काम, क्रोध व लोभ को रोकना (ग) जगती के हित में प्रवृत्त रहना, तथा (घ). अनुक्षण प्रभु-चिन्तन, उसी के नाम का जप, उसी का स्मरण। ६. वसुओं, रुद्रों, आदित्यों व विश्वेदेवों ने इन्हीं भावनाओं को हममें भरने के लिए यत्नशील होना है। ७. इन भावनाओं से ही हमारा जीवन दीप्त हो सकेगा।

भावार्थ—हम प्राणरक्षण, 'काम, क्रोध व लोभ'—निवारण, जगती के हित की कामना तथा प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन से अपने जीवनों को दीप्त करें।

ऋषि:—विश्वामित्र:। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता:। **छन्द:**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

मनु प्रजापति व वैश्वानर अग्नि

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳस्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

१. विश्वामित्र निश्चय करता है कि **आकूतिम्**=(बलं आत्मनो धर्मो: मनस:

प्रेरणहेतुः—उ०, संकल्पः—म०) संकल्प को, जो **अग्निम्**=अग्रगति का साधन है, **प्रयुजम्**=(प्रयुङ्क्ते कर्मणि—उ०) और मनुष्य को कर्म में प्रेरित करता है, उसे **स्वाहा**=(सु+आह) मैं प्रशंसित करता हूँ। २. **मनः**=अनुष्ठेय (कर्त्तव्य) के स्मरण-साधन मन को, **मेधाम्**=ऋत-ज्ञान की धारणशक्ति मेधा को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्** =प्रकृष्ट कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ३. **चित्तम्**=स्मरण-साधन चित्त को **विज्ञातम्**=चित्त से सम्यक् अवगत कर्त्तव्य-ज्ञान को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में प्रेरित करनेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ४. **वाचः विधृतिम्**=वाणी के विशिष्ट धारण को, व्यर्थ न बोलने, अर्थात् मौन को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में लगानेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ५. **प्रजापतये मनवे**=प्रजाओं के रक्षक विचारशील पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसात्मक शब्द कहता हूँ। ६. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों के हित करनेवाले **अग्नये** =अग्रेणी पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसा के शब्द कहता हूँ। ७. जिन बातों को हम अच्छा समझते हैं धीमे-धीमे उन्हीं के धारण का प्रयत्न करते हैं, अतः हम अपने जीवन में 'संकल्प, मननशक्ति, मेधाचित्त, विज्ञात तथा वाचो विधारण' मौन को धारण करें तथा अपने जीवन का लक्ष्य यह रक्खें कि हम विचारशील प्रजापति बनेंगे अथवा सभी का हित करनेवाले नेता बनेंगे (मनु प्रजापति या वैश्वानर अग्नि)।

भावार्थ—हमें 'संकल्प, मनन, मेधाचित्त, विज्ञात व नपे-तुले शब्दों को बोलने की वृत्ति' को धारण करना चाहिए, जिससे हम विचारशील प्रजापति बन सकें अथवा सबका हित करनेवाले अग्रणी बन पाएँ।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

धन-पोषण के लिए

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइषुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥६७॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'विश्वामित्र' था। विश्वामित्र वही बन पाता है जो 'आत्रेय' हो। 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से परे हो। यह आत्रेय कहता है कि—१. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट सभी मनुष्य उस **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **नेतुः**=सभी के सञ्चालक प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरें। मनुष्य को चाहिए यही कि प्रभु की मित्रता में निवास करे, प्रकृति का मित्र न बन जाए। प्रकृति की मित्रता में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की तो कथा ही नहीं, वहाँ मनुष्य अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. परन्तु न जाने फिर भी **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=चाहता है। धन ही सबको प्रिय होता है। ३. वस्तुतः इस संसार-यात्रा के लिए धन आवश्यक भी है, इसके बिना एक भी पग चलना सम्भव नहीं, अतः धन को भी हम चाहें तो अवश्य, पर उतने ही **द्युम्नम्**=अन्न व धन को **वृणीत**=वरो जो **पुष्यसे**=पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह भी मार्ग है कि हम धन को आवश्यक होने से लें तो, परन्तु उस धन को उतनी ही मात्रा में लें जितनी कि इस भौतिक शरीर के लिए आवश्यक है। ४. संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त न होने का यही तो उपाय है कि हम धनासक्ति से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता का वरण करें। यह अद्भुत बात है कि सब कोई धन

की कामना करता है। धन की कामना करनी चाहिए, परन्तु हमें उतना ही धन जुटाना चाहिए जिससे हमारी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अ-भेद्य

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः॥६८॥

पति पत्नी से कहता है कि १. **सु**=(सु अति=स्वति पूजायाम्) हे प्रशंसनीय पत्नि! **मा भित्थाः**=तू मेरी मित्रता से पृथक् मत होना, तेरा और मेरा मनभेद न हो। २. **सु**=हे उत्तम जीवनवाली! **मा रिषः**=तूने हिंसित नहीं होना। वस्तुतः पति-पत्नी की मित्रता ठीक बनी रहे तो घर फूलता-फलता है, हिंसित नहीं होता। ३. **अम्ब**=हे मेरी सन्तानों की माता! तू **धृष्णु**=प्रगल्भता से **वीरयस्व**=वीर कर्म करनेवाली बन। माता को चाहिए कि उसका कोई भी कर्म निर्बल न हो, वह विघ्नों से घबरानेवाली न हो। ४. हे मातः! तू **अग्निः च**=और यह अग्नि **इदम्**=इस पाचन-कर्म को **सुकरिष्यथः**=उत्तमता से करोगे।

भावार्थ—१. पत्नी को पति के साथ अभिन्न मैत्रीपूर्वक रहना चाहिए। २. उसके प्रत्येक कर्म में शक्ति का प्रकाश हो। ३. वह पाचन-कर्म को उत्तमता से करनेवाली हो।

ऋषिः—आत्रेयः। **देवता**—अम्बा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽआसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्यऽइदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽअस्मिन्॥६९॥

१. हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **पृथिवि**=विशाल हृदयान्तरिक्षवाली! तू **दृंहस्व**=दृढ़ बन। घर में स्थिरता से रहनेवाली बन और **स्वस्तये**=घर की उत्तम स्थिति के लिए हो। जब पत्नी घर में दृढ़तापूर्वक नहीं रहती तो वह घर को उत्तम कभी नहीं बना पाती। २. तू **आसुरी**=(असु=प्राण) प्राणसम्बन्धिनी **माया**=प्रज्ञा **असि**=है, अर्थात् तू इतनी समझदार है कि अपनी पाचन-क्रिया से सिद्ध भोजन के द्वारा सभी के प्राणों का पोषण करनेवाली है। ३. **स्वधया**=अन्न के हेतु से **कृता असि**=तू (कृती कुशलः) बड़ी कुशल है, अन्न-पाचन में तू पूरी निपुण है। ४. **इदम्**=यह तुझसे पकाया हुआ **हव्यम्**=दानपूर्वक खाने योग्य अन्न **देवेभ्यः**=अग्न्यादि देवों से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित **अस्तु**=हो, अर्थात् अग्नि में आहुति देने के बाद हम सिद्ध अन्न का सेवन करनेवाले हों। अग्निमुख से वह अन्न देवों में पहुँचे और फिर यज्ञशेषरूप अमृत का हम सेवन करनेवाले हों। ५. **अरिष्टा त्वम्**=अहिंसित होती हुई तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ यज्ञ में **उदिहि**=उन्नति को प्राप्त हो।

भावार्थ—१. पत्नी को गृह में स्थिर होकर रहना है। २. उसे ज्ञानपूर्वक भोजन बनाना है, जिससे सभी की प्राणशक्ति बढ़े। ३. अन्न-पाचन में वह कुशल हो। ४. यज्ञ करके यज्ञशेष ही सबको देनवाली हो। ५. इस यज्ञशेष के सेवन के परिणामरूप अहिंसित होती हुई यह गृहस्थ यज्ञ को खूब उन्नत करनेवाली हो।

सूचना—पत्नी के कर्त्तव्यों के निर्देशक मन्त्र आत्रेय ऋषि के थे। पत्नी के साथ व्यवहार में पति ने आत्रेय ही बनना है—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठना है। अब अगले मन्त्र में पत्नी पति से कहती है। इस मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' है। सोम की आहुतिवाला,

अर्थात् सौम्य भोजन करनेवाला। यह सौम्य भोजन करनेवाला व्यक्ति क्रोधादि से ऊपर उठेगा ही।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पति

द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रोऽअद्भुतः ॥७०॥

१. पत्नी पति से कहती है—तू **द्रु+अन्नः**=वनस्पति भोजनवाला है। तू वानस्पतिक भोजन ही करता है, मांस-भोजन नहीं। २. **सर्पिः आसुतिः**=घृत ही तेरा आसव=मद्य हो। घृत ही तुझे मद्य के समान आनन्द देनेवाला हो। ३. तू **प्रत्नः होता**=पुराना होता हो, अर्थात् वंश-परम्परा से दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। तुम्हारे कुल की रीति ही दानपूर्वक अदन करने की हो। पति जहाँ मद्य-मांस का सेवन करनेवाला न हो वहाँ सदा दानपूर्वक खानेवाला हो, अर्थात् यज्ञशेष का ही खानेवाला हो। ४. **वरेण्यः**=तू वरणीय हो। सभा-समाजादि में तुझे लोग प्रधानरूप से चुनें, अथवा तू उत्तम वरण करनेवाला हो, अर्थात् तू कभी ग़लत चुनाव न करे। परमात्मा व प्रकृति में से तू प्रकृति को न चुन (धन व ज्ञान में धन तेरा चुनाव न हो जाए। प्रेय और श्रेय में कहीं तू प्रेय का वरण करनेवाला 'मन्द' न बन जाए)। ५. **सहसस्पुत्रः**=तू बल का पुत्र हो, अर्थात् खूब बल-सम्पन्न हो। ६. **अद्भुतः**=तेरी उन्नति अभूतपूर्व हो। तू आश्चर्यरूप अनन्यसदृश हो।

भावार्थ—आदर्श पति सौम्य भोजनोंवाला हो, मद्य-मांस से ऊपर उठा हुआ हो। दान की वृत्तिवाला हो। ठीक चुनाव करनेवाला हो। शक्ति का पुञ्ज बने और अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वर वधू से

परस्याऽअधि संवतोऽवराँ२॥ऽअभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२॥ऽअव ॥७१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है, विशिष्ट रूपवाला। यह वधू से कहता है कि १. अब तू मुझसे 'ऊढ़' (विवाहित) हुई **यत्र अहम् अस्मि**=जहाँ मैं हूँ **तान्**=उन्हें (मेरे घरवालों को) **अव**=पालन करनेवाली बन। तू मेरे घर को ही अपना घर समझनेवाली हो। ३. **संवतः**=(संवन्वते=संभजन्ते) उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाले **अवरान्**=अपने समीप के माता-पिता को व अन्य बन्धुओं को **अभ्यातर**=तैरकर अब तू इस पतिकुल की ओर आ जा। तेरा जीवन का पहला काल अपने बन्धुओं में ही बीता है, उन्होंने तुझे बड़े प्रेम से पाला है, परन्तु अब **परस्याः अधि**=अपनी दूसरी-अगली उत्कृष्ट जीवन-यात्रा का प्रकर्षेण ध्यान करती हुई तू उन सब सम्बन्धों को तैरकर इस पतिकुल में प्रवेश करनेवाली हो। ३. पितृगृह काल के दृष्टिकोण से 'अवर' है, पतिगृह 'पर'। 'पितृगृह' कन्या के दृष्टिकोण से इसलिए भी अवर है कि उसे बनानेवाली कन्या की माता है, परन्तु पतिगृह का निर्माण इसे स्वयं करना है, अतः कन्या के लिए यही 'पर' है। ४. यदि कन्या पितृगृह को भूल पाती है तभी वह पतिगृह का निर्माण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—कन्या के लिए पितृगृह 'अवर' व पतिगृह 'पर' होना चाहिए। वह पतिगृह का निर्माण करती हुई उस घर में सबका पालन करनेवाली बने।

ऋषिः—वारुणिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।।

वधू वर से

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वन्तरा मृधः ॥७२॥

प्रस्तुत मन्त्र में दूर-दूर से आये हुए व्यक्तियों में से वधू एक का वरण करती है। यह निश्चित है कि वह औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ रूपवाले 'विरूप' का ही वरण करेगी, अतः यह विरूप यहाँ 'वारुणि' हो जाता है। २. वधू वारुणि के विषय में कहती है कि यह **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर देश से आया है। स्पष्ट है कि सम्बन्ध करने में 'दूरी' पहली सोचने योग्य बात है। समीपता में गुण-दोषों का पूर्व परिचय होने से उतना प्रेम नहीं बन पाता। इसी दृष्टि से 'दुहिता' की व्युत्पत्ति यास्क 'दूरे हिता' ही करते हैं। ३. **रोहिदश्व**=(रुह=प्रादुर्भाव, अश्व=इन्द्रियाँ) प्रादुर्भूत शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियोंवाले वर! **इह आगहि**=आप इस घर में आओ। कन्या यह चाहती है कि उसके वरण के लिए ऐसे ही युवक आएँ जिन्होंने अपनी सब इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास किया है। वह उनमें से ही श्रेष्ठ का वरण करेगी। ४. **पुरीष्यः**=आप पालन-कर्म में उत्तम हो। पति बनने की यह भी आवश्यक योग्यता है कि वह कमानेवाला हो। जो धनार्जन नहीं कर सकता उसे गृहस्थ बनने का भी अधिकार नहीं है। ५. **पुरुप्रियः**=यह बड़ा या बहुतों का प्रिय हो। समाज में सभी को यह अच्छा लगे। यह किन्हीं का द्वेष्य न हो। यह झगड़ालू वृत्ति का न हो। ६. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **त्वम्**=तू **मृधः**=हमारा संहार करनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' को **तर**=तैर जा। पति के रूप में उसी का वरण करना चाहिए जो कामादि वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—पति की योग्यताएँ ये हैं—१. दूर का हो, नज़दीकी रिश्तेदार व परिचित न हो। २. विकसित इन्द्रिय-शक्तियोंवाला हो। ३. पालन करने की योग्यता रखता हो। ४. प्रिय हो। ५. काम, क्रोध व लोभादि वासनाओं को तैरे हुए हो।

ऋषिः—जमदग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

ये ही तिल-फूल

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥७३॥

जिस समय कन्या-पक्षवाले अपनी कन्या को योग्य वर के साथ परिणीत करते हैं तब उसके साथ 'सुदाय' (दहेज) के रूप में भी कुछ-न-कुछ देते ही हैं। उस धन को देते हुए वे कहते हैं कि १. हे **अग्ने**=प्रगतिशील युवक! **यत्**=जो **कानि-कानि चित्**=जिन किन्हीं भी **दारूणि**=लकड़ियों को **ते**=तेरे लिए **आदध्मसि**=धारण करते हैं **तत् सर्वम्**=वह सब **ते**=तेरे लिए **घृतं अस्तु**=घृत के तुल्य हो। इसी तिल-फूल को, 'पत्र-पुष्प' को तू बहुत समझना। २. **तत् जुषस्व**=उसी तुच्छ भेंट को तू प्रीतिपूर्वक सेवन करना। हमारी दी हुई यह मामूली भेंट भी आपसे आदर दी जाए। **यविष्ठ्य**=आप तो गुणों के ग्रहण व अवगुणों के दूर करनेवाले हैं। गुणों में प्रीति रखनेवाले आप इस भौतिक भेंट को बहुत महत्त्व न देंगे।

भावार्थ—वर को चाहिए कि वधू के गुणों को महत्त्व दे, न कि वधू-गृह की सम्पत्ति को। ७३, ७४वें मन्त्रों का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः'—श० १।२।१।३ के अनुसार जमदग्नि 'चक्षुः'

है। संसार को ठीक रूप में देखता है और विचार करता है। जो ठीक रूप में नहीं देखता वही धन को गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।

ऋषिः—जमदग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

तिल-फूल भी खाये हुए

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रोऽअतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥७४॥

१. गत मन्त्र में कन्या-पक्षवालों की ओर से विनीतता से 'सुदाय' देने का उल्लेख था। उसी विषय को और अधिक बल देकर कहते हैं कि ये हमारे कण भी वे हैं **यत्**=जिनको **उपजिह्विका**=चींटी **अत्ति**=खाती है, **यत्**=जिसे **वम्रः**=दीमक **अतिसर्पति**=अपनी गति का खूब आधार बनाती है, अर्थात् पहले तो हमने कुछ दिया ही नहीं और जो दिया है 'वह भी बड़ी ठीक स्थिति में नहीं है'। तिल-फूल भी दिये, और वे भी खाये हुए, २. परन्तु आप तो **यविष्ठ्य**=गुणों के ग्रहण व अवगुणों के त्यागनेवालों में भी उत्तम हैं, अतः **सर्वं तत्**=वह हमसे दिया हुआ तुच्छ सामान भी **ते घृतं अस्तु**=आपकी दृष्टि में घृत के समान हो। खाई हुई लकड़ियों को भी आपने घृत समझना। **तज्जुषस्व**=उसे प्रीतिपूर्वक सेवन करना, उसे फेंकना नहीं।

भावार्थ—वर ने गुणग्राही बनना है, धनाग्रही नहीं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी पति की प्रतिवेश (पड़ोसिन)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥७५॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित पति बड़े यज्ञिय स्वभाव का बनता है। यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है। इस नाभि (यज्ञ) के सदा समीप रहने से यह 'नाभानेदिष्ठ' कहलाता है—सदा यज्ञों के समीप निवास करनेवाला। २. घर में पत्नी व गृह के अन्य सभ्य (members) इस अग्नि=प्रगतिशील गृहस्थ को उचित भोजन प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि **अहरहः**=प्रतिदिन **अप्रयावम्**=(अप्रमत्तं यथा स्यात्तथा) प्रमादरहित होकर हम **अस्मै**=इस घर के व्यवहार को सिद्ध करनेवाले के लिए **घासम्**=वानस्पतिक भोजन को **भरन्तः**=धारण करनेवाले हों। **तिष्ठते अश्वाय इव**=यह उस घोड़े के समान है जो मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ कुछ देर खाने के लिए खड़ा हुआ है। पति ने सदा श्रमशील होना है, उसके श्रम पर ही घर का ऐश्वर्य निर्भर करता है। घरवालों ने इसके भोजन का ध्यान करना है, जिससे वह अस्वस्थ न हो जाए। ३. इस प्रकार यह श्रमविभाग करके कि 'पति कमाये और पत्नी उसके स्वास्थ्यजनक भोजनादि का ध्यान करे', हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=अन्न से **संमदन्तः**=उत्तम हर्ष को प्राप्त होनेवाले हों। ४. हे **अग्ने**=गृहस्थयज्ञ के साधक! **ते प्रतिवेशा**=तेरे पड़ोसी बने हुए हम—तेरे समीप रहनेवाले हम **मा रिषाम** =आपकी कृपा से कभी हिंसित न हों। स्पष्ट है कि पति-पत्नी ने एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं रहना। यही घर को उत्तम बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पति कमानेवाला हो। पत्नी उसके भोजन का उचित ध्यान करनेवाली हो। पत्नी पति से बहुत दूर न रहे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सद्गृहस्थ

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्॥७६॥

१. **इरम्मदम्**=(इरया माद्यति) अन्न से हर्षित होनेवाले, अर्थात् वानस्पतिक भोजन में ही आनन्द लेनेवाले, २. **बृहदुक्थम्**=प्रभु का खूब ही स्तवन करनेवाले, ३. **यजत्रम्**=यज्ञशील अथवा यज्ञों से अपना त्राण करनेवाले, ४. **जेतारम्**=विजयशील, ५. **अग्निम्**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले ६. **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में शत्रुओं का पराभव करनेवाले पुरुष को, ७. **पृथिव्याः नाभा**=(नाभौ) इन भुवनों के नाभिरूप यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **समिधाने अग्नौ**=अग्नि के समिद्ध होने पर, ८. **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि गृहस्थ में पति बनने योग्य पुरुष वही है जो १. वानस्पतिक भोजन करता है, २. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला है, ३. यज्ञशील है, ४. विजेता, ५. व उन्नतिशील है। ६. काम, क्रोध व लोभ का आक्रमण होने पर उन्हें पराजित करनेवाला है, ७. यज्ञ को पृथिवी का केन्द्र समझ, सदा यज्ञाग्नि को समिद्ध करता है। ८. उस धन का पोषण करता है जो उसकी उन्नति का कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हमारी साधना इस प्रकार हो कि हम द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने पर एक सद्गृहस्थ बन सकें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

न शत्रु, न चोर

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये॥७७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सद्गृहस्थ बनने के लिए राज्य-व्यवस्था का उत्तम होना आवश्यक है। चोरों, डाकुओं व शत्रुओं के भय से रहित राज्य में ही सब प्रकार से जीवन की उन्नति सम्भव है, अतः कहते हैं कि २. **याः**=जो **सेनाः**=शत्रु-सेनाएँ **अभीत्वरीः**=राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण करनेवाली हैं **आव्याधिनीः** =नाना प्रकार के अस्त्रों से विद्ध करनेवाली हैं, **उत**=और **उगणाः**=उद्यत आयुध-समूहवाली हैं—जिनके पास तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र हैं। ३. इनके अतिरिक्त **ये**=जो **स्तेनाः**=चोर हैं, **ये च**=और जो **तस्कराः** (=द्यूतादिकापट्येन परपदार्थापहर्ताः—द०) द्यूत आदि के छल-कपट से दूसरों के धनों का हरण करनेवाले हैं, **तान्**=उन पुरुषों को, हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **अपिदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् राजा राष्ट्र में शान्ति व विश्वस्तता के लिए शत्रुओं के आक्रमण-भय को तथा राष्ट्र के अन्दर चोरों व लुटेरों के भय को समाप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करे।

भावार्थ—किसी भी प्रकार की उन्नति तभी सम्भव है जब न बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों की आशंका हो, न चोर-लुटेरों के उपद्रव का भय। इस सुराज्य को वही राजा ला सकता है जो 'नाभानेदिष्ठ' है—सदा यज्ञरूप-केन्द्र के समीप रहनेवाला है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

राष्ट्र में कौन न रहें?

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२॥ऽउत ।
हनुभ्याꣳस्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥७८॥

१. हे **भगवः**=राष्ट्र के उत्तम ऐश्वर्य के कारणभूत राजन्! **दंष्ट्राभ्याम्**=जैसे दाढ़ों से किसी वस्तु को चबा लिया जाता है, इसी प्रकार आप अपनी दण्ड-व्यवस्था व नीतिरूप दाढ़ों से **मलिम्लून्**=मलिन आचरणवाले लोगों को **खाद**=खा जाइए, अर्थात् समाप्त कर दीजिए। २. **उत**=और **जम्भ्यैः**=जैसे अग्रदन्तों से किसी वस्तु को कुतर दिया जाता है इसी प्रकार आप अपने व गुप्तचरों के प्रबन्ध से तथा रक्षापुरुषों की उत्तम व्यवस्था से **तस्करान्**=लुटेरों को समाप्त कीजिए। ३. **हनुभ्याम्**=जैसे जबड़ों से किसी भक्ष्य पदार्थ को पीस दिया जाता है इसी प्रकार हे राजन्! **त्वम्**=आप **स्तेनान्**=चोरों को **सुखादितान्** (सु= सुखेन खादन्ति)=आराम के साथ खाने-पीने में आसक्त लोगों को हनन उपायों से **खाद**= समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में मलिन आचरणवाले, लुटेरे, चोर व बिना श्रम के मज़े से खानेवाले लोग न रहें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

जम्भाधान

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥७९॥

१. हे राजन्! **तान्**=उन्हें **ते**=तेरे **जम्भयोः**=तीव्र दाँतों में **दधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् आपके द्वारा उनका नाश करवाता हूँ, **ये**=जो **जनेषु**=लोगों के विषय में **मलिम्लवः**=मलिन आचरणवाले हैं, अर्थात् अपने आचरणों से सज्जनों के जीवनों में अशान्ति पैदा करते हैं। २. **ये**=जो **स्तेनासः**=चोर हैं, जो रात्रि के समय औरों के द्रव्यों को हरने का प्रयत्न करते हैं। ३. और जो **वने**=वन में रहनेवाले **तस्कराः**=लुटेरे हैं, **ये**=जो **कक्षेषु**=(नदीपर्वतगहनेषु) नदियों और पर्वतों के दुर्गम स्थानों में छिपे हुए **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले हैं, अर्थात् जो झाड़-झंकाड़ों में छिपे हुए आने-जानेवाले पथिकों की घात में बैठे होते हैं, उन्हें तेरे तीव्र दाँतों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह मलिनाचरणवालों, चोरों, लुटेरों तथा परिपन्थियों को (घात लगाकर बैठे लोगों को) समाप्त कर दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अध्यापकोपदेशकौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मस्मसा-करण (चूर्णीकरण)

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥८०॥

हे राजन्! १. **यः**=जो कोई भी **अस्मभ्यम्**=हमारे प्रति **अरातीयात्**=शत्रु की भाँति आचरण करे २. **च यत्**=और जो **जनः**=मनुष्य **नः द्वेषते**=हमसे द्वेष करता है—जिसे हमारे साथ नाममात्र भी प्रीति नहीं, ३. **यः अस्मान् निन्दात्**=जो हमारी निन्दा करे ४. **च**=और जो **धिप्सात् च**=हमें हिंसित करना चाहे या हमारे प्रति दम्भ से वर्ते **तं सर्वम्**=उन सबको

मस्मसा कुरु=चूर्णीभूत कर दे—मसल दे।

यहाँ आचार्य दयानन्द के भाष्य में 'भस्मसा कुरु' पाठ है। तब अर्थ होगा—'उन सबको भस्म कर दे।' ५. मन्त्र में यह संकेत है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें अरातिता, द्वेष, परनिन्दा व दम्भ की भावनाओं का अभाव हो। राष्ट्र वही उत्तम है जहाँ लोगों के मन इन दुर्भावनाओं से रहित हैं। राजा को शिक्षादि की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि लोगों के मनों में ये भावनाएँ अंकुरित न हों।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा में परस्पर प्रेम की वृत्ति को जगाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—पुरोहितयजमानौ। **छन्दः**—निचृदार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजपुरोहित की कामना

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलम् ।

सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥८१॥

१. पुरोहित राजा के लिए कामना करता है कि **यस्य**=जिसका **अहम्**=मैं **पुरोहितः अस्मि**=पुरोहित हूँ, उसका **क्षत्रम्**=बल **संशितम्**=तीव्र हो, प्रभावशाली हो। उसका बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो, अपना कार्य करने में सदा सफल हो। एक शक्तिशाली राजा ही राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था कर पाएगा, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के लिए राजा को सबल बनाना ही पुरोहित का मुख्य कार्य है। २. परन्तु वह स्वयं आदर्श (पुरः+हित) बनकर ही राजा के जीवन को उत्तम बना सकता है, अतः पुरोहित पहले स्वयं अपने लिए कामना करता है कि **मे ब्रह्म**=मेरा ज्ञान **संशितम्**=तीव्र हो, सदा अपने कार्य में समर्थ हो और **मे**=मेरी **वीर्यम्**=आन्तरिक रोगों की नाशकशक्ति **संशितम्**=तीव्र हो। परिणामतः मैं कभी रोगी न होऊँ और **मे**=मेरा **बलम्**=शत्रु-प्रतिरोधक बल **संशितम्**=तीव्र हो। निर्बल, रोगी व मूर्ख पुरोहित राजा को समझदार व सशक्त नहीं बना सकता।

भावार्थ—राष्ट्र में पुरोहित ज्ञानी, वीर्यवान् व सबल हों, जिससे वे राजा के लिए आदर्श (model=पुरोहित) बनें और राजा भी विजयशील शक्तिवाला बन पाये।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—सभापतिर्यजमानः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उन्नयन

उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम् ।

क्षिणोमि ब्रह्मणामित्राननुन्नयामि स्वाँ२॥ऽअहम् ॥८२॥

१. एक पुरोहित अपने राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करता हुआ कहता है कि **एषाम्**=इन राष्ट्र-पुरुषों की **बाहू**=भुजाओं को—पुरुषार्थ-साधक बाहुओं को **उत् अतिरम्**=मैं बढ़ाता हूँ। **एषाम्**=इनकी **वर्चः** =रोगनिवारक शक्तिं को **अथो**=और **बलम्**=शत्रु-विनाशक शक्ति को भी **उत् अतिरम्**=बढ़ाता हूँ। २. **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणोमि**=हिंसित करता हूँ तथा **स्वान्**=अपनों को **अहम्**=मैं **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। ३. राष्ट्र-पुरोहित सदा इस प्रकार प्रेरणा देने का प्रयत्न करता है कि सब राष्ट्र-पुरुषों की भुजाएँ शक्तिशाली बनें, उनका वर्चस् व बल बढ़े। इस प्रकार ज्ञान के प्रसार से वह शत्रुओं को क्षीण व अपनों को प्रबल बनाने के लिए सदा यत्नशील हो।

भावार्थ—पुरोहित का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करे, उन्हें सब प्रकार से उन्नत करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—यजमानपुरोहितौ। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहतीः। **स्वरः**—मध्यमः॥

अनमीव अन्न

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥८३॥

१. सब प्रकार की उन्नतियाँ अन्न पर निर्भर करती हैं, अतः अन्न के विषय में प्रार्थना करते हैं कि **अन्नपते**=हे सब अन्नों के पति प्रभो! **नः**=हमें **अन्नस्य देहि**=अन्न प्राप्त कराइए। वह अन्न जो **अनमीवस्य**=व्याधिरहित है। राजस् अन्न 'दुःखशोकामयप्रदाः'=दुःख, शोक और रोग को देनेवाले हैं, अतः हम वही अन्न चाहते हैं जो हमें व्याधियुक्त करनेवाले नहीं, जो **शुष्मिणः**=शत्रुओं के शोषक बलवाले हों। जिन अन्नों के सेवन से 'काम, क्रोध व लोभ' का भी शोषण होता है और जो अन्न हमें बाह्य शत्रुओं को भी धर्षित करने के लिए शक्ति दें। एवं, अन्न रोगनाशक और बल के हेतु हों। २. हे प्रभो! **दातारम्**=देनेवाले को **प्रतारिष**=तैरा दो, जीवन के पार लगा दो, जो भी व्यक्ति देकर, बचे हुए को खाता है उससे तो अन्न वस्तुतः खाया जाता है (अद्यते), परन्तु जो त्यागपूर्वक उपभोग न करके अकेला ही सब-कुछ खा जाता है, उसे तो यह अन्न ही वस्तुतः खा लेता है (अत्ति च भूतानि)। ३. इस प्रकार त्यागपूर्वक उपयुक्त हुआ यह अन्न **नः**=हममें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **धेहि**=धारण करे। यदि एक व्यक्ति अन्न को अकेले न खाकर बाँटकर खाता है तो वह बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए व **चतुष्पदे**=चार पाँववाले पशुओं के लिए भी नीरोगतावाले, शत्रुशोषक बलवाले अन्न को प्राप्त कराइए। मनुष्यों को तो अन्न प्राप्त हो ही, पशुओं को भी अन्न की कमी न रहे, अर्थात् हमारा राष्ट्र food और fodder से भरपूर हो—न मनुष्य भूखें मरें न पशु। राष्ट्र में सर्वत्र सुभिक्ष हो।

भावार्थ—१. हमारा अन्न निश्चितरूप से अनमीव (नीरोग) व शुष्मी (बलदायक) हो। २. हम सदा देकर बचे हुए अन्न को खानेवाले हों। ३. हमारे अन्न हमें बल और प्राणशक्ति दें।

॥ इत्येकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

द्वादशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

द्यौः-सुरेताः

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति पर उत्तम सात्त्विक अन्न के सेवन का उपदेश है। 'उस अन्न के सेवन से मनुष्य का जीवन किस प्रकार उत्तम बनता है' इस बात के प्रतिपादन से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। अन्न बीज है और माता-पिता व आचार्य भूमि व खाद आदि हैं। जीवन-निर्माण में बीज का भी स्थान है और भूमि का भी। अन्न का वर्णन पिछले मन्त्र में हुआ है, प्रस्तुत मन्त्र में आचार्य के लिए '**द्यौः** और **सुरेताः**'—इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य प्रकाशमय जीवनवाला तथा उत्तम रेतस्वाला हो। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थी के जीवन का विकास करता है। २. यह विकसित जीवनवाला **दृशानः**=सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखता है, अतः यह संसार में उलझता नहीं। ३. **रुक्मः**=विषयों में न उलझनेवाला यह (रुच दीप्तौ) चमकता है। इसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह स्वास्थ्य की चमक से चमकता है। ४. **उर्व्या**=विशालता से **व्यद्यौत्**=यह दीप्त होता है। इसका हृदय विशाल होता है। ५. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=विषयों से न कुचला जाने योग्य होता है। ६. **श्रिये रुचानः**=श्री के लिए यह रुचिवाला होता है। यह प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है। ७. **अग्निः**=यह निरन्तर प्रगतिशील होता है। ८. **अमृतः अभवत्**=यह अमृत होता है, रोग इसकी मृत्यु का कारण नहीं बनते। **यत्**=क्योंकि **एनम्**=इसे **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला आचार्य **वयोभिः**=उत्तम अन्नों से **अजनयत्**=विकसित करता है। आचार्य इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि उसके विद्यार्थी का अन्न सात्त्विक हो, जिससे उसकी वृत्ति भी सात्त्विक ही बने। ९. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला यह '**वत्सप्री**' कहलाता है। इसका जीवन वेदप्रतिपादित बातों को क्रियान्वित किये हुए है और पवित्र कर्मों से वह अपने पिता प्रभु को प्रीणित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम उत्तम अन्न के सेवन से उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

माता-पिता

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥२॥

१. पिछले मन्त्र में जीवन-निर्माण करनेवाले आचार्य का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'माता-पिता' का प्रतिपादन है। 'माता-पिता' **नक्तोषासा**=रात्रि व दिन के समान हैं अथवा **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के समान हैं (द्यौरहं पृथिवी त्वम्)। रात्रि उस समय की सूचक है जब सब घर पर रहते हैं और उषा या दिन उस समय का जब सब

अपने कार्यों पर बाहर जाते हैं, अतः नक्त=रात्रि माता की सूचक है। माता ने घर पर रहकर घर की व्यवस्था का ध्यान करना है, **उषा**=दिन पिता का प्रतीक है, उसे घर के व्यय के लिए धनार्जन के हेतु से बाहर जाना है। पिता ने द्युलोक की भाँति ज्ञान-दीप्त होना है तो माता ने पृथिवी के समान क्षमावाला होना है। २. इस प्रकार ये दोनों **विरूपे**=भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हुए भी **समीची**=(सम् अञ्च्) मिलकर गतिवाले हैं। ये दोनों मिलकर घर को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। **समनसा**=दोनों के मन समान होते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है—'सन्तानों को उत्तम बनाना'। ये दोनों **एकं शिशुम्**=एक शिशु को **धापयेते**=दूध पिलाते हैं और इस प्रकार उसका पालन करते हैं। ३. यह उत्तम प्रकार से पालित हुआ सन्तान **रुक्मः**=स्वस्थ शरीरवाला होता हुआ चमकता है। **द्यावाक्षामा अन्तः**=यह माता और पिता के बीच में **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है और **द्रविणोदाः**=ज्ञान-धन को देनेवाले **देवाः**=विद्वान् आचार्य **अग्निम्**=इस प्रगतिशील बालक को **धारयन्**=अपने गर्भ में धारण करते हैं। इसे पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह संसार के वैषयिक जीवन से बचा रहे। इसके जीवन को पवित्र बनाते हुए ये इसे ज्ञान-धन से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। ५. ज्ञान-धन से पवित्र हुए ये 'कुत्स' बनते हैं, सब वासनाओं को 'कुथ हिंसायाम्' नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य बालक के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। माता-पिता इसे 'स्वास्थ्य धन' प्राप्त कराते हैं तो आचार्य 'ज्ञान-धन'। इन धनों को प्राप्त करके यह सचमुच 'कुत्स' होता है—रोगों व पापों की हिंसा करनेवाला।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

श्यावाश्व का विश्वरूप प्रतिमोचन

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥ ३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार माता-पिता व आचार्य से स्वास्थ्य, सदाचार व ज्ञानरूप धनों को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है (श्यैङ् गतौ, अश्व=इन्द्रियाँ)। गतिशील इन्द्रियोंवाला। यह सदा क्रियाशील बनता है। यह **विश्वा रूपाणि**=ज्ञान के सब शब्दों को अथवा छन्दों को (रूप, word or verse) **प्रतिमुञ्चते**=(put on, arm oneself with) धारण करता है अथवा उन छन्दों से अपने को सन्नद्ध करता है। इनसे सुसज्जित होकर वह अपने को पापों के आक्रमण से बचाता है। २. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी होता है—सब वस्तुओं को ठीक स्वरूप में देखता है। ठीक रूप में देखने के कारण ही उनमें फँसता नहीं। ३. यह संसार में **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यों व अन्य प्राणियों के लिए **भद्रम्**=कल्याण **प्रासावीत्**=उत्पन्न करता है। यह सबका भला करने का ध्यान करता है। ४. परिणामतः यह **नाकम्**=स्वर्ग को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** के अनुसार इसे सब रत्न प्राप्त होते हैं। किसी हितरमणीय वस्तु की इसे कमी नहीं रहती। ५. **सविता**=यह सदा सबको हित की प्रेरणा देता है और उत्पादक होता है, अर्थात् निर्माण के ही कर्मों में लगा रहता है। ६. **वरेण्यः**=वरण करनेवालों में उत्तम होता है। धीर बनकर यह विवेकपूर्वक 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्दमतियों की भाँति 'प्रेय' का वरण करनेवाला नहीं होता। ७. **उषसः प्रयाणम् अनु**=उषः के आने के साथ ही **विराजति**=विशेषरूप

से दीप्त होता है अथवा विशेषरूप से अपने नियमित कार्यक्रम में चल पड़ता है (regulated)। ८. इस प्रकार यह 'श्यावाश्व' नियमित गति करता हुआ ऊपर उठता है। इसके जीवन की विशेषता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—श्यावाश्व १. छन्दों को अपना कवच बनाता है। २. क्रान्तदर्शी बनता है। ३. सबका भला करता है। ४. स्वर्ग में स्थित होता है। ५. सबको उत्तम प्रेरणा देता हुआ निर्माणात्मक कार्यों को करता है। ६. श्रेय का ही वरण करता है। ६. जीवन की क्रियाओं में बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—गरुत्मान्। **छन्दः**—भुरिग्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

सुपर्ण-गरुत्मान्

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोमऽआत्मा छन्दाᳪंस्यङ्गानि यजूᳪंषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत॥४॥

१. **सुपर्णः असि**=गत मन्त्र का व्यवस्थित क्रियाओंवाला श्यावाश्व (गतिशील इन्द्रियोंवाला) उत्तम प्रकार से पालनादि कर्मोंवाला होता है (पृ पालनपूरणयोः) २. **गरुत्मान् (गुर्वात्मा)**=यह विशाल हृदयवाला होता है। ३. **त्रिवृत्** (त्रीणि यत्र वर्तन्ते)=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समन्वयवाला साम ही **ते शिरः**=तेरा मस्तिष्क है। तू 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। ४. **गायत्रम्**=प्राणों की रक्षा ही तेरा **चक्षुः**=दृष्टिकोण है, अर्थात् तू कोई ऐसा कर्म नहीं करता जो प्राण व शक्ति का ह्रास करे। ५. **बृहद्रथन्तरे**=बृहत् और रथन्तर **पक्षौ**=तेरे पक्ष होते हैं। **बृहत्**=वृद्धि तथा **रथन्तर**=शरीररूप रथ से भवसागर को तैर जाना ही तेरे पंख हैं। इन दो विचारों के परिग्रह से तू निरन्तर ऊपर उठता जाता है। ६. **स्तोमः आत्मा**=स्तुति ही तेरा आत्मा है, अर्थात् तेरा मन सदा प्रभु का स्तवन करता है। ७. **छन्दांसि अङ्गानि**=छन्द तेरे अङ्ग हैं, अर्थात् इन छन्दों से ही तेरा जीवन बना हुआ है। ये छन्द तुझे सदा पापों व रोगों के आक्रमण से बचाते हैं। ८. **यजूंषि नाम**=यज्ञ तेरी कीर्ति है। तू अपने श्रेष्ठतम कर्मों के कारण प्रसिद्ध है। ९. **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणों को उत्पन्न करने में उत्तम **साम**=प्रभु-स्तवन ही **ते तनूः**=तेरा शरीर है। निरन्तर प्रभु-स्तवन करता हुआ तू ईश्वर के गुणों को धारण करता है और इस प्रकार तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार होता है। १०. **यज्ञायज्ञियम्**=(यज्ञ, सङ्गतीकरण, अयज्ञ=पृथक्करण) उत्तम गुणों से मेल, दुर्गुणों का पार्थक्य ही **पुच्छम्**=दुर्गुणरूप दंशों का निवारण करनेवाली पूँछ है। ११. **धिष्ण्याः**=यज्ञाग्नि के स्थान ही **शफाः**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं (शंफणायन्ति), अर्थात् निरन्तर यज्ञादि करता हुआ अशान्ति के कारणभूत रोगों को अपने से दूर रखता है। १२. इस प्रकार तू सचमुच **सुपर्णः असि**=उत्तमता से अपना रक्षण करनेवाला है और **गरुत्मान्**=ऊँचे-महान् लक्ष्यवाला है (गुरुं भारं उद्यम्य डयते)। वस्तुतः यह महान् लक्ष्य भी तुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। १३. **दिवम् गच्छ**=तू प्रकाश को प्राप्त कर। द्युलोक में-ज्योतिर्मय मस्तिष्क में तेरा वास हो। **स्वः पत**=तू स्वर्गलोक को प्राप्त कर अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति-प्रभु को प्राप्त कर।

भावार्थ—'श्यावाश्व' सदा पालनादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ विशाल हृदयवाला बनकर ज्योति को प्राप्त करता है और प्रभु के दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (चार पग)

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽआरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

१. श्यावाश्व के लिए ही कहते हैं कि तू **विष्णोः**=(यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ के **क्रमः असि**=पराक्रमवाला प्रसिद्ध है। तू यज्ञिय पगों को रखनेवाला है। **सपत्नहा**=शरीर में अपना पतित्व=स्वामित्व स्थापित करने की इच्छावाले इन सपत्नभूत रोगों का नाश करनेवाला है। **गायत्रं छन्दः आरोह**=प्राणरक्षा की इच्छा पर तू आरोहण कर, अर्थात् तुझमें प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा हो। इस इच्छा को लिये हुए तू **पृथिवीम् अनु**=इस पार्थिव शरीर का ध्यान करके **विक्रमस्व**=विक्रमशील हो। तेरा पार्थिव शरीर पूर्णतया नीरोग हो। यही वस्तुतः तेरा पहला प्रयत्न होना चाहिए। यही पहला पग है। २. **विष्णोः क्रमः असि**=तू विष्णु के पराक्रमवाला है, विष्णु के समान पग रखनेवाला है। **अभिमातिहा**=तू अभिमान को नष्ट करनेवाला है। **त्रैष्टुभं छन्दः आरोह**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीन को रोकने (त्रि+ष्टुभ्=stop) की प्रबल कामना पर तू आरूढ़ हो। **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष का लक्ष्य करके **विक्रमस्व**=तू विशेष उद्योग करनेवाला हो। तूने इस हृदयान्तरिक्ष को काम, क्रोध व लोभ की वासना से शून्य बनाना है। ३. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है। **अरातीयतः**=(रातिर्दानं, तस्याभावं आत्मन इच्छति इति—म०) दानाभाव की इच्छा का—न देने की भावना का **हन्ता**=तू नष्ट करनेवाला है। अतिशयेन दान की वृत्ति अपना कर तू **जागतं छन्दः आरोह**=जगती के हित की इच्छा पर आरोहण कर। तुझमें लोक-कल्याण की प्रबल भावना हो। **दिवम् अनु**=द्युलोक का लक्ष्य करके अथवा मस्तिष्क का ध्यान करके **विक्रमस्व**=तू पराक्रम करनेवाला हो, अर्थात् तू ज्ञान को खूब प्राप्त करनेवाला बन। ४. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है **शत्रूयतः**=(अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्) शत्रुवत् आचरण करनेवाले मन का यह **हन्ता**=नष्ट करनेवाला होता है, अर्थात् यह मन को वश में करनेवाला है। **अनुष्टुभं छन्दः आरोह**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की भावना पर तू आरूढ़ हो, अर्थात् सोते-जागते सदा प्रभु का स्मरण कर और **दिशः अनु विक्रमस्व**=उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार तू विक्रम करनेवाला हो। प्रभु के निर्देशों को अपने जीवन में अनूदित कर।

भावार्थ—जीव के चार पग हैं—१. रोगों को नष्ट करना। २. अभिमान को नष्ट करना। ३. अदान की भावना को नष्ट करना। ४. और शत्रुता में स्थित मन को निरुद्ध करना। शरीर को ठीक करना, मन को ठीक करना, मस्तिष्क को ठीक करना और अन्तःस्थित प्रभु के निर्देशों को सुनना।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

व्यापक प्रकाश

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥६॥

गत मन्त्र के अनुसार चार पगों को रखकर जो भी प्रभु का दर्शन करता है, वह 'वत्सप्रीः'–प्रभु का प्रिय व अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है। यह अनुभव करता है कि १. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण करते हैं। वे प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=(द्यौशब्देनात्र पर्जन्य उक्तः–म०) गर्जना करते हुए मेघ के समान हैं। हम उस गर्जन को न सुनें तो इससे अधिक बधिरता क्या हो सकती है? २. हम उस गर्जना को सुनते हैं तो वे प्रभु **क्षामा**=इस सारी पृथिवी को **रेरिहत्**=अत्यन्त आस्वादमय बना देते हैं। वेदवाणी को सुनकर हम तदनुसार अपना जीवन बनाते हैं तो हमारे जीवन आनन्दमय बन जाते हैं। ३. वे प्रभु हमारे जीवनों में **वीरुधः**=(वि+रुह=प्रादुर्भाव) विविध विकासों को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार जीवन बनाने से हमारे जीवनों में विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ४. **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रकट हुए वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **इद्धः**=ज्ञान से दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **विअख्यत्**=विशिष्टरूप से जीवन को प्रकाशमय करते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तर्भाग को **भानुना**=प्रकाश से **आभाति**=प्रकाशित कर देते हैं, अर्थात् प्रभु-दर्शन होने पर सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है।

भावार्थ–१. हृदयस्थ प्रभु निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। यदि हम उस प्रेरणा को सुनें तो हमारा जीवन आनन्दमय हो जाता है। २. जीवन में सब शक्तियों का विकास होता है। ३. सारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ४. सारा संसार भी प्रकाशमय व उलझनों से रहित प्रतीत होता है।

ऋषिः–वत्सप्रीः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

अभ्यावर्ती प्रभु

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण॥७॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला 'वत्सप्री' कहता है कि १. **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अभ्यावर्त्तिन्**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले प्रभो! **मा अभिनिवर्त्तस्व**=आप मेरी ओर आइए। २. आप मुझे प्राप्त होओ (क) **आयुषा**=आयु के साथ, अर्थात् सबसे प्रथम आप मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त कराइए। (ख) **वर्चसा**=वर्चस् के साथ। मुझे वह वीर्यशक्ति प्राप्त कराइए जो मेरे जीवन में से सब रोगों को समाप्त कर देती है। (ग) **प्रजया**=प्रजा के साथ। आपकी कृपा से मेरी सन्तान उत्तम हो। (घ) **धनेन**=धन के साथ। जीवन सञ्चालन के लिए आवश्यक धन का मैं अर्जन कर सकूँ। (ङ) **सन्या मेधया**=संविभागवाली धारणावती बुद्धि से, अर्थात् मुझे वह मेधा प्राप्त हो जो मुझे सदा सबके साथ संविभागपूर्वक धनोपभोग की प्रेरणा देती है। (घ) **रय्या पोषेण**=पोषक धन से, अर्थात् मैं इतना धन अवश्य प्राप्त करूँ जितना कि मेरे परिवार के पोषण के लिए आवश्यक हो अथवा मैं उस धन को प्राप्त करूँ जो मेरा पोषण करे न कि विषयासक्त करके क्षीणशक्ति बना दे। अथवा मैं धन को दान देनेवाला बनूँ जिससे वह धन सभी का पोषण करनेवाला हो। ३. यह त्याग की वृत्ति वस्तुतः मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगी और मेरा 'वत्सप्री' नाम सार्थक होगा।

भावार्थ–प्रभो! मैं आपको प्राप्त करूँ और आपकी प्राप्ति से मुझे दीर्घ जीवन, प्राणशक्ति, उत्तम सन्तान, धन, संविभागवाली बुद्धि व पोषक धन प्राप्त हो।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शत आवर्तन

अग्नेऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी व **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=सैकड़ों **आवृतः सन्तुः**=आवर्तन हों। आप जीवन के एक-एक वर्ष में हमें प्राप्त होनेवाले हों। २. **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों **उपावृतः**=उपावर्तन हों, अर्थात् मैं सदा अपकी समीपता को अनुभव करूँ। ३. **अध**=अब आपकी इस समीपता के परिणामस्वरूप **पोषस्य पोषेण**=सर्वोत्तम पोषण से **पुनः**=फिर **नः**=हमारी **नष्टम्**=नष्ट हुई शक्ति को **आकृधि**=(आगमय) सब अङ्गों में सर्वतः प्राप्त कराइए। जब जीव प्रभु को विस्मृत करके प्रकृति में फँस जाता है तब उसकी सारी शक्ति विनष्टप्राय हो जाती है। प्रभु की ओर झुकाव होते ही वे शक्ति का अनुभव करते हैं, जैसेकि माता की गोद में स्थित बालक शक्ति का अनुभव करता है। ४. **पुनः**=फिर **नः**=हमें **रयिम्**=धन **आकृधि**=प्राप्त कराइए। प्रभु ही वस्तुतः सब धनों को प्राप्त कराते हैं, जिसका दान देते हुए हम यशस्वी भी बनते हैं और पोषण भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जीवन के एक-एक वर्ष में, जीवन के एक-एक क्षण में प्रभु की समीपता को अनुभव करते हुए हम अपनी विनष्ट शक्ति को फिर से प्राप्त करें और धन प्राप्त करके सचमुच रयीश बनें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पाप-निर्वतन

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः॥९॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपके आवर्तनों से—उपासन व ध्यान से आप हमें **पुनः** =फिर **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। आपके सतत स्मरण से हम शक्ति का अनुभव करें। २. **पुनः इषा**=फिर-फिर हम आपकी प्रेरणा को सुननेवाले बने। ३. आपकी प्रेरणा को सुनते हुए हम **आयुषा**=उत्कृष्ट जीवन से युक्त हों, ४. परन्तु हे प्रभो! अपनी अल्पता के कारण हम बारम्बार पाप की ओर झुक जाते हैं, समझते हुए भी कई बार उस पाप से रुक नहीं पाते। हमारी आपसे यह आराधना है कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर-फिर **अंहसः**=इन कष्टों के कारणभूत पापों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। अपनी निरन्तर प्रेरणा से हमें सतत सावधान करते रहिए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम बल व प्राणशक्ति का लाभ करें। उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त कर ऊँचे जीवनवाले बनें। पापों से बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **रय्या सह**=दान देने योग्य धन के साथ **निवर्त्तस्व**=हमें निश्चय से प्राप्त होओ। २. **विश्वतस्परि**=सर्वतः सबकी रक्षा करनेवाली तथा **विश्वप्स्न्या**

(विश्वैः प्सायते भक्ष्यते विश्वप्स्नी)=सर्वजनों से उपभोग्य **धारया**=धन की धारा से अथवा धारण करनेवाले धन से **पिन्वस्व**=सिक्त कीजिए। निरन्तर धनदान से हमें फिर-फिर बढ़ाइए, जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बन सकें।

भावार्थ—हम उस धन को प्राप्त करें जिसका हम दान देनेवाले बनें और जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बनें। सबके धारण की यह भावना ही हमें 'वत्सप्री' बनाएगी। प्रभु हमारे धारणात्मक कर्म से ही प्रीणित होंगे।

ऋषिः—ध्रुवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जन-प्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥११॥

१. प्रजाओं का जीवन बहुत कुछ राजा के जीवन पर निर्भर है। 'यथा राजा तथा प्रजा' राजा का जीवन जहाँ प्रजा के जीवन को प्रभावित करता है, वहाँ राष्ट्र में राजा से प्रणीत राज्य-व्यवस्था भी लोगों के जीवनोत्कर्ष की साधिका होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के चुनाव का प्रतिपादन करता है—२. पुरोहित चुने गये राजा को अभिषिक्त करता हुआ कहता है कि **त्वा**=तुझे **अन्तः**=प्रजा के बीच में से ही **आहार्षम्**=लाया हूँ। इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा में से ही चुना जाता है। ३. **अन्तः अभूः**=तू प्रजा के बीच में ही हो। राजा को यथासम्भव राष्ट्र में ही रहना चाहिए, वह देश-विदेशों की सैर ही न करता रहे। ४. तू **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर ठहर। राजा को अपने कर्त्तव्य से न डिगनेवाला होना चाहिए। ध्रुव के समान राजा को अपने स्थान पर ध्रुवता से रहना है। स्पष्ट है कि राजा चुना जाता है और फिर यह ध्रुव होकर रहता है। वैदिक पद्धति में चुनाव बार-बार नहीं होता। ५. **अविचाचलिः**=तू अचञ्चल वृत्ति का हो। राजा झट क्रोधादि में आ जानेवाला न हो। ६. **त्वा**=तुझे **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **वाञ्छन्तु**=चाहें। सम्भवतः राजा के चुनाव में ऐकमत्य आवश्यक-सा प्रतीत होता है। अथवा राजा को राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तमता से करनी चाहिए कि वह सभी का प्रिय बना रहे। ७. पुरोहित राजा को चेतावनी देता हुआ कहता है कि **त्वत्**=तुझसे **राष्टम्**=राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=नष्ट न हो जाए। तुझे राष्ट्र से पृथक् न करना पड़े। राजा यदि ऐसे कार्य करने लगे जो राष्ट्र के लिए अहितकर हों तो राजा को गद्दी से उतार दिया जाता है। आदर्श राजा 'ध्रुव' ही होता है, वह गद्दी से हिलाया नहीं जाता।

भावार्थ—राजा चुना जाकर ध्रुवता से राज्य-कार्यों को करनेवाला हो। उसका कोई भी कार्य राज्य की अवनति का कारण न बने। उसके अहितकर कार्य ही उसे गद्दी से गिरानेवाले होंगे।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

बन्धन-त्रयी

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमश्श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम॥१२॥

उत्तम राज्य में प्रजाएँ अपने जीवनों को उत्तम बना पाती हैं। वे सब व्यसनों के बन्धनों से ऊपर होती हैं और इस प्रकार अपने जीवनों को सुखमय बना सकने के कारण

'शुन:शेप'=(सुख का निर्माण करनेवाली) होती हैं। इनकी प्रार्थना का स्वरूप यह है कि—१. हे **वरुण**=व्रतों के बन्धनों में बाँधकर हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **उत्तमं पाशम् उत्**=हमारे उत्तम पाश को हमसे बाहर कीजिए (उत्=out)। सत्त्व का बन्धन ही सबसे उत्कृष्ट बन्धन है। 'सत्त्वं सुखे सज्जयति' यह हमें ज्ञान-प्राप्ति के सुख में निमग्न कर देता है। कई बार सत्त्वप्रधान व्यक्ति योगमार्ग पर चलते हुए समाधि के आनन्द में मग्न हो जाते हैं। उन्हें अपने चारों ओर विद्यमान दु:ख से कराहती हुई प्रजा का ध्यान नहीं रहता। यह समाधि भी उनका बन्धन-सा बन जाती है। हे वरुण! आप हमें इससे भी ऊपर उठाइए। ज्ञानप्रधान जीवन बड़ा सुन्दर जीवन है, परन्तु जब हम ज्ञान को ही प्राथमिकता देने लगते हैं तो लोककल्याण गौण वस्तु हो जाती है, अत: प्रार्थना है कि हमें इस बन्धन से भी ऊपर उठाइए। २. हे वरुण! **अस्मत्**=हमसे **अधमम्**=निकृष्ट पाश को **अवश्रथाय**=दूर करके (अव away) ढीला कर दीजिए। सबसे निचला पाश तमोगुण का पाश है। यह हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा के बन्धनों से बाँधता है। वरुण की कृपा से हम 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से ऊपर उठें। ३. हे वरुण! आप कृपा करके **मध्यमम्**=रजोगुणात्मक मध्यम बन्धन को भी **विश्रथाय**=ढीला कर दीजिए। यह रजोगुण का बन्धन हमें सदा कर्म में बाँधे रखता है। हम एक क्षण भी शान्त होकर नहीं बैठ पाते। प्रभु-कृपा से यह बन्धन भी ढीला हो जाए। ४. **अध**=अब—तीनों बन्धनों को ढीला करके **वयम्**=हम हे **आदित्य**=सूर्य! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरी भाँति ही निर्लेपता से नियमित गति करते हुए **अनागसः** =निष्पाप होकर **अदितये**=अखण्डन के लिए, पूर्ण स्वास्थ्य के लिए और अन्त में मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। सूर्य की गति नियमित है, उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। सर्वत्र समभाव से वह प्रकाश व प्राणशक्ति देता हुआ आगे बढ़ता चलता है। हम भी इसी प्रकार बढ़ते चलें, यही निष्पापता का मार्ग है और यही मार्ग इहलोक में पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है तो परलोक में मोक्ष। 'अदिति' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, अत: यह आदित्य का व्रत हमारा उत्तम लोककल्याण करता है और हम सचमुच 'शुन:शेप' होते हैं।

भावार्थ—हम तीनों बन्धनों से ऊपर उठें। आदित्य के व्रत में चलें और अदिति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

त्रित का जीवन

अग्रे॑ बृहन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वोऽअ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ऽआ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार तीनों बन्धनों को तैरकर अब यह 'त्रित' (त्रीन् तरति) बना है। इसका जीवन ऐसा है—(२) यह **उषसां बृहत् अग्रे**=उषाकाल के बहुत पहले ही **ऊर्ध्वः अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। नींद को छोड़कर, बिस्तरे को त्यागकर यह अपने कार्यक्रम में प्रवृत्त होने लगता है। ३. **निर्जगन्वान्**=यह घर से बाहर भ्रमण के लिए निकल जाता है। आवश्यक कृत्यों से निपटकर यह ४. **तमसः**=अन्धकार से ऊपर उठकर **ज्योतिषा अगात्**=ज्योति के साथ सङ्गत होता है। स्वाध्याय करता हुआ अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है। ५. **अग्निः**=यह प्रगतिशील होता है। ६. **रुशता भानुना**=चमकती हुई दीप्ति से (सूर्यसम आभा से) युक्त होता है। ७. **स्वङ्गः**=इसका एक-एक अङ्ग सुन्दर होता है। ८.

आजातः=यह सब दिशाओं में विकासवाला होता है–शरीर, मन व बुद्धि सभी की उन्नति करनेवाला होता है। ९. अपने व्यावहारिक जीवन में यह **विश्वानि सद्मानि**=सब घरों को **आ अप्राः**=पूरित करनेवाला होता है, अर्थात् यह त्रित केवल अपने जीवन को सुखी बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु सभी के कष्टों को दूर करता है। सभी के घरों में जाता है, उनके कष्ट में सहायक होता है, उनके दुःख को दूर करने में ही इसे शान्ति अनुभव होती है।

भावार्थ–'प्रातः उठना, घूमने जाना, स्वाध्याय, उन्नति, देदीप्यमान ज्ञान, सुन्दर अङ्ग, सर्वतोमुखी विकास, औरों के घरों को भी अपना घर समझना' यह त्रित के जीवन की मुख्य बातें हैं।

ऋषिः–त्रितः। **देवता**–जीवेश्वरौ। **छन्दः**–भुरिग्जगती। **स्वरः**–निषादः॥

प्रभु व जीव

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥१४॥

१. वे प्रभु **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) पाप को नष्ट करते हैं। **शुचिषत्**=पवित्र हृदय में निवास करनेवाले हैं। २. **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं **अन्तरिक्षसत्**=मध्यममार्ग में चलनेवाले में प्रभु का निवास होता है। ३. **होता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। **वेदिषत्**=यज्ञमय जीवनवाले जीव में उस प्रभु की स्थिति है। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं, वे प्रभु **दुरोणसत्**=(दुर्+ओण=अपनयन) बुराइयों को दूर करनेवालों में आसीन होते हैं। ५. **नृषत्**=नरों में, आगे बढ़नेवालों में आसीन होते है। ६. **वरसत्**=वे प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में निवासवाले होते हैं। ७. **ऋतसत्**=जिनका जीवन नियमित (regular) है उनमें प्रभु का वास होता है। ८. **व्योमसत्**=(वी ओम्) गतिशीलता के कारण अपना रक्षण करनेवालों में वे प्रभु रहते हैं। ९. **अब्जाः**=जलों में उस प्रभु की महिमा प्रकट होती है। १०. **गोजा**=इस पृथिवी में वे प्रभु प्रकट होते हैं। मीलों फैले हुए रेगिस्तानों में उस प्रभु की महिमा दिखती ही है। ११. **ऋतजा**=वे प्रभु ऋत में, सूर्य-चन्द्रादि सभी पिण्डों की नियमित गति में दिखते हैं। १२. **अद्रिजा**=प्रभु की महिमा पर्वतों में प्रकट होती है–हिमाच्छादित पर्वत उसकी महिमा का गायन करते हैं। १३. **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं, सत्यस्वरूप हैं। १४. **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं अथवा **ऋतं बृहत्**=वे प्रभु पूर्ण सत्य हैं (Absolute truth)।

भावार्थ–'त्रित' हंस–पापनाशक प्रभु का स्मरण करता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ अन्ततः पूर्ण सत्य बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः–त्रितः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

माता की गोद में

सीद त्वं मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याꣳशुक्रज्योतिर्विभाहि॥१५॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं–**त्वम्**=तू **अस्याः**=इस **मातुः**=वेदमाता–मुझसे तेरे लिए प्रस्तुत की गई वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **सीद**=बैठ। वेदवाणी की गोद में बैठना, अर्थात् तदनुसार अपना आचरण बनाना तेरा ध्येय हो। २. इसकी गोद में बैठकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जाननेवाला हो। यह वेदवाणी सब

सत्य विद्याओं का भण्डार है, अतः इसकी उपासना तुझे सब ज्ञानों को प्राप्त कराएगी ही। ३. **एनाम्**=इसे **तपसा**=तपस्वी जीवन से तथा **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्योतियों से **मा अभिशोची**=मत सन्तप्त कर, अर्थात् तू इतना तपस्वी व ज्ञानी बन कि यह वेदमाता सदा तुझसे प्रसन्न रहे। **'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'**=अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भयभीत होता है कि यह मेरा ग़लत अर्थ न कर दे, अतः तू बहुश्रुत व तपस्वी बनना, जिससे तू वेदमाता के ठीक स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला हो सके। ४. **अस्याम् अन्तः**=इस वेदवाणी के अन्दर रहता हुआ **शुक्रज्योतिः**=(शुक् गतौ) गतिमय ज्ञानवाला तू **विभाहि**=विशेषरूप से दीप्त हो। तू वेदज्ञान प्राप्त कर और उसके अनुसार क्रियाशील हो। तू मस्तिष्क में इस वेदवाणी का विचार कर—तेरी वाणी से इसी का उच्चारण हो और क्रिया में इसी का आचरण हो। ऐसा होने पर ही तेरी विशिष्ट शोभा होगी। तू वेदमाता का सच्चा पुत्र होगा।

भावार्थ—मेरा जीवन वेदमय हो। वेदमाता का मैं सुपुत्र बनूँ। उसी के गोद में मेरा पालन व पोषण हो। मैं अपनी तपस्या व ज्ञान से इसे प्रसन्न करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दीप्ति-यज्ञ-नीरोगता-धन=कल्याण

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।
तस्यास्त्वꣳहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव॥१६॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित! तू **अन्तः**=अपने हृदयाकाश में **रुचा**=ज्ञान की दीप्ति से युक्त हो, वेद के स्वाध्याय से तेरा अन्तःकरण प्रकाशमय हो। २. तू **स्वे**=अपने **उखायाः**=वेदि पर—यज्ञाग्नि के स्थानवाले **सदने**=घर में आसीन हो। तू सदा अपने घर में यज्ञों को करनेवाला हो। तेरे घर में यह यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं। ३. **त्वम्**=तू **तस्याः**=उस यज्ञाग्नि के **हरसा** =रोग-हरणशक्ति से **तपन्**=दीप्त हो, यह यज्ञाग्नि तुझे नीरोग बनाये और तू स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला हो। ४. **जातवेदः**=(जातं वेदो यस्य, वेदस्=धन) गृहस्थ के पालन के लिए तू आवश्यक धनवाला हो और **शिवः भव**=इस प्रकार तू कल्याणमय जीवनवाला हो। गरीबी भी एक पाप है व अकल्याण का कारण है।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं ज्ञान, यज्ञ, स्वास्थ्य व धन प्राप्त करके कल्याणरूप बनूँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिव

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽअथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥१७॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित (त्रीन् तरति=तीनों बन्धनों को तैर जानेवाले) **शिवः भूत्वा**=सबके लिए कल्याणकर होकर **शिवः**=कल्याणस्वरूप **त्वम्**=तू **अथ**=अब **उ**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **सीद**=स्थित हो। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) औरों के कल्याण करने से अपना कल्याण होता है। (ख) औरों का कल्याण करके ही प्रभु की उपासना होती है। 'सर्वभूतहिते रतः' पुरुष ही तो प्रभु का भक्त है। २. **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं को, सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को **शिवाः कृत्वा**=कल्याणयुक्त करके, अर्थात् उनके दुःखों को दूर करके **इह**=इस मानव-जीवन में तू **स्वं योनिम् इह**

आसद:=अपने घर में आसीन हो। हमारा वास्तविक घर ब्रह्मलोक है, अत: अर्थ यह हुआ कि तू मानवहित करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा 'योनि' शब्द का अर्थ सामान्य घर लें तो अर्थ होगा कि सब प्राणियों का कल्याण किये बिना तू घर में मौज से न बैठ। सबका भला करके ही घर में आ।

भावार्थ—त्रित सबका भला करता हुआ 'शिव' बनने का प्रयत्न करता है। औरों को शिव बनाये बिना हम शिव नहीं बन सकते।

ऋषि:—वत्सप्री:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

द्युलोक में, शरीर में, जलों में

दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा:।
तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्रमिन्धानऽएनं जरते स्वाधी:॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का उपदेश सुनकर सबका कल्याण करता हुआ 'त्रित' प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है और प्रभु को प्रीणित करने के कारण 'प्री:' कहलाता है, अत: यह 'वत्सप्री:' निम्न शब्दों में प्रभु की उपासना करता है—२. **अग्नि:**=अग्रेणी प्रभु **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिव:**=आकाश से **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होते हैं। द्युलोक में प्रकट होनेवाले ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। अथर्ववेद के शब्दों में 'अभ्यनूषत व्रा:' आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस प्रभु की महिमा का स्तवन कर रहे हैं। ३. वह **जातवेदा:**=(जाते=विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान प्रभु **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्**=हमसे **परि** (जज्ञे)=प्रकट होते हैं। यह प्रभु से दिया गया हमारा शरीर अपनी विशिष्ट रचना से प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। ४. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **अप्सु**=जलों में, समुद्रों में, उस प्रभु की महिमा दिखती है। जल जिस प्रकार बना, वह सब कितना अद्भुत है! 'समुद्र का यह अनन्त पानी किस रसायनशाला में तैयार हुआ होगा! एवं, इन जलों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। ५. **नृमणा:**=(नृषु मनो यस्य)=ये प्रभु सदा नरों का हित करनेवाले हैं। जीवहित के उद्देश्य से ही तो संसार का निर्माण हुआ है। ६. **एनम्**=इस परमात्मा का **स्वाधी:**=उत्तम ध्यान करनेवाला भक्त **अजस्रम्**=निरन्तर **इन्धान:**=अपने को दीप्त करता हुआ **जरते**=उसका स्तवन करता है। प्रभु का स्तवन वही कर पाता है जो प्रतिदिन उस परमात्मा के योग का अभ्यास करता है। अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके **'स्वाधी:'**=उत्तम ध्यानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्युलोक के तारों में, शरीर की रचना में तथा जलों व समुद्रों में सुव्यक्त है। उस प्रभु के ध्यान का प्रतिदिन अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषि:—वत्सप्री:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

वह 'उत्स'

विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ॥१९॥

१. हे **अग्ने**=सबके प्रकाशक प्रभो! **ते**=आपके **त्रेधा**=तीन प्रकार से रखे गये **त्रयाणि**= द्युलोक में सूर्यरूप को, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप को तथा पृथिवी पर अग्निरूप को **विद्म**=हम जानें। सूर्य, विद्युत् व अग्नि में उस प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है। **'तस्य**

भासा सर्वमिदं विभाति'=उसकी दीप्ति से ही तो यह सब दीप्त होता है। २. **ते**=तेरे **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=रक्खे गये **धाम**=तेज को **विद्म**=हम जानें। जहाँ-जहाँ पर कुछ भी विभूति दिखती है वह सब उस प्रभु के तेज के अंश से ही है। प्रभु का ही तेज सर्वत्र रक्खा हुआ है। ३. हे प्रभो! **ते**=तेरे **परमं नाम**=उत्कृष्ट यश को, **गुहा यत्**=जो बुद्धिरूपी गुहा में निहित है उसे, **विद्म**=हम जानें। जब मनुष्य की बुद्धि प्रभु की महिमा का विचार करती है तब प्रभु के अनन्त यश को जानकर उसे नतमस्तक कर देती है। ४. हे प्रभो! योगमार्ग के द्वारा हम **तम्**=उस **उत्सम्**=ज्ञान के स्वतः प्रवाह को **विद्म**=प्राप्त करें, **यतः**=जिससे **आजगन्थ**=आप प्राप्त होते हो। योगाभ्यास से मनुष्य उस स्थिति में पहुँचता है जहाँ कि योग के शब्दों में **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'**=सत्य का पोषण करनेवाली बुद्धि प्राप्त होती है। इस बुद्धि के प्राप्त होने पर अन्दर से स्वतः ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। उस समय हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' में प्रभु की दीप्ति को देखें। सर्वत्र उसी के तेज के प्रसार का अनुभव करें। बुद्धि के द्वारा हम प्रभु की कृतियों को देख, उसके यश को जानें और योग द्वारा उस ज्ञान के स्रोत को प्रवाहित कर सकें जो हमें परमात्मा का दर्शन करानेवाला है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

नृमणा व नृचक्षा

समुद्रे त्वा नृमणाऽअप्स्वुन्तर्नृचक्षाऽईधे दिवो अग्नऽऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाᳬसमपामुपस्थे महिषाऽअवर्धन्॥२०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) मनुष्यों के हित की कामनावाला **नृचक्षाः** (नॄन् चष्टे)=मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला व्यक्ति **त्वा**=आपको **समुद्रे**=समुद्र में **अप्सु-अन्तः**=जलों में तथा **दिवः ऊधन्**=(द्युलोकस्य महोदके प्रदेशे—उ०)=अन्तरिक्षस्थ मेघों में **ईधे**=समिद्ध करता है, अर्थात् जिस भी मनुष्य का मन स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है वह समुद्रों में, जलों में व मेघों में आपकी महिमा का दर्शन कर पाता है। निर्मल मन सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। २. **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए **त्वा**=आपको **अपाम् उपस्थे**=जलों के समीप—नदी-तटों पर **महिषाः**=(मह पूजायाम्) उपासक लोग **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, अर्थात् आपकी महिमा का गायन करते हैं। ३. प्रभु तृतीय लोक में स्थित हैं का अभिप्राय यह है कि (क) प्रभु का दर्शन स्थूल व सूक्ष्म-शरीरों में न होकर कारणशरीर में होता है, जोकि प्राणिमात्र का एक है, अतः हमें स्थूल व सूक्ष्मशरीरों से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। (ख) अथवा प्रभु का दर्शन इन्द्रियों व इच्छाप्रधान मन से न होकर विवेकवाली बुद्धि से होता है, अतः प्रभु का स्थान इन्द्रियों व मन से परे बुद्धि ही है। (ग) अथवा प्रभु को तृतीय स्थान में स्थित इसलिए भी कहते हैं कि वे ऋग् व यजुः से ऊपर उठकर साममन्त्रों का विषय हैं। (घ) सामान्य बुद्धि प्रभु को पृथिवी व अन्तरिक्ष में स्थित न समझकर उसे द्युलोकस्थ ही समझती है। (ङ) अथवा बाल्यकाल क्रीड़ासक्त होने से प्रभु का उपासक नहीं होता, यौवन भी कुछ विषयासक्ति के कारण प्रभु-स्मरण से दूर रहता है और अन्ततः तीसरे वार्धक्य में मनुष्य प्रभु का स्मरण करनेवाला होता है। ४. मन्त्र में

'समुद्रे अप्सु, दिवः ऊधनि' इन शब्दों का यह भी अर्थ सङ्गत है कि 'प्रसादगुणयुक्त मन में (स+मुद्) सदा क्रियाशील बने रहने में (आपः=कर्माणि) तथा प्रकाश के उषःकाल में (ऊधन्=उषस्–नि०) प्रभु का दर्शन होता है। उत्तरार्ध के 'अपाम् उपस्थे' इन शब्दों का अर्थ यह होगा कि 'कर्मों की गोद में' अर्थात् सदा कार्य करते हुए ही प्रभुदर्शन हो सकता है। प्रभु की उपासना **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** स्वकर्मपालन से ही होती है।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर प्रसादयुक्त मन में प्रभु का दर्शन करें। प्रभु-दर्शन के लिए कर्मों में लगे रहना तथा साथ ही ज्ञान के उषःकाल को अपने जीवन में लाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गर्जना करते हुए प्रभु

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥२१॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी परमात्मा **अक्रन्दत्**=पवित्र हृदयों में वेदवाणी का नाद करता है। **स्तनयन्निव द्यौः**=वह तो मेघ के समान गर्जना कर रहा है, परन्तु दुर्भाग्यवश हम उस शब्द को सुनते नहीं। २. वे प्रभु **क्षामा**=इस पृथिवीस्थ प्राणियों को **रेरिहत्**=आस्वादमय जीवनवाला बनाते हैं। वे **वीरुधः**=विविध शक्तियों के विकास को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं ३. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए **इद्धः**=ज्ञान-दीप्त वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र **हि ईम्**=निश्चय से **वि अख्यदा**=हमारे जीवन को विशिष्ट प्रकाशमय कर देते हैं। ४. **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **भानुना**=दीप्ति से **अन्तः**=अन्दर **आभाति**=सर्वतः प्रकाशमय कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी को सुनने पर जीवन प्रकाशमय हो उठता है, उसमें विविध शक्तियों का विकास होता है। प्रभु का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-प्रिय (वत्सप्री) का जीवन

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः ॥२२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है—१. **श्रीणाम्**=सेवनीय गौ-अश्वादि सम्पदाओं का **उदारः**=(दाता) खूब देनेवाला होता है (उत्कृष्टं परीक्ष्य ऋच्छति ददाति)। यह विचार कर सत्पात्र में देता है। २. **रयीणाम्**=सम्पत्तियों का यह अपने को **धरुणाः** =धारण करनेवाला (trustee) समझता है। ३. **मनीषाणाम्**=बुद्धियों का **प्रार्पणः**=यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान देता है। ४. **सोमगोपाः**=यह अपने सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला होता है। वस्तुतः इस सोम-रक्षा के परिणामस्वरूप ही तो इसमें अन्य सब गुणों का विकास होता है। ५. सोम-रक्षा से नीरोग बनकर **वसुः**=यह उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**=बल का यह पुत्र होता है, अर्थात् खूब बलवान्—शक्ति का पुञ्ज बनकर यह शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सुन्दर बना पाता है। ६. **अप्सु**=यह कर्मों के विषय में **राजा**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला होता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसके कर्म समय पर सम्पन्न

किये जाते हैं। ७. नियमित जीवनवाला यह **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है, क्योंकि इस नियमितता से इसे शारीरिक और मानस स्वास्थ्य प्राप्त होता है। संक्षेप में यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला होता है। ८. **उषसाम् अग्रे**=बड़े सवेरे-सवेरे-उषःकाल के पहले **इधानाः**=यह प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता है।

भावार्थ—वत्सप्री के जीवन का गुणाष्टक यह है—दान, ट्रस्टीशिप की भावना, ज्ञान, वीर्यरक्षा, शक्ति व उत्तम निवास, नियमितता, दीप्ति तथा प्रभु-स्मरण।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वस्य केतुः

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥२३॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु को अपने कर्मों से प्रीणित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=सबका **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) निवास देनेवाला तथा रोगों को दूर करनेवाला—ज्ञान के प्रकाश से सबको नीरोगता का मार्ग दिखानेवाला होता है। २. **भुवनस्य गर्भः**=भुवन का गर्भ बनता है, अर्थात् सारी वसुधा को अपना परिवार समझता है। ३. **जायमानः**=अपना विकास करता हुआ यह रोदसी—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी को **अपृणात्**=पालित व पूरित करता है (पृ पालनपूरणयोः) अथवा (पृण to delight) सभी के जीवन को आनन्दयुक्त करने का प्रयत्न करता है। ४. **परायन्**=इस संसार से दूर जाने के हेतु से (हेतु में शतृ प्रत्यय है), अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने के हेतु से **वीडुम् अद्रिम् चित्**=दृढ़ पर्वत को भी **अभिनत्**=विदीर्ण कर देता है, अर्थात् लोकहित के कार्यों में लगे होने पर मार्ग में आये बड़े-से-बड़े विघ्न को भी दूर कर देता है। सब विघ्नों को दूर करता हुआ यह आगे बढ़ता चलता है और अन्त में वह समय आता है कि ५. **यत्**=जब **पञ्च जनाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद सभी लोग **अग्निम्**=इस अग्रेणी नेता को **अयजन्त**=पूजते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः संसार में महापुरुषों का जीवनकाल में उतना आदर नहीं होता, परन्तु अन्त में वे लोगों के आदर-पात्र बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्रकाशमय बनाकर संसार को प्रकाश देनेवाले बनें और सभी को उत्तम निवासवाला व नीरोग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उशिक पावकः

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥२४॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु का प्यारा **उशिक्**=(वश्) सबका भला चाहनेवाला होता है, किसी के अमङ्गल की भावना इसमें उत्पन्न नहीं होती। २. **पावकः**=यह सभी के जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। ४. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला अथवा उत्तम यज्ञोंवाला (मेध=यज्ञ) होता है ५. **अग्निः**=यह अग्रेणी—उन्नतिशील व्यक्ति **मर्त्येषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले लोगों में **अमृतः**=विषयों के

लिए अत्यन्त उत्सुक न होनेवाले के रूप में **निधायि**=रक्खा जाता है। प्रभु ही इस प्रकार के अमृत अग्नि को मर्त्यों में प्राप्त कराया करते हैं। इन्हें ही सामान्य जनता सुधारक के नाम से स्मरण करती है। ६. **इयर्त्ति**=यह व्यक्ति बड़ा गतिशील होता है। ७. **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले **अरुषम्**=क्रोध से शून्य ज्ञान को **भरिभ्रत्**=निरन्तर धारण करता हुआ यह **उत्**=वासनाओं से ऊपर उठा हुआ **शुक्रेण शोचिषा**=प्रकाशमय अथवा क्रियायुक्त (शुक् गतौ) ज्ञान की दीप्ति से यह **द्याम्**=सारे द्युलोक को **इनक्षन्**=व्याप्त करता है, अर्थात् यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। वस्तुत: लोकहित का इससे अधिक उत्तम मार्ग नहीं है कि ज्ञान को फैलाकर उनके जीवन के मापक को ऊँचा कर दिया जाए। ज्ञान ही मनुष्य को वासनाओं से बचाकर इस योग्य बनाता है कि वह प्रभु के अधिक समीप पहुँच सके।

भावार्थ—हमें सभी के भले की कामना करनी चाहिए, अत: स्वयं विषयों से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करनेवाला होना चाहिए।

ऋषि:—वत्सप्री:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—भुरिक्पङ्क्ति:। **स्वर:**—पञ्चम:॥

दृशानो रुक्म

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायु: श्रिये रुचान:।
अग्निर्मृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेता:॥२५॥

१. **दृशान:**=यह वस्तुतत्त्व को देखता है, बाह्य रूप से ही विचलित नहीं हो जाता—विषयों की आपातरमणीयता इसे उनमें उलझा नहीं देती, क्योंकि यह विषयों के विषयत्व को देखता है। २. **रुक्म:**=न उलझने के कारण ही चमकता है। ३. **उर्व्या व्यद्यौत्**=हृदय की विशालता से यह प्रकाशमय है—उत्तम व्यवहार करनेवाला होता है। ४. **आयु:**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=वासनाओं से न कुचलने योग्य होता हैं ५. **श्रिये रुचान:**=यह श्री के लिए रुचिवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है ६. **अग्नि:**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है ७. **वयोभि:**=उत्तम आयुष्यवर्धक अन्नों से **अमृत: अभवत्**=रोगाक्रान्त न होकर अमृत हो जाता है, अकालमृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ८. **यत्**=क्योंकि **सुरेता:**=उत्तम रेतस्वाला अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौ:**=प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसे **अजनयत्**=विकसित करता है—शक्तिमान् बनाता है।

भावार्थ—संसार में हमें तत्त्वदर्शी बनकर विषयों में नहीं उलझना। ज्ञानी, ब्रह्मचारी आचार्यों की कृपा से ही ऐसा जीवन बनता है।

ऋषि:—वत्सप्री:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

गुरु का आदर, प्रभु की भक्ति

यस्तेऽअद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ॥२६॥

१. वेद में पाँचों ज्ञानेद्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को 'ओदन' (भोजन) कहा है, अत: जीव का नाम ही 'पञ्चौदन' कर दिया है। विद्यार्थी के लिए इस ओदन का परिपाक करनेवाला उसका आचार्य है। अथर्ववेद ९।५।३७ में 'पचत पञ्च चौदनान्' इन शब्दों में इन पाँचों ओदनों के परिपाक का निर्देश है। यह ज्ञान का ओदन 'घृतवान्'=मल के क्षरण के

द्वारा दीप्ति प्राप्त करानेवाला है। यह 'अपूप'=न पूयते=न अपवित्र (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) होनेवाला है। इस **घृतवन्तं अपूपम्**=नैर्मल्य व दीप्तिवाले, न मलिन होने देनेवाले ज्ञानरूप अपूप को **हे अग्ने**=प्रगतिशील छात्र! हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान की दीप्तवाले! **देव**=ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करनेवाले, अतएव दिव्य गुणोंवाले! जो **ते**=तेरे लिए **अद्य**=आज **कृणवत्**=ज्ञानदान करता है **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=(अतिशयेन प्रकृष्टं) बहुत उत्तम **वस्यः**=(वसीयः—अतिशयेन वसु) निवास के लिए अत्यन्त उपयोगी धन **प्रनय**=प्राप्त करा। **तम्**=उसके लिए उत्तम-से-उत्तम गुरु-दक्षिणा देने का यत्न कर। २. इस प्रकार गुरु-भक्ति की भावनावाला **यविष्ठ**=बुराइयों को अधिक-से-अधिक दूर करनेवाला और अच्छाइयों से अपना मेल करनेवाला होकर **देवभक्तम्**=देवों से सेवित **सुम्नम्**=(Hymn) प्रभु-स्तवन की **अभि**=ओर अपने को **प्रनय**=ले-चल, अर्थात् ज्ञान देनेवाले गुरु के प्रति तो तेरी श्रद्धा हो ही, साथ ही तू देवों के सेवनीय प्रभु का स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—जिस आचार्य ने हमें वह ज्ञान प्राप्त कराया, जिससे हमारा जीवन निर्मल हो गया, उस आचार्य के चरणों में हमें यथाशक्ति भेंट देनी चाहिए और सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान+स्वास्थ्य व उज्ज्वल वंश

आ तं भ॑ज सौश्रव॒सेष्व॑ग्नऽउ॒क्थऽ उ॑क्थ॒ऽआभ॑ज श॒स्यमा॑ने।

प्रि॒यः सूर्ये॑ प्रि॒योऽअ॒ग्ना भ॑वा॒त्युज्जा॒तेन॑ भि॒नद॒दुज्जनि॑त्वैः॥२७॥

पिछले मन्त्र की ही भावना को प्रकारान्तर से कहते हैं १. **अग्ने**=हे प्रगतिशील! तू **तम्**=उस ज्ञान देनेवाले आचार्य को **सौश्रवसेषु**=उत्तम यशोमय कर्मों में **आभज**=सेवित करनेवाला हो, अर्थात् आचार्य से शिक्षित होकर तू संसार में इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाला बन कि तेरे कर्मों से तेरे आचार्य का नाम उज्ज्वल हो। २. तू इस अपनी जीवन-यात्रा में **उक्थे उक्थे शस्यमाने**=जहाँ-जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो उस-उस स्थान पर **आभज**=प्रभु की उपासना करनेवाला बन, अर्थात् उन्हीं सत्सङ्गों में तू उपस्थित हो जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो। ३. इस प्रकार उत्तम कर्मों से आचार्य के नाम को उज्ज्वल करनेवाला तथा प्रभु-स्तवन में सम्मिलित होनेवाला व्यक्ति **सूर्ये प्रियः भवति**=सूर्य के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में सदा ज्ञान का सूर्य उदित रहता है। यह **अग्नौ प्रियः भवति**=अग्नि के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके भौतिक शरीर में प्राणशक्ति की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। इसके मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य उदित रहता है तो इसके पार्थिव शरीर की वेदि पर प्राणाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। ज्ञान चमकता हुआ होता है तो शरीर शक्ति की उष्णतावाला होता है। ४. अपने बाद भी यह **जातेन**=उत्पन्न पुत्र से **उद्भिदत्**=उदय व वृद्धि को प्राप्त होता है तथा **जनित्वैः**=जनिष्यमाण (आगे पैदा होनेवाले) पौत्र आदि से भी यह अधिकाधिक उदय को प्राप्त होगा, अर्थात् इसका वंश और अधिक चमकनेवाला होगा।

भावार्थ—गुरु का आदर व प्रभु-भक्तिवाले पुरुष के जीवन में १. ज्ञान का सूर्य चमकता है २. इसकी जीवनी-शक्ति बनी रहती है तथा ३. इसका वंश उज्ज्वल होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु+लक्ष्मी, नकि केवल लक्ष्मी

त्वाम॑ग्ने यज॑माना॒ऽअनु॒ द्यून् विश्वा॒ वसु॑ दधिरे॒ वार्या॑णि।
त्वया॑ स॒ह द्रवि॑णमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ विव॑व्रुः॥२८॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **यजमानाः**=उपासना करते हुए—आपका पूजन करते हुए ये **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय वसु=निवास के लिए आवश्यक धनों को **दधिरे**=धारण करते हैं, वस्तुतः प्रभु की उपासना वसुओं को प्राप्त कराती ही है। प्रभु अपने सच्चे भक्तों के योगक्षेम को चलाते हैं। २. ये **त्वया सह**=आपके साथ **द्रविणम्**=धन को **इच्छमानाः**=चाहनेवाले होते हैं। 'प्रभु-भक्त धन को न चाहें' यह बात नहीं है। धन की कामना तो शरीरधारी को करनी ही होती है, परन्तु प्रभु-भक्त प्रभु के साथ धन की कामना करता है। यह विष्णु के साथ ही लक्ष्मी के दर्शन की कामना करता है—अकेली लक्ष्मी को यह आमन्त्रित नहीं करता। वस्तुतः अकेली लक्ष्मी मनुष्य को विषयासक्त कर देती है। विष्णु की उपस्थिति मन को विषयप्रवण नहीं होने देती। धन विषयों को प्राप्त कराता है, प्रभु-स्मरण उन विषयों में फँसने से बचाता है, अतः विष्णु के साथ ही लक्ष्मी की शोभा है। ३. ये धनी परन्तु धनासक्ति से रहित **उशिजाः**=मेधावी पुरुष **गोमन्तम्**=आदित्य रश्मियोंवाले (गावः रश्मयः) **व्रजम्** =मार्ग को **विवव्रुः**=(विभिदुः—म०) खोलते हैं, अर्थात् आदित्यमण्डल के मध्य से मार्ग बनाते हैं। ये सूर्यमण्डल का भेदन करके 'स्वर्ज्योति' स्वयं देदीप्यमान ज्योति—ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ५. मनुष्य का पहला पग पृथिवीलोक का विजय है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर उसे अन्तरिक्षलोक का विजय करना है—यही उसका दूसरा पग होता है। द्युलोक का विजय करके वह ब्रह्मज्योति को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह आत्मा चतुष्पात् होता है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होंगे उतने-उतने उत्कृष्ट लोक में हम जन्म लेंगे। इस मर्त्यलोक से पितृलोक (चन्द्रलोक में) में, पितृलोक से देवलोक में (सूर्य में), अन्त में सूर्य से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में। ५. 'गोमन्तं व्रजं विवव्रुः' का अर्थ यह भी है कि (गावा: इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के बाड़े को विशेषरूप से संवृत्त रखते हैं, अर्थात् इन्द्रियों का पूर्ण निरोध करते हैं।

भावार्थ—नित्याभियुक्त पुरुष वसुओं—जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि यह लक्ष्मी को प्रभु के साथ ही चाहता है, अतः पापों में नहीं फँसता।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुवीररयि तथा अद्वेष

अस्ता॑व्य॒ग्निर्न॒रा॑ꣳसु॒शेवो॑ वैश्वान॒रऽऋषि॑भिः॒ सोम॑गोपाः।
अ॒द्वे॒षे द्यावा॑पृ॒थि॒वी हु॑वेम॒ देवा॑ ध॒त्त र॒यिम॒स्मे सु॒वीर॑म्॥२९॥

'वत्सप्री' कहता है कि १. **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। अतत्त्वार्थवित् ही विषयासक्त होता है, अतः उस प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए जो (क) **नराम्**=उन्नति के मार्ग पर चलनेवालों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला है। (ख) **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों का हित चाहता है। (विश्वनरहितः) अथवा सभी को (विश्वान् नरान् नयति) उत्कृष्ट मार्ग पर ले-चलता है। प्रभु की आवाज़

को न सुननेवाला ही मार्ग-भ्रष्ट होता है। (ग) **सोमगोपाः**=हमारी वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा करनेवाला है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य विषयासक्ति से बचता है और अपनी शक्ति की रक्षा करने में समर्थ होता है। २. प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हुए हम **अद्वेषे**=द्वेष से रहित, प्रेम से पूर्ण **द्यावापृथिव्यौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवेम**=पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में हमारा कोई शत्रु न हो—हम किसी के शत्रु न हों। हम द्वेष से अतीत हों। ३. द्वेषातीत होने के लिए ही हम चाहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! **अस्मे**=हममें **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। प्रत्येक देव हमें अपनी वह सम्पत्ति प्राप्त कराये जो हमें वीर बनानेवाली हो। अग्नि हमारी वाणी को सबल बनाए तो सूर्य आँखों को तथा दिशाएँ कानों को और चन्द्रमा मन को। इस प्रकार सब देव अपना-अपना दिव्य अंश प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट वीर बना दें, जिससे हम द्वेष से ऊपर उठ सकें।

भावार्थ—१. हम प्रभु का स्तवन करें। २. द्वेष से ऊपर उठें। ३. देवों से शक्ति प्राप्त करें। देवों से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष से ऊपर उठें। निर्द्वेष बनकर सभी का भला चाहना व करना ही सच्चा प्रभु-कीर्तन है। यही व्यक्ति 'वत्सप्री' है—प्रभु का सच्चा प्यारा है।

ऋषिः—विरूपाक्षः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'विरूपाक्ष'

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न्ह॒व्या जु॑होतन॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि सब देव हमारे अङ्गों में अपनी-अपनी सम्पत्ति को धारण कर उन्हें सुवीर बनाएँ। वे वीरतापूर्ण अंश इस मनुष्य को 'विरूपाक्ष' बनाते हैं—विशिष्ट रूपवाली हैं इन्द्रियाँ जिसकी। इस विरूपाक्ष का कथन है कि २. **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना ज्ञान से ही होती है। ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रतीत होता है। २. **घृतैः**=मलों के क्षरण व विद्रावण से, दीप्त अन्तःकरणवृत्तियों से **अतिथिम्**=उस (अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त, सदा हृदय में विद्यमान प्रभु को **बोधयत**=(चेतयत) जानो। उस प्रभु का ज्ञान तभी होता है जब हमारे हृदयों पर से मल का आवरण दूर हो जाता है। प्रभु तो उपस्थित हैं ही, परन्तु हृदयों के मलावृत्त होने से उसका ज्ञान नहीं होता। मल हटा और प्रभु का दर्शन हुआ। ३. **अस्मिन्**=इस प्रभु में स्थित हुए **हव्या**=दातुमर्ह—देने योग्य पदार्थों को **आजुहोतन**=दान में दो। प्रभु में स्थित हुए, अर्थात् प्रभु को कभी न भूलते हुए हम सदा दान देनेवाले बनें। देकर बचे हुए को खानेवाले बनें। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु-अर्चन हो जाता है। वस्तुतः प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति वैषयिक वृत्ति का तो बनता ही नहीं। यह विषय-वासनाओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति 'विरूपाक्ष' क्यों न बनेगा।

भावार्थ—१. ज्ञान-दीप्ति से हम प्रभु की परिचर्या करें। २. नैर्मल्य से प्रभु के प्रकाश को देखें। ३. प्रभु-दर्शन करते हुए सदा देकर खाएँ—यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्ञानी-प्रियदर्शन

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वाऽअग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳसु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः॥३१॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार मनुष्य अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाए, नैर्मल्य

की साधना करे, दान देकर यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बने। २. इस वृत्तिवाला व्यक्ति **उत् उ**=निश्चय से विषय-वासनाओं से ऊपर उठता है (**उत्**=out)। यह विषय-वासना से ऊपर उठना ही वास्तविक तपस्या है, अतः मन्त्र का ऋषि 'तापस' नामवाला हो गया है। ३. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले! **त्वा**=तुझ तापस को **विश्वे देवाः**=सब देव **चित्तिभिः**=ज्ञानों से **भरन्तु**=भर दें। यह तापस ज्ञानियों के सम्पर्क में आता है। यह ज्ञानियों का सम्पर्क इसे अधिकाधिक ज्ञानी बनाता है। उनके सम्पर्क में इसकी बुद्धि विशिष्ट और विशिष्टतर होती चलती है। ५. **सः**=वह **विभावसुः**=ज्ञान-धनवाला **सुप्रतीकः**=शोभन मुखवाला या प्रियदर्शनवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण को प्राप्त करानेवाला **भव**=हो। यह तापस प्रजाओं में विचरता है। उन प्रजाओं के लिए अपने ज्ञान-धन को विकीर्ण करता है और इस ज्ञान का प्रसार यह अत्यन्त माधुर्य के साथ करता है—सबके लिए यह सुप्रतीक=प्रियदर्शन होता है। इसके मुख पर मानस शान्ति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—एक परिव्राजक प्रचारक को तपस्वी, ज्ञानी व प्रियदर्शन होना चाहिए।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्योतिष्मान्

प्रेद॑ग्ने ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम्।
बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॒न् मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा॒ प्र॒जाः॥३२॥

१. हे **अग्ने**=अपने ज्ञानोपदेशों से सबको आगे ले-चलनेवाले 'तापस'! **त्वम्**=तू **ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योतिवाला बनकर **शिवेभिः अर्चिभिः**=कल्याणकर ज्ञान की ज्वालाओं से **इत्**=निश्चयपूर्वक **प्रयाहि**=आगे बढ़। वस्तुतः यह तापस अपनी ज्ञान-ज्वालाओं से प्रजाओं के पापरूप तृणों को दग्ध करता हुआ चलता है। ३. **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **भानुभिः**=दीप्तियों से **भासन्**=चमकते हुए आप **तन्वा**=अपने शरीर से **प्रजाः**=प्रजाओं को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। तापस के शरीर से कोई ऐसी क्रिया न हो जो प्रजाओं की हिंसा का कारण बने। इस अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही इसके समीप आनेवाले सभी व्यक्तियों की वैरभावना समाप्त होगी और वे प्रेम से इसके उपदेश को सुन पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ में निम्न बातें बड़ी स्पष्ट हैं कि आदर्श प्रचारक वही है जो (क) स्वयं ज्ञान की ज्योतिवाला है। (ख) जिसकी ज्ञान-ज्योति अमङ्गल का ध्वंस करती है। (ग) इसका ज्ञान लोगों की वृद्धि का कारण बनता है। (घ) यह किसी की हिंसा नहीं करता—मधुरवाणी का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—स्वयं ज्योतिर्मय अहिंसक वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञान-प्रसार द्वारा लोककल्याण का साधन करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मेघ-गर्जन

अक्र॑न्दद॒ग्नि स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद् वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धोऽअख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॥३३॥

१. **अग्निः**=सब उन्नतियों के साधक, प्रकाश देनेवाले प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जते हुए मेघ के समान **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण कर रहे हैं। २. जब हम

उनकी वाणी को सुनते हैं तो **क्षामा**=हमारे इस शरीर को (पृथिवी शरीरम्) **रेरिहत्**=वे अत्यन्त आनन्दमय बना देते हैं। ३. **वीरुधः**=विशिष्ट रोहणों को व विविध शक्तियों के विकासों को वे **समञ्जन्**=हममें व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार आचरण करने पर हमारी शक्तियों का विकास होता है और हमारा स्वस्थ व सुन्दर जीवन आनन्दमय बन जाता है। ४. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए वे प्रभु **इद्धः**=हृदयाकाश में दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **विअख्यत्**=विशेषरूप से हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्दर, अर्थात् सम्पूर्ण आकाश में **भानुना**=दीप्ति से **आभाति**=समन्तात् चमक रहे हैं, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु की वाणी को सुनें, हममें विविध शक्तियों का विकास होगा और हमारा जीवन चमक उठेगा।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुननेवाला

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽअतिथिः शिवो नः॥३४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु की मेघ-गर्जना का उल्लेख था। **भरतस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले प्रभु की इस गर्जना को **अयं अग्निः**=यह उन्नतिशील जीव **शृण्वे**=सुनता है और **प्रप्र**=निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। उस वाणी को सुनेंगे तो उन्नति क्यों न होगी? २. इस वाणी को सुननेवाले की पहचान यह है **यत्**=कि यह **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति **विरोचते**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। **बृहद्भाः**=वृद्धिशील ज्ञानवाला होता है। ३. उसी ने वाणी सुनी है **यः**=जो **पृतनासु**=संग्रामों में **पूरुम्**=सबको व्याप्त करनेवाले, अत्यन्त प्रबल कामासुर का **अभितस्थौ**=मुक़ाबला करता है, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुननेवाला काम पर विजय पाता है। ४. **दीदाय**=यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। ५. **दैव्यः**=प्रभु के साथ सम्बन्धवाला होने से दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ६. **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर गतिशील होता है और ७. **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है।

भावार्थ—प्रभु की वाणी के सुनने पर मनुष्य ज्ञान-सूर्य से चमकता है, काम पर विजय पाता है, स्वस्थ, दिव्य गुणोंवाला, निरन्तर क्रियाशील व सभी का कल्याण करनेवाला होता है। काम पर विजय पानेवाला यह 'वशिष्ठ' कहलाता है—वशियों में श्रेष्ठ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वसिष्ठ का स्वागत Reception

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳसुरभाऽउ लोके।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाले अतएव **एतत्**=इस **भस्म**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले वसिष्ठ को **आपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण (receive) करें—उसका स्वागत करें। जब कभी 'वसिष्ठ' हमारे बीच में आये तो हमें उसका स्वागत करना ही चाहिए। २. **उ**=और उसे **स्योने**=सुखावह—जहाँ सब प्रकार की

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा है, उस **सुरभा**=सुगन्धित–दुर्गन्धशून्य **लोके**=स्थान में **कृणुध्वम्**=स्थापित करो, ठहराओ। इस वसिष्ठ के ठहरने का स्थान स्वच्छ, पवित्र व दुर्गन्धशून्य होना चाहिए। ३. इसके समीप लोग उपदेश लेने आएँगे ही। उस समय **तस्मै**=उस ब्रह्मज्ञानी के लिए **जनयः**=सन्तानों को जन्म देनेवाले गृहस्थ लोग तथा **सुपत्नीः** (सुपत्न्यः)=श्रेष्ठ पत्नियाँ **नमन्ताम्**=नमन करनेवाली हों। उसके समीप आदर से उपस्थित होकर उसके उपदेश को सुनें। ४. **एतत्**=इस वसिष्ठ को **अप्सु**=प्रजाओं में इस प्रकार **बिभृत**=धारण करो **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को धारण करती है। माता जैसे पुत्र का पालन करती है उसी प्रकार प्रजाओं को इस वसिष्ठ का पालन करना है।

भावार्थ–उत्तम वृत्तिवाली प्रजाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे लोकहित में तत्पर, काम-विजयी वसिष्ठ का स्वागत करें। उसे सुविधाजनक स्थान पर ठहराएँ। नम्रता से उसके उपदेश को सुनें। उसे माता के समान अपने लिए हितकर समझें।

ऋषिः–विरूपः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृद्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

आदर्श प्रचारक

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥३६॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले, प्रजाओं को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले! **विरूप**=विशिष्ट रूपवाले तेजस्विन्! **तव**=तेरा **अप्सु**=प्रजाओं में **सधिः**=समान स्थान है, अर्थात् जहाँ प्रजाएँ हैं, वहीं तुझे भी होना है, प्रजाओं में रहते हुए उन्हें ज्ञान देने के लिए सदा यत्नशील रहना है। २. **सः**=वह तू प्रजाओं को ज्ञान देता हुआ **सौषधीः**=यव आदि (यवाद्याः–म०) ओषधियों का ही **अनुरुध्यसे**=(स्वीकरोषि–म०) स्वीकार करता है। तेरा भोजन सात्त्विक व वानस्पतिक ही होता है। ३ (क) **गर्भे सन्**=प्रजाओं के मध्य में रहता हुआ तू **पुनः**=फिर **जायसे** =बाहर हो जाता है, अर्थात् निरन्तर आगे चलते जाने के कारण यह सदा किसी एक स्थान पर ठहरा नहीं रहता। आज यहाँ की प्रजा में है, कल इससे बाहर होकर अन्यत्र चला गया है। (ख) अथवा **गर्भे सन्**=प्रति वर्ष चौमासे में गर्भ में, अदृश्यरूप में, कहीं एकान्त अज्ञात स्थान में ठहरकर तू **पुनः**=फिर **जायसे**=प्रकट हो जाता है और अपने अन्दर ग्रहण किये हुए ज्ञान का प्रसार करता है।

भावार्थ–आदर्श पुरुष वही है जो प्रजाओं के साथ ही रहता है, वानस्पतिक भोजन करता है। चार मास एकान्त में अपने को ज्ञान से भरकर फिर ज्ञान-प्रसार के लिए बाहर आ जाता है।

ऋषिः–विरूपः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**–ऋषभः॥

शाकाहार-विश्वबन्धुत्व

गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि॥३७॥

१. 'गर्भ' शब्द 'गृ' निगरणे (निगलना) व 'ग्रह उपादाने'. (ग्रहण करना) धातुओं से बनता है, अतः यह विरूप=औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूपवाला–ज्ञान-प्रसार में रत व्यक्ति **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **गर्भः असि**=निगलनेवाला–खानेवाला है। यह **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **गर्भः**=खानेवाला है। प्रचारक को ओषधि-वनस्पतियों का ही ग्रहण करना

चाहिए उसे मांसभोजी नहीं होना है। मांसभोजन क्रूरता व स्वार्थ का प्रतीक है। २. यह प्रचारक **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों को **गर्भः**=अपनी 'मैं' में ग्रहण करनेवाला है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=सारी वसुधा को यह अपना परिवार समझता है। **अपाम्**=सब प्रजाओं का **गर्भः** =ग्रहण करनेवाला है। (क) सारी प्रजाओं को अपनी 'मैं' में समाविष्ट कर लेने से यह सभी के दुःख से दुःखी होता है, अतः करुणात्मक स्वभाववाला बनता है। (ख) सभी की उन्नति में प्रसन्न होता है, अतः ईर्ष्या आदि से परे यह 'मोद' की वृत्तिवाला होता है। (ग) सभी से स्नेह के करण 'मैत्री'वाला होता है। (घ) सभी में अपनापन अनुभव करने के कारण यह पापरत से भी घृणा न करके उपेक्षा को ही अपनाता है। ३. इसका यह स्वभाव इसके वानस्पतिक व सात्त्विक भोजन के कारण शुद्धान्तःकरण होने से ही है **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। जो मांसभोजी होगा वह स्वार्थप्रधान होने से सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट न कर सकेगा। यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध व उत्तरार्ध में यही कार्यकारणभाव है। शाकाहार कारण है, विश्वबन्धुत्व की भावना कार्य है।

भावार्थ—एक आदर्श प्रचारक को शाकाहारी व विश्वबन्धुत्व की भावनावाला होना चाहिए।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

योनिम्, अपः, पृथिवीम्

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥३८॥

१. **भस्मना**=(भस दीप्तौ, प्रदीपकं तेजः—द०) अपने ज्ञान के दीप्त तेज से **योनिः**= मूलस्थान ब्रह्म में **प्रसद्य**=स्थित होकर, अर्थात् प्रभु की उपासना करके हे **अग्ने**=सबके लिए मार्ग दिखानेवाले विद्वन्! तू **अपः**=प्रजाओं में व कर्मों में स्थित हो, अर्थात् तेरे दिन का प्रारम्भ सदा प्रभु के ध्यान से हो। यह प्रभु-दर्शन तुझे ज्ञान से ही तो होगा, अतः तूने अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। यह दीप्त-ज्ञान का तेज तुझे ब्रह्मनिष्ठ बनाएगा, परन्तु तूने सदा समाधि के आनन्द में ही न उलझे रहना। तूने अपने ज्ञान को प्रजाओं में भी फैलाने के लिए यत्नशील होना। तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। ब्रह्मज्ञानी अकर्मण्य नहीं होता। २. तूने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य को करते हुए **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विशाल हृदय-प्रदेश में स्थित होना। तेरा हृदय विशाल होगा तभी तू सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करके वसुधा को अपना परिवार बना पाएगा। ३. **त्वम्**=तू **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्य' के **संसृज्य**=सम्पर्क में आकर **ज्योतिष्मान्**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला बना है, **पुनः**=इस प्रकार ज्योतिष्मान् बनकर ही फिर तू **आसदः**=उस ब्रह्म में स्थित हो, प्रजा व कर्मों में स्थित हो तथा विशाल हृदयान्तरिक्ष में स्थित हो (योनिम्, अपः, पृथिवीम्)। जिसका जीवन उत्तम माता-पिता व आचार्य इन निर्माताओं के सम्पर्क में नहीं आता, उसे ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और उसके लिए ब्रह्मनिष्ठ होना सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—विद्वान् अपने जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करे। ब्रह्मदर्शन करता हुआ वह ईशचिन्तन से दिन का आरम्भ करे, प्रजाओं में ज्ञान-प्रसार करता हुआ उदार हृदय बने और दिनावसान पर पुनः प्रभु का ध्यान करता हुआ रात्रिशयन में चला जाए।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

माता की गोद में

पुन॑रा॒सद्य॒ सद॑नम॒पश्च॑ पृथि॒वीम॑ग्ने।
शेषे॑ मा॒तुर्यथो॒पस्थे॒ऽन्तर॑स्याᳬशि॒वत॑मः ॥३९॥

गत मन्त्र की भावना का ही विस्तार करते हुए प्रभु 'विरूप' से कहते हैं कि (१) ज्ञान-प्राप्ति के बाद **पुनः** =फिर **सदनम्**=सम्पूर्ण संसार के कारण उस ब्रह्म में **अपः**=प्रजाओं व कर्मों में **पृथिवी च**=और विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=स्थित होकर हे **अग्ने**=प्रकाश के प्रसारक विद्वन्! तू **अस्यां अन्तः**=इस प्रजा में **शेषे**=इस प्रकार निवास करता है **यथा**=जैसे कोई बालक **मातुः उपस्थे**=माता की गोद में शयन करता हो। तू प्रजाओं से दूर नहीं भागता। प्रजाओं में निवास करता हुआ तू अशान्ति अनुभव नहीं करता। २. तू इन प्रजाओं में ही स्थित हुआ **शिवतमः**=उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है। अज्ञानवश गालियाँ देनेवालों को भी तू आशीर्वाद ही देता है।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासी प्रजाओं में ज्ञान फैलाते हुए उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शक्ति-लाभ व पाप से निवृत्ति

पुन॑रू॒र्जा निव॑र्त्तस्व॒ पुन॑रग्नऽइ॒षायु॑षा। पुन॑र्नः पा॒ह्यꣳह॑सः ॥४०॥

१. पिछले मन्त्रों में 'विरूप' को प्रभु ने लोकहित के उद्देश्य से प्रजाओं में ज्ञान-प्रचार का निर्देश किया था। 'विरूप' उस निर्देश को शिरोधार्य करके प्रभु से प्रार्थना करता है। प्रभु के निर्देश को मानने से वह 'वत्सप्री' बनता है और कहता है कि हे प्रभो! आप **पुनः**=फिर ऊर्जा, बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=मुझे प्राप्त होओ। आप शक्ति देंगे तभी मैं इस ज्ञान-प्रचार के कार्य को कर पाऊँगा। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! **पुनः**=फिर **इषा**=प्रेरणा से तथा **आयुषा**=दीर्घजीवन के वरदान के साथ मुझे प्राप्त होओ। आपकी प्रेरणा ही तो मुझे वह प्रकाश दिखाएगी जिसे मुझे औरों के प्रति देना है। ३. **पुनः**=फिर **नः**=मुझे **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। अपने इस दीर्घ जीवन में मैं पाप से बचा रहूँ। मैं स्वयं पाप में पड़ जाऊँगा तो औरों को क्या मार्ग दिखाऊँगा। आपकी कृपा से मैं विषयों के प्रति झुकाववाला न होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व प्राणशक्ति प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा को सुनें। दीर्घजीवनवाले हों। पाप से सदा बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धारक-धन

स॒ह र॒य्या निव॑र्त्त॒स्वाग्ने॒ पिन्व॑स्व॒ धार॑या। वि॒श्वप्स्न्या॑ वि॒श्वत॒स्परि॑ ॥४१॥

१. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! आप हमें **रय्या सह**=धन के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। संसार-यात्रा को चलाने के लिए धन आवश्यक है, परन्तु वह धन यदि प्रभु-स्मरण के साथ होता है तो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता, अतः 'वत्सप्री' उसी धन के लिए प्रार्थना करता है जो प्रभु-स्मरण से युक्त है। २. हे अग्ने! आप **विश्वतः परि**=सब

ओर से उस **धारया**=धन की धारा से **पिन्वस्व**=हमें प्राप्त हों जो **विश्वपस्न्या**=सबको खिलानेवाली हो, अर्थात् मैं धन तो प्राप्त करूँ, परन्तु उसी धन को जो मुझे लोकहित के कार्य में अधिक श्रमशील बनाए। उस धन से मैं अपने भोग-साधनों को न बढ़ाकर दु:खियों का दर्द दूर करने में उसका विनियोग करनेवाला बनूँ। मैं पराश्रित न होकर स्वतन्त्रता से ज्ञान का प्रसार कर सकूँ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से पर्याप्त धन प्राप्त करें, जिससे निर्भीकता से ज्ञान का प्रसार करनेवाले बन सके। एवं, आदर्श उपदेशक वही है जो १. सबल है। २. प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला है। ३. दीर्घ जीवनवाला है। ४. पाप से बचा रहता है। ५. पर्याप्त धनवाला है, जिससे पराधीन न हो जाए। ६. इसका धन भोगों में विनियुक्त न होकर लोकहित के लिए व्यय होता है।

ऋषि:—दीर्घतमा:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

दीर्घतमा:

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव:।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने॥४२॥

१. मन्त्र ४० तथा ४१ के अनुसार एक व्यक्ति अपने को आदर्श प्रचारक बनाकर प्रजाओं में ज्ञान का प्रसार करता है और तम=अज्ञान का (दृ विदारणे) विदारण करने के कारण यह 'दीर्घतमा:' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **यविष्ठ**=बुराइयों को सर्वाधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हे **स्वधाव:**=(स्व+धा+वन्) आत्मधारण की शक्ति देनेवाले प्रभो! **मंहिष्ठस्य** =(दातृतम) अधिक-से-अधिक धनों के देनेवाले, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये गये धनों को लोकहित में विनियुक्त करनेवाले और इस प्रकार **प्रभृतस्य**=प्रजाओं का प्रकृष्ट भरण करनेवाले मेरे **अस्य वचसो बोध**=इस वचन को आप अवश्य जानिए कि २. इस कार्य में लगे हुए मेरी **त्व:**=कोई एक तो **पीयति**=हिंसा करता है और **अनु**=पीछे सामान्यत: मृत्यु के बाद **त्व:**=कोई **गृणाति**=प्रशंसा भी करता है। आपके निर्देशानुसार मैं प्रजाओं में ही अपना स्थान बनाकर ज्ञान-प्रचार में लग गया हूँ, परन्तु मैं जिनके हित में लगा हूँ वे ही मुझे गालियाँ देते हैं—मेरी हिंसा पर उतारू हैं। कोई प्रशंसा भी करता है, परन्तु वैरियों की संख्या अधिक है—मेरी हिंसा करनेवाले बहुत हैं। ३. अत: मैं तो **अग्ने**=हे मार्गदर्शक प्रभो! **ते**=तेरा **वन्दारु:**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बनता हूँ और **तन्वम्**=इस प्रजारूप तेरे शरीर को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ। इस प्रजा के अन्दर भी मैं आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करता हूँ, अत: उनसे की गई हिंसा से घबराता नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे शक्ति दीजिए कि मैं प्रजाओं के लिए अपने सर्वस्व को दे सकूँ, उनका प्रकृष्ट भरण करनेवाला बनूँ। वे हिंसा भी करें तो भी मैं उनमें आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करूँ।

ऋषि:—सोमाहुति:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—विराडनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

सोमाहुति

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्यस्मद् द्वेषांꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार दीर्घतमा जब सब प्रजाओं में प्रभु का रूप देखता हुआ उनके प्रति आदर की भावनावाला होकर प्रचार-कार्य में लगता है तब यह विनीतता को धारण करने के कारण 'सोम' कहलाता है। सोम (वीर्य) की रक्षा के कारण भी यह 'सोम' कहलाता है और अपने जीवन को अर्पित करने के कारण 'आहुति' होता है। इस प्रकार इसका नाम 'सोमाहुति' हो जाता है। इस सोमाहुति से प्रभु कहते हैं कि (१) **सः बोधि**=वह तू समझदार बन-ज्ञानी बन। ज्ञानी बनकर ही तो यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. **सूरिः**=विद्वान् तू (सु प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला हो। ३. **मघवा**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला अथवा (मघ=मख) यज्ञशील हो। ४. **वसुपते**=हे वसु के पति-ज्ञानैश्वर्य देनेवाले! तू **अस्मत्**=हमसे **द्वेषांसि**=द्वेषों को **युयोधि**=दूर कर अथवा प्रभु के प्रति जो अप्रीति की भावना है (द्विष् अप्रीतौ) उसे तू दूर करनेवाला हो, अर्थात् तू लोगों को प्रकृति-प्रवण न रहने देकर उन्हें प्रभु-प्रवण बनानेवाला हो। ५. **विश्वकर्मणे**=इस प्रकार लोकहित (विश्व-हितकर्मणे, मध्यमपदलोपः) के लिए कर्म करनेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। यह लोकहित करनेवाला व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है। इसके लिए सभी शुभ शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ-प्रचारक ने स्वयं 'ज्ञानी, प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला, यज्ञ की वृत्तिवाला' बनना है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त करके ज्ञानैश्वर्य को देनेवाला बनना है। प्रजाओं में से द्वेष को दूर करके प्रेम का प्रसार ही इसका मुख्य ध्येय होना चाहिए। हमारे सब कर्म लोकहित के लिए हों। हमारा जीवन त्यागवाला व प्रशंसनीय हो।

ऋषिः-सोमाहुतिः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

सत्य-कामना

पुन॑स्त्वाऽऽदि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ समि॑न्धतां॒ पुन॑र्ब्र॒ह्माणो॑ वसुनीथ य॒ज्ञैः।
घृ॒तेन॒ त्वं त॒न्वं॑ वर्धयस्व स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑॥४४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सोमाहुति' ज्ञानी बना है। ज्ञान ही उसका धन है। इस ज्ञानरूप धन को वह प्रजा में बाँटता है, उसके ज्ञान का स्रोत सूखे नहीं, अतः वह सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता है। मन्त्र में कहते है कि **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=ब्रह्मज्योति का आदान करनेवाले **रुद्राः**=ब्रह्म के नाम के जप व ध्यान से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले (रोरूयमाणो द्रवति) **वसवः**=नियमित जीवन से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानी लोग **पुनः समिन्धताम्**=फिर-फिर ज्ञान से समिद्ध करनेवाले हों। इनके सम्पर्क में आने से तेरी ज्ञान-ज्योति सदा बढ़ती रहे। **वसुनीथ**=हे ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले विद्वन्! **ब्रह्माणः**=ब्रह्मवेत्ता लोग **यज्ञैः**=यज्ञों से-अपने सम्पर्कों से तुझे समिद्ध व दीप्त बना डालें, अथवा यज्ञों के द्वारा तेरे जीवन को उज्ज्वल बना दें। ३. **घृतेन**=घृत के द्वारा **त्वम्**=तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **वर्धयस्व**=बढ़ा। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' नैर्मल्य व दीप्ति का यह घृत तेरे शरीर में लगेगा। 'घृतमायुः' इस वाक्य के अनुसार घृत का ठीक प्रयोग दीर्घजीवन का कारण है। ३. **यजमानस्य** =यज्ञ के स्वभाववाले तेरी **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों, अर्थात् तेरी इच्छाएँ असत्य न हों। तू सदा शुभ कामनाओं का करनेवाला हो। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, अतः **सत्याः**=तेरी इच्छाएँ सत्य हों, अर्थात् पूर्ण हों।

भावार्थ—१. ज्ञानीपुरुष ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान को सदा बढ़ाये, २. घृत आदि सात्त्विक वस्तुओं के प्रयोग से अपने शरीर व जीवन की वृद्धि करनेवाला हो तथा ३. यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वासना-विनाश

अपे॑त वी॒त वि च॑ सर्प॒ता॒तो येऽत्र॒ स्थ पु॒रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः।
अदा॑द्य॒मो॒ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्याऽअक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै॥४५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सत्याः सन्तु........कामाः' पर थी। हमारी इच्छाएँ सत्य हों, असत्य न हों। उसी के स्पष्टीकरण से प्रस्तुत मन्त्र प्रारम्भ होता है। यहाँ मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' मन में उत्पन्न होनेवाली अशुभ इच्छाओं व वासनाओं से कहता है कि **ये**=जो भी **अत्र**=यहाँ—मेरे हृदय में **पुराणाः**=देर से चली आ रही अशुभ इच्छाएँ हैं **च**=और **ये**=जो **नूतनाःस्थ**=नवीन वासनाएँ हैं वे सब **अतः अप इत**=यहाँ से दूर चली जाओ। **च**=और **वि+इत**=विविध दिशाओं में भाग जाओ। **विसर्पत**=इधर-उधर विकीर्ण हो जाओ। २. **यमः**=जीवन को नियम में रखनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः**=शरीर से **अवसानम्**=वासनाओं की समाप्ति को **अदात्**=दे, अर्थात् नियमित जीवन के द्वारा इन वासनाओं का अन्त कर दे। वासनाओं को समाप्त करने का प्रकार यही है कि हम अपने जीवन की क्रियाओं को बड़ा नियमित कर लें। यह नियमित जीवन ही संयम को सिद्ध करेगा। ३. **पितरः**=ज्ञान देनेवाले लोग **अस्मै**=इस संयमी पुरुष के लिए **इमं लोकं अक्रन्**=इस लोक को करते हैं। यह संसार संयमी पुरुष के लिए है, वही इसका आनन्द उठा सकता है। असंयमी पुरुष को तो यह संसार खा जाता है।

भावार्थ—हम जीवन से वासनाओं को दूर भगा दें। नियमित जीवन से ही वासना दूर होती है। यह संसार संयमी पुरुष के लिए ही सुखद है।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान व सेवा

सं॒ज्ञान॑मसि काम॒धर॑ण॒ं मयि॑ ते काम॒धर॑णं भूयात्।
अ॒ग्नेर्भस्मा॑स्य॒ग्नेः पुरी॑षमसि॒ चित॑ स्थ परि॒चित॑ऽऊर्ध्व॒चितः॑ श्रयध्वम्॥४६॥

१. प्रभु गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को दूर करनेवाले सोमाहुति से कहते हैं कि **संज्ञानम् असि**=तू उत्तम ज्ञानवाला है। उस ज्ञानवाला है जिस ज्ञान से देवलोग परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर चलते हैं, जिस ज्ञान से वासना 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाती है। २. **कामधरणम्**=काम का तू धरणकर्त्ता है—काम को तू नियन्त्रणपूर्वक अपने में धारण करनेवाला है। **मयि**=मुझ प्रभु में **ते**=तेरा **कामधरणम्**=काम (इच्छा) का धारण **भूयात्**=हो, अर्थात् तू मेरी प्राप्ति की कामनावाला बन। जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। सब क्रियाएँ इसी उद्देश्य से की जाएँ। ३. **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु का तू **भस्म**=दीपन करनेवाला **असि**=है, अर्थात् तू अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु की ज्योति को जगाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ४. **अग्नेः पुरीषम् असि**=तू उस प्रभु के (पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक कर्म को करनेवाला है। ५. इस पालनात्मक कर्म को करनेवाले तुम लोग **चितःस्थ**=ज्ञानी हो। ज्ञानी पुरुष ही ठीक

पालन कर पाता है, अज्ञान में तो वह भला करना चाहता हुआ भी बुरा कर बैठता है। ६. **परिचितः**=तुम लोगों के परिचयवाले बनते हो, उनकी मनोवृत्ति को समझते हो। मनोविज्ञान को न समझनेवाले व्यक्ति कल्याण करने के प्रकार में ग़लती कर जाते हैं। ७. **ऊर्ध्वचितः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले हो, अथवा ज्ञान के द्वारा लोगों को उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करानेवाले हो। ८. **श्रयध्वम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) तुम लोगों की सेवा करनेवाले बनो। लोकहित ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य हो।

भावार्थ—ज्ञानी बनो। प्रभु-प्राप्ति की कामना करो। ज्ञानी बनकर लोकसेवक बनो।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वामित्र

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्त्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥४७॥

१. गत मन्त्र के 'श्रयध्वम्'—'सेवा करो'—इस उपदेश को क्रिया में लानेवाला सोमाहुति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन जाता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है। २. **अयम्**=यह **सः अग्निः**=वह नेता होता है, **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **जठरे सुतम्**=जठर में उत्पन्न हुए **सोमम्**=सोम को **दधे**=धारण करता है। सोम की उत्पत्ति तो सभी में होती है, परन्तु उसका धारण सभी में नहीं होता। इसका धारण तो प्रभु-कृपा से ही होता है। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर उठाता है और हम सोम को सुरक्षित कर पाते हैं। इस सोमरक्षा से यह व्यक्ति भी इन्द्र=शक्तिशाली होता है। ३. **वावशानः**=सोम-रक्षा से शक्तिशाली बना हुआ यह सबका भला चाहनेवाला होता है (वश् कान्तौ) ४. यह अपने अन्दर **सहस्त्रियम्**=(स हस्) सदा उल्लासमय **वाजम्**=शक्ति को **दधे**=धारण करता है। सोम-रक्षा का यह परिणाम क्योंकर न होगा! ५. इस **अत्यं न सप्तिम्**=सतत गतिशील घोड़े के समान व्यक्ति को प्रभु **दधे**=धारण करते हैं। यह प्रभु की प्रजा का धारण करता है और प्रभु इसका धारण करते हैं। धारण के काम में लगा हुआ यह व्यक्ति सतत गतिशील होता है। ६. **ससवान्**=(ससं-अन्न-नि० २।६) यह सदा सस्य का सेवन करनेवाला होता है। 'विश्वामित्र' होता हुआ यह मांसाहार कर ही कैसे सकता है? ७. **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें, ऐसा यह व्यक्ति **स्तूयसे**=सदा स्तुत होता है, लोग इसकी प्रशंसा ही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोम को सुरक्षित करनेवाले बनें, आनन्दमय शक्ति को धारण करें। अन्नसेवी बनकर ज्ञानी बनें और स्तुत्य जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वह ज्ञान (सः भानुः)

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अन्नभोजन से यह विश्वामित्र स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनता है। उसी बात का ध्यान कराते हुए प्रभु इस विश्वामित्र से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रजावर्ग की उन्नति के साधक! **यत्**=जो **ते**=तेरा **दिवि वर्चः**=मस्तिष्क में तेज

है, अर्थात् ज्ञान का प्रकाश है और **पृथिव्याम्** (पृथिवी शरीरम्)=शरीर में जो तेरा तेज है। २. **यत्**=जो तेज **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों के कारण है, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व पानी के सेवन से जो तेज उत्पन्न हुआ है। ३. **येन**=जिस तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयाकाश को हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले! **आततन्थ**=तू विस्तृत करता है, अर्थात् जिस तेज के कारण तू अपने हृदय को विशाल बनाता है, ४. **सः भानुः**=वह ज्ञान का प्रकाश **त्वेषः**=(त्विष दीप्तौ) तेरे शरीर को तेजस्वी बनानेवाला है **अर्णवः**=गतिवाला है (ऋ गतौ), अर्थात् तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाता है तथा **नृचक्षाः**=मनुष्यों को दृष्टि देनेवाला है—उन्हें अपना मार्ग दिखानेवाला है अथवा मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला है।

भावार्थ—वनस्पतियों व जलों का सेवन मनुष्य के शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेजस्वी बनाता है, उनके हृदयों को भी विशाल बनाता है। यह सात्त्विक भोजन वह दीप्ति देनेवाला है जो दीप्ति हमारे शरीर को तेजस्वी, क्रियामय व लोकहित-परायण बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

परस्तात्-अवस्तात्

अग्ने॑ दि॒वोऽअर्ण॒मच्छा॑ जिगा॒स्यच्छा॑ दे॒वाँ२॥ऽऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये ।
या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त् सूर्य॑स्य॒ याश्चा॒वस्ता॑दु॒प॒तिष्ठ॑न्त॒ऽआप॑ः॥४९॥

१. हे **अग्ने**=प्रजाओं की उन्नति के साधक ज्ञानिन्! तू **दिवः अर्णम्**=मस्तिष्क के जल की, अर्थात् ज्ञान की **अच्छ जिगासि**=ओर आता है, अर्थात् अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है। २. इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए तू **देवान् अच्छ जिगासि**=देवों की ओर जाता है, विद्वानों के सम्पर्क में आता है। उन विद्वानों के सम्पर्क में आता है **ये**=जो **धिष्ण्या**=(दिधिषन्ति ब्रुवन्ति) ज्ञान के प्रतिपादन में उत्तम हैं। इन विद्वानों द्वारा **ऊचिषे** =ज्ञान दिया जाता है। ये ज्ञानी तुझे ज्ञान देते हैं। ३. ये ज्ञानी वे हैं **याः**=जो **आपः**=आप्त पुरुष होते हुए **रोचने**=ज्ञान द्वारा अन्धकार को दूर करके दीप्त करने में **सूर्यस्य परस्तात्**=सूर्य से भी परे हैं, अर्थात् सूर्य भौतिक संसार को उतना प्रकाशमय नहीं बनाता जितना कि ये आत्मिक संसार को प्रकाशमय बना देते हैं। ४. **याः च**=और ये ज्ञानी वे हैं जो **अवस्तात्**=अपने से निचले स्तरवाले लोगों को **उपतिष्ठन्ते**=सेवित करते हैं, अर्थात् जिन्हें सामान्यतः निचले स्तर पर समझा जाता है उन लोगों की ये सेवा करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग ज्ञान के दृष्टिकोण से सूर्य से भी ऊँचे होते हैं और सेवा करने के लिए अपने मापक को छोड़कर छोटे कहे जानेवाले लोगों में विचरते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गुणाष्टक

पु॒री॒ष्या॒सो॒ऽअ॒ग्नय॑ः प्राव॒णेभि॑ः स॒जोष॑सः ।
जु॒षन्तां॑ य॒ज्ञम॒द्रुहो॑ऽनमी॒वाऽइषो॑ म॒हीः ॥५०॥

१. ये विश्वामित्र लोग **पुरीष्यासः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के कार्य में उत्तम होते हैं। लोकहित के कार्यों में इन्हें आनन्द का अनुभव होता है। २. **अग्नयः**=ये अग्रेणी होते हैं—अपने को उन्नत करते हुए औरों के लिए मार्गदर्शक होते हैं। ३. **प्रावणेभिः**=(प्रुङ्

गतौ) गतिशील व्यक्तियों के साथ **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक सेवा-कार्य करनेवाले होते हैं। 'ये औरों के साथ मिलकर कार्य न कर सकें' ऐसा नहीं। जहाँ भी लोगों में उत्साह व गति देखते हैं उनके साथ इनका पूर्ण सहयोग होता है। ४. ये लोग सदा **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों का ही **जुषन्ताम्**=सेवन करें। इनका जीवन ही यज्ञमय बन जाए। ५. **अद्रुहः**=ये किसी से द्रोह नहीं करते। इनके मन में किसी की हानि की भावना नहीं होती। ६. **अनमीवाः**=मन में हानि व हिंसा की भावना न होने से ही इनके शरीर पूर्ण नीरोग होते हैं, इनके शरीर में आधि-व्याधि नहीं होती। इनके शरीर अमीव-रोग से आक्रान्त नहीं होते। ७. ये स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति **इषः**=सभी को सुन्दर प्रेरणा देते हैं। सभी का उत्तमता से मार्ग-दर्शन करते हैं और ८. **महीः**=(मह पूजायाम्) ये सदा प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं। प्रभु-पूजा ही इनके जीवनों को सुन्दर बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम भी 'पुरीष्य-अग्नि-सजोषस्-यज्ञसेवी-अद्रुह-अनमीव-इष व मही' बनने का प्रयत्न करें। इन ८ गुणों का उपार्जन करके हम प्रभु-सम्पर्क के अधिकारी बनें। हमारे लिए ये ही योगमार्ग के आठ अङ्ग बन जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी

इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳस॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳहव॑मानाय साध।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावा॑ग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे॥५१॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाश प्रदान करनेवाले परमात्मन्! **हवमानाय**=इस पुकारनेवाले-प्रार्थना करनेवाले विश्वामित्र के लिए **इडाम्**=वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए, जो वेदवाणी (क) **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक कर्मों का प्रतिपादन करती है (पुरूणि दंसानि कर्माणि या)। वस्तुतः वेदवाणी में ही तो सब कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। (ख) **सनिं गोः**=जो ज्ञान-रश्मियों को देनेवाली है। वेद द्वारा सारा ज्ञान व विज्ञान प्राप्त कराया जाता है। (ग) **शश्वत्तमम्**=जो वेदज्ञान अविनश्वर है अथवा (शश प्लुतगतौ) अधिक-से-अधिक क्रियाशील बनानेवाला है। २. हे प्रभो! यह वेदवाणी **नः**=हमें **सूनुः**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली हो **तनयः**=हमारे शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाली **स्यात्**=हो। **विजावा**=विविध शक्तियों के प्रादुर्भाववाली हो। इससे मानस व बौद्ध शक्तियों का भी उत्तम विकास हो। ३. हे प्रभो! **सा ते सुमतिः**=वह आपकी कल्याणी मति **अस्मे भूतु**=हमें भी प्राप्त हो। हम भी इस वेदज्ञान को प्राप्त करके शरीर, मन व बुद्धि का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदज्ञान उत्तम कर्मों का प्रतिपादक है, ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाला है तथा हमें क्रियाशील बनानेवाला है। इसे प्राप्त करने से हम शारीर, मानस व बौद्धिक उन्नति करते हुए 'त्रिविक्रम' बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रचारक

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तोऽअरो॑चथाः।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ऽआ रो॒हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम्॥५२॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र के अनुसार त्रिविध उन्नति करनेवाला **ते योनिः**=तेरा उत्पत्ति-स्थान व घर बनता है। इसके जीवन में प्रभु के प्रकाश का उदय होता है। २. **ऋत्वियः**=यह ऋतु

में होनेवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को अपने समय पर करता है। अथवा ऋतु के अनुकूल कार्यों को करनेवाला होता है। ३. हे प्रभो! यह 'विश्वामित्र' वह है **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादूर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो। आपका यह बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादन करता है और वास्तव में तो इसका जीवन ही आपका प्रकाश करता है। ४. हे **अग्ने**=नेतृत्व करनेवाले विद्वन्! **तम्**=उस प्रभु को **जानन्**=जानते हुए आप **आरोह** =उन्नति-पथ पर आरूढ़ होओ। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को निश्चय से उन्नत करता है। ५. हे विद्वन्! स्वयं उन्नत होकर **अथ**=अब **नः**=हमारी **रयिम्**=ज्ञान-सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु के प्रकाशवाला हो। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को उन्नत करे। स्वयं उन्नत होकर हम औरों की ज्ञान-सम्पत्ति को भी बढ़ाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चित्-परिचित् पत्नी

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।
परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५३॥

१. घर में पत्नी भी ज्ञानादि प्राप्त करके प्रभु-स्मरणपूर्वक ध्रुव निवासवाली होती हुई लोककल्याण करनेवाली हो। उसके लिए कहते हैं कि **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है—उत्तम ज्ञान को प्राप्त है। २. **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक (तन्=विस्तार) दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के साथ **अङ्गिरस्वत्**=प्राणशक्तिवाली—एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह। प्रभु से दूर न होने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अङ्ग सूखे काठ की भाँति नहीं हो जाते। प्रभु-स्मरण हमें जीवन में ध्रुवता प्राप्त कराता है, हमारा मन डाँवाँडोल नहीं रहता। ३. **परिचित् असि**=घर में सभी के स्वभाव को पहचाननेवाली है। ठीक बर्ताव के लिए स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। स्वभाव को समझकर उत्तमता से बरतती हुई तू **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक प्रभु के साथ रहती है—प्रभु का स्मरण बनाये रखती है। ऐसी तू **अङ्गिरसवत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह।

भावार्थ—पत्नी संज्ञानवाली तथा स्वभाव के परिज्ञानवाली हो, प्रभु का स्मरण करनेवाली हो, जिससे शक्तिशाली बनी रहे। ध्रुवता से रहनेवाली हो। घर की मर्यादाओं का पालन करती हुई वह गृहस्थ की निरन्तर उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

लोकं पृण, छिद्रं पृण

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥५४॥

१. हे पत्नि! तू **लोकं पृण**=लोक को तृप्त करनेवाली हो। **छिद्रं पृण**=दोष को दूर करनेवाली हो—छेद को भर देनेवाली हो। आदर्श पत्नी अपने व्यवहार से असन्तोष पैदा करने का कारण नहीं बनती। घर में दोषों की वृद्धि नहीं होने देती। २. **अथ**=निश्चय से **त्वम्**=तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर इस घर में बैठ। ध्रुवता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—वह अपने व्यवहार से सभी को अप्रसन्न न कर ले तथा दोषों को ही न उघाड़ती फिरे। अपने मधुर

शब्दों व व्यवहारों से सभी को सन्तुष्ट रक्खे तथा दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। ३. **इन्द्राग्नी बृहस्पतिः**=इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में अथवा सभी के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **असीषदन्**=स्थित करें–बिठाएँ। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है–इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही 'इन्द्र' है। 'अग्नि' शब्द अग्रेणी को कहता हुआ अग्रगति=progress का बोध करा रहा है। 'बृहस्पति' ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का सूचक है। 'बृहस्पति' ब्रह्मणस्पति है–वेदज्ञान का पति है। एवं, पत्नि जितेन्द्रिय, उन्नति की भावनावाली तथा उच्च ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होगी तभी वह घर में स्थिरतापूर्वक निवासवाली हो सकेगी।

भावार्थ–१. पत्नी घर में सभी को उत्तम भोजनादि व व्यवहार से तृप्त करनेवाली हो। २. दोषों का उद्घाटन न करती फिरे। ३. जितेन्द्रिय हो। ४. उन्नति की भावनावाली हो। तथा ५. ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करे।

ऋषिः–प्रियमेधाः। **देवता**–आपः। **छन्दः**–विराडनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

सूददोहसः-पृश्नयः

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥५५॥

गत मन्त्र में वर्णन किये जा रहे पत्नी के कर्त्तव्यों के विषय में ही कहते हैं कि **ताः**=वे **अस्य**=इस घर की–जिस घर में उन्होंने स्थिर होकर रहना है और जिस घर का उन्होंने निर्माण करना है **सूददोहसः**=पाचिका व दोहन करनेवाली हैं, अर्थात् भोजन बनाने व गोदोहन के कार्य को अपने पास ही रखेंगी। भोजन पर सब घरवालों का स्वास्थ्य निर्भर है और गौ को जितने प्रेम से पाला जाएगा उतना ही वह अधिक व उत्तम दूध देगी। २. ये गृहिणियाँ **सोमं श्रीणन्ति**=सौम्य भोजन का ही परिपाक करती हैं। आग्नेय भोजनों से क्रोधादि में वृद्धि होती है, मनोवृत्ति राजस् बनती है, अतः समझदार पत्नी सौम्य भोजन ही पकाती है। ३. पाचन व दोहन की क्रियाओं को करनेवाली गृहिणियाँ इन्हीं कार्यों में ही नहीं उलझी रह जातीं, अपितु **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा–नि० २।१४) ये ज्ञान की ज्योति से युक्त होती हैं। घर के कार्यों से निपटते ही ये स्वाध्याय में प्रवृत्त होती हैं और इस प्रकार निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। ४. **देवानां जन्मन्**=दिव्य गुणोंवाले सन्तानों को जन्म देने के निमित्त ये **त्रिषु विशः**=तीनों में प्रवेश करनेवाली होती हैं। शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही ये विकास करती हैं। नीरोगता के लिए शरीर का विकास, निर्मलता के लिए मन का विकास और बुद्धि की तीव्रता के लिए मस्तिष्क का विकास आवश्यक है। त्रिविध उन्नति को प्राप्त माता ही 'त्रिविक्रम' सन्तान को जन्म दे पाएगी। ५. इस प्रकार त्रिविध उन्नति में लगी हुई माता **दिवः आरोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के आरोचन में प्रवृत्त होती है। यह ज्ञान-विज्ञान से अपने मस्तिष्क को दीप्त करती है। इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमकता है तो विज्ञानरूप नक्षत्र भी इसके आरोचन (adornment) का कारण बनते हैं।

भावार्थ–पत्नी ने घर के कार्यों के साथ ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करना है। पत्नी पकाये, दूध दुहे और पढ़े। दिव्य सन्तानों के जन्म देने का यही उपाय है कि शरीर, मन व बुद्धि के विकास की ओर ध्यान दिया जाए। मस्तिष्करूप द्युलोक को

आरोचित करना पत्नी का मुख्य उद्देश्य हो। इसी उद्देश्य से वह सदा सौम्य भोजनों का परिपाक करे। ज्ञान-प्राप्ति को मुख्यता देनेवाली यह सचमुच 'प्रियमेधाः' है।

ऋषिः—सुतजेतृमधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समुद्रव्यचसं प्रभु

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥५६॥

१. गत मन्त्र की मूल भावना यह है कि एक आदर्श गृहिणी ने अपना मन 'पाचन, गोपालन व पठन' में लगाना है। इस प्रकार उत्तम इच्छाओं के बनाये रखने के लिए मन का विजय अत्यन्त आवश्यक है। मनो-विजय के बिना यह सम्भव नहीं। मन का जीतनेवाला ही 'जेता' है। यह सदा **माधुच्छन्दस्**=अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होता है। २. ऐसा बना रहने के लिए यह प्रभु-स्तवन करता है और कहता है कि **विश्वः गिरः**=वेद की सब वाणियाँ **इन्द्रम्**=परमात्मा को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं—उस प्रभु की स्तुति करती हैं जो प्रभु ३. **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्दमय है (स+मुद्) तथा अधिक-से-अधिक **सम्**=विस्तारवाले हैं। वस्तुतः 'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विस्तार ही आनन्द है। ४. **रथीनाम्**=रथवालों में **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथवाले हैं। इस प्रभु के रथ में बैठकर ही हम भी अपनी जीवन-यात्रा को सहज में पूरा कर सकते हैं। ५. **वाजानां पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों व ज्ञानों के **पतिम्**=पति हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। हमारा भला करने में वे पूर्ण समर्थ हैं ६. **सत्पतिम्**=वे प्रभु सदा सज्जनों के रक्षक हैं। हम सत् बनें प्रभु हमारे रक्षक होंगे। 'सत्' बनने का संकेत यह है कि (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनो। (ख) **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्द में रहो तथा दिल को छोटा न करो। (ग) **रथीतमम्**=इस शरीर को प्रभु का दिया हुआ रथ समझें और इसे ठीक रखते हुए इसके द्वारा पार पहुँचने पर पीड़ित लोगों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—इस वासनामय जगत् में प्रभु का नाम-स्मरण ही हमें जेता बनाता है। उस प्रभु को ही हम अपना रथ जानें। वे प्रभु ही सत्पति हैं, वाजपति हैं। प्रभु-सम्पर्क से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

एकत्व का संकल्प

समितꣳ सं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ॥५७॥

१. 'प्रभु का स्तवन करते हुए ये पति-पत्नी क्या करें?' प्रभु कहते हैं कि **समितम्**=सं इतम्=मिलकर चलने का **संकल्पेथाम्**=संकल्प करें। इनके कर्म कभी विरोधी न हों। २. **संप्रियौ**=ये परस्पर उत्तम प्रेमवाले हों। ३. **रोचिष्णू**=संसार में शोभावाले हों। परस्पर प्रेम होने पर ही इनकी शोभा होती है। ४. **सुमनस्यमानौ**=सदा उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करनेवाले, शुभ चिन्तन करनेवाले तुम होओ। ५. इस मन की उत्तमता के लिए (क) **इषम्**=अन्न को तथा **ऊर्जम्**=रस को **अभिसंवसानौ**=(अभ्यवहरन्तौ—उ०) सेवन करनेवाले बनो। अन्न-रस का सेवन ही हमें धर्म में स्थिर गति प्राप्त कराता है। आहारशुद्धि सत्त्वशुद्धि का कारण है। अथवा (ख) **इषम्**=उस प्रभु की प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति

को **अभिसंवसानौ**=सम्यक्तया धारण करनेवाले बनो। उस प्रभु की प्रेरणा को सुनो। उसके अनुसार चलने से तुम्हें बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाले पति-पत्नी १. मिलकर चलते हैं २. परस्पर प्रेमवाले होते हैं ३. शोभा देनेवाले कार्यों को ही करते हैं ४. उत्तम मनवाले होते हैं ५. अन्न-रस का सेवन करते हैं अथवा प्रभु की प्रेरणा को सुनकर बल व प्राणशक्ति को धारण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मनों, व्रतों व चित्तों की एकता

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽइषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥५८॥

१. **वाम्**=तुम दोनों के **मनांसि**=मनों को **सम् आकरम्**=सङ्गत करता हूँ। तुम्हारे मन मिले हुए हों। उनमें परस्पर विरोध व वैमनस्य न हो। २. **वाम्**=तुम दोनों के **व्रता**=व्रतों को **सम् आ अकरम्**=एक करता हूँ। **'नियमः पुण्यकं व्रतम्'**=नियम ही व्रत हैं—दोनों के नियम एक-से हों। यदि एक-दूसरे के नियम परस्पर विरुद्ध होंगे तो घर कैसे चल पाएगा? ३. **उ**=और **चित्तानि**=तुम्हारे चित्तों को **सम् आकरम्** =मेलवाला करता हूँ। ४. अब पति के लिए विशेषरूप से कहते हैं कि हे **अग्ने**=सब घर की उन्नति करनेवाले ! **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम! **त्वम्**=तू **नः अधिपाः**=हम सब घरवालों का अधिष्ठाता व रक्षा करनेवाला **भव**=हो। 'पति' शब्द का अर्थ ही रक्षा करनेवाला है। इसने अपने पति नाम को चरितार्थ करने के लिए गृहरक्षा के भार को अपने कन्धे पर लेना है। **यजमानाय**=अपने सम्पर्क में आनेवाले के लिए तू **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=रस को **धेहि**=धारण करनेवाला बन। घर के सभी सभ्यों को उचित खान-पान प्राप्त कराने का बोझ गृहपति के कन्धों पर ही होता है। घर में पत्नी है, सन्तान हैं, माता-पिता व अन्य आये-गये जो भी बन्धु हैं, सभी के भोजन का भार इसी ने वहन करना है। **यज**=(सङ्गतीकरण)

भावार्थ—पति-पत्नी के मन, व्रत व चित्त मिले हुए हों। पति 'अग्नि व पुरीष्य' होता हुआ गृह-रक्षक बने। घर में किसी को खान-पान में कमी न रह जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

शिव-ही-शिव

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ऽअसि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥५९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से कहते हैं—१. **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक पुरुष! **त्वम्**=तू **पुरीष्यः**=पालन करनेवालों में उत्तम है। २. **रयिमान्**=धनवाला है। बिना धन के यह पालन कैसे कर सकेगा? ३. **पुष्टिमान् असि**=तू पुष्टिवाला है। स्वयं निर्बल होने पर वह औरों के पालन के बोझ को अपने कन्धों पर कैसे ले सकता है? ४. तू **सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा**=सब दिशाओं को कल्याणमय करके, अर्थात् सब दृष्टिकोणों से घर का कल्याण सिद्ध करके **इह**=यहाँ **स्वं योनिम्**=अपने घर में **आसदः**=आसीन हो। खान-पान, वस्त्र-शिक्षा व घर की अन्य सब आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से घर में किसी

प्रकार की कमी न हो। यह सब दिशाओं का शिव करना है। यदि कोई बच्चा भूख से रो रहा हो, दूसरा ठण्ड में वस्त्राभाव से ठिठुर रहा हो और कोई बीमारी में औषध न मिल सकने से परेशान हो और चौथा स्कूल की फ़ीस के लिए आग्रह कर रहा हो तो यह घर तो सब दिशाओं में अशिव-ही-अशिववाला हो जाएगा। घर को मङ्गलमय बनाना पति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

भावार्थ—गृह के मुखिया को 'रयि व पुष्टिमान्' होना चाहिए, जिससे घर में सर्वत्र शिव-ही-शिव हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का बनने का उपाय

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।

मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥६०॥

प्रभु कहते हैं कि १. **भवतं नः**=हे पति-पत्नी तुम दोनों हमारे बनकर रहो। २. हमारे बनने का उपाय यह है कि तुम **समनसौ**=समान मनवाले होओ। तुम्हारी इच्छाएँ एक-सी हों। दो पात्रों के जलों के मिलने की भाँति तुम्हारे मन मिल जाएँ। ३. तुम **सचेतसौ**=एक ही इष्टदेव का ध्यान करनेवाले होओ। तुम्हारा ज्ञान एक-सा हो। ४. **अरेपसौ**=तुम दोषरहित होकर क्रमशः पत्नीव्रत व पतिव्रत के पालन करनेवाले बनो। ५. अपने इस गृहस्थ जीवन में **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=यज्ञ की हिंसा न करो। तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न व अविच्छिन्न बना रहे। ६. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक प्रभु को **मा**=मत हिंसित करो। प्रभु को भूलकर अपने को ही यज्ञों का करनेवाला मत समझ बैठो। ये सब उत्तम कार्य तो तुम्हारे माध्यम से प्रभु ही कर रहे हैं। ७. **जातवेदसौ** (वेदस्=wealth)=गृहस्थ के सञ्चालन के लिए उत्पन्न किये हुए धनवाले बनो, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से धन कमानेवाले बनो। ८. **शिवौ भवतम्**=धन कमाकर लोककल्याण करनेवाले बनो। धन के मद में औरों का अशुभ न करो। ९. ऐसा करते हो तो **अद्य**=आज तुम **नः**=हमारे हुए हो। प्रभु का बनने के लिए 'समनसौ, सचेतसौ, अरेपसौ, यज्ञाहिंसकौ, यज्ञपतिस्मर्तारौ, जातवेदसौ व शिवौ' बनना है।

भावार्थ—प्रभु के वे ही बनते हैं जो पति-पत्नी समान मनवाले, समान चित्तवाले, निर्दोष, यज्ञशील, प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करनेवाले, धन को उत्पन्न करनेवाले व कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी-पति एक-दूसरे का ध्यान करें

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳस्वे योनावभारुखा।

तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥६१॥

पत्नी के लिए कहते हैं कि १. **उखा**=जिसके हृदय से वासना का उत्खनन हो गया है (उत्खन्यते) अर्थात् जिसका हृदय पवित्र है, वह **पृथिवी**=विशाल हृदयवाली पत्नी **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम **अग्निम्**=घर की उन्नति के साधक पति को **स्वे योनौ**=अपने घर में इस प्रकार उत्तम भोजनादि से **अभाः**=भृत व पोषित करती है **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को। माता पुत्र का अधिक-से-अधिक ध्यान करती है, इसी प्रकार पत्नी ने पति का ध्यान करना है। पति घर के पालन-पोषण के लिए धन कमाने में लगा हुआ

है, उसका यह कार्य तभी ठीक प्रकार से चल सकता है जब पत्नी उसके उचित भोजनादि का ध्यान करते हुए उसे अस्वस्थ व चिन्तित न होने दे।

पति के लिए कहते हैं कि २. **ताम्**=उस पत्नी को **विश्वैः देवैः ऋतुभिः संविदानः**=सब देवों व ऋतुओं से संज्ञान प्राप्त करता हुआ, अर्थात् उनकी अनुकूलता को सिद्ध करता हुआ, अतएव पूर्णतया स्वस्थ पति **प्रजापतिः**=प्रजा व सन्तान की रक्षा करता हुआ **विश्वकर्मा**=जीविकोपयोगी सब कार्यों को करनेवाला बनकर **विमुञ्चतु**=नमक, तेल व ईंधन आदि की चिन्ता से मुक्त कर दे। यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) माता को नमक आदि की चिन्ता न करनी पड़े, उसे धनार्जन के लिए समय न देना पड़े। (ख) पति अस्वस्थ न हो। ऐसा होने की अवस्था में पत्नी का सारा समय उसकी सेवा में ही समाप्त हो जाएगा और वह बच्चों का ध्यान न कर पाएगी। (ग) स्वास्थ्य के लिए सूर्य, वायु आदि देवों की व ऋतुओं की अनुकूलता आवश्यक है।

भावार्थ—पत्नी पति की आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान करे। पति स्वस्थ रहता हुआ और उचित धनार्जन करता हुआ पत्नी पर घर की चिन्ता का भार न पड़ने दे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्ऋति का मार्ग

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥६२॥

१. 'निर्ऋति' शब्द निरुक्त २।८ के अनुसार 'कृच्छ्रापत्ति'=मुसीबत का बोधक है। 'पाप्मा वै निर्ऋतिः' श० ७।२।१।११ 'घोरा वै निर्ऋतिः'—श० ७।२।१।११—इन शतपथ वाक्यों से भी वही भाव व्यक्त हो रहा है। इस 'निर्ऋति' को पुरुषविध (personify) करके सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे **निर्ऋते**=दुर्गते! तू **इच्छ**=इच्छा कर। किसकी? (क) **असुन्वन्तम्**=सोमाभिषव न करनेवाले की। 'जो सोमयज्ञ नहीं करता' उस पुरुष की तू कामना कर। बड़े-बड़े यज्ञ, जिनमें सोमाहुति दी जाती है, सोमयज्ञ कहलाते हैं। 'असुन्वन्तं' की भावना हृदयदेश में सोम-प्रभु का ध्यान न करनेवाले की भी है। जो प्रभु का ध्यान नहीं करते वे दुर्गति में पड़ते ही हैं। (ख) **अयजमानम्**=हे निर्ऋते! तू अयजमान की कामना कर। तेरा आक्रमण यज्ञ न करनेवाले पर हो। 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' से दूर रहनेवाला पुरुष ही दुर्गति को प्राप्त करे। २. हे निर्ऋते! तू **इत्याम् अनु इहि**=मार्ग के पीछे जा। किस मार्ग के? उस मार्ग के (क) **स्तेनस्य**=गुप्त चोर के पीछे। जो रात्रि के समय सेंध आदि लगाकर दूसरों के धन को चुराता है, वह दुर्गति को प्राप्त करे। (ख) **तस्करस्य**=प्रकट चोर के मार्ग के पीछे तू जा। लुटेरे-डाकुओं को दुर्गति प्राप्त हो। ३. **अस्मत् अन्यम्**=हम जो कि 'सोमाभिषव करनेवाले, यज्ञशील, अस्तेय धर्म का पालन करनेवाले, अहिंसक' हैं उनसे भिन्न व्यक्ति ही **इच्छ**=तेरी कामना का विषय बने। **सा ते इत्या**=वही तेरा मार्ग है, अर्थात् तुझे तो 'परमेश्वर को न माननेवाले अयज्ञशील, चोर व डाकुओं' के मार्ग पर ही जाना है। तेरे दण्डनीय वे ही व्यक्ति हैं। ४. हे **देवि**=दण्ड के द्वारा दमन करके सबको शुभ मार्ग पर लानेवाली कष्टदेवि! **तुभ्यं नमः अस्तु**=हम तुझे नमस्कार करते हैं। 'सम्यक् प्रणीत हुआ दण्ड सब प्रजाओं का रञ्जन करता है। एवं, प्रभु से दी गई आपत्तियाँ भी विशेष महत्त्व रखती हैं। वे मानव-जीवन के सुधार के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—दुर्गति के भागी वे होते हैं जो प्रभु का ध्यान नहीं करते, यज्ञशील नहीं होते, चोरी व डाका जिनका पेशा बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यम-यमी' व निर्ऋति

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधि रोहयैनम्॥६३॥

१. हे **तिग्मतेजः**=तीव्र तेजवाली **निर्ऋते**=आपत्ते! हम **ते**=तेरे लिए **सु**=उत्तमता से **नमः**=नतमस्तक होते हैं। तू **एतम्**=इस **अयस्मयं बन्धनम्**=लोहमय बन्धन को **विचृत**=छिन्न कर दे। आपत्ति व कष्ट का दर्शन यह है कि यह आपत्ति मनुष्य को पाप के बन्धन से मुक्त करने के लिए आती है। 'साम, दाम, भेद, दण्ड' ये चार ही उपाय हैं। जब इनमें से प्रथम तीन उपायों से कार्य नहीं चलता तब प्रभु 'दण्ड' रूप चौथे उपाय का प्रयोग करते हैं। इन्हीं दण्डों को हम कष्ट व आपत्ति कहते हैं। इस आपत्ति का तेज अत्यन्त तीव्र है। यह हमारे लोहे के समान दृढ़ विषय-बन्धनों को भी काट देता है। २. यह निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति उन्हीं को पीड़ित नहीं करती जिनका जीवन संयमी होता है। उनके साथ तो मानो आपत्ति का समझौता-सा हुआ हो। हे निर्ऋते! **त्वम्**=तू **यमेन**=संयमी जीवनवाले पुरुष से तथा **यम्या**=संयमी जीवनवाली स्त्री से **संविदाना**=संज्ञान व समझौते को प्राप्त हुई **एनम्**=इसे **उत्तमे नाके**=सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में **अधिरोह**=स्थापित कर। वस्तुतः संयम ही वह गुण है जो हमें कष्टों से बचाकर सुखमय स्थिति में रखता है।

भावार्थ—प्रभु के दण्ड भी आदरणीय हैं। वे हमें विषयों के लोह-समान दृढ़ बन्धनों से भी मुक्त करते हैं। विषयों से मुक्त होकर संयमी जीवनवाले बनकर ही हम स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कष्ट का उद्देश्य—बन्धावसर्जन

यस्यास्ते घोरऽआसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥६४॥

१. प्रभु निर्ऋति से कहते हैं कि **एषाम्**=इन **बन्धानाम्**=बन्धों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **यस्याः ते**=जिस तेरे **घोरे आसन्**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=इन प्राणियों की मैं आहुति देता हूँ, अर्थात् मैं प्राणियों को कष्ट केवल इसलिए प्राप्त कराता हूँ कि वे विषयों के बन्धन से मुक्त हो जाएँ। विषयभोग का परिणाम रोग है। यह अनुभव लेकर ही तो वे विषयों से भयभीत होते हैं और उनसे दूर होते हैं। २. **यां त्वा**='जिस तुझमें **जनः**=मनुष्य **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) पड़ते ही हैं' इस प्रकार **प्रमन्दते**=स्तुति करता है, अर्थात् मनुष्य सोचता है कि आपत्ति तो सबपर आती ही है, उससे तो कोई बच ही नहीं सकता। ३. परन्तु **अहम्**=मैं (प्रभु) **त्वा**=तुझे **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिं परिवेद**=दुर्गति के रूप में जानता हूँ। वस्तुतः दुर्गति=दुराचार के कारण ही तो होती है। दुराचार न होगा तो कष्ट भी क्यों होंगे? निर्ऋति का तो शब्दार्थ ही दुराचार है। दुराचार का परिणाम कष्ट है, अतः निर्ऋति 'कष्ट' बोधक हो गया है। यह समझकर कि 'ये तो होते

ही हैं', मनुष्य इनको दूर करने के लिए अपने आचरण को नहीं सुधारता। यह सुधार तो तभी आएगा जब मनुष्य कष्ट को दुराचार के परिणामरूप में देखेगा। इन शब्दों में प्रभु जीव से यह कहते प्रतीत होते हैं कि हे मनुष्य! तू कष्टों को भाग्य का खेल न समझ, ये तो निश्चितरूप से पाप का ही परिणाम हैं। तू पाप से ऊपर उठ, कष्टों से स्वतः ऊपर उठ जाएगा। विषय-बन्धनों के हटाने के लिए ही मैं तुझे आपत्ति के मुख में धकेलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये सब दण्ड सुधारात्मक हैं। 'वे अवश्य आते ही हों' ऐसी बात नहीं हैं। मनुष्य का आचरणदोष होने पर ही वह निर्ऋति से आक्रान्त होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

निर्ऋति का पाश, निर्ऋति व भूति

यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्। तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः। नमो भूत्यै येदं चकार॥६५॥

१. निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति=कष्ट की प्राप्ति भी 'देवी' है, क्योंकि यह मनुष्य को बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों में प्रवृत्त करती है। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! यह **देवी निर्ऋतिः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली कृच्छ्रापत्ति **ते ग्रीवासु**=तेरी गर्दन में **यम्**=जिस **अविचृत्यम्**=अच्छेद्य **पाशम्**=बन्धन को **आबबन्ध**=बाँधती है, **ते**=तेरे **तम्**=उस बन्धन को **विष्यामि**=मैं समाप्त करता हूँ, जिससे **आयुषो न मध्यात्**=जीवन के मध्य से ही तू चला न जाए। असह्य कष्ट से कहीं मनुष्य अपने को समाप्त ही न कर ले, अतः प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे कष्ट में तो डालता हूँ, परन्तु इतना भी अच्छेद्य कष्ट नहीं दे देता कि कहीं तू जीवन को भार समझने लगे और उसे समाप्त ही कर डाले। निरन्तर कष्टों से आयुष्य भी तो क्षीण हो जाता है। २. **अथ**=अब, एक बार कष्ट का अनुभव ले-लेने के बाद तो **प्रसूतः**=वेदवाणी द्वारा प्रेरणा दिया हुआ तू **पितुम्**=अन्न को **अद्धि**=खा, क्योंकि इस अन्न से ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक बनेगा। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। ३. सात्त्विक अन्तः-करणवाला बनकर यह 'मधुच्छन्दाः' कह उठता है कि **भूत्यै**=परमेश्वर के उस ऐश्वर्य व महिमा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं **या**=जो प्रभु का ऐश्वर्य **इदम्**=इस अद्भुत संसारक्रम को **चकार**=बनाता है। जीवन का सामान्य क्रम यही होता है कि (क) मनुष्य विषयों की ओर झुकता है। (ख) कष्ट भोगता है। (ग) वास्तविकता को जानकर फिर विषयों से ऊपर उठ जाता है और सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को सात्त्विक बना लेता है। बन्धन समाप्त हो जाते हैं। निर्ऋति का बन्धन तो विषयों से ऊपर उठाने के लिए ही है। एवं, प्रभु का दिया दण्ड भी हमारी अमरता के लिए ही है। **'मृत्युः अमृतम्'**=मृत्यु भी अमृत है, निर्ऋति भी भूति (कल्याण) हो जाती है।

भावार्थ—कष्टों का पाश सुगतमा से नहीं टूटता। यह तो विषय-पाश के छिन्न होने से ही छिन्न होगा। विषय-निवृत्ति कष्ट-निवृत्ति का कारण है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'विश्वावसु' का जीवन

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिः।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्॥६६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से दी गई 'निर्ऋति'=कृच्छ्रापत्ति भी जीव की 'भूति'

का कारण बन जाती है। जीवन के अन्दर सब उत्तम गुणों को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'विश्वावसु' बन जाता है—'सम्पूर्ण उत्तम ऐश्वर्योंवाला' अथवा 'विश्व को ही अपने में बसानेवाला'। यहीं से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है कि **निवेशनः** (निविशन्ते अस्मिन्)=इसमें सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का माननेवाला तो यह हो ही गया है। २. **सङ्गमनः**=सबके साथ मिलकर चलता है। यह विरोध की भावना को पैदा नहीं करता। इसकी क्रियाएँ वैर को दूर करके मेल करनेवाली होती हैं। ३. **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व कर्मों से यह **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक धनों के **विश्वा रूपा**= 'अन्न-वस्त्र-गृह-पशु' आदि सब रूपों को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् यह अपने जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्म करता हुआ निवास के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं को जुटानेवाला होता है। यह अन्याय्य उपायों से धनों के संग्रह में नहीं लगता। ४. इस प्रकार यह **देवः इव**=देवता-सा प्रतीत होने लगता है। लोग ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं कि 'यह मनुष्य थोड़े ही है, यह तो देवता है'। ५. **सविता**=यह सदा ('सु'=sow उत्पादन) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहता है—उत्तम गुणों के बीजों को ही सर्वत्र बोने का ध्यान करता है। ६. **सत्यधर्मे**=सदा सत्य-धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। ७. **इन्द्रः न**=इन्द्र के समान यह बन जाता है। प्रभु तो परमेश्वर्यशाली हैं ही, यह भी प्रभु का ही एक छोटा रूप प्रतीत होने लगता है, जितेन्द्रिय बनकर इसने त्रिभुवन को ही जीत लिया है। ८. यह **समरे**=आध्यात्मिक संग्राम में **पथीनाम्**=काम-क्रोधादि वैरियों का **तस्थौ**=डटकर मुक़ाबला करता है, उनसे पराजित नहीं होता। वस्तुतः इसीलिए तो यह 'विश्वावसु' बना है।

भावार्थ—हम सभी संसार को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले बनें। काम-क्रोधादि को जीतें और अपने पिता प्रभु के अनुरूप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धीर कृषक

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क्। धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥६७॥

१. गत मन्त्र में प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनों के अर्जन का उल्लेख है। सबसे अधिक समझदारी व ईमानदारी का काम 'कृषि' है। प्राचीन संस्कृति में वैश्य के कर्मों का प्रारम्भ 'कृषि' से ही था—**'कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'।** वेद में कृषि को ही निर्माणात्मक कर्मों का प्रतीक माना गया है **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**, अतः विश्वावसुओं के कृषिकर्म का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **कवयः**=क्रान्तदर्शी व गहराई तक सोचनेवाले पुरुष जीवन-यात्रा के लिए **सीराः**=हलों को **युञ्जन्ति**=जोड़ते हैं। वस्तुतः यह कृषिकर्म अधिक-से-अधिक निर्दोष व अत्यन्त आवश्यक कर्म है—(क) इसमें एक मनुष्य पूर्ण परिश्रम से ही कमाई करता है। (ख) इसमें समाज में बेकारी का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। (ग) धनों के केन्द्रित हो जाने का भय भी उत्पन्न नहीं होता। (घ) उचित व्यायाम के कारण शरीर भी दृढ़ बना रहता है। (ङ) खुली वायु में रहने का प्रसङ्ग बना रहता है। (च) भूमि माता से व प्रकृति से हमारा सम्पर्क रहता है। उत्पन्न हुए विविध अन्न व वनस्पतियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। ३. इन सब कारणों से ही **धीराः**=ये धीर विद्वान् **पृथक्**=अलग-अलग **युगा वितन्वते**=जुओं का विस्तार करते हैं। **देवेषु**=इन्हीं पृथिवी, जल व वायु आदि में ही, अर्थात् इन्हीं के सहारे **सुम्नया**=सुख की प्राप्ति के हेतु से वे कृषि करते हैं, देवों से उनका सम्पर्क बना रहता है। यह देवसम्पर्क

ही वस्तुतः उन्हें धीर बनाता है। ये बहादुर=brave होते हैं, स्थिर steady वृत्ति के बनते हैं, दृढ़निश्चयी strong minded होते हैं, शान्त composed होते हैं, गम्भीर grave बनते हैं, शक्तिशाली energetic होते हैं, समझदार sensible बनते हैं, शिष्टाचारवाले well behaved होते हैं (निरभिमानता के कारण) सभ्य gentle और सदा भद्रता से पेश आते हैं। ४. (क) मन्त्रार्थ में 'पृथक्' शब्द सामूहिक कृषि का कुछ विरोध-सा कर रहा है। सामूहिक कृषि में आलस्य की भावना तो उत्पन्न हो ही सकती है, अतः सभी को अपना कार्य स्वयं करना है। (ख) कृषक जीवन हमें 'धीर' बनाता है। धीर का विस्तृत अर्थ ऊपर अंक '३' में दिया गया है। कृषि उन्हीं को धीर बनाती है जो कवि=विद्वान् हों। आजकल ग़लती से हम कृषि को मूर्खों का पेशा समझ बैठे हैं। मूर्ख कृषि से जीवन का ऐसा निर्माण नहीं कर सकते।

भावार्थ—हम कवि बनकर कृषि करें। यह कृषि हमें धीर बनाएगी और हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वेदानुकूल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात्॥६८॥

१. पिछले मन्त्र की कृषि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—(१) **सीरा युनक्त**=हलों को जोतो। २. **युगा वितनुध्वम्**=जुओं का विस्तार करो। ३. **इह कृते योनौ**=इस संस्कृत भूमिक्षेत्र में **बीजम् वपत**=बीजों को बोवो। ३. **गिरा**=खेती-विषयक कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी **च**=और सुविचार से **सभराः**=भरण-पोषण के तत्त्वोंवाले **श्रुष्टिः**=अन्न (अन्नं श्रुष्टिः—श०७।२।२।५) **नः असत्**=हमारे हों। हम वेदवाणी में प्रतिपादित भोज्य अन्नों को पैदा करनेवाले बनें, उन अन्नों को जिनमें कि भरण-पोषण के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। हमारी कृषि, चाय, तम्बाकू की न हो। ४. हम प्रयत्न करें कि **नेदीय इत्**=थोड़े-से-थोड़े समय में ही **पक्वम्**=पका हुआ धान्य **सृण्यः**=दराँत से कटा जाकर **नः**=हमें **आ इयात्**=सर्वतः प्राप्त हो। ५. 'नेदीय' शब्द कुछ वैज्ञानिक उपाय से कृषि का संकेत करता है जिससे कि फ़सल शीघ्र ही काटी जा सके और हम वर्ष में अधिक-से-अधिक फ़सलें काट सकें। जैसे सामान्यतः भोजन चार घण्टे में पचता है इसी प्रकार फ़सल चार मास में पक सके और हम साल में तीन फ़सलें ले-पाएँ।

भावार्थ—खेती ज्ञानपूर्वक करनी है। पौष्टिक अन्न ही उपजाने हैं। 'विश्वावसु' बनने के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुपिप्पला-ओषधी

शुनꣳसु फाला वि कृषन्तु भूमिꣳशुनं कीनाशाऽअभि यन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्त्तनास्मे॥६९॥

१. ये मन्त्र 'कुमारहारित' ऋषि के हैं। सीता=लाङ्गलपद्धति=हल चलाने से बनी रेखा इन मन्त्रों की देवता है। 'कुमार क्रीडायाम्' धातु से बना कुमार शब्द संकेत कर रहा है कि इस व्यक्ति ने कृषि को ही अपनी क्रीड़ा बना लिया है। यह पढ़ता-लिखता है और

फिर अपने मस्तिष्क को आराम देने (relaxation) के लिए खेती में लग जाता है। यह अपने हल इत्यादि को बड़ा ठीक बनाये रखता है और चाहता है कि—२. **सुफाला:**=हल के अग्र भाग में स्थित उत्तम फाल से **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=आराम से **विकृषन्तु**=खोदें। भूमि बहुत कठोर न हो, कठोर भी हो तो फाल तेज़ हो जो भूमि को आराम से खोदता चले। **कीनाशा:**=(श्रमेण क्लिश्यन्ति) श्रम से अपने शरीर को थकानेवाले कृषक लोग **वाहै:**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुख से **अभियन्तु**=खेत में चारों ओर चलें। हल को खेंचना तो बैलों ने ही है, परन्तु कृषक भी अपना पूरा योग दे। वह बैलों के उत्साह-वर्धन का कारण बने। ३. **शुनासीरा** =(शुनो वायुः शीर आदित्यः—नि० ९।४०) वायु और सूर्य **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञ में डाली गई घृत आदि की आहुतियों द्वारा **तोशमाना** (तोशतिर्वधकर्मा)= रोगकृमियों—कृषिविनाशक कृमियों का नाश करते हुए **अस्मे**=हमारे लिए **सुपिप्पला:**=उत्तम फलवाली **ओषधी:**=ओषधियों को **कर्त्तन**=करें। वस्तुतः कृषि की उत्तमता के लिए अग्निहोत्र का महत्त्व दो कारणों से है (क) कृमि नष्ट होकर वायु शुद्ध होती है और (ख) वर्षा उचित समय पर होती है। वायु का उपयोग मुख्यरूप से यह है कि इसकी नत्रजन (नाइट्रोजन) भूमि का खाद बनती है। सूर्य का महत्त्व यह है कि यह भूमि में उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है। मिट्टी के जो कण सूर्यसम्पर्क में आते हैं वे अधिक उत्पादक तत्त्व को वायु से आकृष्ट कर पाते हैं। एवं, कृषि में अग्निहोत्र में दी गई हवि तथा वायु और सूर्य का भाग है।

भावार्थ—हमारे हल सुफाल हों। हम बैलों का उत्साह-वर्धन करें। अग्निहोत्र में उत्तम हवि दें। ये हवि तथा वायु और सूर्य हमारी कृषि को उत्तम फलवाला करें।

ऋषि:—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्द:**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवतः॥

मधुर जल-सेचन

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥७०॥

१. **सीता**=लाङ्गलपद्धति, हल की रेखा **मधुना घृतेन**=मधुर जल से **समज्यताम्**=संसिक्त की जाए। खारे पानी से सेचन होने पर भूमि के शीघ्र ही ऊसर हो जाने की आशंका होती है। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका'=क्षारमृत्तिका ही ऊसर है, उसमें कोई अन्न उपजेगा नहीं, अतः मधुर जल से सेचन नितान्त आवश्यक है। 'घृतेन मधुना' का प्रसिद्ध अर्थ भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं, परन्तु घृत और शहद की खाद डालना आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ा कठिन है। महाराष्ट्र में पेशवाओं ने ऐसा करके देखा तो आम के पेड़ों पर अत्यन्त मधुर आमों का उद्भव हुआ। २. **विश्वैः देवैः** (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)=सब ऋतुओं से तथा **मरुद्भिः**=वर्षा की ईश मानसून की वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **पयसा**=जल से **पिन्वमाना**=पूरित होती हुई तू **ऊर्जस्वती**=बल व प्राणशक्तिप्रद अन्न-रसवाली होती हुई **अस्मान् अभि**=हमारी ओर **पयसा**=आप्यायन शक्ति से **आववृत्स्व**=सर्वथा वर्त्तमान हो, प्राप्त हो। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) मधुर जल से सिंचाई होनी चाहिए। (ख) ऋतुओं की अनुकूलता अत्यन्त वाञ्छनीय है। (ग) वर्षा की वायु (monsoon winds) का समय पर चलना तो नितान्त आवश्यक है ही। (घ) इस सबके होने पर जो अन्न उत्पन्न होगा वह निश्चय से हमारा आप्यायन करनेवाला होगा।

भावार्थ—खेतों का सेचन मधुर जल से हो, ऋतुओं व वर्षा की वायुओं की अनुकूलता को हम हवि के द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा होने पर अन्न सबल होंगे और उनसे हमारा उत्तमता से आप्यायन होगा।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

लाङ्गलम्

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳसोमपित्सरु।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहनम्॥७१॥

१. हल की मूठ को लाङ्गल कहते हैं। यह **लाङ्गलम्**=हल की मूठ **पवीरवत्**=उत्तम फालवाला हो। (पविः धारा, सोऽस्यास्तीति पवीरं फालः), **सुशेवम्**=शोभन—सुखकर हो। उसकी धारा खूब तेज़ हो, जिससे सरलता से भूमि को खोद सके। हमारा यह हल सरलता से चलनेवाला (facile) हो। हम अथवा बैल क्या हल चला रहे हों, हल स्वयं चल रहा हो। **सोमपित्सरु**=सोमादि ओषधियों के पालन करनेवाले का यह हल **त्सरु**=खड्गमुष्टि हो। जैसे क्षत्रिय के हाथ में तलवार की मूठ होती है और वह उसे पकड़कर शत्रुओं का संहार कर देता है उसी प्रकार कृषक के लिए यह लाङ्गल तलवार की मूठ ही है। उसके द्वारा यह सोमादि उत्तम ओषधियों के अभाव को नष्ट कर दें—राष्ट्र में अन्नाभाव को यह दूर करनेवाला हो। २. **तत्**=वह हल—हल द्वारा किया जानेवाला कृषि-कार्य (क) **प्रफर्व्यं च**=(प्रकर्षेण फर्वति गच्छतीति प्रफर्वी) खूब क्रियाशील—चुस्त गौ को—अथर्ववेद के शब्दों में **आस्पन्दमाना**=उछलती—कूदती गौ को **उद्वपति**=(गमयति) प्राप्त कराता है। ऋग्वेद के अक्षसूक्त में कहते हैं कि हे कितव 'तत्र गावः कितव तत्र जाया'। हे जूए की ओर झुकाववाले! तू इस बात को समझ ले कि इस कृषि-कार्य में गौवें हैं, इस कृषि-कार्य में उत्तम घर का निर्माण है। (ख) यह हल तुझे **पीवरीं अविम्** =पूर्ण स्वस्थ मोटी—ताज़ी भेड़ प्राप्त कराएगा, जो तुझे वस्त्रों के लिए उत्तम ऊन देनेवाली होगी। (ग) यह कृषि-कार्य तुझे **प्रस्थावत्**=प्रस्थानसंयुक्त, उत्कृष्ट वेग से युक्त, हर समय चलने के लिए तैयार-पर-तैयार, जिसे रोकने में कठिनता होती हो ऐसे **रथवाहनम्**=रथ के वाहनभूत घोड़े को प्राप्त कराता है। ३. एवं, कृषि-कार्य में गौवें हैं जो हमारे शरीर के पोषण के लिए दूध-घृत आदि प्राप्त कराती हैं। इस कार्य में भेड़े हैं जो वस्त्रों के लिए ऊन देती हैं। वेगवाले घोड़े हैं जो हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जाते हैं। इस प्रकार यह कृषि हमें जीवन की सब आवश्यकताओं को प्राप्त कराती है और हमारे घरों को स्वस्थ व आनन्दमय बनाती है। मनुष्य का नाम ही वेद में 'कृष्टि' है—कृषि करनेवाला। वस्तुतः कृषि ही आजीविका के लिए सर्वोत्तम है।

भावार्थ—कृषि में गौवें हैं, भेड़े हैं व घोड़े हैं, अतः हम कृषि की ओर ध्यान दें। हमारा हल सुख से चलनेवाला व अन्नाभाव को समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

कामदुघा

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः॥७२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त हुई यह भूमि हमारे सब कामों का

पूरण करनेवाली होती है, इसी से इसे यहाँ 'कामदुघा' कहा है। हे **कामदुघे**=सब मनोरथों को पूरण करनेवाली भूमे! **कामं धुक्ष्व**=तू हमारे सब मनोरथों को पूरण कर। २. तू **ओषधीभ्यः**=अपने से पैदा की गई ओषधियों के द्वारा **मित्राय**=मित्र के लिए हो, अर्थात् हमारा जीवन इन सोमादि ओषधियों के सेवन से स्नेहवाला हो—मित्रभाववाला हो। ३. **वरुणाय**=तू हमें वरुण बनाने के लिए हो। हमारे जीवन में से द्वेष का निवारण करनेवाली हो। ४. **इन्द्राय**=तू हमें ऐश्वर्य को प्राप्त करने योग्य बनानेवाली हो। ५. **अश्विभ्याम्**=हमारे प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाली हो। ६. **पूष्णे**=तू पूषा के लिए हो, अर्थात् मेरे सब अङ्गों का पोषण करनेवाली हो। ७. तथा **प्रजाभ्यः** =सब प्रकार के विकासों के लिए हो। तुझसे उत्पन्न ओषधियाँ प्रयोगपूर्वक सेवित होती हुई मेरी सब शक्तियों का विकास करनेवाली हों।

भावार्थ—कृषि-कार्य में 'स्नेह है, द्वेष का अभाव है, ऐश्वर्य और प्राणापानशक्ति है तथा सब अङ्गों का पोषण व सब शक्तियों का विकास है।' कृषि के द्वारा यह भूमि कामदुघा बनती है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अघ्न्याः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अन्धकार से प्रकाश की ओर

वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयानाऽअगन्म तमसस्पारमस्य। ज्योतिरापाम॥७३॥

१. कृषि के द्वारा मनुष्य सब अङ्गों की शक्तियों का ठीक विकास करके पूर्ण नीरोग बनता है। प्रभु कहते हैं कि **विमुच्यध्वम्**=तुम सब आधि-व्याधियों से मुक्त हो जाओ। २. **अघ्न्याः**=रोगों से हनन के योग्य न होओ। कोई भी रोग तुम्हारे जीवन को असमय में ही नष्ट करनेवाला न हो। ३. **देवयानाः**=तुम सदा देवताओं के मार्ग से चलनेवाले बनो। तुम्हारे मनों में आसुर भावनाओं का विकास न हो। ४. तुम निश्चय करो कि **अस्य तमसः**=इस अन्धकार के **पारम् अगन्म**=पार को प्राप्त करें—अन्धकार में ही भटकते न रहें। और ५. **ज्योतिः आपाम्**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों। **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**='मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलिए'—यही तुम्हारी प्रार्थना हो—इसी के लिए तुम्हारा प्रयत्न हो। ६. सोमादि उत्तम ओषधियों के सेवन से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, स्मृति ध्रुव होगी और वासनाएँ नष्ट होकर तुम्हारा जीवन सुन्दर बनेगा।

भावार्थ—कृषि से उत्पन्न ओषधियों के सेवन से हम नीरोग बनते हुए अन्धकार से परे प्रकाश को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अन्न व घृत

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषाऽअरुणीभिः। सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूरऽएतशेन सजूर्वैश्वानरऽइडया घृतेन स्वाहा॥७४॥

१. हे प्रभो! **अब्दः**=वर्ष **अयवोभिः**=न विच्छिन्न होनेवाले काल-अवयवों से अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से **सजूः**=संयुक्त हो। हमारे जीवन में यह काल विच्छिन्नावयव न हो जाए। हमारा आयुष्य अविच्छिन्नरूप से चलता चले। २. हमारे लिए प्रतिदिन **उषाः**=उषाकाल **अरुणीभिः**=अरुणवर्ण किरणों से **सजूः**=संयुक्त हो। हम अरुण किरणोंवाली उषा का प्रतिदिन दर्शन करें। ३. **अश्विना**=हमारे प्राणापान **दंसोभिः**=उत्तम कर्मों से **सजोषसौ**=प्रीतियुक्त हों।

हम अपनी प्राणशक्ति से उत्तम कर्मों में आनन्द का अनुभव करें ४. **सूरः**=सूर्य **एतशेन**=अपने किरणरूप अश्वों से **सजूः**=युक्त हो। हम सदा सूर्य-किरणों का सेवन करनेवाले बनें। सूर्य-किरणें हमारे लिए सदा स्वास्थ्य व गतिशीलता देनेवाली हों। ५. **वैश्वानरे**=हमारी जाठराग्नि **इडया**=अन्न से **सजूः**=युक्त हो इस **वैश्वानरे**=वैश्वानर अग्नि में **घृतेन स्वाहा**=घृत से उत्तम आहुति दी जाए, अर्थात् घृत के (तौलस्य प्राशान) मपे-तुले प्रयोग से जाठराग्नि को दीप्त किया जाए। वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) का भोजन अन्न व घृत ही हैं। इसमें मद्य-मांस की आहुति न पड़े।

भावार्थ—हमारे जीवन के वर्ष अविच्छिन्न कालावयवोंवाले हों। हम उषा के प्रकाश का प्रतिदिन दर्शन करें। हमारे प्राणापान प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहें। हम ज्ञानी बनकर क्रियाशील हों, हम खाने में अन्न व घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शतं सप्त च—त्रियुगं पुरा

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳशतं धामानि सप्त च॥७५॥

१. पिछले मन्त्रों में कृषि का उल्लेख था। अब उस कृषि में उत्पन्न की जानेवाली ओषधियों का उल्लेख करते हैं। **याः**=जो **पूर्वाः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं, ये ओषधियाँ **देवेभ्यः**=उस-उस ऋतु में प्रयोग करने के लिए हैं (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग होता है। २. **त्रियुगे**=(त्रयाणां युगानां समाहारः त्रियुगम्) ये ओषधियाँ तीन युगों में, तीन कालों में 'वसन्त, वर्षा व शरद्' में प्रयोज्य हैं। ३. परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि **पुरा**=उस ऋतु के प्रारम्भ से कुछ पहले ही इनका प्रयोग किया जाए। वसन्त में कफ़ का प्रकोप होता है, अतः वसन्त से कुछ पहले कफ़नाशक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा में वातविकारों की आशंका है, अतः वातविनाशक ओषधियाँ प्रयोग में लानी चाहिएँ और शरद् पित्त-विकार का समय है, अतः पित्तशमन की ओषधियाँ लेनी आवश्यक हैं। उस ऋतु से कुछ पूर्व (पुरा) उस ओषधि के लेने पर हम सब विकारों से बचे रहेंगे। ४. इस ठीक प्रयोग के लिए **अहम्**=मैं **बभ्रूणाम्**=लोकपालन की क्षमता रखनेवाली इन ओषधियों का **मनै नु**=निश्चय से मनन करता हूँ। इनका विचार करके ही तो इनका ठीक प्रयोग कर पाऊँगा। ५. **शतं धामानि**=मैं इनके सौ धामों का मनन करता हूँ। यहाँ आयु का एक-एक वर्ष ओषधि का एक-एक स्थान है। अभिप्राय यह है कि मैं आयु का विचार करके औषध देता हूँ। बालक, युवक व वृद्ध को औषध-मात्रा अलग-अलग ही दी जाएगी। **सप्त च**=मैं इनके सात धामों का भी विचार करता हूँ। (य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह—श० ७।२।४।२६) इस शतपथ वाक्य से दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँख व एक मुख—ये ही सात धाम हैं। औषध-प्रयोग में यह भी ध्यान करना आवश्यक है कि औषध कान में डाली जा रही है या आँख में, जितनी कान में डाली जा सकती है उतनी आँख में नहीं।

भावार्थ—ओषधियाँ हमारी कमियों का फिर से पूरण करनेवाली हैं। ये वसन्त, वर्षा व शरद् से कुछ पहले प्रयोग में लानी चाहिएँ। उम्र व अङ्ग का ध्यान करके ही इनका

प्रयोग करना लाभकर है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अगदता—अ-गद-ता (नीरोगता)

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत॥७६॥

१. ओषधियाँ मातृतुल्य हित करनेवाली हैं, अतः कहते हैं कि **अम्ब**=हे मातृभूत ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **शतं धामानि**=सैकड़ों धाम—स्थान व तेज हैं। (क) शतशः स्थानों में ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई पर्वतमूल में, कोई मध्यभाग में और कोई पर्वतशिखरों पर तो कोई समुद्रतट पर उगती हैं, कोई वनों में व कोई मैदानों में और कई ओषधियाँ किन्हीं विशेष पर्वतों में ही उपलभ्य हैं। (ख) इस प्रकार इन ओषधियों के स्थान तो सैकड़ों हैं ही इनके तेज भी, शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। कई पित्तशमन करनेवाली हैं तो कई वात-विकार को शान्त करती हैं और दूसरी कफ़-प्रकोप को दूर भगानेवाली हैं। २. **उत**=और हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारी **सहः**=प्रभाव शक्तियाँ **सहस्रमुत**=अनन्त प्रकार का है। जब वैद्य इन्हें रोगी को देता है तब इन ओषधियों के विचित्र-विचित्र परिणाम उसके शरीर पर होते हैं। ३. **अध**=अब **शतक्रत्वः**=सैकड़ों कर्मों को करनेवाली ओषधियो! **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस रोगी को **अगदम्**=रोग से रहित **कृत** =कर दो। तम्हारे प्रभाव से यह मुझसे चिकित्स्यमान रोगी स्वस्थ हो जाए। इसके रोग को तुम दूर करनेवाली बनो। तुम्हारी कृपा से मेरा 'भिषक्' यह नाम यशोन्वित बना रहे।

भावार्थ—ओषधियों के अनन्त स्थान व तेज हैं। शतशः इनके परिणाम हैं। विचारपूर्वक दी गई ओषधियाँ रोगी को नीरोग करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स-जित्वता=सह विजय

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥७७॥

१. **पुष्पवतीः**=प्रशस्त फूलोंवाली **प्रसूवरीः**=प्रशस्त फलोंवाली **ओषधीः प्रति**=ओषधियों का लक्ष्य करके **मोदध्वम्**=आनन्दित होके वैद्य रोगियों से कहता है कि ये ओषधियाँ अपने फूलों व फलों से तुम्हें भी फूला-फला करनेवाली बनेंगी। तुम्हारे शरीर भी निर्दोष होंगे। जिस प्रकार ये ओषधियाँ प्रसन्न प्रतीत होती हैं तुम भी इसी प्रकार नीरोग होकर प्रसन्न हो जाओगे। २. ये ओषधियाँ **अश्वाः इव**=घोड़ों की भाँति—जिस प्रकार संग्राम में घोड़े विजय करानेवाले होते हैं उसी प्रकार **सजित्वरीः**=(सह विजयशीलाः) ये ओषधियाँ भी पथ्य के साथ रोगों को जीतनेवाली हैं। घोड़ा सवार के साथ युद्ध को जीतता है, इसी प्रकार ये ओषधियाँ पथ्य व उत्तम वैद्य के साथ रोगों को जीतती हैं। ३. **वीरुधः**=(विविधान् रोगान् सन्धन्ति इति) ये ओषधियाँ तुम्हारे विविध रोगों को रोकनेवाली हैं। ४. **पारयिष्णवः**=ये रोगरूप विघ्नों से हमें पार ले-जानेवाली हैं। रोगों से पार ले-जाकर ये हमें जीवन के अन्त तक ले-चलती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगों को नष्ट करनेवाली हैं। ये तो हैं ही वीरुध=विविध रोगों

को रोकनेवाली, और ओष=रोगदहन करने के कारण ओषधि हैं, परन्तु ये हैं सजित्वरी=साथ मिलकर जीतनेवाली। पथ्य और वैद्य इनके सहायक हों तभी ये रोगों को जीतती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—चिकित्सुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मातरः देवीः

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष॥७८॥

१. **ओषधीः इति**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **माताः**=मातृस्थानापन्न हैं—माता के समान कल्याण करनेवाली हैं। **तत्**=इसलिए मैं **वः**=आपको **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **उपब्रुवे**=कहता हूँ। वस्तुतः ओषधियाँ हमारे सब रोगों को दूर करके हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करती हैं। हमारे सब रोगों के जीतने की कामनावाली ये वस्तुतः 'देवी' हैं 'दिवु विजिगीषा', निर्माण करने से 'माता', रोगों को जीतने से 'देवी'। २. ओषधियाँ 'माता व देवी' इन नामों से पुकारी जाकर कहती हैं कि हे **पुरुष**=अपना पूरण करने की कामनावाले! (पूरयितुं वष्टि) और हमारा उचित प्रयोग करनेवाले पुरुष! हम **तव**=तेरे **अश्वं गां वासः**=घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को तथा **आत्मानम्**=शरीर को **सनेयम्**=प्राप्त करती हैं। हमारी शक्ति से नीरोग होकर तू घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को कमानेवाला तो बनता ही है, पर सबसे बड़ी बात यह है कि तू अपने शरीर को प्राप्त करनेवाला बनता है। ये रोग तेरे शरीर के पति ही बन गये थे। इसी से इन्हें 'सपत्न' कहने की परिपाटी हो गई। तेरे इस शरीर पर तेरा निर्द्वन्द्व राज्य न रहा था।

भावार्थ—ये ओषधियाँ माताएँ हैं, देवी हैं। इनकी कृपा से, अर्थात् इनके प्रयोग से स्वस्थ होकर हम घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को पाते हैं। इनकी शक्ति से हमारा शरीर हमारा ही बना रहता है, अन्यथा इसपर रोगों का अधिकार हो जाता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अश्वत्थ पर्ण में निवास

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥७९॥

१. ये ओषधियाँ किस प्रकार दिव्य गुणोंवाली होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना व ठहरना **अश्वत्थे**=आश्वत्थी—अश्वत्थ की बनी हुई उपभृत् व स्रुच् में है, अर्थात् पहले-पहले तुम अश्वत्थवृक्ष की लकड़ी से बने गोल प्याले में घृत व हवि के रूप में होती हो। २. **पर्णे**=पर्णमयी जुहू में **वः**=तुम्हारा **वसतिः कृता**=निवास किया गया है। घृत व हवि के बर्तन में से घृत और हवि जुहू=चम्मच में ली जाती हैं और अग्नि में डाली जाती हैं। ३. अब अग्नि में डाली हुई ये ओषधियाँ **इत् किल**=निश्चय से **गोभाजः**=(गाम् आदित्यं भजन्ति) सूर्य का सेवन करनेवाली **असथ**=होती हैं। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'** (मनु०)=अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ आदित्य के पास पहुँचती है। ४. वहाँ गर्मी से वाष्पीभूत जल आकाश में पहुँचकर जब फिर से घनीभूत होने लगता है तब हविर्द्रव्य के ये कण जल-बिन्दुओं का केन्द्र बनते हैं। ये बरसे और फिर सिक्तभूमि से जो ओषधियाँ उत्पन्न हुई, वे इन्हीं घृतकणों व हविष्कणों को

केन्द्र में लेकर उत्पन्न हुई, अतः इनमें दिव्य शक्ति का होना स्वाभाविक ही था। ५. अब ये 'देवीः'—दिव्य गुणवाली ओषधियाँ **यत्**=जब **पूरुषम्**=पुरुष का **सनवथ**=सेवन करती हैं तब सचमुच उनके रोगों को दूर करनेवाली होती हैं (वीरुधः) और उनके जीवन का सुन्दर निर्माण करती हैं (मातरः)।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि यज्ञों के होने पर वृष्टि-जल से उत्पन्न ओषधियाँ सचमुच पुरुष का उत्तम कल्याण करती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः सऽउच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥८०॥

१. गत मन्त्र की दिव्य ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य का लक्षण कहते हैं कि **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=व्याधियों के जीतने के लिए इस प्रकार इकट्ठी होती हैं **इव**=जैसेकि **राजानः**=राजा लोग शत्रु को जीतने के लिए **समितौ**=युद्ध में सङ्गत होते हैं। राजा इकट्ठे होकर शत्रु का पराजय करते हैं, ओषधियाँ वैद्य के समीप एकत्र होकर रोग को पराजित करती हैं २. **सः**=वह **विप्रः**=शरीर में आ गई कमियों का फिर से (प्रा-पूरणे) पूरण करनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=वैद्य **उच्यते**=कहलाता है। ३. यह वैद्य **रक्षोहा**=अपने रमण के लिए रोगी के शरीर का क्षय करनेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। ४. रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह **अमीवचातनः**=(अमीवान् चातयति) रोगों को नष्ट करता है। ५. एवं, वैद्य वह है—(क) जिसके पास ओषधियाँ हैं, (ख) जो उन ओषधियों के द्वारा रोगी की न्यूनता को दूर करता है, (ग) रोगकृमियों का संहार करता है, (घ) और रोगों को दूर करता है। इस वैद्य ने रोगों के साथ संग्राम करना है। इस संग्राम के लिए ओषधियाँ इसकी सहायता करती हैं।

भावार्थ—उत्तम वैद्य वह है जो ओषधियों के द्वारा रोगरूप शत्रुओं से युद्ध करके रोगों का नाश करता है और रोगी के शरीर में आ गई कमियों को दूर कर देता है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चतुर्विधं भेषजम्

अश्वावतीꣳसोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वाऽओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥८१॥

१. गत मन्त्र का वैद्य कहता है कि मैं **अश्वावतीम्**=शक्ति देनेवाली ('अश्व' शब्द शक्ति का प्रतीक है), जो ओषधि मनुष्य को शक्ति-सम्पन्न बनाती है, उसको **आवित्सि**=अच्छी प्रकार जानता हूँ। २. **सोमावतीम्**=सौम्य रसों से युक्त, सोमरसवाली, जो मनुष्य की उत्तेजना व तिलमिलाहट को कम करती है उन ओषधियों को भी जानता हूँ। ३. मैं **ऊर्जयन्तीम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति को देनेवाली ओषधियों को जानता हूँ। ४. **उदोजसम्**=उद्गत ओजवाली ओषधियों को भी जानता हूँ। ५. इस प्रकार इन चार गुणों से युक्त **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अरिष्ट-तातये**=रोग के विनाश के लिए—अहिंसा के लिए प्राप्त कराता हूँ। ६. ओषधियों के चार मुख्य गुण हैं—ये (क) पुरुष

को शक्तिशाली बनाती हैं, (ख) घबराहट को दूर कर शान्त करती हैं, (ग) बल और प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (घ) मनुष्य को ओजस्वी बनाती हैं। ६. वैद्य को इस प्रकार की सब ओषधियों को जानना व रखना है, तभी वह यथास्थान सबका प्रयोग करके रोगी को व्याधि का शिकार होने से बचा सकेगा।

भावार्थ—वैद्य सब ओषधियों को जाने और उनके ठीक प्रयोग से रोगी को सुखी करे।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधियों की शक्तियाँ

उच्छुष्माऽओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥८२॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित चार प्रकार की ओषधियाँ जब यथायथ वैद्य से प्रयुक्त होती हैं तब **ओषधीनाम्**=इन ओषधियों के **शुष्माः**=रोग-शोषक बल **उत् ईरते**=इस प्रकार बाहर प्रकट होते हैं, **इव** =जैसे **गावः गोष्ठात्**=गौवें गोष्ठ से बाहर निकलकर प्रकट होती हैं। रोगी का रोग दूर होता है और इन ओषधियों का प्रभाव चेहरे पर भी व्यक्त होने लगता है। २. किन ओषधियों का? हे पुरुष! जो ओषधियाँ **तव**=तुझे **धनम्**=धन **सनिष्यन्तीनाम्**=प्राप्त करानेवाली हैं। मन्त्र ७८ में इसी धन का उल्लेख 'अश्वं गां वासः' शब्दों से हुआ है। ये ओषधियाँ केवल धन ही प्राप्त कराती हैं ऐसा नहीं, ये ओषधियाँ **तव आत्मानम्**=तेरे शरीर को भी प्राप्त कराती हैं, अर्थात् तुझे पूर्ण स्वस्थ बनाती हैं।

भावार्थ—योग्य वैद्य से उपयुक्त होती हुई ओषधियों की शक्तियाँ उसके रोगी में प्रकट होती हैं। ये रोगी को नीरोग बनाकर उसे घोड़े, गौ, वस्त्र व उत्तम शरीर प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इष्कृति व निष्कृति

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयꣳस्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ॥८३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब ओषधियों के शोषक बल उद्गत होते हैं तब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ये ओषधियाँ **इष्कृतिः**=(उपसर्गैकदेशलोप है, मूलशब्द निष्कृति है) व्याधि का विनाश करती हैं **नाम वः माता**=यह 'निष्कृति' तुम्हारी माता का नाम है। यह भूमि तुम्हारी माता है जो सचमुच आरोग्य का कारण है। २. **अथ उ**=और इसी कारण **यूयम्**=तुम भी **निष्कृतिः**=व्याधियों का निष्क्रमण करनेवाली **स्थ**=हो। तुम भी भूमिरूप माता से उत्पन्न होकर व्याधियों को दूर करनेवाली होती हो। २. **सीराः**=(सह इरया=अन्नेन वर्तन्ते) पथ्यान्न के साथ होनेवाली तुम **पतत्रिणीः स्थन**=(प्रसरणशीलाः) शरीर में व्याप्त होनेवाली हो। ३. **यत्**=जब ऐसा होता है तब **आमयति**=(रुजति आमयाविनि) रोगी में स्थित रोग को **निष्कृथ**=(निर्नाशयत) खूब नष्ट करती हो। ओषधियों का जब पथ्य के साथ प्रयोग होता है तब निश्चय से वे रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—उत्तम भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं। इसी से

इन्हें 'निष्कृति' नाम दिया गया है। ओषधि की गुणवत्ता के लिए उसके साथ पथ्य का प्रयोग भी आवश्यक है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रोग-हरण (ज्वरचोरण), रोगरूप चोर का पलायन

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेनऽइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः॥८४॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि ये ओषधियाँ रोगों को निकाल देती हैं, प्रकारान्तर से पुनः कहते हैं कि **विश्वाः**=शरीर में प्रवेश करनेवाली (विश to enter), **परिष्ठाः**=(परि सर्वतः व्याधीन् अधिष्ठाय तिष्ठन्ति) प्रवेश करके शरीर में सर्वत्र व्याधियों पर अधिष्ठित होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **अत्यक्रमुः**=रोगों पर इस प्रकार अतिशयेन आक्रमण करती हैं **इव**=जिस प्रकार **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर। जैसे रात्रि में चोर गो-हरण के लिए गोशाला पर आक्रमण करता है और चुपके से गौ को चुरा ले-जाता है, इसी प्रकार ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करके रोगों को चुपके से चुरा ले-जाती हैं। २. इस प्रकार ये ओषधियाँ **यत् किंच**=जो कुछ भी **तन्वः रपः**=शरीर का पाप, अर्थात् शिरोव्यथा गुल्म या अतिसार आदि रोगरूप पाप का फल होता है, उस सबको **प्राचुच्यवुः**=प्रच्यावित कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं रह जाता। ३. 'स्तेन इव व्रजम्' इस उपमा को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार चोर व्रज में घुसा पर स्वामी के अचानक आ जाने पर उससे धमकाया जाकर भाग खड़ा होता है उसी प्रकार बीमारी शरीर में घुसी, परन्तु इतने में ओषधि आ गई और उससे धमकायी जाकर मानो बीमारी भाग गई। आचार्य दयानन्द ने उपमा का यही स्वरूप लिया है। गौ की चोरी नहीं हुई इसी प्रकार रोग शरीर के बल व किसी शक्ति को नष्ट नहीं कर पाया और भगा दिया गया। उव्वट आदि ने उपमा का पहला स्वरूप रखा है, आचार्य ने पिछला। पिछले का सौन्दर्य सुव्यक्त है।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं और रोगों को मार भगाती हैं। ओषधियाँ मानो चोर हैं जो रोगरूप गौ को हर लेती हैं अथवा ओषधियाँ मालिक हैं जो रोगरूप चोर को भगा देती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यक्ष्म के आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽआदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥८५॥

१. 'ओषधियाँ रोग को धमकाकर भगा देती हैं', गत मन्त्र की इसी बात को और भी सुन्दर रूप में इस प्रकार कहते हैं कि **यत्**=ज्यों ही **वाजयन्**=रोगी को शक्तिशाली बनाता हुआ (बनाने की कामनावाला) मैं वैद्य **इमाः ओषधीः**=इन ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ त्यों ही **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=स्वरूप **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। औषध को खाने से पहले ही रोग नष्ट होने लगता है, खाने पर तो उसने बचना ही क्या है? २. यह वर्णन निःसन्देह काव्यात्मक है, इसमें अतिशयोक्ति अलंकार दिखता

है, परन्तु इसमें बहुत कुछ सत्यता भी है। रोगी के मन पर वैद्य की महिमा, उसके प्रति विश्वास से उत्तम प्रभाव पड़ने से वह अपने को स्वस्थ होता हुआ अनुभव करता है। रोगी को जब वैद्य कहता है कि 'मा बिभेः न मरिष्यसि'='डरता क्यों है, तू मरेगा नहीं। मैं अभी तेरे रोग को मारे डालता हूँ' हृदय में ऐसा विश्वास बैठने पर रोगी अपने को अच्छा अनुभव क्यों न करेगा? ३. उपमा से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवन् सन्नेव यो हिंसार्थं गृह्यते स जीवगृप् तस्य) कोई व्यक्ति जीवित ही फाँसी दिये जाने के लिए पकड़ लिया जाता है और वधस्थली की ओर ले-जाया जाता है तो उस जीवगृभ् के प्राण अतिविषाद के कारण-'मैं अब मरा' इस प्रकार सोचने के कारण **पुरा**=फाँसी देने से पहले ही नष्टप्राय हो जाते हैं उसी प्रकार ओषधि के वैद्य के हाथ में धारण करते ही रोग को अपनी मृत्यु दिखने लगती है और रोग की आत्मा नष्ट हो जाती है। रोग का ज़ोर नहीं रहता, यही यक्ष्म की आत्मा का नाश है।

भावार्थ—सद्वैद्य आया, उसने औषध हाथ में पकड़ी और रोगी का रोग भागा। सद्वैद्य वही है जो रोगी की आत्मा को जिलाकर रोग की आत्मा को मार देता है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

यक्ष्म-विबाधन (रोग-भङ्ग)

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधध्वऽउग्रो मध्यमशीरिव ॥८६॥

१. वैद्य ओषधियों को सम्बोधित करके कहता है कि **ओषधीः**=हे ओषधियो! तुम **यस्य**=जिस रोगी के **अङ्गं अङ्गं**=अङ्ग-अङ्ग में **परुष्परुः**=और पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=जाती हो या व्याप्त होती हो **ततः**=उस-उस अङ्ग व पर्व से उस रोगी के **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करती हो, अर्थात् उस अङ्ग व पर्वसमुदाय से व्याधि को दूर करती हो। २. ओषधियों द्वारा रोगों के बाधन का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि **उग्रः**=गोधा व अंगुलित्राण को बाँधे हुए क्षत्रिय **इव**=जैसे **मध्यमशीः**=(देहमध्ये भवं मध्यमं मर्मभागं शृणाति हिनस्ति) देहमध्य में होनेवाले मर्मभाग को हिंसित करता है। मर्मघातक क्षत्रिय जैसे दुष्ट के लिए भयंकर होता है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों के लिए भयंकर होती हैं। उग्र क्षत्रिय जैसे शत्रु के दो टुकड़े कर डालता है, इसी प्रकार यह ओषधि रोग के टुकड़े कर डालती है।

भावार्थ—एक सद्वैद्य से दी गई उत्तम ओषधि रोगरूप शत्रु को इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे कि उग्र क्षत्रिय से प्रयुक्त अस्त्र शत्रु को मार डालता है।

ऋषिः—भिषग्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'वात-पित्त-कफ़'-विकार-ध्वंस

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥८७॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **यक्ष्म**=रोग! तू **साकं प्रपत**=साथ-साथ भाग जा। (क) किसके साथ? **चाषेण**=(चषति व्याकुलं कृत्वा हन्ति=पित्तरोगः) उस पित्त विकार के साथ जो पीछा ही नहीं छोड़ता अपितु व्याकुल करके मार ही डालता है, (चष् to chase, वधे)। (ख) फिर किसके **साथ**? **किकिदीविना**=(कफ़ा-

वरुद्धकण्ठो, तद् ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः, किकिना दीव्यतीति) कफ़ से अवरुद्ध कण्ठ से उठनेवाले 'किकि' शब्द के साथ रोगी को जीतने की कामना करनेवाले (दिव् विजिगीषा) श्लेष्मरोग के साथ तू यहाँ से भाग जा। (ग) और फिर **वातस्य ध्राज्या साकं** (प्रपत)=वात की विकृत गति, अर्थात् वातविकार के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। २. और हे **यक्ष्म**=रोग! तू **निहाकया** (यया कया रुजा हा निहतोऽस्मि इति शब्दं करोति अथवा निहन्ति कायम् इति वा)=जिस पीड़ा से 'अरे मैं मरा' इस प्रकार शब्द करता है या जो पीड़ा शरीर को समाप्तप्राय-सा ही कर देती है, उस कृच्छ्रापत्ति के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृश्य हो जा, भाग जा। ३. एवं, अर्थ यह हुआ कि यह **यक्ष्म**=राजरोग वात-पित्त-कफ़-विकारों के साथ तथा तीव्र पीड़ासहित नष्ट हो जाए। राजरोग जाए और ये विकार व पीड़ाएँ भी जाएँ।

मन्त्रार्थ इस रूप में भी हो सकता है (१) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=चाषपक्षी के साथ **किकिदीविना**='किकि' इस अव्यक्त ध्वनि करनेवाले पक्षी के साथ उड़ जा, तू उन्हीं के साथ रह। (२) तू **वातस्य ध्राज्या साकं नश्य**=वायु की गति के साथ भाग जा। (३) **निहाकया साकं नश्य**=(हा कष्टं निर्गतोऽहं कया ओषध्या) 'अरे मैं किस ओषधि से मार भगाया गया' इस शब्द के साथ फिर न लौटने के लिए चला जा।

यह अर्थ भी हो सकता है कि (१) **किकिदीविना** (किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति) किस-किस ज्ञान को देनेवाले, अर्थात् उत्तमोत्तम अद्भुत ज्ञानों के देनेवाले **चाषेण**=भक्षणीय आहार के साथ, अर्थात् इसका प्रयोग होते ही तू नष्ट हो जा। (२) **वातस्य ध्राज्या**=वायु की तीव्र गति से—प्राणायाम में तीव्रता से बाहर फेंके गये वायु के साथ तू अदृश्य हो जा। (३) और **निहाकया**=(नितरां हाकया त्यागेन) विषयों के नितरां त्याग के साथ तू भी नष्ट हो जा। (४) यह अर्थ आचार्य दयानन्द की शैली पर किया गया है। भाव यह है कि रोग के दूरीकरण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। (क) ज्ञानवर्धक सात्त्विक आहार। (ख) प्राणायाम व दीर्घश्वास (deep breathing) तथा (ग) विषयत्याग।

भावार्थ—१. हमारे रोग वात-पित्त-कफ़विकारों व पीड़ाओं के साथ दूर हो जाएँ। २. ये चाष के साथ आकाश में उड़ जाएँ। आँधी के साथ दूर देश में पहुँच जाएँ 'अरे मारे गये' ऐसा चिल्लाकर भाग चलें। ३. सात्त्विक आहार, दीर्घश्वास, व विषय-त्याग हमें रोगों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-मिश्रण (Prescription)

अन्या वोऽअन्यामवत्वन्यान्यस्याऽउपावत ।
ताः सर्वाः संविदानाऽइदं मे प्रावता वचः ॥८८॥

१. वैद्य गत मन्त्र में वर्णित 'वात-पित्त-कफ़' विकारों के दूरीकरण के लिए विविध ओषधियों का मिश्रण करता है और चाहता है कि ये एक-दूसरे के वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करती हुई अपना-अपना कार्य करें। इसी से वह कहता है कि हे ओषधियो! **वः**=तुममें **अन्या**=कोई एक ओषधि **अन्याम्**=दूसरी ओषधि को **अवतु**=रक्षित करे। उसके वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करे। २. इस प्रकार रक्षित हुई **अन्या**=यह दूसरी ओषधि **अन्यस्याः**=अपने से भिन्न तीसरी ओषधि के **उपावत**=समीप आकर उसका रक्षण करे, उसके प्रभाव को नष्ट न करे। ३. **ताः सर्वाः**=वे सब कफ़, वात व पित्तविनाशक ओषधियाँ

संविदानाः=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुईं, अर्थात् मिलकर रोगनाशन का कार्य करती हुईं **मे**=मेरे **इदं वचः**=गत मन्त्र में कहे गये इस वचन को कि हे यक्ष्म! तू भाग जा' **प्रावत**=पूर्णतया रक्षित करें, अर्थात् तुम्हारे मिलकर कार्य करने से मेरा कथन सत्य ही सिद्ध हो। ओषधियों का परस्पर मिश्रण इस प्रकार हो कि उनमें फँसकर रोग पिस ही जाए।

भावार्थ—युक्ति से मिलाई हुई ओषधियाँ रोगों को नष्ट करती हैं। एक-दूसरे के प्रभाव को वे समावस्था में ले-आती हैं। उनकी उग्रता रोग को समाप्त करती हुई भी रोगी के लिए घातक नहीं रह जाती।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहस्पति-प्रसूत चार ओषधियाँ

याः फ॒लिनी॒र्याऽअ॑फ॒लाऽअ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः॑।
बृह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वꣳह॑सः॥८९॥

१. ओषधियों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, अर्थात् जिनपर फल आता है। (ख) **याः**=जो **अफलाः**= फलरहित हैं, जिनपर फल नहीं आता। (ग) **अपुष्पाः**=जो फूलवाली नहीं है, जिनमें बिना ही फूल के सीधा फल आ जाता है। (घ) **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली हैं, फूल के द्वारा फल को पैदा करती हैं। २. **बृहस्पतिप्रसूताः** =(बृहतां पतिः तेन प्रसूताः) बड़े-बड़े लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से उत्पन्न रोग व रोगजन्य दुःख से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। ३. 'बृहस्पतिप्रसूताः' की भावना एक और भी है। **बृहस्पति**=**ब्रह्मणस्पतिः**=सब ज्ञानों का पति है, विद्वान् है, यह इस **बृहती**= आयुष्यवर्धन करनेवाली (बृहि वृद्धौ) आयुर्वेदविद्या का भी पति है। आयुर्वेद में निष्णात इस बृहस्पति से **प्रसूत** =प्रेरित=प्रयोग में लायी गई ये ओषधियाँ हमें पापजन्य रोगों और रोगजन्य दुःखों से बचाएँ। (यह पिछला अर्थ श्री जयदेवजी ने अपने भाष्य में दिया है।) ४. एवं, ओषधियाँ स्थूलतया चार भागों में विभक्त हैं 'फलिनी, अफला, पुष्पिणी और अपुष्पा' ये सब सुयोग्य वैद्य ये प्रयुक्त होकर रोगी को रोगमुक्त करती हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त चतुर्विध ओषधियाँ विद्वान् वैद्य से विनियुक्त होकर व्याधि-विनाश करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चार पाप

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॒दु॒त।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शा॒त्सर्व॑स्माद् देवकि॒ल्बि॒षात्॥९०॥

१. उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=क्रोध में आक्रोश (शप आक्रोशे) के कारण उत्पन्न हो जानेवाले पैत्तिक विकारों—रक्त दबाब (blood pressure) आदि से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। पित्त विकारवाले को ही क्रोध अधिक होता है और उस क्रोध में वह गाली आदि पर उतर आता है। इससे वे पैत्तिक विकार और बढ़ जाते हैं (उनसे ये फलिनी ओषधियाँ मुझे मुक्त करें)। २. **अथो**=और **वरुण्यात्**=वरुण जल देवता है, उनके प्रकोप से होनेवाले रोग वरुण्य रोग हैं। जलविकार से अभिप्राय कफ़-विकार ही है।

अतः कफ़जनित जुकाम, खाँसी, क्षय आदि रोगों से भी ये (अफला) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। ३. **उत**=और **अथो**=अब **यमस्य**=(अयं वै यमः यो यं पवते) इस बहनेवाले वायु के **पड्वीशात्**=बन्धन से—वात-विकार से उत्पन्न हो जानेवाले गठिया आदि अङ्ग्रहों से ये (अपुष्पा) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। इन (अपुष्पा) ओषधियों के प्रयोग से मैं वातिक रोगों से बच जाऊँ। ४. और अन्त में **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रियों के विषयों में किये गये पापों से—उस-उस इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में आसक्ति से ये (पुष्पिणी) ओषधियाँ मुझे छुड़ाएँ। इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं तो उनमें ह्रास—शक्ति की क्षीणता हो ही जाती है, उससे भी ये ओषधियाँ हमें बचाएँ।

भावार्थ—पिछले मन्त्र में चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में चार प्रकार के रोगों का वर्णन है। सम्भवतः इन्हें यथासंख्य ले-सकना सम्भव हो। चारों ओषधियाँ चारों विकारों को दूर करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रोग-निवारण

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥९१॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि **भिषक्**=चारों रोगों का निवारण करता है, अतः 'वरुण' (निवारण करनेवाला) बन गया है। यह वरुण कहता है कि **दिवः परि**=द्युलोक के समीप से **अवपतन्तीः**=नीचे आती हुई, वृष्टि-बिन्दु के रूप में भूमि पर गिरती हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ **अवदन्**=परस्पर बात-सी करती हैं कि २. **यम्**=जिस **जीवम्**=अनुत्क्रान्तप्राण पुरुष को **अश्नवामहै**=हम प्राप्त होती हैं **सः पुरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=हिंसित नहीं होता। ओषधियाँ मनुष्य की रक्षा करती हैं। ३. 'ये ओषधियाँ द्युलोक से नीचे आई हैं', अतः अलौकिक दिव्य गुणोंवाली हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ दिव्य हैं। वृष्टिजल से इनका उत्पादन हुआ है। ये यदि जीवित पुरुष तक पहुँच जाएँ तो फिर उसे जाने नहीं देतीं, उसे जिला ही देती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्तम ओषधि के लक्षण

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे॥९२॥

१. 'वरुण' (वैद्य) रोग का निदान करके ओषधि का चुनाव (वरण) करता हुआ कहता है कि **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमरूप राजावाली हैं, अर्थात् जिन ओषधियों का राजा सोम है—सोमलता सर्वोत्तम ओषधि मानी गई है। **बह्वीः**=संख्या में अनन्त-सी हैं, हमारे शरीर की वृद्धि का कारण हैं (वह to increase), अङ्ग-प्रत्यङ्ग को दृढ़ करनेवाली हैं (वह to strengthen)। **शतविचक्षणाः**=(क) बहुवीर्य हैं अथवा (ख) रोगनिवारण में अनन्त (शत) चतुर (विचक्षण) हैं। (ग) (चक्षण=appearance) अनन्त आकृतियों व रूपोंवाली हैं। (घ) अपने रसास्वाद से भूख को बढ़ानेवाली हैं (eating—a relish to promote appetite=चक्षण) **तासाम्**=उन ओषधियों में **त्वम्**=तू **उत्तमा असि**=सर्वोत्तम है। २. तू इस रोगी के **कामाय**=रोगनिवारणरूप ईप्सित (मनोरथ) के लिए **अरम्**=पर्याप्त

हो तथा **हृदे**=हृदय के लिए **शं भव**=शान्ति देनेवाली हो। तेरा इसके हृदय पर कुछ अशुभ प्रभाव न पड़े। तेरे प्रयोग से इसका दिल बैठने (heart sink न करे) न लगे।

भावार्थ—ओषधि की विशेषताएँ निम्न हैं। १. ये अपने सोम गुण से दीप्त हों, अर्थात् घबराहट को दूर करनेवाली हों। २. शरीर की वृद्धि व अङ्गों की दृढ़ता का कारण बनें। ३. बहुवीर्य हों—रोग को झट दूर करें। ४. रोगनिवारणरूप मनोरथ को पूरा करें। और ५. हृदय पर इनका कोई कुप्रभाव न हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि को गुणवत्तर करना

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९३॥

१. **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमौषधिरूप राजावाली हैं—'सोम' जिनका मुखिया है, जो **पृथिवीम् अनु**=इस पृथिवी पर **विष्ठिताः**=विशेषरूप से स्थित हैं, जिनका इन पार्थिव ओषधियों में विशिष्ट स्थान है, वे **बृहस्पतिप्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गई अथवा चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् से प्रयुक्त की जाकर **अस्यै**=इस मुझसे दी जानेवाली औषध को **वीर्यम् संदत्त**=अधिक शक्ति दें। २. इस मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि कई ओषधियाँ ऐसी हैं जो इस पृथिवी पर अपना एक विशिष्ट ही स्थान रखती हैं और अन्य ओषधियों में मिलकर उनके गुणों को कई गुणा कर देती हैं। ३. 'अस्यै संदत्त वीर्यम्' का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस रोगिणी स्त्री के लिए शक्ति दें। (जयदेवकृत—भाष्य में)

भावार्थ—ओषधियों के परस्पर गुण-वीर्य-विपाक की अनुकूलता से ही दातव्य ओषधि के योग बनाने चाहिएँ।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समीप व दूर की ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९४॥

१. ओषधियों को पुरुषविध करके सम्बोधन करता हुआ 'वरुण' कहता है कि हे ओषधियो! **याः च**=तुममें से जो **इदम्**=इस मेरे वचन को **उपशृण्वन्ति**=समीपता से सुनती हैं, **याः च**=और जो **दूरं परागताः** =अति दूर-दूर देश से व्यवहित होकर 'मेरे वचन को नहीं सुनती' वे **सर्वाः**=सब **सङ्गत्य**=मिलकर **वीरुधः**=विविध रोगों को रोकनेवाली ओषधियाँ **अस्यै**=इस रोगिणी स्त्री के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति दें।

भावार्थ—समीप व दूर स्थित सब ओषधियाँ मिलकर इस रोगिणी स्त्री को शक्ति प्रदान करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-खनन

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳसर्वमस्त्वनातुरम्॥९५॥

१. हे ओषधियो! (क) **वः**=आपका **खनिता**=खोदनेवाला **मा रिषत्**=मत हिंसित हो, अर्थात् तुम्हारे खोदने में खोदनेवाले को इस प्रकार की चोट आदि न आए जो अन्ततः उसकी हिंसा का कारण सिद्ध हो। (ख) अथवा **खनिता**=खोदनेवाला **वः**=आपको **मा रिषत्**=हिंसित न करे। तुम्हें जड़ से ही न उखाड़ दे। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** का यही अभिप्राय है। २. **च**=और वह रोग भी नष्ट हो **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **खनामि**=खोदता हूँ। जिस रोग के लिए मूल को भी खोदा जाता है, उससे रोगी पुरुष का रोग अवश्य दूर हो जाए। ३. हे ओषधियो! तुम्हारी इस कृपा से **अस्माकम्**=हमारे **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये मनुष्य व चौपाये गवादिक पशु **सर्वम्**=सब **अनातुरम्**=नीरोग **अस्तु**=हों।

भावार्थ—हम ओषधियों के मूल को नष्ट न करें। हम सब नीरोग हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधियों की ओषधिराज से बातचीत

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳराजन् पारयामसि॥९६॥

१. 'सोम' ओषधियों का राजा माना जाता है। यहाँ काव्यमय भाषा में उन ओषधियों को चेतन मानकर ओषधियों की ओषधिराज—सोम से वार्तालाप का उल्लेख करते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **राज्ञा सोमेन सह**=अपने राजा सोम के साथ **समवदन्त**=बातचीत करती हैं कि २. **यस्मै**=जिस भी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**=एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**=हमें करता है, अर्थात् हमारे पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि से जिस भी रोगी की चिकित्सा करता है, हे **राजन्**=सोम! **तं पारयामसि**=उस रोगी को हम रोग से पार कर देती हैं। उसके रोग को समाप्त करके उसे हम फिर से जिला देती हैं। ३. यहाँ मन्त्र में 'ब्राह्मणः' शब्द का बड़ा महत्त्व है। वैद्य के लिए विद्वान्—अपनी विद्या में निष्णात होना आवश्यक है। 'नीम हकीम तो खतराये जान ही है'। साथ ही उसे आस्तिक वृत्ति का भी होना चाहिए। अन्यथा वह रोगी के स्वास्थ्य की अपेक्षा अपनी जेब के स्वास्थ्य का अधिक ध्यान करेगा।

भावार्थ—वैद्य का विद्वान् व आस्तिक होना आवश्यक है। ऐसा ही वैद्य औषध-प्रयोग से रोगी को नीरोग कर पाएगा।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषग्वराः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विविध रोगों का नाश

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥९७॥

१. पिछले मन्त्र का ब्राह्मण=ज्ञानी, आस्तिक वैद्य उस-उस ओषधि को हाथ में लेता है और कहता है कि तू **बलासस्य**=(बलम् अस्यति) बल को क्षीण करनेवाले क्षयरोग की **नाशयित्री असि**=नाश करनेवाली है। २. **अर्शसः**=मूलेन्द्रिय—गुदा की व्याधि बवासीर की तू नाशिका है। ३. **उपचिताम्**=(शरीरे ये उपचीयन्ते) शरीर को कुछ सोजवाला कर देनेवाले 'श्वयथु-गड्डु-श्लीपद' आदि रोगों की तू नाशिका है। ४. **अथो**=और **यक्ष्माणां शतस्य**=सैकड़ों ही रोगों की तू नाश करनेवाली है। **पाकारोः**=मुखपाक-क्षतादि की अथवा (अस=व्यथा) अन्नपाक की जो पीड़ा, अर्थात् मन्दाग्नित्व है, उसकी तू **नाशनी असि**=नाश

करनेवाली है।

भावार्थ—उस-उस रोग के नाश करनेवाली औषध को जानकर हम उस-उस रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि खननकर्त्ता

त्वां गन्धर्वाऽअखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत॥९८॥

१. हे ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **गन्धर्वाः**=गन्धर्वों ने **अखनन्**=खोदा है, इष्ट-कार्य की सिद्धि के लिए भूमि से प्राप्त किया है। २. **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रः**=इन्द्र ने खोदा है। **त्वाम्**=तुझे **बृहस्पतिः**=बृहस्पति ने खोदा है। ४. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **विद्वान्**=अच्छी प्रकार जानता हुआ—तेरे सामर्थ्य को समझकर उपयोग करता हुआ **सोमः राजा**=सोम राजा **यक्ष्मात्**=रोग से **अमुच्यत**=छूट गया है। ५. यहाँ मन्त्र में ओषधि को खोदनेवाले या उसका समझकर प्रयोग करनेवाले चार व्यक्ति हैं—'गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति, सोमराजा'। 'गन्धर्व' भूमिविज्ञानवित् विद्वान् हैं (गां भूमिं भूमिविज्ञानं धारयन्ति)। 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली राजा है (इदि परमैश्वर्ये)। 'बृहस्पति'=ब्रह्मणस्पति=चारों वेदों का विद्वान् पुरुष है और 'सोमराजा'=सौम्य स्वभाववाला व्यवस्थित जीवनवाला पुरुष है। पहले तीन ने खोदा है, चौथा उपयोग करके रोग से मुक्त हुआ है। सम्भवतः पहले तीन शब्द वैद्य की व औषधालय के प्रबन्धकों की विशेषताओं का संकेत करते हैं। इन्हें भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी होना चाहिए। रोगी जितना शान्ति धारण करेगा, क्रोधादि को छोड़कर सौम्य और नियमित जीवनवाला बनेगा, उतनी ही जल्दी रोग से मुक्त हो पाएगा। अथवा ये सब शब्द वैद्य के ही गुणों का प्रतिपादन करते हैं। (क) यह भूमिविज्ञानवित् (गन्धर्व) हो, जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), ज्ञानी हो (बृहस्पति), सौम्य आकृति व स्वभाववाला हो (सोम) व्यवस्थित जीवनवाला हो (राजा)। ऐसा ही वैद्य रोगी को ठीक कर सकता है।

भावार्थ—वैद्य 'भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी हो, शान्त व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—ओषधिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सहमाना

सहस्व मेऽअरातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳसहमानास्योषधे॥९९॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली (उष दाहे) ओषधे! **मे**=मेरे **अरातीः**=शत्रुभूत रोगों को **सहस्व**=तू पराभूत कर। इन्हें मेरे शरीर पर आधिपत्य न जमाने दे। २. **पृतनायतः**=सेना की भाँति आचरण करनेवाले, अर्थात् जैसे सेना अपने शत्रुओं पर आक्रमण करती है उसी प्रकार मुझपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **सहस्व**=मसल डाल (षह मर्षणे)। २. इस प्रकार मेरे शरीर से सब रोगों को दूर करके मन में रहनेवाले **सर्वं पाप्मानम्**=सारे पापों को अथवा सब अशुभवृत्तियों को **सहस्व**=कुचल डाल। इन ओषधियों से शरीर की व्याधियाँ तो दूर हों ही, ये आन्तरिक—मन में रहनेवाली आधियों को भी समाप्त कर दें। ३. हे ओषधे! तू **सहमाना असि**=है ही रोगों का पराभव करनेवाली।

भावार्थ—ओषधियाँ शत्रुरूप रोगों को नष्ट करती हैं, उनपर आक्रमण करनेवाली होती हैं।

सूचना—सम्भवतः 'अराति' शब्द बहुत न फैलनेवाले रोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है और पृतनायतः=फैलनेवाले (epidemics) रोगों के लिए आया है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वैद्य, रोगी, औषध

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्॥१००॥

१. हे **ओषधे**=रोगनाशकद्रव्य! **ते खनिता**=तेरा खोदनेवाला—भूम्यादि के गुणविज्ञान से युक्त वैद्य जो तुझे भूमि से प्राप्त करता है वह **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाला हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करने की प्रक्रिया में उसे किसी प्रकार की हानि न हो जाए। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **खनामि**=खोदता हूँ, वह रोगी भी तेरे द्वारा—तेरा प्रयोग कराये जाने पर नीरोग होकर दीर्घ जीवनवाला हो। ३. **अथो** और निश्चय से **त्वम्**=तू भी **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाली **भूत्वा**=होकर **शतवल्शा**=असंख्य अंकुरोंवाली होकर **विरोहतात्**= प्रादुर्भूत हो—फैल, अर्थात् **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** के अनुसार कोई भी खोदनेवाला तेरे मूल को नष्ट न कर दे। बचे हुए मूलवाली तू शतशः अंकुरोंवाली होकर फैलती रहे। तेरा अभाव न हो जाए।

भावार्थ—वैद्य, रोगी व औषध तीनों दीर्घ जीवनवाले हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपस्ति

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासति॥१०१॥

१. हे **ओषधे**=रोगदाहक औषध! **त्वम्**=तू=**उत्तमा असि**=उस-उस रोग को नष्ट करने में सर्वोत्तम है। २. **वृक्षाः**=शाल-ताल-तमाल-वट आदि वृक्ष **तव**=तेरे **उपस्तयः**=समीप संहत होकर विद्यमान हैं। 'उपस्त्यायन्ति' वे वृक्ष तुम्हारे उपकार के लिए और उपद्रव के निराकरण के लिए समीप ही संहत होकर ठहरे हैं। ३. (क) इसी प्रकार **यः**=जो **अस्मान्**= हमें **अभिदासति**=(दासतिः दानकर्मा—नि० ३।२०) उत्तमोत्तम पदार्थ देता है **सः**=वह पुरुष **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः**=उपासन करनेवाला **अस्तु**=हो। जिस प्रकार ओषधि के समीप स्थित वृक्ष उसके लिए हितकर होते हैं, उसी प्रकार हमारे समीप स्थित व्यक्ति हमारे लिए हितकर हों। (ख) 'दासति' धातु हिंसा अर्थ में भी आती है तब अर्थ इस प्रकार होगा कि **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारी हिंसा करता है **सः**=वह हमारा विरोध छोड़कर **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः अस्तु**=उपासक बन जाए। जो रोग हमें समाप्त कर रहा था, वह हमारे लिए कल्याणकर हो जाए।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग-निवारण करनेवाली हैं, परन्तु हमें विरोधी से कभी औषध नहीं लेनी चाहिए, हितचिन्तक से ही औषध का ग्रहण करें।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में ऐसा संकेत स्पष्ट है कि विरोधी व्यक्ति से ली गई औषध गुणकारी न होकर हमारी समाप्ति ही कर देगी। हम सदा औषध उसी वैद्य से लें जो हमारा उपासक व हितू हो।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—कः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हविषा विधेम

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०२॥

१. पिछले मन्त्रों में भूमि से उत्पन्न होनेवाली तथा वृष्टि के कारणभूत सूर्यादि से परिपक्व की गई ओषधियों का सविस्तर वर्णन हुआ है, परन्तु भूमि-सूर्य आदि इन सबका उत्पादक भी तो वह प्रभु है, अतः प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि उस ज्ञान-धन प्रभु की उपासना करता है। वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं। यह उपासक भी 'हिरण्यगर्भ' कहलाने लगता है। यह प्रार्थना करता है कि—२. **यः पृथिव्याः जनिता**=जो पृथिवी का उत्पादक प्रभु है, वह **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=नष्ट न होने दे। वह इस पृथिवी में ऐसी गुणकारी ओषधियों को जन्म देता है, जिससे मेरे सब रोग दूर हो जाते हैं। ३. वह **सत्यधर्मा**=सत्य से इन लोक व लोकान्तरों का धारण करनेवाला—अपनी अटल व्यवस्था से सब लोकों को हिंसित होने से रक्षित करनेवाला प्रभु **यः**=जो **वा**=निश्चय से **दिवम्**=द्युलोक को **व्यानट्**=व्याप्त कर रहा है अथवा (असृजत्) उत्पन्न करता है, मुझे हिंसित न होने दे। ४. (क) **च**=और वह प्रभु मुझे हिंसित न होने दे **यः**=जिसने **आपः**=जलों को तथा **चन्द्राः**=ओषधियों में उत्तम रसों का सञ्चार करनेवाले चन्द्रलोकों को **प्रथमः**=सबसे प्रथम होते हुए (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **जजान**=पैदा किया है। (ख) **यश्चापश्चन्द्राः**=का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में 'मनुष्य' किया गया है 'मनुष्य एव हि यज्ञेनासुवन्ति चन्द्रलोकम्' मनुष्य ही तो यज्ञों से चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं, अतः जिसने मनुष्यों को जन्म दिया है, वह प्रभु उन्हें हिंसित करनेवाला न हो। वह प्रभु 'भूमि, द्युलोक, जल, चन्द्र' आदि उन सब लोकों का निर्माण करता है जो उत्तम ओषधियों के उत्पादन में भाग लेते हैं। ५. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब औषधों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम** =हम पूजा करें। प्रभु तो उत्तमोत्तम ओषधियों से हमें नीरोग करने में लगे हैं। यदि हम दानवृत्ति को छोड़कर 'स्वोदरम्भरि' ही बन जाएँगे तो पेटू बनकर नीरोग कैसे हो सकेंगे! अतः प्रभु की पूजा इसी प्रकार होगी कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनकर रोगनिवारण में सहायक बनें।

भावार्थ—वे प्रभु पृथिवी, द्युलोक, जल व चन्द्रादि के निर्माता हैं। ये सब लोक हमारे कल्याण के लिए हैं। कल्याण तभी होगा जब हम दानपूर्वक खानेवाले बनें। ऐसा बनने में ही सच्ची प्रभु-पूजा है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ व पृथिवी की उत्पादन-शक्ति

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवी यज्ञेन पयसा सह। वपां तेऽअग्निरिषितोऽअरोहत्॥१०३॥

१. मन्त्र संख्या ७९ में यज्ञों से ओषधियों के उत्पादन का वर्णन हुआ है। पिछले मन्त्र में इसीलिए यज्ञिय वृत्तिका उपदेश हुआ है कि इसी से तुम प्रभु की सच्ची परिचर्या

करोगे। 'हविषा विधेम'=हवि के द्वारा ही उपासना होती है। यहाँ कहते हैं कि हे **पृथिवि**=भूमे! तू **यज्ञेन**=यज्ञ से **अभ्यावर्त्तस्व**=हमारे सम्मुख चारों ओर वर्त्तमान हो, अर्थात् हम तुझपर चारों ओर यज्ञों को होता हुआ देखें। २. और हे पृथिवि ! तू इन यज्ञों के द्वारा सदा **पयसा सह**=आप्यायन करनेवाले, उत्पादक शक्ति को बढ़ानेवाले मेघजलों के साथ वर्त्तमान हो। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्'=अग्निहोत्र से वर्षा तो होगी ही। वह 'पयो-दों' (जल-द) से प्राप्त जल भूमि का सचमुच आप्यायन=वर्धन करनेवाला होगा। ३. इस प्रकार **इषितः अग्निः**= यज्ञकुण्डों में प्रेरित हुआ-हुआ यह अग्नि हे भूमे! **ते**=तेरी **वपाम्**=(बीजजन्म व प्रादुर्भाव) वपनशक्ति=बीज बोना व उनको शतगुणित करके प्रकट करने की शक्ति को **अरोहत्**=ऊँचा चढ़ा दे, बढ़ा दे। ४. एवं, स्पष्ट है कि जब नियमपूर्वक यज्ञ होते हैं तब वृष्टिजल से पृथिवी का आप्यायन होता है और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ानेवाली होती है। जो भी राष्ट्र इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस पृथिवि के गर्भ से हित-रमणीय अन्नों को प्राप्त करता है, अतः उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' हो जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, बादल पृथिवी को सींचेंगे और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देगी।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञिय अन्न

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञिय॑म्। तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि॥१०४॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि अग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देता है। यज्ञाग्नि जिस अन्न के उत्पादन का कारण बनती है, 'वह अन्न कैसा होता है' इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है। कहते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **यत्**=जो **ते**=तेरी सहायता से उत्पन्न हुआ (क) **शुक्रम्**=शक्ति व वीर्य का जनक (ख) **यत् च**=और साथ ही जो **चन्द्रम्**=आह्लादजनक (चदि आह्लादे) सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला, (ग) **यत्**=जो **पूतम्**=हृदय को पवित्र करनेवाला, (घ) **यत् च**=और जो **यज्ञियम्**=प्रभु से सङ्गतीकरण का साधनभूत अन्न है **तत्**=उस अन्न को **देवेभ्यः**=अपने अन्दर दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए **भरामसि**=धारण करते हैं। उस अन्न से हम अपना भरण-पोषण करते हैं, जिससे हम दिव्य गुणों को धारण कर सकें। २. एवं, मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञों द्वारा वृष्टिजलों से उत्पन्न हुए-हुए अन्न (क) हमारे वीर्य के वर्धक होंगे (शुक्रं=वीर्यम्), (ख) वे हमारी क्रियाशीलता को बढ़ानेवाले होंगे (शुक् गतौ), (ग) ये अन्न हमारी मनोवृत्ति को सदा आह्लादमय बनाएँगे (चदि आह्लादे), हम ईर्ष्या-द्वेषादि की बुरी वृत्तियों से ऊपर उठेंगे, (घ) ये हमारे जीवनों को पवित्र बनाएँगे (पू=पवने=purify), हमारे शरीर व मन व्याधि व आधियों से रहित होंगे और (ङ) अन्ततः ये अन्न हमें परस्पर मिलकर चलना सिखाएँगे (यज्=सङ्गतीकरण) और उस प्रभु से भी हमारा मेल करानेवाले होंगे। (च) इन अन्नों के सेवन से हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी, दैवी सम्पत्ति के हम स्वामी होंगे। (छ) इस प्रकार ये अन्न हमारा उत्तम भरण-पोषण करेंगे, अतः ये ही अन्न सेवनीय हैं, हमारे लिए हित-रमणीय=**हिरण्य** हैं। ये ही हमारे उदर=**गर्भ** में जाने योग्य हैं। ऐसा करके ही हम हिरण्यगर्भ होंगे।

भावार्थ—यज्ञिय अन्नों का सेवन हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ के लाभ 'अन्नाभाव तथा रोग का विनाश'

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥१०५॥

१. पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार मैं यज्ञादि करता हुआ, उनसे उत्पन्न अन्नों का ही सेवन करता हूँ। यहाँ कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इतः**=इस नित्यप्रति सर्वत्र किये जानेवाले यज्ञ से **इषम्**=अन्न को व **ऊर्जम्**=रस को **आदम्**=ग्रहण करता हूँ। इस यज्ञिय चारे का भक्षण करनेवाली गौओं से प्राप्त गोरस (दूध) भी यज्ञिय होता है, उसी दूध का मैं स्वीकार करता हूँ। २. क्योंकि यह अन्न व रस **ऋतस्य योनिम्**=ऋत का कारण है, ऋत का जन्मस्थान है। इस अन्न-रस के सेवन से मुझमें 'ऋत' की भावना उत्पन्न होती है, मेरे सब कार्य बड़े ठीक—ऋत=[right] को लिये हुए होते हैं। मैं सब कार्यों को यथास्थान, यथासमय करनेवाला बनता हूँ। ३. यह अन्न **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य प्रभु का **धाराम्**=धारण करानेवाला है। इस अन्न के सेवन से बुद्धि सात्त्विक होकर मनुष्य के हृदय में प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होती है। अथवा 'धारा' शब्द 'वाङ्' नामक है। यह अन्न हमें उस महनीय प्रभु की वेदवाणी को समझने के योग्य बनाता है। ४. यह अन्न **मा**=मुझे **गोषु**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त, अर्थात् इन्द्रियशक्तियों के विकास के लिए **आविशतु**=प्राप्त हो, मेरे शरीर में अन्न का प्रवेश इन्द्रियों के बल को बढ़ाने के लिए हो। ५. यह अन्न **तनूषु**=पञ्चकोशों के स्वास्थ्य के लिए **आविशतु**=मुझमें प्रवेश करे। ६. मैं **अनिरां सेदिम्**=(इरा=अन्न) अन्नाभाव के कारण उत्पन्न अवसाद—विनाश को **जहामि**=छोड़ता हूँ। यज्ञों से देश में अन्नाभाव की स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होती। **'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः'**=यज्ञ से बादल, और बादल से अन्न की उत्पत्ति होती है। ७. मैं इन यज्ञों से **अमीवाम्**=रोगों को **जहामि**=छोड़ता हूँ **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=ज्ञान के द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोगों व राजरोगों से मुक्त करता हूँ। एवं, यज्ञ से अन्नाभाव व रोग दोनों ही दूर होते हैं और परिवार के भोजन की चिन्ता से उत्पन्न परेशानियों के कारण हमारे घरों में अन्धकार नहीं होता। 'हिरण्यं ज्योतिः गर्भे यस्य'=जिन घरों में प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे हिरण्यगर्भ हम बनते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञ से वह अन्न-रस प्राप्त होता है जो १. हमारे जीवन को व्यवस्थित=ऋतवाला करता है, २. यह हमें पूज्य प्रभु के प्रति झुकाववाला करता है तथा उसकी वाणी को समझने के योग्य बनता है, ३. इससे हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का विकास होता है और ४. हमारे शरीर अविकृत होते हैं। ५. इन यज्ञों से हमारे घरों में अन्नाभाव दूर होता है और रोग विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नातिमानिता Absence of Pride

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥१०६॥

१. 'मनुष्य अपने जीवन को उन्नत करके गर्वित न हो जाए', अतः वह प्रभु का

स्मरण करते हुए कहता है कि **अग्ने**=मेरी सब उन्नति के साधक प्रभो! **तव श्रवः**=मेरे जीवन में जो कुछ भी थोड़ी-बहुत अच्छाई आ पाई है वह तेरी श्री-कीर्ति है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि (तव) **वयः**=मेरा यह जीवन आपका ही है—आपकी कृपा से ही मैं जी रहा हूँ। यह जीवन प्राप्त भी आपकी कृपा से ही हुआ है। २. हे **विभावसो**=ज्ञान-धन प्रभो! **अर्चयः**=आपकी ज्ञानदीप्तियाँ **महि भ्राजन्ते**=खूब ही चमकती हैं। मेरे हृदय में भी आपके ही ज्ञान का प्रकाश होता है। मैं अपनी मूर्खता से हृदय पर राग-द्वेष का ऐसा आवरण डाल बैठता हूँ जो मेरे हृदय को मलिन कर देता है और मुझे उस ज्ञान के प्रकाश को देखने के अयोग्य कर देता है। ३. हे **बृहद्भानो**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत ज्ञानमय प्रभो ! आपके उस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो मेरी सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है। आप **शवसा**=(शवतिर्गतिकर्मा) गति के हेतु से—मेरे जीवन को क्रियाशील बनाने के हेतु से **उक्थ्यं वाजम्**=स्तुत्य बल को **दधासि**=धारण करते हैं। आपकी कृपा से मुझे शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मैं सदा लोकहित में प्रवृत्त होता हूँ और इस प्रकार मेरी शक्ति मेरे यश का कारण बनती है। **उक्थ्यं वाजम्**=(यशो बलम्) आप मुझे यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। ४. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को जानते हैं—मेरी स्थिति को भी मुझसे अधिक अच्छी प्रकार आप समझते हैं और मुझ **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए—आप यशस्वी बल देते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं संसार में शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो पाता हूँ। इन सब कार्यों के अन्दर रहनेवाला यश आपका ही है। आपकी कृपा से मैं वस्तुतत्त्व को समझूँगा और किसी भी कार्य का गर्व न करूँगा।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं—वही यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु की ही महिमा है—हमारा जीवन भी उस प्रभु की ही कृपा से है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें और इस प्रकार उन्नत होकर अभिमान से फिर अवनत न हो जाएँ।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसीऽउभे॥१०७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कोई मनुष्य खूब उन्नति करता है। 'अग्नि' बनता है, आगे बढ़ता है और साथ ही उस उन्नति का गर्व न करके अपने को पवित्र बनाये रखता है, अतः इसका नाम 'पावकाग्नि' हो जाता है। प्रभु इस पावकाग्नि से कहते हैं कि २. तू **पावकवर्चाः**=पवित्र करनेवाले वर्चस्वाला है। तेरा 'वर्चस्' तुझे पवित्र बनाता है। वस्तुतः शक्ति के अभाव में ही अपवित्रता आती है। शक्ति के साथ पवित्रता का निवास है। वीरत्व के साथ वर्चस् (virtue) रहता है। **शुक्रवर्चाः**=तेरा वर्चस्—तेरी शक्ति तुझे गतिशील बनाती है (शुक् गतौ) शक्ति के अभाव में क्रिया सम्भव ही नहीं रहती, शक्ति ही क्रिया में परिवर्तित होती है। ४. **अनून-वर्चा**=(न ऊन वर्चस्) इस शक्ति के कारण तुझमें किसी प्रकार की न्यूतना नहीं रह जाती। क्या शारीरिक, क्या मानस व क्या बौद्ध सभी न्यूनताएँ इस वर्चस् से दूर हो जाती हैं। ५. तू **भानुना**=इस वर्चस् के कारण प्राप्त ज्ञान की दीप्ति से **उत् इयर्षि**=ऊपर-ही-ऊपर उठता है। यह ज्ञान तेरी सब उन्नतियों का कारण बनता है।

ज्ञान ही तो वस्तुतः तुझे पवित्र जीवनवाला बनाता है। ६. **पुत्रः**=पवित्रतावाला (पुनाति) और वासनाओं से अपना त्राण करनेवाला (त्रायते) होकर तू **मातरा**=माता व पिता की **विचरन्**=विशेषरूप से सेवा करता हुआ, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने देता हुआ **उपावसि**=हमारे समीप (प्रभु के समीप) आता है (अव=मव=Move=गतौ)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति माता-पिता को कष्ट पहुँचाकर प्रभु-भक्त नहीं बन पाता। क्या उपहास की बात है कि एक व्यक्ति समर्थ होकर पितृयज्ञ की तो पूर्ण उपेक्षा कर रहा है और प्रभु के नाम पर मन्दिर बनवा रहा है अथवा कितने ही घण्टे प्रभु-कीर्तन में बिता रहा है। माता-पिता की सेवा न करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं हो सकता। ७. हे पावकाग्ने! तू अपने जीवन में **उभे रोदसी**=इन दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क को **पृणक्षि**=समृद्ध करता है। तू शरीर को स्वस्थ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करता है।

भावार्थ—पावकाग्नि के जीवन में माता-पिता की सेवा का प्रमुख स्थान है। इसी के द्वारा वह प्रभु की सच्ची उपासना करता है, स्वस्थ शरीरवाला बनता है और उज्ज्वल मस्तिष्कवाला।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि का प्रभु-स्तवन

ऊर्जो॑ नपाज्जातवेदः सुश॒स्तिभि॒र्मन्द॑स्व धी॒तिभि॑र्हि॒तः।

त्वेऽइ॒षः सन्द॑धु॒र्भूरि॑वर्पसश्चि॒त्रोत॑यो वा॒मजा॑ताः ॥१०८॥

१. पावकाग्नि प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **ऊर्जः नपात्**=हे प्रभो! आप मेरे बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरी शक्ति स्थिर रहती है। आपका विस्मरण मुझे विषय-प्रवण व क्षीणशक्ति कर देता है। २. **जातवेदः**=हे प्रभो! सम्पूर्ण ज्ञान आपसे ही उत्पन्न होता है। मुझमें भी जो ज्ञान का लवलेश है, वह आपकी ही कृपा से है। ३. **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा—उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा 'चित्तवृत्तिनिरोध' के द्वारा **हितः**=हृदय में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=(मन्दयस्व) हमारे जीवनों को उल्लासमय कीजिए। आपकी कृपा ही मेरे सब कष्टों को दूर करके मेरे जीवन में हर्ष को अंकुरित करनेवाली होगी। ४. हे प्रभो! जो भी व्यक्ति **त्वे**=आपमें **इषः**=अपनी इच्छाओं को **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति ही जिनकी प्रबल कामना हो जाती है, वे (क) **भूरिवर्पसः**=(वर्पन्=form) बहुत आकृतियोंवाले होते हैं, अर्थात् वे अपने में बहुतों का समावेश करनेवाले— औरों से अपृथक् (अयुतोऽहम्) होते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के उपदेश के अनुसार 'बह्वीः' बहुत बनते हैं, एक नहीं रह जाते। स्वार्थ से ऊपर उठ परार्थ में स्थित होते हैं, इसीलिए (वर्पन् praise) बड़े यशवाले होते हैं—इनका जीवन उत्तम कर्मोंवाला होकर परार्थ व यज्ञ का साधक होकर यशस्वी बनता है। (ख) **चित्रोतयः**=ये अद्भुत रक्षणवाले होते हैं—वासनाओं से आश्चर्यजनकरूप में अपनी रक्षा करते हैं। अथवा चित्र (चिती संज्ञाने) ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले बनते हैं तथा (ग) **वामजातः**=(वामेषु प्रशस्तकर्मसु ज्ञाताः प्रसिद्धाः) उत्तम कर्मों में प्रसिद्ध होते हैं। इनके जीवन से सदा उत्तम ही कर्म होते हैं। इनके जीवन में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तुति व ध्यान से अपने हृदयों में प्रभु की प्रतिष्ठा करें, तब १. हम अक्षीणशक्ति बनेंगे। २. हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. हम एक-से बहुत हो जाएँगे अथवा प्रशंसात्मक कर्मों को ही करेंगे। ४. ज्ञान के द्वारा अपने को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर पाएँगे तथा ५. हमारे जीवनों में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होंगी।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सानसि क्रतु

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायोऽअमर्त्य।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ विरा॑जसि पृणक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥१०९॥

१. प्रभु 'पावकाग्नि' से कहते हैं कि (क) **इरज्यन्** (इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा—नि० २।२१) ऐश्वर्यवाला होता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि का ईश्वर बनता हुआ, इनकी दासता से ऊपर उठता हुआ, अतएव (ख) **अमर्त्य**=विषयों के पीछे न मरनेवाले और (ग) **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अस्मे रायः**=हमारे इन धनों को **जन्तुभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **प्रथयस्व**=विस्तृत करनेवाला हो। गौ इत्यादि के पालन से मनुष्य अपने ऐश्वर्य की वृद्धि कर पाता है। गोशालास्थापन='डेरीफार्म' स्वयं एक उत्तम व्यापार है। इन प्राप्त धनों को तू **जन्तुभिः**=प्राणियों के हेतु से **प्रथयस्व**=विस्तृत कर, अर्थात् प्राणियों के हित के लिए तू इनका विनियोग कर। यह अर्जित धन विषय-भोग जुटाने का साधन न हो जाए। २. यदि तू ऐसा कर पाता है तो **सः**=वह तू **दर्शतस्य वपुषः विराजसि**=दर्शनीय शरीर का राजा बनता है—तू बड़े उत्तम शरीरवाला होता है और ३. उस शरीर में तू **सानसिम्**=(षण सम्भक्तौ) सम्भजन-उपासन से युक्त **क्रतुम्**=प्रज्ञान व कर्म को **पृणक्षि**=(पूरयसि) पूरित करता है, अर्थात् अपने सुन्दर शरीर से तू उपासना करनेवाला होता है—तेरी यह उपासना प्रज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से होती है। वस्तुतः सौन्दर्य इसी बात पर तो निर्भर है कि वहाँ 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' तीनों का समन्वय हो पाया है।

भावार्थ—हम अपने ईश्वर हों। प्राणिहित के उद्देश्य से धनों का विनियोग करें। हमारे शरीर सुन्दर हों। उनमें 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' का समुच्चय हो।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का धारणीय

इ॒ष्क॒र्त्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳराध॑सो म॒हः।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳर॒यिम् ॥११०॥

१. पावकाग्नि प्रभु से प्रार्थना करता है कि—आप **दधासि**=धारण व पोषण करते हो। किसका? (क) **अध्वरस्य इष्कर्त्तारम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों के सम्पादक का। जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है वह प्रभु का धारणीय बनता है। (ख) **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले का। प्रभु उसे धारण करते हैं जो ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान ही तो उसे प्रभु के समीप पहुँचाता है। ज्ञानाभाव व अज्ञान मनुष्य को प्रभु से दूर करता है। अज्ञानियों से वह दूर है, ज्ञानियों के समीप। (ग) प्रभु उसे धारण करते हैं जो **राधसः क्षयन्तम्**=सफलता के, सिद्धि के साधनभूत धन का निवास-स्थान है (क्षि=निवास)। (घ) **महः**=(महस् power, light) जो शक्ति व प्रकाश का पुञ्ज है। (ङ) **वामस्य**

रातिम्=उत्तम प्रशस्य धन देनेवाले का। जो व्यक्ति सेवनीय सुन्दर धनों का दान करता है। २. उल्लिखत गुणों से युक्त पुरुष का हे प्रभो! आप धारण करते हो। ऐसे पुरुष के लिए आप **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक **महीम्**=महनीय या पूजा की वृत्ति के जनक—**इषम्**=अन्न को **दधासि**=धारण करते हैं तथा **सानसिं रयिम्**=उस धन को धारण करते हैं जो सम्भजनीय है अथवा संविभागों के योग्य है, अर्थात् इस पुरुष को आप वह धन देते हैं जिसे यह सबके साथ बाँटकर खाता है।

भावार्थ—प्रभु 'यज्ञशील—ज्ञानी—सफलता के साधनाभूत धन के धारण करनेवाले, बल व प्रकाश के पुञ्ज और उत्तम वस्तुओं के दाता' का धारण करते हैं। इस पुरुष को प्रभु 'उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक तथा पूजा की वृत्ति के जनक' अन्न को देते हैं तथा वह धन देते हैं जिसका वह दान करता है, जिसे बाँटकर खाता है।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु-प्राप्ति का साधन

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳसुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णꣳसप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥१११॥

१. पावकाग्नि प्रभु का आराधन करते हुए कहता है कि **जनाः**=अपना विकास करनेवाले लोग **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **पुरः**=अपने सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं, अर्थात् वे सदा आपका स्मरण करते हैं। आपके स्मरणपूर्वक ही सब काम करने के कारण उनके कार्य अपवित्र नहीं होते और उनका जीवन सुखी होता है। २. उन आपको वे धारण करते हैं, जो आप (क) **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं। प्रभु से होनेवाले सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर हो रहे हैं। वस्तुतः प्रभु के तीव्र तप से ही तो 'ऋत और सत्य' की उत्पत्ति हुई है। (ख) **महिषम्**=वे प्रभु महनीय, पूजनीय हैं, महान् हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सबके दर्शनीय हैं अथवा सब विज्ञानों के द्रष्टा हैं। (घ) **अग्निम्**=वे अग्रेणी हैं—सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। (ङ) **श्रुत्कर्णम्**=(शृणोत्याह्वानम्) प्रार्थना को सुननेवाले हैं। (च) **सप्रथस्तमम्**=अतिशयेन विस्तारवाले हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वे न हों। (छ) **दैव्यम्**=(देव एव दैव्यः—स्वार्थे यः) वे प्रभु देव हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग्म अर्थात् दम्पती—पति-पत्नी **गिरा**=इस वेदवाणी के द्वारा, ज्ञान की वाणियों के द्वारा धारण करते हैं। घर में पति-पत्नी प्रभु के दिये हुए ज्ञान—वेद के स्वाध्याय द्वारा प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु को आँख से ओझल न होने देनेवाले लोग पवित्र व सुखी जीवनवाले होते हैं। वेद के अध्ययन द्वारा पति-पत्नी प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वाजस्य सङ्गथे

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य सङ्गथे॥११२॥

गत मन्त्र के अनुसार अपने आराधक से प्रभु कहते हैं—१. **आप्यायस्व**=तू समन्तात् वर्धनवाला हो। उन्नति तेरा स्वभाव हो। तेरा शरीर बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो, तेरा हृदय भी विशाल हो, तेरा ज्ञान भी ख़ूब बढ़ा हुआ हो। २. हे **सोम**=सौम्य व विनीत! **ते**=तुझे

विश्वतः=सब ओर से, सब सेवनीय पदार्थों से—**वृष्ण्यम्**=(वीर्य) शक्ति **समेतु**=प्राप्त हो। इसी शक्ति से ही तो तेरा आप्यायन व वर्धन होता है। ३. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **वाजस्य**=त्याग व ज्ञान के **सङ्गथे**=मेल में **भव**=हो। 'शक्ति' एक ओर तेरा आप्यायन करनेवाली हो और दूसरी ओर यह तुझे त्याग व ज्ञान से युक्त करे। ४. वस्तुतः प्रभु-भक्त वही होता है जो (क) बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। (ख) सौम्य होता हुआ वीर्यवान् हो। (ग) त्याग व ज्ञान से युक्त हो। ऐसे पुरुष की सब इन्द्रियाँ बड़ी उत्तम होती हैं, इसी से वह 'गौतम' कहलाता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति मनुष्य का वर्धन करनेवाली होती है। उसे सौम्य व सशक्त करती है। यह ज्ञानी बनकर त्यागशील होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गोदुग्ध-सेवन

सं ते पयांꣳसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवांꣳस्युत्तमानि धिष्व॥११३॥

१. हे मेरे आराधक! **ते**=तुझे **पयांसि**=दूध **सम् यन्तु**=उत्तमता से प्राप्त हों, अर्थात् तू गौ इत्यादि पशुओं के पालन के द्वारा उत्तम दूध प्राप्त करनेवाला बन। २. **उ**=और इस दुग्ध-सेवन से **वाजाः**=तुझे शक्तियाँ **संयन्तु**=प्राप्त हों। ३. **वृष्ण्यानि**=वीर्य **सम्**=तुझे प्राप्त हों। ४. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **अभिमातिषाहः**=अभिमान का धर्षण करनेवाला—समाप्त करनेवाला हो। ५. अभिमान को कुचलने के कारण **आप्यायमानः**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ हे **सोम**=विनीत! तू **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कर।

भावार्थ—१. दुग्ध-सेवन हममें वाजों, बलों तथा वीर्य को धारण करता है। २. गोदुग्ध से शक्ति प्राप्त करके हम निरभिमान बने रहते हैं। ३. हमारी सर्वतोमुखी उन्नति होती है। ४. हम अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ५. हमारे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और हम उत्तम ज्ञानों को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आसुर्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

आनन्दमय

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे॥११४॥

गोतम प्रभु से आराधना करता है कि—(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय प्रभो! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! अथवा शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा संवर्धन कीजिए। आपके द्वारा मैं इस संसार में सदा बढ़नेवाला बनूँ। प्रभु शान्त हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शान्ति व शक्ति के कारण ही आनन्दमय हैं। हम भी प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हुए शान्त बनें, सशक्त बनें और अपने जीवन को आनन्दमय बनाएँ। २. हे प्रभो! **सप्रथस्तमः**=आप अत्यन्त विस्तार-(प्रथ)-वाले हैं, सर्वव्यापक हैं। कोई भी स्थान आपसे खाली नहीं है। आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। हम आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान के द्वारा उन्नति

करनेवाले बनें। ३. **सखा**=हे प्रभो ! आप ही हमारे सच्चे मित्र हैं। आपको प्राप्त करके क्या मैं अपने जीवन को आनन्दमय न बना पाऊँगा? क्या मेरा जीवन भी शान्त व शक्ति-सम्पन्न न होगा? अथवा उपासक होकर क्या मैं संकुचित हृदय रह जाऊँगा? नहीं, कभी नहीं, मेरा हृदय अत्यन्त विशाल होगा। मैं भी आपकी भाँति सभी का 'सखा' बनूँगा। मेरे मन में सभी के लिए प्रेम होगा। वस्तुतः उसी दिन मेरा यह 'गोतम' नाम सार्थक होगा। उस दिन मैं अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बन जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं, शान्त व शक्ति-सम्पन्न हैं, अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सभी के मित्र हैं। मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ऐसा ही बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान की वृद्धि

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त्।
अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥११५॥

१. पिछले मन्त्र की बातों को अपने जीवन में लाने के लिए 'गोतम' अपनी शक्ति (वीर्य) की रक्षा करता है। शक्ति की रक्षा के कारण ही वह 'अवत् सार' कहलाता है—'सारभूत सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला (अव रक्षणे)'। २. यह अवत्सार प्रभु से कहता है कि मैं **ते वत्सः**=तेरा प्रिय बनता हूँ। अथवा अपने जीवन से तेरा प्रतिपादन करता हूँ (वदतीति वत्सः), मेरा जीवन ऋत व सत्यवाला होता है। मेरी भौतिक क्रियाओं में ऋत (regularity) तथा आत्मिक क्रियाओं में सत्य होता है। ३. यह तेरा भक्त अवत्सार **परमात्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **सधस्थात् चित्**=आपके साथ रहनेवाले मोक्षस्थान से भी **मनः आयमत्**=अपने मन को रोकता है, अर्थात् मोक्ष की कामना से भी ऊपर उठता है। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **गिरा**=ज्ञान की इन वेदवाणियों के हेतु से **त्वां कामया**=मैं तुझे चाहता हूँ। आपको प्राप्त करके मैं इन ज्ञान की वाणियों का प्राप्त करनेवाला बनूँगा। मेरा हृदय प्रकाशमय होगा। बस, मेरी तो यही कामना है कि आपकी कृपा से मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। यह ज्ञान की वृद्धि ही मेरी सब उन्नतियों का मूल बनेगी।

भावार्थ—मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। मेरा जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला हो। मैं मोक्ष की रट न लगाकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु को चाहूँ। मेरा ज्ञान बढ़ेगा। यह ज्ञान ही मुझे बढ़ानेवाला होगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सुक्षितयः

तुभ्य॒ं ताऽअ॑ङ्गिरस्तम॒ विश्वाः॑ सुक्षि॒तयः॒ पृथ॑क्। अग्ने॒ कामा॑य येमिरे ॥११६॥

१. पिछले मन्त्र का अवत्सार प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके विशिष्ट रूपवाला, ज्ञान-ज्योति से चमकते हुए चेहरेवाला—'विरूप' बन जाता है। यह विरूप प्रभु की आराधना करते हुए कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **ताः**=वे **विश्वाः**=सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले मनुष्य **पृथक्**=संसार की इच्छाओं से अलग होकर **अग्ने तुभ्यं कामाय**=हे अग्रेणी प्रभो! आपकी ही कामना के लिए **येमिरे**=अपने जीवन को नियमित करते हैं। 'यम-नियम' से ही योग-मार्ग का प्रारम्भ होता है। प्रभु के

साथ मेल 'यम-नियम' के बिना सम्भव नहीं। २. जिस समय हम चित्तवृत्ति को सब विषयों में जाने से रोक लेते हैं, उसी समय हम अपने स्वरूप को देख पाते हैं और उसी समय हम परमात्म-दर्शन के अधिकारी बनते हैं। इस संसार में हम (क) 'सुक्षिति'—उत्तम निवास व उत्तम गतिवाले बनें (ख) **पृथक्**=संसार के विषयों से अपने को अलग करने के लिए प्रयत्नशील हों। (ग) प्रतिदिन प्रभु-ध्यान व प्रभु-सम्पर्क द्वारा सब अङ्गों को रसमय बनाने का ध्यान रक्खें (अङ्गिरस्तम)। (घ) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो (तुभ्यं कामाय)।

भावार्थ—सज्जन लोग 'यम-नियमों' को अपनाकर प्रभु-प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रजापतिः

अ॒ग्निः प्रि॒येषु॒ धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य। स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति॥११७॥

१. गत मन्त्र का 'विरूप' आराधक प्रभु को सारे संसार के रक्षक के रूप में देखता है, अतः वह 'प्रजापति' हो जाता है। प्रजापति के रूप में यह प्रभु को देख रहा है। २. यह कहता है कि वह प्रभु ही **'अग्निः'**=अग्रेणी हैं, सारे संसार को आगे और आगे ले-चल रहे हैं। ३. **प्रियेषु धामसु**=प्रिय-प्रसन्न करनेवाले तेजों के लिए **कामः**=(काम्यते) वे चाहने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु का आराधन करके हमें वह तेजस्विता प्राप्त होती है जो प्रिय-ही-प्रिय होती है। रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होकर वह हमें संसार में यशस्वी बनानेवाली होती है। 'बाहुभ्यां यशोबलम्' यह प्रार्थना प्रभु के आराधन से ही पूर्ण होती है। ४. **भूतस्य भव्यस्य सम्राट्**=वे प्रभु भूत व भव्य के सम्राट् हैं, जो कुछ हो चुका है या होना है उसके शासक वे प्रभु ही हैं। ५. **एकः**=वे अद्वितीय हैं। वे अपने निर्माण, धारण, प्रलय व कर्मानुसार फल-व्यवस्थात्मक कार्यों में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ६. **विराजति**=वे विशिष्टरूप से देदीप्यमान हैं और विशिष्ट रूप में ही सारे ब्रह्माण्ड-यन्त्र को नियमित गति दे रहे हैं (direct, regulate) उपनिषद् के शब्दों में सब नदियाँ उन्हीं के अनुशासन में बह रही हैं। सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में चमक रहे हैं। वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड व सारी प्रजाओं के पति हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अग्नि हैं, प्रिय तेज को प्राप्त करनेवाले हैं, भूत-भव्य के सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं और प्रजापति हैं—सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में गति कर रहे हैं।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

प्रभु का ग्रहण

मयि॑ गृह्णाम्यग्रे॑ऽअ॒ग्निः रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य।
माम॑ दे॒वताः॑ सचन्ताम्॥१॥

बारहवें अध्याय की समाप्ति पर प्रभु का स्मरण करते हुए कहा गया था कि '**सम्राडेको विराजति**'=वह प्रभु ही सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं, सारे संसार का शासन करते हैं। उसी प्रभु का उपासन करता हुआ प्रभु-भक्त कहता है कि मैं **अग्रे**=सबसे पहले **मयि**=अपने अन्दर **अग्निं गृह्णामि**=सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ग्रहण करता हूँ। मेरी सर्वोपरि इच्छा यही होती है कि मैं प्रभु को अपने अन्दर धारण कर सकूँ। २. **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए मैं प्रभु को धारण करता हूँ। वे प्रभु ही लक्ष्मी-पति हैं—मा-धव हैं। प्रभु को धारण करने से मैं भी लक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ और वस्तुतः प्रभु अपने भक्तों के योगक्षेम का तो अवश्य ध्यान करते ही हैं। ३. **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम प्रजावाला होने के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु के धारण से सब अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और परिणामतः पवित्र हृदयोंवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं। ४. **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु का धारण मुझे वासनाशून्य बनाता है और इस वासनाशून्यता के परिणामरूप मैं उत्तम वीर्यवाला बनता हूँ। इस उत्तम वीर्यवाला होने से मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' बनता हूँ। सुरक्षित किया है सारभूत शक्ति को जिसने। ५. मैं इस वीर्य-रक्षा को इसलिए चाहता हूँ कि **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **देवताः**=सब दिव्य गुण **सचन्ताम्** =प्राप्त हों। प्रभु महादेव हैं। प्रभु के धारण से अन्य देवों का धारण तो हो ही जाता है।

भावार्थ—यदि हम अपने में प्रभु को धारण करेंगे तो १. हम धन का पोषण करनेवाले होंगे २. हमारी सन्तान उत्तम होगी ३. हम उत्तम वीर्य का पोषण करेंगे ४. दिव्य गुणों के धारणवाले होंगे।

ऋषिः—वत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

प्रभु की महिमा

अ॒पां पृ॒ष्ठम॑सि॒ योनि॑र॒ग्नेः स॑मु॒द्रम॒भितः॒ पिन्व॑मानम्।
वर्ध॑मानो म॒हाँ२॥ऽआ च॒ पुष्क॑रे दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थस्व॥२॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु को अपने में धारण करना चाहता है। गत मन्त्र में उसने स्पष्ट कहा है कि मेरी सर्वप्रथम इच्छा यही है कि मैं अपने अन्दर प्रभु को ग्रहण करूँ, अतः वह प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अपां पृष्ठम् असि**=आप जलों के आधार हो। 'वरुण' नाम से आप जलों के पतिरूप में कहे जाते हो। आपका नाम ही 'अप्पति' हो गया है। ये जल अपनी अद्भुत रचना से हमें आपकी महिमा का स्मरण कराते हैं। जल की अवयवभूत 'उद्रजन' ज्वलनशील है 'अम्लजन' ज्वलन की पोषक है। इन्हें

मिलानेवाली विद्युत् है। एवं, सब अग्नि-ही-अग्नि है, परन्तु इनसे उत्पन्न होनेवाला जल अग्नि को शान्त करनेवाला है, इस प्रकार उष्णता से शीतता की उत्पत्ति होती है। कितना आश्चर्य है! २. **अग्नेः योनिः**=हे प्रभो ! आप ही अग्नि के भी उत्पत्तिकारण हैं। अग्नि को भी आप ही जन्म देते हैं। द्युलोक में यह अग्नि सूर्यरूप से है, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप से और इस पृथिवी पर उसका नाम 'अग्नि' है। एवं, लोकत्रयी में व्याप्त होनेवाली अग्नि वस्तुतः 'जातवेद' है—प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। ३. **अभितः**=पृथिवी पर चारों ओर से **पिन्वमानम्**=नदी-जलों से सींचे जाते हुए अथवा बढ़ते हुए **समुद्रम्**=समुद्र को **वर्धमानः**= बढ़ानेवाले आप ही हो। वृष्टि के द्वारा नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इन नदियों से समुद्र का पूरण होता है। ४. **महान्** =हे प्रभो! आप सचमुच महान् हो। क्या जल, क्या अग्नि, क्या समुद्र—सभी आपकी महिमा का गायन करते हैं। ५. हे प्रभो! आप **पुष्करे**=कमलवत् निर्लेप मेरे हृदयाकाश में, अथवा आपकी भावना का पोषण करनेवाले इस हृदय में **दिवः मात्रया**=ज्ञान की मात्रा से, ज्ञान की मापनशक्ति से तथा **वरिम्णा**=विस्तार से, उदारता से **आप्रथस्व**=व्याप्त होओ, प्रसिद्ध होओ, विस्तृत होओ, अर्थात् मैं ज्ञान तथा हृदय की विशालता और पवित्रता से आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—जलों में, अग्नि में व समुद्रों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। मैं अपने ज्ञान को बढ़ाकर पवित्र व विशाल हृदय में प्रभु का दर्शन करूँ।

ऋषिः—वत्सारः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ब्रह्म-दर्शन

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः।
स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒माऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विवः॑॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जिस प्रभु की महिमा का गायन जल, अग्नि व समुद्र कर रहे हैं, वह **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सदा वृद्ध हैं, सदा से बढ़े हुए हैं, उनमें कोई वृद्धि नहीं होती रहती, क्योंकि वे तो पहले से ही पूर्ण हैं। २. **पुरस्तात् जज्ञानम्**=वे सृष्टि बनने से पहले ही जायमान हैं, अर्थात् वे कभी उत्पन्न नहीं हुए। यही भावना अगले मन्त्र में 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' शब्दों से कही जाएगी। ३. **प्रथमम्**=वे प्रभु सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। एवं, प्रभु पूर्ण हैं, अनादि व आजन्मा है और सर्वव्यापक हैं। ४. इस प्रभु को **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाला अथवा उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला **वेनः**=मेधावी पुरुष **सीमतः**= (मर्यादातः—उ०) सीमा में, मर्यादा में रहने के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदयाकाश में प्रकट करता है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन कर पाता है। ५. **सः**=यह मेधावी पुरुष **बुध्न्याः**=(बुध्न= अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाली भूमियों को, प्राणियों के निवास-स्थानों को भी **विवः**=अपने मस्तिष्क में प्रकाशित करता है, अर्थात् इन सब भूमियों के ज्ञान को प्राप्त करता है। इनके ज्ञान से ही तो वह इनमें प्रभु की महिमा व रचना-कुशलता को देख पाता है। ये मेधावी **विष्ठाः**=अन्तरिक्ष के विविध स्थानों—लोकों में स्थित **अस्य**=इस दृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **विवः**=अपने हृदय-देश में प्रकाशित करता है। 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' यह सारा जगत् तो उस प्रभु का उपव्याख्यान ही है।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण, अनादि व अजन्मा है। प्रभु का दर्शन परिष्कृत इच्छाओंवाले, ज्ञान से दीप्त मेधावी को होता है। वह मेधावी प्रभु के बनाये लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त

करता है और उन लोकों की अद्भुत रचना में परमेश्वर की महिमा को अनुभव करता है।

ऋषि:—हिरण्यगर्भ:। **देवता**—प्रजापति:। **छन्द:**—त्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

हिरण्यगर्भ

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽआसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥४॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु का स्तवन 'हिरण्यगर्भ' शब्द से करता है और स्वयं भी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला हो जाता है। यह हिरण्यगर्भ प्रभु द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख करता हुआ कहता है कि **हिरण्यगर्भ:**=सूर्यादि ज्योतिर्मय सब पदार्थ जिसके गर्भ में हैं, वह हिरण्यगर्भ=ज्ञान-धन प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि बनने से पहले से है। सृष्टि से पूर्व है, वह बनता नहीं, तभी तो सबको बनाता है। अनादि होता हुआ वह इन सूर्यादि सबका आदि है। स्वयं अयोनि होता हुआ 'जगद्योनि' हो रहा है—'जगद्योनिरयोनिरूपम्'। २. **भूतस्य**=प्रत्येक प्राणी का अथवा भूत-भव्य का **जात:**=(जनक:—द०) उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **एक:पति:**=सहाय-निरपेक्ष, अद्वितीय (मुख्य) स्वामी व रक्षक **आसीत्**=था और है। इस चराचर जगत् के रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। ३. वह प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=सूर्यादि से जगमगाते द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण करता है। सम्पूर्ण सृष्टि का धारण तो वह कर ही रहा है, साथ ही जैसे प्रारम्भ में यह सारी सृष्टि उस प्रभुरूप आधार से प्रकट होती है, उसी प्रकार अन्त में उसी में विलीन होकर प्रकृतिरूप से रहती है। प्रकृति का धारण करनेवाला भी वह प्रभु ही है। ४. **कस्मै**=उस जगद्रूप क्रीड़ा करनेवाले आनन्दमय प्रभु के लिए **देवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज के लिए अथवा जीवों को सब उन्नति-साधनों को देनेवाले के लिए (देवो दानात्) **हविषा**=(हु दानादनयो:) दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें। वह पूज्य प्रभु तो वस्तुमात्र के देनेवाले हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। हम उस प्रभु की उपासना कुछ देकर ही तो कर सकेंगे, अत: प्रभु का उपासक यज्ञ करके सदा यज्ञशेष ही खाता है। यह यज्ञशेष उस उपासक के लिए 'अमृत' होता है।

भावार्थ—वे प्रभु जगत् की योनि, उत्पादक और धारक हैं। मैं उस आनन्दमय देव की उपासना स्वयं देव बनकर—देनेवाला, दानी व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर करूँ।

ऋषि:—हिरण्यगर्भ:। **देवता**—ईश्वर:। **छन्द:**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

'द्रप्सोपासना'

द्र॒प्सश्च॑स्कन्द पृथि॒वीमनु॒ द्यामि॒मं च॒ योनि॒मनु॒ यश्च॒ पूर्वः॑।
स॒मा॒नं योनि॒मनु॑ स॒ञ्चर॑न्तं द्र॒प्सं जु॑हो॒म्यनु॑ स॒प्त होत्राः॑ ॥५॥

१. **द्रप्स:**=(दृप=हर्ष) वे आनन्दमय प्रभु **पृथिवीम् अनु**=इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में (महीधर) व्याप्त होकर **चस्कन्द**=गति कर रहे हैं। **द्याम्**=द्युलोक में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। **इमं च योनिं अनु**=और इस सम्पूर्ण संसार के मिश्रण व अमिश्रण, संयोग और वियोग की कारणभूत पृथिवी में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। २. **य: च पूर्व:**=वे प्रभु इन सबसे पहले हैं, वे प्रभु सृष्टि बनने से भी पहले हैं, उनकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई। सदा से वर्त्तमान वे प्रभु इन लोकों का निर्माण करते हैं और इनमें व्याप्त होकर गति कर रहे

हैं। ३. उस **समानं योनिम्**=सब प्राणियों को प्राणित करनेवाले (सम् आनयति इति समानः) सबके उत्पत्ति-स्थान **अनुसञ्चरन्तम्**=सब लोकों में व्याप्त होकर गति करते हुए **द्रप्सम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। जैसे अग्नि घृत को धारण करती है और उस घृत से दीप्त होती है, इसी प्रकार मैं प्रभु को धारण करता हूँ और उससे मेरा हृदयाकाश जगमगा उठता है। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सप्त होत्राः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, ये सातों मुझमें ज्ञान की आहुति देनेवाले होकर **अनु**=मेरे अनुकूल हों। इनसे ज्ञान का भोजन ग्रहण करता हुआ मैं अपने ज्ञान को दीप्त कर सकूँ।

भावार्थ—वे प्रभु द्रप्स हैं, आनन्दमय हैं। सब लोकों में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। सभी प्राणियों को प्राणित करनेवाले हैं। उस प्रभु को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ, जिससे सब ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि मेरे अनुकूल हों और मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—हिरण्यगर्भः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्पेभ्यो नमः

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में सर्प शब्द का अर्थ 'सर्पतिर्गतिकर्मा' २।१४—नि०, 'इमे लोकाः वै सर्पा यद्धि किञ्च सर्पस्येष्वेव वै लोकेषु सर्पति'—श० ७।४।१।१७ इन वाक्यों के अनुसार ये सब लोक-लोकान्तर हिरण्यगर्भ से ही बनाये गये हैं। ये गतिमय हैं, अतः सर्प कहलाते हैं। सब प्राणी भी इन्हीं में रहकर गति कर रहे हैं। २. **ये के च**=जो कोई भी लोक **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी के अनुगत हैं, इस पृथिवी के समान ही प्राणियों की उत्पत्ति-स्थिति का स्थान बने हुए हैं, ३. **ये अन्तरिक्षे**=जो लोक इस विशाल अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं, ४. **ये दिवि**=जो लोक देदीप्यमान द्युलोक में अवस्थित हैं, ५. **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोक-लोकान्तरों से हमें **नमः**=अन्न की प्राप्ति हो। **नमः सर्पेभ्यः अस्तु**=हम उन लोकों के प्रति नतमस्तक होते हैं। उन लोकों में विद्यमान प्रभु की महिमा को देखकर हमारा मस्तक झुक जाता है। ६. पृथिवी पर तो अन्न उत्पन्न होता ही है, अन्तरिक्षस्थ मेघ वृष्टि के द्वारा उस अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है और द्युलोकस्थ सूर्य अन्तरिक्ष में मेघों के निर्माण का कारण बनता है। इस प्रकार ये सब लोक हमें अन्न प्राप्त कराते हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि 'इन लोकों' से हमें अन्न प्राप्त हो। इस सारी व्यवस्था को देखकर हमें उस प्रभु की महिमा का दर्शन व स्मरण होता है। हम नतमस्तक हो जाते हैं और 'नमोऽस्तु ते' कह उठते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी में निर्मित सभी पिण्ड प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं और उन लोकों के द्वारा हमारी अन्न-प्राप्ति की सुन्दर व्यवस्था हो रही है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—हिरण्यगर्भः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

'असुर्य लोक'

याऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१॥ऽरनु।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥७॥

१. गत मन्त्र के 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में होनेवाले लोकों के अतिरिक्त कुछ वे लोक भी हैं जो **'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'**=अन्ध-तमस् से

आवृत हैं। इन लोकों में वे जाया करते हैं जो आत्मघाती हैं। **याः**=जो **यातुधानानाम्**=औरों में पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों के **इषवः**=गति-स्थान हैं (इष्यते गम्यते येषु, इषवः गतयः—द०)। २. **ये वा**=अथवा जो **वनस्पतीन् अनु**=वनस्पतियों के आश्रित हैं, अर्थात् घने जङ्गलों से जो लोक घिरे हैं। ३. **वा**=या **ये**=जो **अवटेषु**=गढों में **शेरते**=निवास करते हैं, अर्थात् सामान्य भाषा में जिन्हें पाताललोक व नागलोक कहते हैं **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोकों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. प्रभु ने राक्षसों-पिशाचों के हित के लिए इन 'असुर्य-अन्धकारमय' लोकों का निर्माण किया है। मृत्यु के बाद ये इन अन्धतमस् लोकों में जाते हैं और वहाँ एक बार सब अशुभ संस्कारों को भूलकर फिर इस पृथिवी पर जन्म लेते हैं।

भावार्थ—यातुधानों—राक्षसों के गतिरूप वे अन्धकारमय लोक हैं जहाँ घने जङ्गल व गर्त-ही-गर्त हैं। इनमें अन्य व्यक्तियों से दूर रहते हुए वे पीड़ा देने की वृत्ति को भूल रहे होते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रकाशमय लोक

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥८॥

१. गत मन्त्र में पृथिवीलोक से निचले असुर्यलोकों का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन प्रकाशमय लोकों का उल्लेख करते हैं जिनमें कि 'योगयुक्त परिव्राट् व रण में पीठ न दिखानेवाले क्षत्रिय' जाया करते हैं। २. **ये वा**=जो लोक **अमी**=दूर स्थित हैं, **दिवः**=द्युलोक के **रोचने**=दीप्त स्थान में हैं, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। ३. **वा**=अथवा **ये**=जो **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की किरणों में ही स्थित हैं, जहाँ सदा सूर्य-किरणों का निवास है। ४. **येषाम्**=जिनका **सदः**=स्थापन—स्थिति **अप्सु कृतम्**=जलों में की गई है, अर्थात् जहाँ पानी की कमी नहीं अथवा जहाँ पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता न होकर जल-तत्त्व की प्रधानता है **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन लोकों के लिए **नमः**=हम झुकते हैं। उन लोकों में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी दीप्ति हमें नतमस्तक कर देती है। उनमें तो लोग 'स्वयैव प्रभया' अपने देह की प्रभा से ही प्रकाशित होते हैं। क्या आश्चर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही एक दीपक है!

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम कर्म करके उन प्रकाशमय लोकों को प्राप्त करें, जिनमें सूर्य का प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और जल शान्ति का। जहाँ ज्ञान है, शान्ति है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

बन्धन-विनाश, ग्रन्थि-विनाश

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२॥ऽइभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥९॥

१. गत मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रकाशमय लोकों में पहुँचने की कामना करता है, जिन लोकों में 'ज्ञान है, शान्ति' है। ऐसा व्यक्ति ही वहाँ पहुँच सकता है जो प्रस्तुत मन्त्र के शब्दों में प्रभु की प्रेरणा को सुनकर 'वामदेव' बनता है—सारे दिव्य गुणों को अपनानेवाला बनता है। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **पाजः**=बल को **कृणुष्व**=सम्पादित कर, शक्तिशाली बन। शक्ति ही तुझे **वामदेव बनाएगी**। ३. शक्ति के सम्पादन के लिए ही **पृथ्वीम्**=इस

पृथिवी को, इन पार्थिव भोगों को **प्रसितिं न**=बन्धन की भाँति **याहि**=प्राप्त हो। इन पार्थिव भोगों को तू बन्धन समझनेवाला हो। शरीर के लिए ये कुछ मात्रा में आवश्यक हो जाते हैं, परन्तु तूने इन्हें बन्धन समझते हुए इनमें फँसना नहीं। भूख को तू रोग समझकर उसके लिए भोजन को औषधवत् ही ग्रहण करना। ४. **राजा इव**=तू अपने इस जीवन में राजा की भाँति बन। तूने इन्द्रियों का ग़ुलाम नहीं बनना। ५. **अमवान्**=इन्द्रियों का गुलाम न बनने के कारण तू 'अम' वाला हो (अम=strength, power; vital air), बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ६. **इभेन**=(इभ=fearless power) अपनी निर्भीक शक्ति के द्वारा **तृष्वीम्**=शीघ्र ही **प्रसितिम्**=बन्धन को **अनुद्रूणानः**=तू क्रमशः विनष्ट करनेवाला हो। एक-एक करके तू सब शत्रुओं को नष्ट कर डाल। ७. तू सचमुच **अस्ता असि**=शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला है। ८. **तपिष्ठैः**=अत्यन्त सन्तापक अस्त्रों से व प्राणायामादि परम तपों से **रक्षसः**=इन शत्रुओं को व राक्षसी वृत्तियों को **विध्य**=बींध डाल—राक्षसी वृत्तियों को तू समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शक्तिशाली बन। सांसारिक भोगों को बन्धन समझ। जितेन्द्रिय बनकर बन्धनों को नष्ट कर डाल।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

क्रियाशील जीवन

तव॑ भ्रमास॑ऽआशुया प॑तन्त्यनु॑ स्पृश धृषता शोशु॑चानः।
तपू॑ᳪष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानस॑न्दितो विसृज विष्व॑गुल्काः ॥१०॥

१. प्रभु वामदेव से ही कह रहे हैं कि **तव**=तेरे **आशुया**=शीघ्र गतिवाले **भ्रमासः**=पादविक्षेप, अर्थात् कार्यक्रम तुझे **पतन्ति**=प्राप्त होते जाते हैं। एक के बाद दूसरा कार्य तेरे जीवन में आता चलता है। तू किसी भी समय अकर्मण्य नहीं होता। २. इस प्रकार निरन्तर क्रियाशीलता से **शोशुचानः**=अपने को निरन्तर दीप्त व पवित्र करता हुआ तू **धृषता**=अपनी धर्षण-शक्ति से **अनुस्पृश**=एक-एक शत्रु को (अभिमृश—उ०) मसल डाल। काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को तू कुचल डाल। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **जुह्वा**=(हु दान-अदन) दानपूर्वक अदन—देकर खाने की प्रक्रिया से **तपूंषि**=काम-क्रोधादि सन्तापक शत्रुओं को **पतङ्गान्**=(पतन्तः सन्तो गच्छन्ति इति पिशाचाः—म०) निरन्तर आक्रमण करते हुए चलते हैं—ऐसे इन राक्षसी भावों से **असन्दितः**=बद्ध न होता हुआ **विसृज**=परे फेंक दे। इस प्रकार परे फेंक दे जैसे आकाश में **विष्वक्**=चारों ओर **उल्काः**=उल्काओं को फेंक दिया गया है। ये काम-क्रोधादि की वृत्तियाँ उल्काओं के समान हैं। इन्हें तू अपने से दूर फेंक दे। ये तेरी क्रियाशीलता से क्षीणशक्ति होकर भाग खड़ी हों।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. क्रियाशीलता से हममें वह धर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जो सब शत्रुओं को कुचल डालती है। ३. हम दानपूर्वक अदन से सन्तापक व बारम्बार आक्रमण करनेवाले राक्षसी भावों को उल्काओं के तुल्य दूर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रजा-रक्षण, शत्रु-संहार

प्रति स्पशो विसृ॑ज तूर्णि॑तमो भवा॑ पायुर्वि॒शोऽअ॒स्या अद॑ब्धः।
यो नो॑ दूरेऽअ॒घश॑ᳪसो योऽअन्त्यग्ने माकि॑ष्टे व्यथि॑राद॑धर्षीत् ॥११॥

१. जैसे वामदेव ने अध्यात्मक्षेत्र में कामादि शत्रुओं का संहार करना है, उसी प्रकार राजा ने आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करना है। उसके लिए कहते हैं कि **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रतिविसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। प्रजा के गुण-दोषों के परिज्ञान के लिए ये गुप्तचर ही राजा की आँख होते हैं। २. **तूर्णितमः भव**=तू अपने कार्यों को त्वरा से करनेवाला हो। आलस्य कार्य-सफलता में महान् विघ्न है। ३. तू **अदब्धः**=स्वयं किन्हीं वासनाओं व आलस्यादि शत्रुओं से हिंसित न होता हुआ **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। ४. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **यः**=जो शत्रु **दूरे**=दूरी पर स्थित है **यः अन्ति**=जो समीप है, **अग्ने**=हे राष्ट्रोन्नति के साधक राजन्! वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला शत्रु **ते**=तेरा **माकिः आदधर्षीत्**=धर्षण न करे। राजा किसी भी शत्रु से पराजित न होता हुआ प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। राजा से सम्यक्तया रक्षित प्रजा में ही सद्गुणों का विकास सम्भव है।

भावार्थ—राजा स्वयं आलस्यादि शत्रुओं से मुक्त होता हुआ प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करे, जिससे सुरक्षित प्रजाएँ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शत्रु-दहन

उद॑ग्ने तिष्ठ प्रत्यात॑नुष्व न्यमित्राँ२॥ऽओषतात्तिग्महेते।
यो नोऽअरा॑तिꣳसमिधान च॒क्रे नी॒चा तं ध॑क्ष्यत॒सं न शुष्क॑म्॥१२॥

१. पिछले मन्त्र के ही विषय को इस रूप में कहते हैं कि **अग्ने उत् तिष्ठ**=हे राजन्! तू ऊपर उठ। आलस्य को छोड़कर प्रजा-रक्षण के कार्य के लिए उद्यत हो जा। अथवा हे राजन्! तू विषयों से ऊपर उठ। अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ। २. **प्रति आतनुष्व**=एक-एक शत्रु के प्रति अपने शस्त्र को विस्तृत कर। ३. हे **तिग्महेते**=तीव्र अस्त्रोंवाले राजन्! तू **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से जलानेवाला हो। तेरे शस्त्रों की अग्नि में शत्रु दग्ध हो जाए। ४. हे **समिधान**=शक्ति से दीप्यमान राजन्! **यः**=जो भी **नः**=हमारे साथ **अरातिम्**=शत्रुता **चक्रे**=करता है, अर्थात् जो भी हमारा शत्रु है **तम्**=उसे **नीचा धक्षि**=(burn to the ground) भस्म करके भूमिगत कर दीजिए, जलाकर मिट्टी में मिला दीजिए। **न**=जिस प्रकार **शुष्कं अतसम्**=(a garment made of the fibre of flax) सूखे सन के बने कपड़े को जला देते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा के शत्रुओं का दहन करता हुआ प्रजा को उन्नति का सु-अवसर प्राप्त कराए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

वेधन-मारण

ऊ॒र्ध्वो भ॑व॒ प्रति॑ वि॒ध्याध्य॒स्मदा॒विष्कृ॑णुष्व॒ दैव्या॒न्यग्ने।
अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि यातु॒जूनां॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ प्रमृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्।
अ॒ग्नेष्ट्वा॒ तेज॑सा सादयामि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुनः दुहराते हैं कि **अग्ने ऊर्ध्वः भव**=हे राजन्! तू आलस्य को छोड़कर उठ खड़ा हो। तुझे सदा 'जागृवि' बनना है—जागना है। २. **प्रतिविध्य**=

तू एक-एक शत्रु को बींध डाल। शत्रुओं को विद्ध करना ही तेरा मौलिक कर्त्तव्य है। ३. **अध्यस्मत्**=हमारे उद्देश्य से, हमारे कल्याण के लिए **दैव्यानि**=दिव्य कर्मों को **आविष्कृणुष्व**=प्रकट कर। तू इस प्रकार अद्भुत कर्मों को करनेवाला बन कि हमारा कल्याण-ही-कल्याण सिद्ध हो। ४. **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिए ही जिनकी गति है (यातु+जु), अर्थात् जिनके कर्म औरों को पीड़ित करने के लिए ही होते हैं, उन यातुधानों=राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषादि अस्त्रों को भी **अवतनुहि**=ढीला कर दे। ५. **जामिम् अजामिम्**=रिश्तेदार हो, गैर रिश्तेदार हो सभी **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=कुचल डाल। जो भी राष्ट्र का शत्रु है उसे समाप्त करना ही है। ६. **त्वा**=तुझे **अग्नेः**=अग्नि के **तेजसा**= तेज के साथ **सादयामि**=इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। जैसे अग्नि सब मलों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र के सब शत्रुओं को भस्म करना है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के सब शत्रुओं का विध्वंस करके राष्ट्र का उत्थान करनेवाला बने। दण्ड-व्यवस्था में सम्बन्ध का विचार न करके न्याय-मार्ग से ही दण्ड देना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिखर पर

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपाᳪरेताᳪसि जिन्वति। इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥१४॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपने अन्दर दिव्य गुणों को उपजाने के लिए यत्नशील हो। वह कैसा बने? इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=यह अग्रेणी हो, निरन्तर उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला हो। २. यह उन्नति करते-करते **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करे। 'आरोहणमाक्रमणम्' ऊपर चढ़ना, ऊपर उठना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। ३. **दिवः ककुत्**=ज्ञान से यह महान् बनता है (ककुत्=महान्)। ज्ञान को प्राप्त करते हुए यह ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। ४. ज्ञान-प्राप्ति के साथ **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=शरीर का **पतिः**=रक्षक बनता है। शरीर के स्वास्थ्य का भी यह पूरा ध्यान रखता है। वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार यह शारीरिक स्वास्थ्य ही है। ५. शरीर का पति यह क्यों न बने? यह तो **अपां रेतांसि**=जल-सम्बन्धी रेतस् का **जिन्वति**=(पुष्णाति—म०) पोषण करता है। 'आपो रेतो भूत्वा'=जल शरीर में रेतस् के रूप में रहते हैं। यह वामदेव इन रेतःकणों का पोषण करता है, उन्हें विनष्ट नहीं होने देता। ६. इस रेतस् का पोषण करनेवाले वामदेव से प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **इन्द्रस्य ओजसा**=इन्द्र के ओज से **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इन रेतःकणों की रक्षा से इन्द्रशक्ति का विकास होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, शिखर तक पहुँचें, ज्ञान से महान् बनें, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करें और इस प्रकार इन्द्रशक्ति के विकास के लिए रेतःकणों का अपने में पोषण करें।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर=त्रिशिराः

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥१५॥

१. गत मन्त्र में शिखर पर पहुँचने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) यह स्वस्थ शरीर में उत्तम रचनात्मक कर्मों का करनेवाला होता है, (ख) मस्तिष्क को ज्ञान-प्रकाश में स्थापित करता है, (ग) वाणी से प्रभु के नाम का भजन करता है और इस प्रकार 'त्रिशिराः' त्रिविध उन्नति करनेवाला होता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे त्रिशिरः! तू **भुवः**=इस पार्थिव शरीर से **यज्ञस्य**=लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों का, और उन कर्मों के द्वारा **रजसः**=लोकरञ्जन का, लोकों के प्रसादन का **नेता**=प्राप्त करानेवाला होता है। संक्षेप में कहें तो यह कि तू शरीर को स्वस्थ बनाता है, उस स्वस्थ शरीर से तू यज्ञों को करता है और यज्ञों से लोकों के आनन्द को सिद्ध करनेवाला होता है। ३. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसमें तू **शिवाभिः**=कल्याणकर, मङ्गलमय **नियुद्भिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से **सचसे**=युक्त होता है, अर्थात् यज्ञों में प्रवृत्ति तेरी इन्द्रियों को बड़ा सुन्दर बनाये रखती है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ तू **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। तू अपने मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्ति से अधिक-से-अधिक उज्ज्वल बनाता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **स्वर्षाम्**=(स्वः समोति भजति) उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को, प्रभु के नाम को भजनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=बनाता है, अर्थात् यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है। ६. एवं, त्रिशिरा के जीवन में (क) उसका स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ शरीर-रथ में जुती हुई कल्याणमयी इन्द्रियरूपी घोड़ियाँ सदा यज्ञ द्वारा, लोकहितकारी कार्यों के द्वारा, लोकरञ्जन में लगी रहती हैं। (ख) उसका मस्तिष्क सदा ज्ञान में अवस्थित होता है। (ग) उसकी जिह्वा पर प्रभु का नाम होता है और उसकी जिह्वा सात्त्विक भोजनों का ही स्वाद लेती है। एवं, त्रिशिरा का नाम पूर्णतया अन्वर्थक ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञात्मक कर्मों में लगे हों, मस्तिष्क ज्ञान में, तथा जिह्वा प्रभु-नामोच्चारण में और सात्त्विक अन्न के सेवन में।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी भी त्रिशिराः हो, समुद्र व सुपर्ण

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्रऽउद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

१. स्त्री भी ख़ूब उन्नत जीवनवाली हो। कैसी? **ध्रुवा असि**=तू घर में ध्रुव होकर रहनेवाली है। छोटी-छोटी बातों से रूठकर पितृगृह की ओर जानेवाली नहीं। साथ ही अपने जीवन की मर्यादाओं में स्थिरता से रहनेवाली है। २. **धरुणा**=घर में रहती हुई सबका धारण करनेवाली है। अन्न-वस्त्र आदि सब धारणात्मक वस्तुओं का पूर्णतया ध्यान करनेवाली है। ३. **विश्वकर्मणा**=गृह-सम्बन्धी सब कार्यों से तू **आस्तृता**=आच्छादित है, अर्थात् तू सदा घर के कार्यों में लगी रहती है, इसीलिए तो तेरे समीप पाप नहीं आ पाता, क्योंकि इसका मन तो घर के कार्यों में लगा है। ४. इस प्रकार कर्मों में लगा होने के कारण इसका जीवन वासनामय नहीं बनता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रः**=(स मुद्) सदा मौज की मनोवृत्ति में रहनेवाला, मज़े उड़ानेवाला, जिसके दृष्टिकोण में संसार केवल मौज के लिए बना है, ऐसा जार (छैला) पुरुष **त्वा**=तुझे **मा**=मत **उद्वधीत्**=धर्म-मार्ग से बाहर करनेवाला हो

हो (उत्=out, हन्=गति)। **सुपर्णः**=जैसे एक सुन्दर पंखोंवाला पक्षी होता है, इसी प्रकार चमक-दमकवाले कपड़े पहनकर घूमनेवाला व्यक्ति **मा**=मत विचलित करनेवाला हो। तू इन समुद्रों और सुपर्णों=बांके-छैलछबीले व्यक्तियों के पाश में फँसनेवाली न हो। ५. **अव्यथमाना**=भय से विचलित न होती हुई तू **पृथिवीं दृंह**=अपने शरीर को दृढ़ बना। तेरे दृढ़ शरीर के साथ वे खिलवाड़ न कर सकेंगे।

भावार्थ—पत्नी ध्रुव हो, धरुण हो, कर्मों में लगी हो, बांके-छैले युवकों का शिकार न हो जाए। अविचलित होती हुई अपने शरीर को दृढ़ बनाये।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पृथिवी व शं-विस्तारिणी

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि॥१७॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पति प्रभु **त्वा**=तुझे **अपां पृष्ठे**=कर्मों के पृष्ठ पर, अर्थात् कर्मों पर **सादयतु**=बिठाये, अर्थात् तेरा जीवन सदा कर्मों में व्यापृत रहे। २. **समुद्रस्य**=तू आनन्दमय प्रभु के **एमन्**=प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त हो। अर्थात् तेरा लक्ष्य उस प्रभु को प्राप्त करना है। ३. **व्यचस्वती**=(व्यचस्=विस्तार) ज्ञान के विस्तारवाली तथा **प्रथस्वती**=हृदय के विस्तारवाली सन्तति को **प्रथस्व**=तू विस्तृत करनेवाली हो, अर्थात् सदा क्रियाशीलता के द्वारा प्रभु की ओर चलती हुई तू उस सन्तान को जन्म दे जो अधिक-से-अधिक विस्तृत ज्ञानवाली हो और जिसका हृदय विशाल हो। ४. ऐसी सन्तति को जन्म देनेवाली ही तू **पृथिवी**=पृथिवी **असि**=है। जैसे यह पृथिवी उत्तमोत्तम ओषधियों को जन्म देती है, इसी प्रकार तू उत्तम सन्ततियों को जन्म देती हुई वंश का विस्तार करनेवाली है। (पृथिवी=प्रथ विस्तारे)।

भावार्थ—पत्नी क्रियाशील हो, प्रभु के मार्ग पर चले। ज्ञानी, विशाल हृदय सन्तति को जन्म दे। वंश का विस्तार करनेवाली हो।

ऋषिः—त्रिशिराः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—प्रस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

विश्वधाया

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः॥१८॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **भूः असि**=(भवन्ति यस्याम्) तुझसे ही सन्तानों का जन्म होता है। २. **भूमिः असि**=(भवन्ति यस्याम्) उत्पन्न होकर सन्तान तेरे ही आधार से रहते हैं। ३. **अदितिः असि**=(अविद्यमानादितिः खण्डनं यया) तेरे कारण ही सन्तान अखण्डित स्वास्थ्य व चारित्र्यवाली बनती है। ४. **तू विश्वधायाः**=सब सन्तानों को उत्तम दूध पिलानेवाली है और इस प्रकार सबका पालन करनेवाली है। ५. **विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री**=सन्तान के निर्माण व पालन के द्वारा तू सारे लोक का धारण करनेवाली है। जिस भी राष्ट्र में माताएँ अपने सन्तानों को अदीन व दिव्य गुणोंवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनाती हैं, वह राष्ट्र सदा उन्नत होता है। ६. एक देवमाता=दिव्य सन्तान का निर्माण करनेवाली माता को चाहिए कि वह **पृथिवीं यच्छ**=(पृथिवी शरीरम्) अपने शरीर का नियमन करे। **पृथिवीं**

दृंह=इस शरीर को दृढ़ बनाये और **पृथिवीम्** =शरीर को **मा हिंसी:**=हिंसित न होने दे। नियमित जीवन से शरीर दृढ़ होगा और असमय में समाप्त न हो जाएगा। वस्तुत: यह 'नियमन, दृढ़ीकरण व अहिंसन' ही 'त्रिशिरा ' बनना है, त्रिविध उन्नति करना है।

भावार्थ—एक माता 'अदिति' बनकर दिव्य सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार वह राष्ट्र का धारण कर सकती है। उसे अपने शरीर को व्यवस्थित, दृढ़ व स्वस्थ बनाना है। अव्यवस्थित, ढीली-ढाली व अस्वस्थ माता तो ऐसी ही सन्तानों को जन्म देगी जो राष्ट्र के लिए बोझ ही होंगे।

ऋषि:—त्रिशिरा:। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—भुरिगतिजगती। **स्वर:**—निषाद:।।

मही स्वस्ति-शन्तम छर्दि (उत्तम योगक्षेम, शान्त घर)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पति को अग्नि कहा है। उसका कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की रक्षा करे। **अग्नि:**=घर की उन्नति को सिद्ध करनेवाला तथा अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला पति **त्वा**=तुझे **अभिपातु**=पालित करे, तुझे आन्तर व बाह्य आपत्तियों से बचाए। २. **मह्या स्वस्त्या**=(महत्या योगक्षेमसंपत्त्या) महती योगक्षेम सम्पत्ति के द्वारा वह तेरा रक्षण करे और **शन्तमेन छर्दिषा**=(अत्यन्तं सुखकारिणा गृहेण—म०) सब प्रकार से शान्ति देनेवाले घर से पति तेरी रक्षा करे। घर में किसी प्रकार के खान-पान की कमी न हो और घर सब ऋतुओं में सुखद हो। ३. इस घर में **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले व्यक्ति के समान, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली हो। तेरा जीवन बड़ा मर्यादावाला हो। ४. ऐसा होने पर ही तू **विश्वस्मै प्राणाय**=सब प्राणशक्ति के लिए अथवा सब गृहसभ्यों की प्राणशक्ति के लिए होगी। **अपानाय**=अपान शक्ति के लिए होगी। प्राणशक्ति बल देनेवाली है तो अपान दोषों को दूर करनेवाली है। ५. तू **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए होगी। व्यान शक्ति शरीर में सर्वत्र भ्रमण करके शरीर की व्यवस्था को ठीक रखनेवाली है। **उदानाय**=तू उदान के लिए होगी। यह उदान कण्ठदेश में रहकर कण्ठग्रन्थि को ठीक रखती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है। ६. **प्रतिष्ठायै**=तू घर की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए होगी। घर की नींव को दृढ़ करनेवाली होगी तथा **चरित्राय**=घर में आचरण के मापक को तू सदा ऊँचा रक्खेगी।

भावार्थ—पति का मुख्य कार्य यह है कि वह उत्तम घर तथा महनीय योगक्षेम (खान-पान की सामग्री) को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हो। पत्नी इस बात का ध्यान रक्खे कि गृहसभ्यों की प्राण, अपान, व्यान व उदान शक्तियाँ ठीक बनी रहें। घर की प्रतिष्ठा बढ़े तथा सदाचार का मापक ऊँचा बना रहे।

ऋषि:—अग्नि:। **देवता**—पत्नी। **छन्द:**—अनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:।।

दूर्वा

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुष:परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में पति को 'अग्नि' कहा है। इस मन्त्र में यह अग्नि पत्नी को 'दूर्वा' नाम से सम्बोधित करके कहता है कि वह उसके वंश को सैकड़ों व हज़ारों पीढ़ियों तक ले-जाने में सहायक हो, अत: मन्त्र का ऋषि 'अग्नि' ही है, जो वंश को आगे और आगे ले-चलना चाहता है, जो यह नहीं चाहता कि उसका वंश-दीप कभी बुझ जाए। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**='प्रजाओं से मैं अमर बना रहूँ' यह उसकी कामना है। इसी कारण वह चाहता है कि उसके वंश में कोई रोग या अन्य कोई मानस विकार उत्पन्न न हो और उसका वंश चलता ही चले, इसीलिए वह पत्नी को 'दूर्वा' नाम से स्मरण करता है-'इति यदब्रवीद् धूर्वीन् मा इति तस्मात् धूर्वा। धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते परोक्षम्'-श० ७।४।२।१२। यह मुझे हिंसित मत करे (धूर्वी हिंसायाम्), अत: वह इसका नाम ही धूर्वा वा दूर्वा कह देता है। २. जैसे दूर्वा घास के काण्ड=तने हैं, उसी प्रकार यहाँ पत्नी के नर-सन्तान हैं, जिनसे घर 'कन दीप्तौ' चमकता है। इस दूर्वा के परु=पर्व, जोड़ हैं, उसी प्रकार पत्नी के स्त्री सन्तान लड़कियाँ हैं। इनसे अन्य घरों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। दूर्वा घास प्रत्येक काण्ड पर अपने मूल जमाती हुई और प्रत्येक पोरु पर से अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है, उसी प्रकार इस पत्नी के पुत्र अपने अगले सन्तानों को जन्म देनेवाले हों और पुत्रियाँ भी इस घर के सम्बन्ध को विस्तृत करनेवाली हों। ३. पति कहता है कि **काण्डात् काण्डात्**=वंश-वृक्ष के तनेरूप प्रत्येक तनय=पुत्र के द्वारा **प्ररोहन्ती**=इस वंश को आगे बढ़ाती हुई तथा **परुष: परुष: परि**=वंश-वृक्ष के प्रत्येक पर्व=जोड़ के समान पुत्रियों से सम्बन्ध को चारों ओर फैलाती हुई हे **दूर्वे**=सब रोगों व अशुभवृत्तियों का ध्वंस करनेवाली पत्नि! तू **एव**=इस प्रकार **न:**=हमें **प्रतनु**=विस्तृत कर। ४. **सहस्रेण**=हम हज़ारों पीढ़ियों से इस संसार में चलते चलें। **शतेन च**=और इस वंश में प्रत्येक व्यक्ति शतवर्ष के जीवनवाला हो।

भावार्थ-वंश के निर्दोष होने पर वंश हज़ारों पीढ़ियों तक चलता है तथा वंश में प्राय: शतायु पुरुष होते हैं। इसका बहुत-कुछ निर्भर पत्नी पर है जो 'दूर्वा' है, वंश के रोगों व बुराइयों का ध्वंस कर देती है।

ऋषि:-अग्नि:। **देवता**-पत्नी। **छन्द:**-निचृदनुष्टुप्। **स्वर:**-गान्धार:॥

इष्टका

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'इष्टका' कहा है (यज्+क्त+इष्ट=यज्ञ) यज्ञों को करनेवाली। व्याकरण के अनुसार पत्नी शब्द की सिद्धि ही 'यज्ञसंयोग' में होती है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। वस्तुत: गृहस्थ में व्यक्ति ने यज्ञ के लिए प्रवेश किया है। यज्ञों में प्रवृत्त रहने के कारण इसका जीवन दिव्य बना रहता है, अत: इसे 'देवी' कहा गया है। पति धनार्जन करके उसे पत्नी के हाथ में दे। पत्नी इस धन को यज्ञों में विनियुक्त करती हुई यज्ञशेष से, अमृत से परिवार का पोषण करने के लिए प्रयत्न करे। पति जो देकर खाता है वही 'हवि' है, दानपूर्वक अदन। इसी प्रकार पति पत्नी का समुचित आदर करनेवाला होता है। ३. पति कहता है कि हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **इष्टके**=यज्ञ के स्वभाववाली पत्नि! **या**=जो तू **शतेन प्रतनोषि**=हमारी आयुओं को सौ वर्ष के परिमाण में फैलानेवाली होती है और

सहस्रेण विरोहसि=हमारे वंश को हज़ारों पीढ़ियों तक बढ़ानेवाली होती है **तस्याः ते**=उस तुझे **वयम्**=हम **हविषा**=सब सौंपकर तेरे द्वारा दिये हुए को खाने से **विधेम**=आदर करते हैं। पत्नी का सच्चा आदर यही है कि उसे ही गृह की 'साम्राज्ञी' समझा जाए। घर का सारा प्रबन्ध उसी के अधीन हो। वही व्यवस्थापिका हो। ३. इस व्यवस्था के होने पर घरों से यज्ञों का विलोप नहीं होता, परिणामतः उत्तमता का भी विलोप नहीं होता।

भावार्थ—पत्नी घर में यज्ञों की प्रवर्तिका, इष्टका है। यज्ञों द्वारा घर में दिव्य गुणों के व्यवस्थापन से यह देवी है। हम अपना सब धन इन्हें सौंपकर उनसे दिये गये को खाकर ही इनका समुचित आदर करते हैं। वे हमारे दीर्घ-जीवन का कारण बनती हैं और वंश को विच्छिन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्य व अग्नि (स्वर्ग)

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥२२॥

१. २२ से २५ तक मन्त्रों का ऋषि 'इन्द्राग्नी' है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पति ही यहाँ इन्द्र है। इसने निरन्तर कर्म द्वारा, गति द्वारा, गृह-सञ्चालन के लिए धनार्जन करना है। निरन्तर गति के कारण इसे 'सूर्य' (सरति) कहा गया है। पत्नी यहाँ अग्नि है। घर की सब उन्नति का निर्भर इसी पर है। १९वें मन्त्र में इसी दृष्टिकोण से पति को भी अग्नि कहा गया था। यहाँ पति 'इन्द्र व सूर्य' है, पत्नी 'अग्नि'। २. पत्नी से कहते हैं कि हे **अग्ने**=गृहोन्नति साधिके! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=निरन्तर श्रमशील पति में **रुचः** =दीप्तियाँ हैं अथवा रुचियाँ या प्रीतियाँ हैं (तेरी रुचियाँ हैं—द०) वे प्रीतियाँ **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से (रश्मि=किरण) तथा इन्द्रियों के नियन्त्रणों से (रश्मि=लगाम) **दिवम्**=स्वर्ग को **आतन्वन्ति**=विस्तृत करती हैं। स्पष्ट है कि घर स्वर्ग बन जाता है जब (क) पत्नी का सब प्रेम अपने पति के लिए ही हो। (ख) पति निरन्तर श्रम के द्वारा गृह-सञ्चालन के लिए पर्याप्त धनार्जन करनेवाला हो। (ग) घर में ज्ञान का प्रकाश हो, सब ज्ञान-सम्पन्न हों। (घ) और सबने इन्द्रियाश्वों को मनरूप लगाम से काबू किया हुआ हो। ३. पति-पत्नी की परस्पर प्रीतियों का परिणाम घर में कल्याण-ही-कल्याण होता है। आचार्य दयानन्द प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—'यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां तत्र सर्वं कल्याणमेव'=पति-पत्नी के प्रीतिमान होने पर सब शुभ-ही-शुभ होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब प्रीतियों से **नः**=हमें (अस्मान्) **रुचे**=शोभा के लिए **कृधि**=कीजिए। इन परस्पर प्रीतियों से सन्तानों के सब लक्षण शुभ-ही-शुभ होते हैं। उस प्रीति को **नः**=हमारी **जनाय**=शक्तियों के विकास के लिए कीजिए, अर्थात् माता-पिता का परस्पर ठीक प्रेम होने पर सन्तानों की शक्तियों का विकास होता है। एवं, पति-पत्नी की परस्पर प्रीति के दो परिणाम सन्तानों में दृष्टिगोचर होते हैं। (क) शुभ लक्षण व दीप्ति (रुच)। (ख) शक्तियों का विकास (जन)।

भावार्थ—पति-पत्नी का कर्त्तव्य है कि अपने जीवनों को 'सूर्य व अग्नि' की भाँति बनाकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

माता-पिता व आचार्य

या वो॑ देवाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुच॑ः।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भी॒ रुच॑ं नो धत्त बृहस्पते॥२३॥

१. मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य के अनुसार उत्तम सन्तानों का निर्माण माता-पिता व आचार्य पर निर्भर करता है। ये तीनों देव हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इस उपनिषद् वाक्य में तीनों को देव कहा गया है। इनका मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता होगा और इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से चमकती होंगी तो सन्तानें भी उत्तम होंगी। २. मन्त्र के शब्दों में कहते हैं कि हे **देवाः**=माता-पिता व आचार्यो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=मस्तिष्करूप गगन में उदित ज्ञानसूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में, **अश्वेषु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों में **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्रतुल्य अथवा जितेन्द्रिय पितः तथा अग्नितुल्य मातः! तथा **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति आचार्य! **ताभिः सर्वाभीः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हम सन्तानों में भी **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। हमारे जीवनों को भी दीप्तिमय बनाओ। ३. माता-पिता व आचार्य ने ही तो सन्तानों का निर्माण करना है। माता चरित्र देती है, पिता शिष्टाचार तथा आचार्य ज्ञान।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब उत्तम मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाले होते हैं तब वे सन्तानों के जीवनों को भी ज्योतिर्मय बना पाते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

विराट् (स्वराट्) + ज्योतिष्मती

वि॒राड् ज्योति॑रधारयत् स्व॒राड् ज्योति॑रधारयत्।
प्र॒जाप॑तिष्ट्वा सादयतु पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या ज्योति॑ष्मतीम्।
विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्व॒ं ज्योति॑र्यच्छ।
अ॒ग्निष्टेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'सन्तानों में ज्योति के धारण पर' हुई थी। इस ज्योति को वही पति (पिता) धारण करा सकता है जो स्वयं ज्योतिर्मय व जितेन्द्रिय हो। मन्त्र में कहते हैं कि **विराट्**=विविध ज्ञानों की ज्योतियों से चमकनेवाला पिता ही **ज्योतिः**=प्रकाश को **अधारयत्**=सन्तान में धारण करता है, अतः पिता के लिए खूब ज्ञान की दीप्तिवाला होना आवश्यक है। २. **स्वराट्**=अपना राज्य व शासन करनेवाला जितेन्द्रिय पिता ही **ज्योतिः अधारयत्**=सन्तान में ज्योति को धारण करता है। एवं, पिता के लिए 'विराट् तथा स्वराट्' होना अत्यन्त आवश्यक है। ३. अब माता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु **त्वा**=तुझ **ज्योतिष्मतीम्**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान को **पृथिव्याः पृष्ठे**=(पृथिवी शरीरम्) शरीर के ऊपर **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तू इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में किये हुए हो। एवं, माता ने भी ज्ञान की ज्योति से दीप्त व अपने पर आधिपत्यवाला होना है। ३. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=सब प्राण, अपान व व्यान-शक्ति के लिए माता का भी ज्योतिर्मयी व जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक

है। माता का ही बच्चे पर अत्यधिक प्रभाव होता है। 'माँ पर पूत' यह लोकोक्ति ठीक ही है। माता से ही बच्चे को प्राण, अपान व व्यानशक्ति प्राप्त होती है। ४. माता से कहते हैं कि **विश्वं ज्योतिः यच्छ** =(निगृहणीष्व) सम्पूर्ण ज्योति को अपने में धारण करनेवाली बन। तू स्वयं ज्योति धारण करेगी, तभी तो सन्तानों को यह ज्योति दे पाएगी। ५. **ते अधिपतिः**=तुझसे अधिक गुणवाला तेरा पति **अग्निः**=इस घर की उन्नति करनेवाला हो। वह ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाला 'देव' हो (देवो दीपनाद्)। **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर, बड़े मर्यादित जीवनवाली होकर **सीद**=निवास कर। ६. वस्तुतः पति-पत्नी (माता-पिता) के जीवन के अनुपात में ही सन्तानों का भी जीवन बनता है, अतः ये अपने उत्तरदायित्व को समझें और अपने जीवनों को वेद के शब्दों में निम्न प्रकार से बनाने का यत्न करें—

पिता—१. **विराट्**=विविध ज्ञानों की दीप्तियों से दीप्त २. **स्वराट्**=अपने पर शासन करनेवाला ३. **अग्निः**=सदा घर को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ४. **देवता**=दिव्य गुणों को अपनानेवाला।

माता—१. **ज्योतिष्मती**=ज्ञान के प्रकाशवाली, समझदार २. **पृष्ठे पृथिव्याः सादयतु**=शरीर पर पूर्ण प्रभुत्ववाली ३. **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाली ४. **ध्रुवा**=स्थिरता से रहनेवाली, मर्यादित जीवनवाली।

भावार्थ—विराट् पिता और ज्योतिष्मती माता ही सन्तानों में ज्योति का धारण कर सकते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती[क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—निषादः[क], मध्यमः[र]॥

मधु+माधव

[क]मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। [र]येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वासन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥२५॥

१. 'इन्द्राग्नी' ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। पत्नी ने अत्यन्त मधुर स्वभाववाला बनना है, अतः उसे यहाँ 'मधुः' कहा गया है। पति ने सदा गृहस्थ सञ्चालन के लिए धनार्जन करनेवाला होना है, अतः उसे 'मा-धव'=लक्ष्मी का पति कहा गया है। जिस समय ये पति-पत्नी **'मधुः च माधवः च'**=मधुर स्वभाव और लक्ष्मीपति बनते हैं, उस समय ये **वासन्तिकौ**=एक-दूसरे के समीप उत्तमता से निवास करनेवाले होते हैं। इनका परस्पर प्रेम ठीक बना रहता है। २. **ऋतू**=(ऋ गतौ) ये दोनों अपने कार्यों को बड़े नियम से करनेवाले होते हैं। ऋतुओं की भाँति इनके कार्य समय पर होते हैं। ३. पति के लिए कहते हैं कि तू **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु का **अन्तः** =हृदय में **श्लेषः**=आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु को तू कभी विस्मृत नहीं करता। तेरी प्रार्थना यही हो कि ४. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**=शक्तिशाली बनें, सामर्थ्यवाले हों। मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल हो तथा शरीर दृढ़ हो। ५. **आपः ओषधयः**=जल और ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ। पीने के लिए पानी हो, भोजन के लिए वनस्पतियाँ यह सीधा-सादा

भोजन मेरे शरीर को नीरोग बनाकर शक्तियुक्त करे। ६. **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता, आहवनीयाग्निरूप आचार्य' ये सब **पृथक्**=अलग-अलग, ५ वर्ष तक माता, ८ वर्ष तक पिता, २५ वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों। ७. ये तीनों ही **मम**=मेरे **ज्यैष्ठ्याय**=बड़प्पन व उत्कर्ष के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले हों। माता-पिता व आचार्य इन सबका एक ही कार्य व उद्देश्य हो कि हमें बालकों व युवकों के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाना है। ८. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में, अर्थात् इस संसार में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं वे **समनसः**=समान मनवाले हों, सन्तानों का उत्तम निर्माण ही इनका उद्देश्य हो। ९. इन अग्नियों से सुन्दर जीवनवाले ये पति-पत्नी **वासन्तिकौ**=परस्पर उत्तम निवासवाले हों **ऋतू**=बड़े नियमित व व्यवस्थित जीवनवाले हों। **अभिकल्पमाना**=ये अपने को दोनों ओर शक्तिशाली बनाएँ, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **इन्द्रमिव**=देवराट् इन्द्र को जैसे देव प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस जितेन्द्रिय पति को **देवः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इसमें दिव्य गुणों का प्रवेश हो। ११. हे पति-पत्नि! तुम दोनों **तया देवतया**=सदा उस प्रभु-स्मरण के साथ कार्य करने से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में प्राणशक्ति के सञ्चारवाले की भाँति **ध्रुवे**=मर्यादित जीवनवाले होकर स्थिरता से **सीदतम्**=ठहरो।

भावार्थ—पति-पत्नी १. मधु-माधव हों, २. वासन्तिक हों, ३. ऋतु हों, ४. हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले हों, ५. शरीर व मस्तिष्क को सशक्त बनाएँ, ६. जलों व वनस्पतियों का ही सेवन करें, ७. उत्तम माता-पिता व आचार्यवाले हों, ८. इनके माता-पिता व आचार्य का ध्येय इन्हें ज्येष्ठ बनाना हो, ९. वस्तुतः सब माता-पिता व आचार्य परस्पर एक मनवाले होकर इनका निर्माण करें, १०. इन्द्र बनकर दिव्य गुणों को प्राप्त करें, ११. उस प्रभु का स्मरण करते हुए मर्यादित जीवनवाले हों।

ऋषिः—सविता। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी=सविता=जन्मदात्री

अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः। सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व॥२६॥

१. हे पत्नि! **अषाढा असि**=तू न कुचली जानेवाली है, शत्रु तेरा धर्षण नहीं कर सकते। २. **सहमाना**=तू शत्रुओं का पराभव करनेवाली है, अतः **अरातीः**=शत्रुओं को अथवा अदान की भावनाओं को तू **सहस्व**=नष्ट कर डाल। तुझ में देने की वृत्ति हो, यह देने की वृत्ति ही व्यसन-वृक्ष के तनेरूप लोभ को समाप्त करके मनुष्यों को सब वासनाओं से ऊपर उठाती है। एवं, दान=देना सचमुच दान=(दाप् लवने) बुराइयों का काटनेवाला हो जाता है और इस प्रकार यह दान=(दैप् शोधने) जीवन का शोधक होता है। ३. **पृतनायतः** =शत्रु-सैन्य की भाँति आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-लोभ आदि को तू **सहस्व**=पराजित कर। ४. तू सचमुच इनका पराजय करनेवाली **सहस्रवीर्या**=अनन्त शक्तिवाली अथवा हास्ययुक्त-प्रसन्नतापूर्ण शक्तिवाली है, (स+हस्)। ५. **सा**=वह तू **मा**=मुझे **जिन्व**=प्रीणित करनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से युक्त पत्नी से ही पति प्रसन्नता का अनुभव कर पाता है। ऐसी ही पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देने के कारण प्रस्तुत मन्त्र की ऋषिका 'सविता' बनती है (सावित्री=सविता लिंगव्यत्ययः अथवा स्वसृ आदि में पाठ मानकर ङीप् नहीं हुआ)।

भावार्थ—पत्नी कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाली हो, तभी वह शक्तिसम्पन्न होगी और उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बनेगी।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—२७,२९ निचृद्गायत्री, २८ गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मधुर-ही-मधुर

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥२७॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२८॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२॥ऽअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥२९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अपना सुन्दर जीवन बनानेवाले व्यक्ति ही 'ऋतायन्' हैं, ऋतम् आत्मन इछन्ति=जो अपने जीवन में सब क्रियाएँ ऋत के अनुसार करते हैं। **ऋत**=right=ठीक, उनकी सब क्रियाएँ ठीक स्थान व ठीक समय पर ही होती हैं। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। इनका जीवन यज्ञिय होता है। ये लोग स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं, सर्वभूतहिते रतः होते हैं। २. इस **ऋतायते**=ऋतमय जीवनवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=मधुर होकर बहती हैं, हानिकर नहीं होती। **सिन्धवः**=नदियाँ भी इसके लिए **मधु**=मधुर बनकर **क्षरन्ति**=चलती हैं। इसके लिए नदियों का जल सदा स्वास्थ्यवर्धक ही होता है। **नः**=हम ऋत का पालन करनेवालों के लिए **ओषधीः**=ओषधियाँ **माध्वीः**= माधुर्यवाली **सन्तु**=हों। ३. मन्त्र में यह क्रम द्रष्टव्य है कि वर्षा की वायुएँ चलती हैं, नदियाँ बहती हैं और ओषधियाँ उत्तम होती हैं। ४. **नक्तं मधु**=रात्रि इसके लिए माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल भी मधुर हों। रात्रि में यह मीठी नींद सोये, उषः इसके सब दोषों का दहन करती हुई इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बना दे। ५. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक या पृथिवी की मिट्टी इसके लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाली हो। इसके शरीर पर मलने से इसके सब विष दूर हों **पिता द्यौः**=पितृतुल्य यह द्युलोक **नः**=हमारे लिए **मधुः अस्तु**=माधुर्यवाला हो। पृथिवी माता हो और द्युलोक पिता। माता-पिता की भाँति ये ऋतायन् के लिए हितकारी हों। संक्षेप में दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक सब इसके लिए हितकारी हों। ६. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों, **सूर्यः मधुमान् अस्तु**=सूर्य माधुर्यवाला हो। **गावः**=गौवें भी **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=माधुर्यपूर्ण दूध देनेवाली **भवन्तु**=हों। वस्तुतः सूर्य किरणों से वनस्पतियाँ भी प्राणशक्ति-सम्पन्न होती हैं और उनका सेवन करनेवाली गौवें भी उत्तम दूध देनेवाली होती हैं। ७. एवं, हमारा जीवन ऋतमय हो तो सारा ही आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है, हमारे लिए मधुर होता है। जीवन में से ऋत के चले जाने पर ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ऋतमय हो, जिससे हमारा संसार मधुर बने। ऋतमय जीवनवाला ही गोतम, प्रशस्तेन्द्रिय होता है। ऐसा होने पर ही इन्द्र की कृपा होती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कर्म व्यापृति

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।

अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥३०॥

१. **अपाम्**=कर्मों की **गम्भन्**=(गम्भीरे) गम्भीरता में **सीद**=तू स्थित हो, अर्थात् सदा

गम्भीरता से कर्मों में व्यापृत रह। गम्भीरता का अभिप्राय प्रसन्नता का अभाव नहीं है। इसका तात्पर्य है तेरे जीवन में उथलापन व विलास न आ जाए। २. गम्भीरता से कर्मों में लगे रहने पर **सूर्यः**=सूर्य **त्वा**=तुझे **मा अभितापसीत्**=समाप्त करनेवाला न हो। वस्तुतः क्रियाशून्य—आराम से लेटनेवाले को ही सर्दी-गर्मी लगा करती है। कार्यव्यापृत मनुष्य इनसे इतना व्याकुल नहीं होता। ३. **वैश्वानरः अग्निः**=देह में स्थित जाठराग्नि भी तुझे **मा**=सन्तप्त न करे। कर्म में लगे हुए व्यक्ति का अमाशय भी स्वस्थ रहता है। पाचनशक्ति की कमी आलसियों को ही सताती है। ४. कार्यव्यापृतता से पूर्ण स्वस्थ बनकर तू **अच्छिन्नपत्राः**=(अच्छिनानि पत्राणि अक्षयं वा यासाम्) अखण्डित अवयवोंवाली **प्रजाः**=सन्तानों को **अनुवीक्षस्व**=निरन्तर अपने पीछे आता हुआ देख, अर्थात् यह कर्मव्यापृति माता-पिता को पूर्ण स्वस्थ बनाकर अति सुन्दर सर्वांग सन्तानों को प्राप्त कराती है। ५. **अनु**=पीछे, अर्थात् अन्त में **त्वा**=तुझे **दिव्या वृष्टिः**=धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वृष्टि **सचताम्**=सेवन करे। इस कार्यव्यापृति से तू चित्त की एकाग्रता के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग को प्राप्त होनेवाला हो और यह कर्म-कुशलतारूपी योग का अभ्यास तुझे अद्भुत आनन्द देनेवाला हो।

भावार्थ—प्रतिक्षण प्रसन्नता से स्वधर्म में लगे रहने से, आलस्य को त्यागकर मूर्त्तिमान् कर्म बन जाने से मनुष्य १. सर्दी-गर्मी को सहन कर पाता है। २. उसकी पाचनशक्ति ठीक बनी रहती है। ३. उसकी सन्तानें स्वस्थ, सर्वाङ्ग होती हैं। ४. उसे एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तीन समुद्र व तीन स्वर्ग—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में,

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभऽइष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥३१॥

१. मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **त्रीन् समुद्रान्**=(समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूत-भविष्यद्वर्त्तमानान् समयान्—द०) भूत, वर्त्तमान व भविष्यत्—तीनों कालों में **समसृपत्**=सम्यक्तया गति करता है और इस प्रकार इन तीनों कालों को **स्वर्गान्**=स्वर्ग बना देता है। क्रियाशीलता जीवन को स्वर्ग बनाती है। क्रियाशील व्यक्ति के लिए तीनों काल सुखद बने रहते हैं। २. यह **अपां पतिः**=कर्मों का रक्षक, अपने जीवन में कर्मों को नष्ट न होने देनेवाला **इष्टकानाम्**=घरों में यज्ञशील पत्नियों का (यज्+क्त=इष्ट=यज्ञ) **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाला बनता है, अर्थात् क्रियाशील व्यक्ति सारे घर को सुखी बना देता है। क्रियाशील गृहस्थ का घर स्वर्ग होता है। ३. प्रभु कहते हैं कि **पुरीषम्**=(पृ पालने) पालनात्मक कर्मों को **वसानः**=धारण करता हुआ, अर्थात् सदा पालनात्मक कर्मों में लगा हुआ तू **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **तत्र** =वहाँ **गच्छ**=जा, **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=(पृ पूरणे) पालन-पूरण करनेवाले लोग **परेताः**=गये हैं। जो भी व्यक्ति पालनात्मक कर्मों में लगा रहता है वह पुण्यकृत् लोगों के उत्तम लोकों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—१. मनुष्य तीनों कालों में—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में अथवा बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सदा कार्यों में लगा रहे, तभी इसके तीनों काल स्वर्ग बनते हैं। २. यज्ञशील पति घर में पत्नियों के जीवन को सुखी बनाता है। ३. यह पालनात्मक कर्मों को करनेवाला व्यक्ति सदा पुण्यकृत् लोगों के लोकों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-पूर्ति

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः॥३२॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' इस वैदिक कथन के अनुसार पिता द्युलोक के समान है, माता पृथिवी के, अतः प्रभु कहते हैं कि—**मही द्यौः**=(मह पूजायाम्, दिवु=द्योतने) पूजा की मनोवृत्तिवाला तथा प्रकाशमय जीवनवाला पिता **च**=और **मही पृथिवी**=पूजा की मनोवृत्तिवाली तथा विस्तृत हृदयवाली माता **नः**=हमारे द्वारा वेदों में प्रतिपादित **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=(स्वैः स्वैः भागैः पूरयताम्—म०) अपने-अपने कर्त्तव्य भागों से पूर्ण करें। वेद में प्रभु ने नाना यज्ञों का उपदेश दिया है। इन्हीं यज्ञों से मनुष्य को फूलना-फलना है। प्रभु कहते हैं कि पति-पत्नी मिलकर इन यज्ञों को पूर्ण करने का प्रयत्न करें। २. इस प्रकार ये पति-पत्नी यज्ञों द्वारा **भरीमभिः**=भरणात्मक कर्मों से **नः**=हमें **पिपृताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः ये इन यज्ञात्मक कर्मों से ही अपने में प्रभु के निवास का कारण बनते हैं। यज्ञ हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञों में लगना अर्थात् लोकहित में लगे रहना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो भक्ततम है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। यज्ञों से हम प्रभु को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

विष्णु बनना

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञों पर बल दिया है। प्रस्तुत मन्त्र में सारे ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले प्रभु की ओर ध्यान दिलाते हैं और कहते हैं कि **विष्णोः**=(विष्णुर्वाव यज्ञः) उस यज्ञरूप प्रभु के **कर्माणि**=धारण के लिए किये जाते हुए कर्मों को **पश्यत**=देखो। २. **यतः**=प्रभु के कर्मों को देखने से मनुष्य **व्रतानि**=अपने कर्मों को भी **पस्पशे**=देखता है। उदाहरणार्थ—प्रभु दयालु हैं—यह भी दयालु बनने का ध्यान करता है। प्रभु न्यायकारी हैं—यह भी न्याय को अपनाता है। ३. इस प्रकार यह प्रभु के कर्मों से अपने कर्मों का निश्चय करनेवाला—प्रभु को ही अपना पुरोहित (model) बनानेवाला 'गोतम' उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है अथवा प्रभु को आदर्श मानकर कर्म करनेवाले **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का वह विष्णु **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला—अटूट मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्मों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करें। ऐसा करने पर वे प्रभु सदा हमारे पूर्ण मित्र होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—जातवेदाः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी व पति की विशेषताएँ

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्योऽअधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥३४॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के कर्मों को देखकर कर्त्तव्य-निर्धारण की बात कही है। वैसा

करनेवाली एक गृहिणी के लिए कहते हैं कि **ध्रुवा असि**=तू अपने जीवन में ध्रुव बनती है, मर्यादा से कभी विचलित नहीं होती। २. **धरुणा**=प्रभु की भाँति ही तू घर के सभी सभ्यों का धारण करनेवाली बनती है। ३. **इतः**=इन धारणात्मक कर्मों से **प्रथमं जज्ञे**=सर्वोत्तम विकास को प्राप्त करती है (progress of the first rank)। वस्तुतः जीवन का इससे अधिक विकास हो ही क्या सकता है कि हम प्रभु की पद-पद्धति पर प्रयाण करनेवाले बनें। ४. **एभ्यः योनिभ्यः**=इन जन्म-मरण की कारणभूत योनियों से **अधि जातवेदाः**=वे प्रभु ऊपर स्थित हैं, वे प्रभु अजर व अमर हैं। एक कर्मयोगी भी उस प्रभु की महिमा को जानता हुआ पुण्यकर्मा बनकर, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। एक गृहिणी भी इसी प्रकार धारणात्मक कर्मों में लगी हुई उस प्रभु को पाती है। ५. पति के लिए कहते हैं कि **सः**=वह **गायत्र्या**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति की रक्षा के साथ, **त्रिष्टुभा**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों के रोकने के साथ तथा **अनुष्टुभा**=प्रतिक्षण प्रभु का स्मरण करने के साथ **देवेभ्यः**=विद्वानों से **हव्यम्**=ग्रहणीय ज्ञान को **वहतु**=धारण करे और इस प्रकार **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला हो। **देवेभ्यः हव्यं वहतु**=इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा हव्य को धारण करे, अर्थात् पवित्र पदार्थों को ही खाये और साथ ही दानपूर्वक बचे हुए को ही खानेवाला बने। यह वह मार्ग है जिसपर चलकर जीव भी प्रभु की भाँति इन योनियों से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता।

भावार्थ—पत्नी ध्रुवा व धरुणा हो। पति हव्य का सेवन करनेवाला हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—जातवेदाः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सम्राट्-स्वराट्

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्नऽऊर्जेऽअपत्याय।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम्॥३५॥

१. इस संसार के अन्दर पति-पत्नी क्या-क्या करें? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इषे**=अन्न के लिए **राये**=धन के लिए **रमस्व**=तू क्रीड़ा कर, प्रसन्नतापूर्वक यत्न कर। वस्तुतः गृहस्थ का सारा खेल अन्न व धन जुटाने से ही प्रारम्भ होता है। अन्न और धन के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता। २. **सहसे**=सहनशक्ति के लिए, सहनशक्ति देनेवाले बल के लिए **द्युम्ने**=यश के लिए **रमस्व**=यत्न कर। गृहस्थ में मनुष्य को बहुतों से मिलकर चलना है। कितनी ही बातों को सहन करना है। सहनशील व्यक्ति ही यशस्वी बन पाता है। असहनशील तो सभी को अपना शत्रु बना लेता है। ३. **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **अपत्याय**=वंश को विच्छिन्न न होने देनेवाली (न+पत्) उत्तम सन्तान के लिए **रमस्व**=रमण कर, यत्नशील हो। बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वस्थ सन्तान को जन्म देता है, ४. परन्तु उल्लिखित सब बातों के लिए तू **सम्राट् असि**=सम्राट् बना है, शासक बना है। **स्वराट् असि**=अपना ही शासक बना है, किसी और का नहीं। स्वयं इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही उत्तम सन्तान को जन्म देता है। ५. अपने पर शासन करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मन व इन्द्रियों को वश में करे, अतः कहते हैं कि **सारस्वतौ उत्सौ**=(मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती एतौ सारस्वतौ उत्सौ—श० ७।५।१।३१) मन और वाणी—ये दोनों **त्वा प्रावताम्**=तेरी रक्षा करें, अर्थात् ये दोनों तुझे विषयप्रवण न होने दें। इन दोनों को ही

तू भक्ति व ज्ञान में लगानेवाला बन। यह 'स्वराट्' बनने का मार्ग है। मन भक्ति में लगा हो, वाणी ज्ञान-प्राप्ति में। बस, फिर विषय-पङ्क में मग्न होने की आशंका नहीं। तैत्तिरीय में 'ऋक्साम वै सारस्वतौ उत्सौ' कहा है—विज्ञान व उपासना ही 'सारस्वत उत्स' हैं। मन का उपासना से सम्बन्ध है, वाणी का ज्ञान से, अतः भाव में कोई अन्तर नहीं है। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाना ही अपना रक्षण है। ऐसा करने से ही मनुष्य 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बना रहता है।

भावार्थ—हम स्वराट् बनें। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अश्वासः-मन्यवे

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥३६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य 'स्वराट्'=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भारद्वाज' होता है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप कृपा करके हमारे इस शरीररूप रथ में **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=उन घोड़ों—इन्द्रियरूप अश्वों को—जोतिए। **ये तव अश्वासः**=जो आपके घोड़े—अश्व हैं, (अश् व्याप्तौ), निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। २. **साधवः** (साध्नुवन्ति परकार्याणि)=जो सदा उत्कृष्ट कार्यों को अथवा परार्थ को सिद्ध करनेवाले हैं। जो स्वार्थ के कारण दूसरों के हित का ध्वंस नहीं करते। ३. **अरम्**=(अलं-अत्यर्थम्) जो खूब ही **वहन्ति**=शरीररूप रथ को ले-चलते हैं, जो थकते नहीं। ४. और इस प्रकार निरन्तर अपने-अपने कार्य में लगे हुए **मन्यवे**=(दीप्तये-उ०) ज्ञान की दीप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं अथवा (यज्ञाय-म०) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराएँ और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगी रहें। ५. निरन्तर कर्मों में लगी हुई ये इन्द्रियाँ उसे शक्तिशाली बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उसके अन्दर ज्ञान का वर्धन करती हैं। 'वाज' के शक्ति व ज्ञान दोनों ही अर्थ हैं, अतः ये इन्द्रियाँ इसे शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके सचमुच 'भारद्वाज' बना देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होनेवाली, परहित को सिद्ध करनेवाली, अनथक कार्य करनेवाली तथा हमें ज्ञान-दीप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

होता-पूर्व्यः

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥३७॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार शरीर में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतकर यह 'भारद्वाज' बड़े विशिष्ट रूपवाला बन जाता है—'विरूप' हो जाता है। इस विरूप से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपनी अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **अश्वान् युक्ष्व**=इस शरीर में उन घोड़ों को जोत जो सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं तथा **देवहूतमान्**=तुझमें अतिशयेन दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले हैं, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों

से भर देनेवाले हैं। २. **रथीः इव**=तू एक उत्तम रथ-स्वामी के समान बन (रथोऽस्यास्तीति-ईर= मत्वर्थे)। जैसे एक उत्तम सारथि घोड़ों को न आलसी होने देता है और न ही उन्हें मार्ग-भ्रष्ट होने देता है, उन्हें लक्ष्य स्थान की ओर अग्रसर करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार तू भी इन इन्द्रियाश्वों को न अकर्मण्य होने दे और न विषयासक्त होने दे। इनके द्वारा निरन्तर उन्नति करता हुआ तू भी मोक्ष तक पहुँच। ३. **होता**=इस संसार में दानपूर्वक अदन करनेवाला बन—यज्ञ-शेष का सेवन करनेवाला बन, अथवा अपने में ज्ञान की आहुति देनेवाला बन। ४. **पूर्व्यः**=तू सर्वप्रथम स्थान में पहुँचा हुआ होकर ही **निषदः**=नम्रता से आसीन हो। जब तक तू मोक्षरूप परम स्थान में न पहुँच जाए तब तक तेरा 'यज्ञों को करना—ज्ञान की दीप्ति को अपने में भरना' रूप पुरुषार्थ समाप्त न हो, तू बीच में ही बैठ न जाए। तू सबसे अग्र स्थान में पहुँचकर ही दम ले।

भावार्थ—विशिष्ट रूपवाला वही बनता है जोकि १. अपने में दिव्यता का अवतरण करता है। २. दानपूर्वक अदन करता है। ३. लक्ष्य स्थान पर पहुँचकर ही विश्रान्त होता है। ४. इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया वश में करके उन्हें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता और आगे-आगे बढ़ता चलता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस्

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेः ॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को उत्तम सारथि की भाँति पूर्णतया वश में करके चलता है तब उसका ज्ञान इस प्रकार बढ़ता है कि उसमें **धेनाः**=(वाक्—नि० १।११) ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों की भाँति **सम्यक् स्रवन्ति**= उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **अन्तः**=उसके अन्दर **हृदा**=हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धा से तथा **मनसा**=मननशक्ति से, ज्ञानवर्धक तर्क-वितर्क से **पूयमानाः**= पवित्र की जाती हैं, अर्थात् एक जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की वाणियों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करता है और अपने उस ज्ञान को तर्क-वितर्क से सदा शुद्ध बनाये रखता है। तर्क उसके ज्ञान में किसी मलिनता को नहीं आने देता। श्रद्धा से उसका ज्ञानांकुर सिक्त होकर बढ़ता है तो तर्क से उसके ज्ञान-वृक्ष के पत्तों में कीड़े नहीं लगते। २. अब यह 'विरूप'=प्रत्येक पदार्थ का विशिष्ट प्रकार से निरूपण करनेवाला कहता है कि मैं अपने अन्दर **घृतस्य**=मलिनता का क्षरण करनेवाली ज्ञान-दीप्तियों की **धाराः**=वाणियों को (धारा=वाक्—नि०) अथवा धाराओं को **अभिचाकशीमि**=देखता हूँ। इस प्रकार इस विरूप को अपने अन्दर प्रकाश दिखता है। ३. **अग्नेः**=प्रकाशमय अन्तःकरणवाले, अग्रेणी पुरुष के **मध्ये**=हृदयाकाश में **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला (वी=क्षेपण) परमात्मा निवास करता है। वस्तुतः ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं—अतः ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला पुरुष प्रभु की ओर बढ़ रहा है और अन्त में यह प्रभु को पा लेता है। हृदयासीन प्रभु का यह दर्शन करता है।

भावार्थ—हममें ज्ञान की वाणियाँ बहें, अर्थात् हम निरन्तर स्वाध्याय करें। श्रद्धा व तर्क से ज्ञान को निर्मल करें। जब इस ज्ञान के प्रकाश को हम अपने में देखेंगे तब हृदय

में उस प्रभु का दर्शन करेंगे जो ज्योतिर्मय हैं और सब बुराइयों को परे फेंक देते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वाजी=गति देनेवाला

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥३९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय में उस 'हिरण्यगर्भ' प्रभु का दर्शन करनेवाला 'विरूप' कहता है कि **ऋचे त्वा**=मैं स्तुति (ऋच् स्तुतौ) के लिए तुझे प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे स्तुतिमय जीवनवाला कर देता है—मुझे किसी की निन्दा करना व सुनना रुचिकर ही नहीं रहता। २. **रुचे त्वा**=उत्तम रुचि के लिए आपको प्राप्त होता हूँ। मेरी इच्छाएँ व मानस झुकाव उत्तम हों, इसके लिए मैं आपके समीप आता हूँ। **३. भासे त्वा**=पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की आँख में प्रकट होनेवाली चमक (दीप्ति) के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे पूर्ण स्वस्थ करता है और स्वास्थ्य की झलक मेरी आँख की दीप्ति में दिखती है। ४. **ज्योतिषे त्वा**=आपकी वाणी को सुनते हुए मैं ज्ञान की ज्योति प्राप्त करने के लिए आपको प्राप्त करता हूँ। आपकी उपासना मेरे श्रोत्रों को आपकी वाणी को सुनने के योग्य बनाती है और इस प्रकार मेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता है। ५. इस ज्ञान के बढ़ने से मैं देख पाता हूँ कि **इदम्**=यह ब्रह्म ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का **वाजिनं अभूत्**=प्रेरक बल है, गति देनेवाली शक्ति है (वाज=बल, वाजिनम्=बलवाला) सारा ब्रह्माण्ड इसी से गति दिया जा रहा है **'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**=सब भूतों को प्रभु ही गति दे रहे हैं। ५. **च**=ब्रह्माण्ड को तो वे गति दे ही रहे हैं, इस प्राणियों के देह में स्थित **वैश्वानरस्य अग्नेः**=सब नरों की हितकारी जाठराग्नि को भी वे प्रभु ही गति दे रहे हैं। सब ब्रह्माण्डों व पिण्डों का सञ्चालन प्रभु ही कर रहे हैं।

भावार्थ—उस प्रभु की प्राप्ति से हमारी वाणी स्तुति ही करती है, निन्दा नहीं। हमारे मनों की रुचियाँ उत्तम ही होती हैं, हीन नहीं। हमारी आँख स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकती हैं और श्रोत्र ज्ञान-श्रवण से चमकते हैं। अन्ततः इस साक्षात् प्रभु को ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते हुए देखते हैं और अपने शरीरों में वैश्वानररूप से अन्न-पाचन भी उसी से होता देखते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अग्नि+रुक्म

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदाऽअसि सहस्राय त्वा ॥४०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ज्योति प्राप्त करनेवाला व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **ज्योतिषा ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योति से उत्तम ज्योतिवाला होता है और साथ ही **रुक्मः**=यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला **वर्चसः**=शरीर में होनेवाली वर्चस् शक्ति से—रोगकृमियों का संहार करनेवाली शक्ति से **वर्चस्वान्**=वर्चस्वी बनता है। (प्रभा=ज्योतिः, शरीरगतकान्तिः=वर्चः)। संक्षेप में यह 'ब्रह्म और क्षत्र' दोनों का विकास करता है। इसकी बुद्धि ज्ञान से दीप्त है, तो शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से। २. ज्ञानी व स्वस्थ बनकर यह

संसार में धनार्जन करनेवाला होता है, परन्तु उस धन को यह जोड़ता नहीं रहता। **सहस्रदाः असि**=सहस्रसंख्यक धनों का देनेवाला होता है **'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर'**=यह सैकड़ों हाथों से कमाता है, तो हज़ारों हाथों से देता भी है। ३. **त्वा**=इस देनेवाले तुझे **सहस्राय**=(स+हस्) मैं सदा आनन्दमयता प्रदान करता हूँ। वस्तुतः देने में ही आनन्द है। प्रभु पूर्णरूप से दाता है, अतः वे पूर्ण आनन्दवाले हैं। जीव भी जितने अंश में दान करनेवाला होता है, उतने ही अनुपात में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनकर ज्ञान-ज्योति से चमकें और वर्चस्वी बनकर रुक्म (तेजस्वी) हों। खूब कमाएँ, खूब दें, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

क्रोध व अभिमान का त्याग

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥४१॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि 'खूब दें'। दे वही पाता है जो लोभ से ऊपर उठता है। लोभ से ऊपर उठकर ही मनुष्य हृदय को पवित्र बना पाता है। लोभ से शरीर का स्वास्थ्य नष्ट होता है। लोभ से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार लोभ को छोड़ने से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी की उन्नति होती है। **पयसा**=इस आप्यायन-वर्धन-के द्वारा **आदित्यं गर्भम्**=उस ज्योतिर्मय गर्भवाले **'हिरण्यगर्भ'** प्रभु को **समङ्धि**=(समञ्जयसि) तू अपने में व्यक्त करता है, तुझे प्रभु का दर्शन होता है। २. उस प्रभु का जो **सहस्रस्य प्रतिमाम्**=आनन्दमयता की मूर्त्ति हैं अथवा शतशः धनों के दाता हैं (बहुधनप्रद-म०) और **विश्वरूपम्**=सब रूपों के प्रकाशक हैं। सम्पूर्ण ज्ञानों का निरूपण करनेवाले है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन से (क) जीवन आनन्दमय होगा। (ख) सब आवश्यक धन प्राप्त होंगे तथा (ग) हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. उस प्रभु के दर्शन के लिए तू (क) **हरसा**=मानस स्वास्थ्य का हरण करनेवाले क्रोध से **परिवृङ्धि**=अपने को बचा (परिवर्जय), अर्थात् सदा क्रोध से बच। (ख) **माभि मंस्थाः**=अभिमान मत कर। अभिमान सारी उन्नति को समाप्त करके हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। प्रभु का सान्निध्य अहंभाव को समाप्त करनेवाला है। (ग) **चीयमानः**=स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञान की वृद्धि करता हुआ तू **शतायुषम्**=पूर्ण आयुष्य का, शत वर्ष के जीवन का **कृणुहि**=सम्पादन कर। सौ वर्ष तक नीरोगता से जीनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु की भक्ति शरीर, मन व बुद्धि के आप्यायन से होती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना यह है कि हम क्रोध छोड़ें, अभिमान न करें, और उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्रभु-प्राप्ति होने पर हमें आनन्द प्राप्त हो। इससे अनायास योगक्षेम चलेगा, ज्ञान बढ़ेगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मा हिंसीः

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानःसरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳहरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४२॥

१. विरूप के लिए कहते हैं कि अपनी इस विरूपता को स्थिर रखने के लिए **मा**

हिंसीः=निम्नलिखित वस्तुओं को नष्ट मत होने दे—(क) **वातस्य**=वायु की **जूतिम्**=(जूतिर्गतिः, वायुवत् शीघ्रगतिम्—म०) गति को अर्थात् वायु की भाँति शीघ्रगति को। वायु की अविच्छिन्न गति के समान तेरे जीवन में सदा क्रिया हो, तू कभी अकर्मण्य न बने। (ख) **वरुणस्य नाभिम्**=द्वेष-निवारण की देवता के बन्धन (नह बन्धने) को—व्रत को। तू अपने को इस दृढ़ बन्धन में बाँध कि तूने कभी किसी से द्वेष नहीं करना। शक्ति की अल्पता के कारण हम सबका भला करने में समर्थ न हो सकेंगे, परन्तु 'किसी से द्वेष न करना, किसी के अहित की बात को मन में नहीं आने देना' इस व्रत का पालन तो असम्भव नहीं है। (ग) **सरिरस्य**=(सृ गतौ) गतिशीलता के तथा (सरिरं=जलं, 'सरस्वती'=ज्ञान-जल के प्रवाहवाली) ज्ञान-जल के **मध्ये**=बीच में **जज्ञानम्**=विकसित होते हुए **अश्वम्**=इन्द्रिय-समूह को। तू अपनी कर्मेन्द्रियों को सदा क्रिया में व्याप्त रख तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-जल का ग्रहण करनेवाला बन। अपने-अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियाँ ही सबल बनती हैं। सबल बनने के साथ वे विषयों की ओर झुकाववाली भी नहीं होतीं। २. विरूप के लिए अन्तिम बात यह कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक विरूप! तू **नदीनाम्**=स्तोताओं के **शिशुम्**=सन्तान, उनके हृदयों में प्रकट होने के कारण उनके सन्तानतुल्य (हृदयात् अधिजायसे) अथवा (शो तनूकरणे) स्तोताओं की बुद्धि तीव्र करनेवाले **हरिम्**=बुद्धि देकर दुःखों का हरण करनेवाले **अद्रिबुध्नम्**=(अ+दृ) न विदारण के योग्य अथवा न नष्ट होनेवाले सबके आधारभूत **परमे व्योमन्**=तेरे उत्कृष्ट हृदयाकाश में स्थित प्रभु को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर, आँख से ओझल मत होने दे (नश अदर्शने)। अपने हृदय में सदा इस प्रभु का दर्शन कर और वायुवत् कार्यों में लगा रह।

भावार्थ—१. विरूप—विशिष्ट रूपवाले के लिए क्रिया इस प्रकार स्वाभाविक हो जाए जैसे वायु के लिए। २. वह किसी से द्वेष न करे। ३. इन्द्रियों को गति व ज्ञान में रखकर विकसित शक्तिवाला हो और ४. हृदयदेश में स्थित उस प्रभु को कभी भूले नहीं जो स्तोताओं के ज्ञान को बढ़ाते हैं, उनके कष्टों का निवारण करते हैं, और उनके न हिंसित होने का आधार बनते हैं।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**— निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मा हिंसीः

अज॑स्त्र॒मिन्दु॑मरु॒षं भु॑र॒ण्यु॒मग्निमी॑डे पू॒र्वचि॑त्तिं॒ नमो॑भिः।
स पर्व॑भिर्ऋतु॒शः कल्प॑मानो॒ गां मा हि॑ꣳसी॒रदि॑तिं वि॒राज॑म्॥४३॥

१. पिछले मन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'विरूप' कहता है कि मैं **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **नमोभिः**=नमनों के द्वारा, अभिमान को छोड़कर नम्रता धारण के द्वारा **ईडे**=स्तुति करता हूँ। जो प्रभु २. **अजस्त्रम्** =(अनुपक्षीणम्—द०) कभी क्षीण नहीं होते। मैं भी तो इस अनुपक्षीण प्रभु का स्तवन करता हुआ अक्षीण बन पाऊँगा। ३. **इन्दुम्**=(इन्द to be powerful) जो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं अथवा जो प्रभु परमैश्वर्यवाले हैं। ४. **अरुषम्**=जो प्रभु (अ-रुष्) क्रोधशून्य हैं। वस्तुतः अनुपक्षीणता व शक्तिमत्ता का रहस्य है ही अक्रोध में। क्रोध से ऊपर उठकर मैं भी क्षय व निर्बलता से ऊपर उठता हूँ। ५. **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं। वे प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता व परमैश्वर्य से सभी का भरण कर रहे हैं, मैं भी यथाशक्ति भरण करनेवाला बनूँ। ६. **पूर्वचित्तिम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि

ऋषियों को वेदज्ञान देनेवाले प्रभु को में उपासित करता हूँ। सच्चा उपासक बनकर मैं भी उस चिति व ज्ञान का अधिकारी बनता हूँ। ७. 'विरूप' के इस संकल्प को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **पर्वभिः**=पर्वों से, पूर्णिमा व अमावास्या से तथा **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु से **कल्पमानः**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **गाम्**=वेदवाणी को **अदितिम्**=अखण्डन व स्वास्थ्य को **विराजम्**=विशिष्ट शासन को **मा हिंसीः**=मत नष्ट होने दे, अर्थात् 'पूर्णिमा' के दिन 'मुझे पूर्ण बनना है—प्राणादि सोलह-की-सोलह कालाओं को अपने में संगृहीत करनेवाला होना है' इस भावना को दृढ़ कर। अमावस के दिन 'साथ रहने की भावना—मिलकर चलने की वृत्ति—को दृढ़ कर। ग्रीष्म में पसीने के साथ सब मलिनता को दूर करके पवित्र बनने की भावनावाला हो। वर्षा में सबपर सुखों की वृष्टि करने की भावनावाला हो।' सब मलों को शीर्ण करना सीख! हेमन्त तुझे गति व वृद्धि की प्रेरणा दे रहा है और शिशिर (शश प्लुतगतौ) तुझे स्फूर्ति से क्रिया करनेवाला बनाये। इस प्रकार पर्वों व ऋतुओं से प्रेरणा लेता हुआ तू अपने को शक्तिशाली बना। अपने जीवन में कभी वेदज्ञान की वाणियों को नष्ट न होने दे। तेरा स्वाध्याय सतत चले यही तेरा परम तप हो। ज्ञान के द्वारा विषयासक्ति को दूर करके तू अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख। तेरा स्वास्थ्य खण्डित न हो (health का break down न हो)। इस स्वास्थ्य को—शारीरिक ही नहीं अपितु मानस स्वास्थ्य को भी नष्ट न होने देने के लिए तू विराजम्—अपनी इन्द्रियों व मन का उत्तम शासन करनेवाला बन। इस प्रकार ज्ञान (गौः) तेरे मस्तिष्क को, अदिति तेरे शरीर को तथा विराज तेरे मन को दीप्त करनेवाले होंगे और यही तेरा सच्चा स्तवन भी होगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और ज्ञान, स्वास्थ्य व मानस शासन को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

असुरस्य माया

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳरजसः परस्मात्।
महीꣳसाहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४४॥

१. हे विरूप! गत मन्त्र के अनुसार स्तवन करनेवाला बनकर विशिष्टरूपता को सिद्ध करनेवाला और **अग्ने**=आगे बढ़नेवाला! तू **परमे व्योमन्**=इस हृदयाकाश में प्रभु के स्थापन के कारण उत्पन्न हुई **असुरस्य मायाम्**=प्राणशक्ति देनेवाले (असून् राति) प्रभु की प्रज्ञा को, जहाँ प्रभु हैं वहाँ प्रभु का प्रकाश तो होगा ही, **मा हिंसीः**=नष्ट मत कर। अपने हृदय को उस प्राणों के प्राण प्रभु की प्रज्ञा से पूर्ण रख जो प्रज्ञा २. **त्वष्टुः वरुणस्य**=संसार के निर्माता प्रभु की **वरूत्रीम्**=वरण करनेवाली है। जो प्रज्ञा प्रभु को प्राप्त करानेवाली है। ३. जो प्रज्ञा **वरुणस्य नाभिम्**=श्रेष्ठता का केन्द्र है। प्रज्ञा ही मनुष्य को द्वेषादि से ऊपर उठाकर उत्तम जीवनवाला बनाती है। **अविम्**=जो रक्षण करनेवाली है तथा जो प्रज्ञा **रजसः परस्मात्**=रजोगुण से पर-देश में **जज्ञानाम्**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् जो प्रज्ञा रजोगुण से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। ४. **महीम्**=यह प्रज्ञा तुझे 'मह पूजयाम्' पूजा की मनोवृत्तिवाला बनाती है। ५. **साहस्रीम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्) यह प्रज्ञा तुझे हजारों के उपकार में सक्षम करती है। तू अधिक-से-अधिक कल्याण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम हृदयाकाश में प्रकट होनेवाले प्रभु के प्रकाश को नष्ट न होने दें,

जिससे हम द्वेष व दुर्गुणों से ऊपर उठकर सहस्रशः प्राणियों का कल्याण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु का प्रिय कौन?

योऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्याऽउत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥४५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की प्रज्ञा को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ऐसा बनाते हैं कि हमपर प्रभु का कोप नहीं होता, प्रत्युत हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तम्**=उस व्यक्ति को **ते हेडः**=तेरा क्रोध **परिवृणक्तु**=(परिवर्जयतु—उ०) छोड़ दे। वह व्यक्ति आपके कोप का पात्र न हो। कौन? २. **यः**=जो **अग्नेः**=दक्षिणाग्निरूप माता से, गार्हपत्याग्निरूप पिता से, आहवनीयाग्नि आचार्य से **अग्निः** =उन्नत जीवनवाला, अपने को अग्र स्थान में प्राप्त करानेवाला बनता है। वह **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** उत्तम माता-पिता व आचार्यवाला होकर ज्ञान के प्रकाश से चमकता है। ३. **यः**=जो **पृथिव्याः**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के **शोकात्**=(शुक् दीप्तौ) स्वास्थ्य की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रादुर्भूत होता है, प्रकट होता है। यह शरीर प्रभु ने 'ऋषियों के आश्रम' (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) व **'देवों के मन्दिर'** (सर्वा यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते) के रूप में बनाया है। इसे स्वस्थ व निर्मल रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है। ४. **यः**=जो **उत वा**=अपिच=**दिवः परि**=(द्युलोकोपरि स्थितात्—मा०) मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित **शोकात्**=ज्ञान की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रकट होता है। संक्षेप में जो स्वस्थ शरीरवाला तथा दीप्त मस्तिष्कवाला है, वही प्रभु का प्रिय होता है। यही आदर्श पुरुष है। इसी ने क्षत्र व ब्रह्म का अपने में समन्वय किया है। ५. प्रभु का प्रिय वह बनता है **येन**=जिससे **विश्वकर्मा**=सारे संसार को बनानेवाला प्रभु **प्रजाः**=उत्तम सन्तानों को **जजान**=उत्पन्न करता है, अर्थात् जो गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो १. उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनता है। २. शरीर में स्वास्थ्य की कान्तिवाला होता है। ३. मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि से दीप्त होता है तथा ४. उत्तम सन्तान का निर्माण करता है और उस सन्तान को प्रभु की ही समझता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वह प्रभु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥४६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु का प्रिय बनने का उल्लेख था। यदि हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तो प्रभु का तेज हममें भी प्रकट होता है। वे प्रभु सब देवों को देवत्व व द्युति प्राप्त कराते हैं। **देवानाम्**=सब देवों का **चित्रम्**=अद्भुत—पूजनीय **अनीकम्**=तेज (brilliance, splendour) **उदगात्**=उदय हुआ है। २. वे प्रभु ही **मित्रस्य**=दिवसाभिमानी इस दिन के देवता सूर्य के **वरुणस्य**=रात्र्यभिमानी—रात्रि के देवता चन्द्र के तथा **अग्नेः**=इस भौतिक पृथिवीस्थ अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को प्रकाश देनेवाले प्रभु ही हैं। ३.

उस प्रभु ने **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=समन्तात् पूर्ण किया हुआ है, वे प्रभु इनमें सर्वत्र व्याप्त हैं। उन्हीं की व्याप्ति से प्रत्येक पदार्थ विभूति से दीप्त हो रहा है। ४. **सूर्यः**=वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के सूर्य हैं, प्रकाशक हैं अथवा गति देनेवाले हैं। ५. वे **जगतःतस्थुषः च**=जङ्गम व स्थावर जगत् के **आत्मा**=आत्मा हैं। इन सबमें स्थित होकर इनका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—हम सब देवों के तेज प्रभु का सर्वत्र दर्शन करें और उसी को अन्तर्यामी जान अपने में 'पौरुष' के रूप में उस प्रभु को देखें।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्यापक दृष्टिकोण

इमं मा हिँसीर्द्विपादं पशुँसहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब जंगम स्थावर के अन्दर प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। सबमें प्रभु की व्याप्ति को देखनेवाला कभी किसी की हिंसा नहीं कर सकता, अतः प्रभु कहते हैं कि २. **इमम्**=इस **द्विपादं पशुम्**=दो पाँववाले पुरुषरूप पशु को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। सभी मनुष्यों का तू भला चाहनेवाला बन, औरों के अहित से तेरा हित सिद्ध होनेवाला नहीं। ३. **सहस्राक्षः**=तू हज़ारों आँखोंवाला हो, व्यापक दृष्टिकोणवाला हो। ४. **मेधाय**=तू तो उस प्रभु के साथ सङ्गम (मेधृ सङ्गमे to meet) के लिए **चीयमानः**=अपने में शक्तियों का सञ्चय व वर्धन करनेवाला बन। जब मनुष्य का उद्देश्य भौतिक हो जाता है तभी वह संकुचित भी बनता है और औरों की हिंसा से अपने पोषण का विचार करता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **मयुं पशुम्**=यह जो मृगविशेष पशु है **मेधम्**=(शुद्धम्) जो बड़ा शुद्ध व निर्दोष—किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला है, उसे तू **जुषस्व**=प्रेम करनेवाला बन। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू यहाँ स्थित हो। मयु कृष्णमृग है। ऋषियों के आश्रमों में इन मृगों का हम विशिष्ट स्थान देखते हैं, अतः यह हमारे जीवन के साथ निकटता से सम्बद्ध है। ६. हाँ, जो हरिण बहुत बढ़कर खेती आदि की हानि का कारण बनें उस **मयुम्** =हरिण को **ते**=तेरा **शुक्**=मन्यु **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उस हरिण को ही **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम कृष्यादि विनाशक होने से अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—हम सब मनुष्यों का भला करें। व्यापक दृष्टिकोणवाले बनें। प्रभु-सङ्गम के लिए अपनी शक्तियों का वर्धन करें। मयु आदि पशुओं से भी, अपने जीवन के लिए उन्हें उपयोगी जानते हुए प्रेम करनेवाले बनें। नाशक प्राणियों पर ही हमारा क्रोध हो।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

घोड़ा व आरण्य गौर

इमं मा हिँसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४८॥

१. गत मन्त्र की भावना का ही विकास करते हुए कहते हैं कि **इमं एकशफम् पशुम्**=इस एक खुरवाले पशु घोड़े को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर। वह जो **कनिक्रदम्**

(अत्यर्थं क्रन्दितारम्) ख़ूब उत्साहपूर्वक हिनहिनानेवाला है तथा **वाजिनेषु वाजिनम्**=(वेगवत्सु वेगवन्तः—उ०) वेगवालों में वेगवाला है, बड़ी तीव्र गतिवाला है। यह घोड़ा तेरे लिए 'क्षत्र' की वृद्धि करनेवाला है। २. यह घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी है। मैं **ते**=तेरे लिए इस **आरण्यम्**=वन में निवास करनेवाले **गौरम्**=मृगविशेष को भी **अनुदिशामि**=(ददामि—म०) देता हूँ अथवा उसका उपदेश करता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू निषण्ण हो, इस शरीर में स्वस्थ होकर रहनेवाला हो। इसका शृङ्ग तेरे पैत्तिक विकारों को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस मृग से तूने प्रेम ही करना, उसे मारना नहीं। ३. हाँ, **शुक्**=तेरा क्रोध **गौरम्**=हानिकर मृग को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, उसी मृग को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे कृष्यादि विनाशक होने के कारण **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी पशु है। आरण्य गौरमृग भी तेरे जीवन में उपयोगी है। यदि वह संख्या में बहुत बढ़कर तुम्हारी कृषि आदि के विनाशक हो जाएँ तभी तू उनपर क्रोध करना।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः।।

गौ-गवय

इमꣳसाहस्रꣳशतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳसरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४९॥

१. **इमम्**=इस **साहस्रम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्—म०) हज़ारों का उपकार करने में समर्थ **शतधारम्**=शतसंख्याक क्षीर-धाराओं से युक्त **उत्सम्**=दूध के कूएँ के समान अतएव **सरिरस्य**=(इमे वै लोकाः सरिरम्—श० ७।५।२।३४) इस लोक में **व्यच्यमानम्**=विविध रूप से उपजीव्यमान **घृतं दुहानाम्**=दूध के द्वारा घृत का प्रपूरण करती हुई **जनाय**=मनुष्यों के लिए **अदितिम्**=अदीना देवमाता के तुल्य अथवा (दो अवखण्डने) स्वास्थ्य को न खण्डित होने देनेवाली इस गौ को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। २. यह गौ तो तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में प्राप्त करानेवाली है। इसके दूध से तेरा स्वास्थ्य उत्तम होगा, मन निर्मल होगा, बुद्धि तीव्र बनेगी। इस प्रकार तेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जाएगी! ३. गौ का ही नहीं, मैं तो **ते**=तुझे **आरण्यं गवयम्**=इस जङ्गली गवय पशु को **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=अपने शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=निषण्ण हो। इस गवय के शृंग की भस्म तो तुझे कैन्सर से भी बचानेवाली होगी। ४. हाँ, **ते शुक्**=तेरा क्रोध **गवयम्**=हानिकर नील गाय को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु उसी नील गाय को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे ध्वंसक होने से **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—गौ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपकारी पशु है, इसे मारना नहीं, गवय से भी प्रेम करना है। हाँ, यदि वह ध्वंसक हो जाएँ तब उसे समाप्त करना ही है। यह न भूलना कि यह गौ तेरे लिए 'अदिति' है—तेरा किसी भी तरह खण्डन न होने देनेवाली है, अतः तू भी इसका खण्डन न करना, इसे 'अघ्न्या' समझना।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

ऊर्णायु+उष्ट्र (भेड़-ऊँट)

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५०॥

१. **इमम्**=इस **ऊर्णायुम्**=(ऊर्णावन्तं) ऊनवाली भेड़ को भी **मा हिंसीः**=मत मार। यह **वरुणस्य नाभिम्**=(वृ to cover) आच्छादक-साधनों का केन्द्र है। सर्दी के निवारण के लिए तुझे इसी से उत्तम आच्छादक वस्त्र प्राप्त होने हैं। यह भेड़ तो इस प्रकार **द्विपदाम्**=दो पाँववाले व **चतुष्पदाम्**=चार पाँववाले **पशूनाम्**=पशुओं के लिए **त्वचम्**=त्वचा की भाँति रक्षण करनेवाली है। मनुष्य तो इन ऊनी वस्त्रों को धारण करके शीत से अपनी रक्षा करते ही हैं—घोड़े आदि की पीठ पर भी मार्दव के लिए ऊनी वस्त्र डाला जाता है। २. यह भेड़ वस्तुतः **प्रजानां त्वष्टुः**=प्रजाओं के निर्माता उस प्रभु की **प्रथमं जनित्रम्**=बड़ी उत्तम रचना है (of the first water)। यह मानव-हित के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्रों का साधन बनती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! यह भेड़ भी तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में स्थापित करनेवाली है, स्वास्थ्य की रक्षिका होकर सचमुच कल्याण करनेवाली है। ४. भेड़ को तो तूने मारना ही नहीं, मैं **आरण्यं उष्ट्रम्**=इस वन्य उष्ट्र को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे अपने हलों, कूओं व गाड़ियों को चलाता हुआ तू **तन्वः चिन्वानः**=अपने शरीर की शक्तियों को बढ़ाता हुआ **निषीद**=इस शरीर में निवास कर। ५. हाँ, **उष्ट्रम्**=उस आरण्य ऊँट को **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु **तम्**=उसी आरण्य उष्ट्रं को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम नाशक होने से अप्रीतिकर समझते हैं।

भावार्थ—हम भेड़ की उपयोगिता समझें। ऊँट भी कितना उपयोगी है, परन्तु यदि वह पागल होकर ध्वंसक हो जाता है तब तो उसे समाप्त करना ही होता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

अज-शरभ

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सोऽअपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः। शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥५१॥

१. **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को दूर निराकृत करनेवाला जीव **हि**=निश्चय से **अग्नेः शोकात्**=प्रभु की ज्ञान-दीप्ति से **अजनिष्ट**=विकास को प्राप्त होता है, अर्थात् जब जीव निरन्तर कर्मों में लगा रहकर अपने से मलों को दूर रखता है तब उसके हृदय में प्रभु के ज्ञान का प्रकाश होता है, इस ज्ञान-प्रकाश से इसकी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=यह विकसित शक्तियोंवाला जीव **अग्रे**=अपने सामने **जनितारम्**=अपने पिता प्रभु को **अपश्यत्**=देखता है। इसे प्रभु का साक्षात्कार होता है। ३. **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सूर्यादि को वे प्रभु ही दीप्ति देते हैं। अग्नि आदि ऋषियों को भी

ज्ञान की दीप्ति देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **तेन**=उस प्रभु से ही **रोहम्**=वृद्धि को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **उप**=उस प्रभु के समीप रहते हुए **मेध्यासः**=पवित्र बने रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में इस मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार है—१. **अजः**=यह उछलने-कूदनेवाली बकरी **अग्नेः शोकात्**=अग्नि की दीप्ति से प्रकट होती है—इसके शरीर व दूध आदि में उष्णता होती है। इसका सहवास—इनके बीच में उठना-बैठना—क्षयरोगी को भी फिर से शक्ति प्रदान करा देता है। २. **सः**=यह अजः=बकरी का दूध **अग्रे जनितारम्**=उस सृष्टि के उत्पादक प्रभु को **अपश्यत्**=दिखाता है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र दृशिः)। अत्यन्त सात्त्विक होने से यह दूध मानव-मन को बड़ा निर्मल कर देता है, उस निर्मल मन में प्रभु-दर्शन सम्भव होता है। ३. **तेन**=इसी अजा-पय से—बकरी के दूध से **देवाः**=सब देव-विद्वान् **देवताम्**=ज्ञान-दीप्ति को **अग्रे आयन्**=सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं। इससे बुद्धि तीव्र होती है। ४. **तेन**=इस दूध से **रोहम्**=शक्ति की वृद्धि को अथवा सर्वाङ्गीण उन्नति को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **मेध्यासः**=पवित्र बनकर **उप**=उस प्रभु के समीप पहुँचते हैं। एवं, अत्यन्त उपयोगी होने से यह बकरी तो अहन्तव्य है ही। प्रभु कहते हैं कि ५. **आरण्यं शरभम्**=इस वन्य शरभ को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन** =उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों का **चिन्वानः**=चयन करता हुआ **निषीद**=तू इस शरीर में स्थित हो। ६. **ते शुक्**=तेरा क्रोध **शरभम्**=कृषि-विनाशक शरभ को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उसी शरभ को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे कृष्यादि विनाश के कारण हम अप्रिय समझते हैं।

भावार्थ—हम 'अज' की रक्षा करें। अप्रीतिकर हानिकर शरभ को दूर करें।

सूचना—परमं वै एतत् पयः यदजाक्षीरम्—तै० ५।१।७=सबसे बढ़कर यह दूध है जो बकरी का दूध है।

आग्नेयी वा एषा यदजा—तै० ३।७।३।१—यह अजा अग्नितत्त्व प्रधान है। **सा अजायत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमःपशुः**—श० ३।३।३।८ यह अजा वर्ष में तीन बार जनती है, अतः परम पशु है।

अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति—श० ६।५।४।१६ यह अजा सब ओषधियों का सेवन करती है, तभी इसका दूध 'सर्वरोगापह' होता है।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

उशना की जीवन-सिद्धान्त-त्रयी

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥५२॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार विरूप=पदार्थों का विशिष्ट रूप से निरूपण करनेवाला व्यक्ति सभी में प्रभु का वास अनुभव करता हुआ सभी का भला चाहता है—सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करता है। सभी का भला चाहने से ही 'उशनाः' (कामयमानः) नामवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि—२. **यविष्ठ**=हे बुराइयों को अपने से सुदूर करके अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करनेवाले! (यु मिश्रणामिश्रणयोः) **त्वम्** =तू **दाशुषः नॄन्**=तेरे प्रति अपना समर्पण करनेवाले लोगों को **पाहि**=सुरक्षित कर। तू शरणागत की रक्षा करनेवाला बन। ३. **गिरः शृणुधी**=तू सदा ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला बन। ये ज्ञान की वाणियाँ तेरे जीवन में पवित्रता बनाये रक्खेंगी, ये तेरे मस्तिष्क का भोजन होंगी, तेरे विचार दुर्बल न होंगे। यह नैत्यिक स्वाध्याय ही तेरा अध्यात्म-भोजन होगा और तुझे बड़ा

ऊँचा उठानेवाला होगा। ४. **उत**=और **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=सन्तान की **रक्ष**=रक्षा करनेवाला बन। अपने सन्तान की रक्षा का भार नौकरों पर मत डाल देना। अन्य कार्यों में लगे रहकर सन्तान-निर्माण की उपेक्षा से तेरी सन्तान विकृत जीवनवाली होकर समाज के लिए भार हो जाएगी, अत: समाज-निर्माण से तूने सन्तान-निर्माण को अधिक महत्त्व देना।

भावार्थ—उशना=हित की कामनावाले के तीन मौलिक सिद्धान्त होने चाहिए—(१) शरणागत की रक्षा (२) ज्ञान को नैत्यिक भोजन समझना। (३) स्वयं सन्तानों का संरक्षक बनना।

ऋषि:—उशना:। **देवता**—आप:। **छन्द:**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्ति:[उ], ब्राह्मीजगती[क], निचृद्ब्राह्मीपङ्क्ति:[र]।
स्वर:—पञ्चम:[उ, र], निषाद:[क]॥

ज्ञान-विज्ञान

[उ]अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि [क]सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि [र]गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥५३॥

१. प्रभु (सबका भला चाहनेवाले) उशना से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **अपाम् एमन्**=वायु में (वायुर्वा अपामेम—श० ७।५।२।४६) **सादयामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुझे वायु के ज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। 'वायु' का मानव-जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। इसके बिना एक पल भी जीवन का चलना सम्भव नहीं रहता, अत: वायुविद्या को सम्यग् जानकर शुद्ध वायु के सेवन से हमें अपने जीवन को 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनाना है। २. **त्वा**=तुझे **अपाम् ओद्मन्**=(ओषधयो वा अपामोद्म—श० ७।५।२।४७) ओषधियों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। ओषधि-विज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। इनका विज्ञान तुझे इनके रसों के समुचित प्रयोग में समर्थ करेगा। इनके समुचित प्रयोग से तू मलों का दहन करता हुआ पूर्ण स्वस्थ बनेगा। ३. **त्वा**=तुझे **अपां भस्मन्**=(अभ्रं वा अपां भस्म—श० ७।५।२।४८) इन मेघों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इन मेघों की विद्या को समझने पर जहाँ इनमें तुझे प्रभु की महिमा दिखेगी, वहाँ तू इन मेघ-जलों को ही 'अमरवारुणी'=देवताओं की मद्य जानकर उसका प्रयोग करता हुआ हर्षयुक्त जीवनवाला होगा। ४. **त्वा**=तुझे **अपां ज्योतिषि**=(विद्युद्वा अपां ज्योति:—श० ७।५।२।४९) विद्युत् में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। विद्युत् के ज्ञान का अधिपति बनकर तू विद्युत् द्वारा अपने यन्त्रों को चलाता हुआ ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला बनेगा। ५. **त्वा**=तुझे **अपाम् अयने**=(इयं वा अपाम् अयनम्—श० ७।५।२।५०) इस पृथिवी के ज्ञान में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस पृथिवी के ज्ञान से तू इसके द्वारा सब वस्तुओं को, निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को—प्राप्त करेगा। यह पृथिवी तो 'वसुन्धरा' है। ६. **त्वा**=तुझे **अर्णवे सदने**=(प्राणो वा अर्णव:—श० ७।५।२।५१) इस प्राणरूप घर में

सादयामि=बिठाता हूँ। प्राणविद्या में परिनिष्ठत होकर तू इन प्राणों को प्रबल बनानेवाला होगा। ये प्रबल प्राण तुझपर होनेवाले रोगों के आक्रमणों से तुझे बचानेवाले होंगे। ७. **त्वा**=तुझे **समुद्रे सदने**=(मनो वै समुद्रः—श० ७।५।२।५२) मनरूप सदन में **सादयामि**=बिठाता हूँ। इस मन की विद्या को अच्छी प्रकार समझकर जहाँ मनोनिरोध से तू अपनी ऊँचे-से-ऊँची स्थिति को प्राप्त करनेवाला होगा, वहाँ तू व्यावहारिक दोषों से भी बचा रहेगा। तू औरों की मनोवृत्ति को ठीक समझने के कारण ठीक ही बर्ताव करने में समर्थ होगा। ८. **त्वा**=तुझे **सरिरे सदने**=(वाग् वै सरिरम्—श० ७।५।२।५३) वाणीरूप सदन में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस वाणी का पूर्ण प्रभु बनकर जहाँ तू शत्रुओं के लिए घोर स्थिति का सर्जन करनेवाला होता है (ययैव ससृजे घोरम्), वहाँ अपनों के लिए शान्त वायुमण्डल को प्रस्तुत करता है (तयैव शान्तिरस्तु नः) ९. **त्वा**=तुझे **अपां क्षये**=(चक्षुर्वा अपांक्षयः—श० ७।५।२।५४) चक्षु में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस चक्षु के रहस्य को तूने समझना है। इसके महत्त्व को जानकर तू निश्चय से बहु-द्रष्टा बनने का प्रयत्न करेगा। सब ज्ञानों के मूल में यह दर्शन (observastion) ही होता है। १०. **त्वा**=तुझे **अपां सधिषि**=(श्रोत्रं वा अपांसधिः—श० ७।५।२।५५) श्रोत्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। श्रोत्र के महत्त्व को जानकर तू 'बहुश्रुत' बनेगा। 'सुनना अधिक बोलना कम' इस रहस्य को हृदयङ्गम करके तू संसार में यशस्वी भी होगा। ११. **त्वा**=तुझे **अपां सदने**=(द्यौर्वा अपां सदनम्—श० ७।५।२।५६) द्युलोक में—शरीरस्थ मस्तिष्क में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। मस्तिष्क के तत्त्व को समझकर तू इस मस्तिष्क के द्वारा अपने को ऊपर ले-जानेवाला बनेगा। १२. **त्वा**=तुझे **अपां सधस्थे**=(अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्—श० ७। ५।२।५७) अन्तरिक्ष में—शरीरस्थ इस हृदयान्तरिक्ष में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। तू सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ इस हृदयान्तरिक्ष को पवित्र करता है और वहाँ प्रभु का दर्शन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। १३. **त्वा**=तुझे **अपां योनौ**=(समुद्रो वा अपां योनिः—श० ७।५।२।५८) समुद्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। समुद्र-विद्या में निपुण बनकर जहाँ तू विविध जलचरों का ज्ञान प्राप्त करता है, वहाँ इस रत्नाकर से विविध रत्नों का पानेवाला बनता है। १४. **त्वा**=तूझे **अपां पुरीषे**=(सिकता वा अपां पुरीषम्—श० ७।५।२।५९) इन रेत के कणों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस रेत-विद्या को जानकर हम इससे विविध लाभों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। यह रेत जलों का मलरूप है—पत्थरों पर पानी पड़-पड़कर इसका निर्माण होता है। ये जहाँ मकान आदि के निर्माण में उपयुक्त होती है, वहाँ इसमें निहित स्वर्णकणों को भी हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। १५. **त्वा**=तुझे **अपां पाथसि**=(अन्नं वा अपां पाथः—श० ७।५।२।६०) अन्न में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। अन्न-विद्या को समझकर तू उपयुक्त अन्न का सेवन करता हुआ स्वस्थ बनता है। तू सात्त्विक अन्न के सेवन से अन्तःकरण को सात्त्विक बनाता है। १६. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षा की इच्छा के साथ मैं **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इस शरीर में रहने के लिए 'गायत्रछन्द'=प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामना के महत्त्व को मैं तुझे समझाता हूँ। १७. मैं **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोकने की इच्छा के साथ **सादयामि**=बिठाता हूँ। जीवन के लिए 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने के महत्त्व को मैं तुझे हृदयङ्गम करा देता हूँ। १८. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में

बिठाता हूँ। यह तुझे अच्छी प्रकार स्पष्ट कर देता हूँ कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य लोकहित की साधना ही है। १९. मैं **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा के साथ **सादयामि**=इस शरीर में बिठाता हूँ। तुझे यह समझा देता हूँ कि 'प्रभु को भूले और ग़लती हुई', अतः इस जीवन में प्रभु का स्मरण करते हुए ही चलना है। २०. अन्त में **त्वा**=तुझे **पाङ्क्तेन छन्दसा**=पाँच को ठीक रखने की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। तूने इस शरीर में अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखना है—पाँचों कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रखना है। पाँचों प्राणों की शक्ति को ठीक रखना है। पाँचभौतिक शरीर में पाँचों पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की स्थिति को ठीक रखना है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए समाज की स्थिति को भी उत्तम बनाने का विचार करना है। मन की पञ्चतयी क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों को समझकर उन्हें अच्छा बनाना है। 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय व जन्म-मरण चक्र' से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होना है। पञ्चधा विभक्त कर्मों में सदा अपने को व्यापृत रखना है।

भावार्थ—हम मन्त्र में वर्णित २० भागों में विभक्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। व्यर्थ की बातों में दिमाग़ को ख़राब करके 'मोघज्ञान' न बन जाएँ।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अग्नि (पुरो भुवः) प्राण-ग्रहण=वसिष्ठ

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपाꣳशुरुपाꣳशोस्त्रिवृत्त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५४॥

१. **अयम्**=यह **पुरः भुवः**=पूर्व दिशा में होनेवाला अग्नि है (भवति सर्वरूपेण, भवत्यस्मत् सर्वमिति वा भुवः अग्निः—श० ८।८।१।४। अग्निर्वै पुरः प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति, अग्निर्वै भुवः, अग्नेर्हीदं सर्वं भवति) वस्तुतः यह मनुष्य को अग्नितुल्य बनने का उपदेश दे रहा है। जब मनुष्य अपने अन्दर वीर्य की रक्षा करता है तब यह अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है। २. **तस्य**=उसी अग्नि का अपत्य **प्राणः**=प्राण है। इसी से **भौवायनः**=भुव का अपत्य कहलाता है। अग्नि-तत्त्व के अनुपात में ही प्राणशक्ति बनी रहती है। ३. **प्राणायनः**=प्राण का पुत्र **वसन्तः**=वसन्त है। प्राणशक्ति के होने पर इसके जीवन में सर्वशक्तियों के पुष्प-फलों का विकास होता है। अथवा इस शरीर में इसका उत्तम निवास इस प्राणशक्ति से ही होता है। ४. **वासन्ती** =इस वसन्त की सन्तान **गायत्री**=इस शरीररूप गृह की रक्षिका है। (गय=गृह)। शरीर में सब अङ्गों की शक्तियों का समुचित निवास होने पर ही इस शरीररूप गृह की रक्षा सम्भव है। ५. **गायत्र्यै** (गायत्र्याः) इसी गायत्री से, शरीर-रक्षा से **गायत्रम्**='गायत्रसाम' उत्पन्न होता है। वह शान्ति उत्पन्न होती है जिसका मूल शरीर-रक्षा ही है। स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ व शान्त मन का निवास है। ६. **गायत्रात्**=स्वास्थ्यजनित शान्ति से ही वस्तुतः **उपांशुः**=(उप+अंशु) उस परमेश्वर की उपासना द्वारा ज्ञान-किरणें उपलब्ध होती हैं। ७. **उपांशोः**=उपासना द्वारा प्राप्त ज्ञान-किरणों से **त्रिवृत्**=धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर वर्त्तन होता है (त्रि+वृत्) (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) ८. **त्रिवृत्**=इस धर्मार्थकाम के समानुपात में होने से अथवा 'ज्ञान-कर्म-उपासना'

के ठीक रूप में चलने से **रथन्तरम्**=इस शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा की पूर्ति (भवसागर को तैर जाना) होती है। ९. रथन्तर सामवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ ऋषि' (अतिशयेन वसति) अत्यन्त उत्तम निवासवाला-प्राणशक्ति-सम्पन्न (प्राणो वै वसिष्ठः-श० ८।१।१।६) तत्त्वद्रष्टा है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**= (प्रजापतिःगृहीतो यया) मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया** =तेरे साथ **प्राणं गृह्णामि**=मैं प्राणशक्ति का ग्रहण करता हूँ, जिससे **प्रजाभ्यः**=हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले पति को स्वीकार करे। दोनों ने मिलकर उत्तम सन्तानों को जन्म देना है। इसी उद्देश्य से वे अपनी प्राणशक्ति का निरोध करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ-हम पूर्व दिशा के अधिपति अग्नि को अपनाकर अपने में प्राणशक्ति का धारण करते हुए उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को जन्म देनेवाले बनें।

ऋषिः-उशनाः। **देवता**-प्रजापतिः। **छन्दः**-निचृदतिधृतिः। **स्वरः**-षड्जः॥

वायु (दक्षिणा विश्वकर्मा) मनो-ग्रहण=भरद्वाज

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारथंस्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाजऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

१. **अयम्**=यह **दक्षिणा विश्वकर्मा**=(अयं वै वायुर्विश्वकर्मा एष हीदं सर्वं करोति, तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति-श० ८।१।१।७) दक्षिणा का अधिपति सब कर्मों को करनेवाला वायु है। यह सब कालों में बहता ही रहता है, रुकता नहीं। २. **तस्य वैश्वकर्मणं मनः**=उस वायु-विश्वकर्मा का सन्तान मन है। सदा कर्मों में लगे रहना ही मन को स्वस्थ बनाये रखने का साधन है। ३. **मानसः ग्रीष्मः**=मन की सन्तान वाणी है, उत्साह है। सारा उत्साह मानस स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। ४. **ग्रैष्मी त्रिष्टुप्**=इस उत्साह की सन्तान त्रिष्टुप् है-काम, क्रोध व लोभ का रोकना है। अध्यात्म उन्नति का उत्साह बने रहने पर ही काम, क्रोध व लोभ का रोकना निर्भर है। इन्हें सरलता से रोका नहीं जा सकता, इनके रोकने के लिए निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न अपेक्षित है-वह प्रयत्न उत्साह बने रहने पर ही सम्भव होगा। ५. **त्रिष्टुभः**=इस काम, क्रोध व लोभ के रोकने (stopping) से **स्वारम्**=(स्वयं राजते) स्वयंराजमानता=स्वशासन=अपराधीनता-इन्द्रियादिकों की गुलामी का न होना होता है। ६. **स्वारात्**=इस स्वयंराजमानता से **अन्तर्यामः**=अन्दर का नियमन होता है। वस्तुतः स्वयंराजमानता का ही स्पष्टीकरण 'अन्तर्यामः' है। इसी से मनुष्य अन्तःस्थ इन्द्रियादि का नियमन करता है। ७. इस **अन्तर्यामात्**=अन्तर्याम से **पञ्चदशः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को स्वाधीन करनेवाला यह व्यक्ति पञ्चदश बनता है। ८. **पञ्चदशात्**=इस पञ्चदश बनने से यह **बृहत्**=सदा वृद्धिशील होता है। ९. यह वृद्धिशील व्यक्ति **भरद्वाजः ऋषिः**=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **मनः गृह्णामि**=मैं अपने मन का निग्रह करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकें। विक्षिप्त मनवालों के सन्तान विक्षिप्त-से ही होंगे।

भावार्थ-हम इस दक्षिणा के अधिपति वायु के समान सदा, सब कर्मों के अधिपति होते हुए उत्तम क्रियाशील, जितमनाः=मनस्वी सन्तानों को ही जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः।।

आदित्य (पश्चात् विश्वव्यचाः) चक्षु-ग्रहण=जमदग्नि

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्याऽऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ।।५६।।

१. **अयम्**=यह **पश्चात् विश्वव्यचाः**=(असौ वादित्यो विश्वव्यचाः यदाह मैवेष उदेति अथेदं सर्वं व्यचो भवति पश्चादिति एतं प्रत्यञ्चमेदमन्तं पश्यन्ति—श० ८।१।२।१) पूर्व में उदय होकर निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाला, सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करनेवाला सूर्य है। इस सूर्य का ध्यान करके मनुष्य ने भी सदा आगे बढ़ते हुए पीछे न लौटने का पाठ पढ़ना है—इन्द्रियों का प्रत्याहार करना है। २. **तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुः**=उस मनुष्य की आँख भी इस सूर्य की सन्तान बनती है। सूर्य की भाँति ही वस्तुओं की प्रकाशक होती है। ३. **चक्षुष्यः वर्षाः**=इसकी चक्षु की सन्तान वर्षा होती है, अर्थात् इसका ज्ञान औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. **जगती वार्षी**=इसकी ज्ञान-वर्षा लोकहित करनेवाली होती है। ५. **जगत्या ऋक्समम्**=इस लोकहित के द्वारा ही (ऋच् स्तुतौ) इसका विज्ञान-पूर्वक स्तवन चलता है (वह साम जो विज्ञान के साथ है 'ऋक्सम्' कहलाता है)। ६. **ऋक्समात्** (ऋचः सन्ति सम्भजन्ति येन—द०)=इस विज्ञानपूर्वक स्तवन से ही **शुक्रः**=यह (शुच्) अत्यन्त शुद्ध बनता है। ७. **शुक्रात्**=इस शुद्ध बनने से **सप्तदशः**=यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि इन १७ तत्त्वोंवाला होता है। इन सत्रह को यह उत्तम बना पाता है। ९. इस विशिष्ट रूप से ये **जमदग्निर्ऋषिः**=(जमति जगत् पश्यति इति जमद् अङ्गति सर्वत्र गच्छति इति अग्निः) केवल अपने हित को न देखकर सभी के हित को देखनेवाला क्रियाशील तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह जमदग्नि पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **चक्षुःगृह्णामि**=चक्षु का ग्रहण करता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तान को प्राप्त करनेवाले हों। संसार में हमारा दृष्टिकोण ठीक हो, हमारा ज्ञान ठीक हो तथा ये चक्षु हमारे वश में हो तो सन्तानों का उत्तम होना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—हम निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाले सूर्य के समान ज्ञान व प्रकाश के अधिपति हों। अपनी चक्षु को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

दिशाएँ (उत्तरात् स्वः) श्रोत्र-ग्रहण=विश्वामित्र

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳसौवꣳशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभऽऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽएकविꣳशऽएकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्रऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ।।५७।।

१. **इदम्**=यह **उत्तरात्**=उत्तर की ओर **स्वः**=दिशाएँ अधिपति रूपेण हैं। (स्वर्गो हि लोको दिशः—श० ८।१।२।४)। ये दिशाएँ निर्देशों का—उपदेशों का प्रतीक हैं—प्रत्येक दिशा एक बोध दे रही है '**प्राची**' आगे बढ़ने का तो 'दक्षिणा'—दाक्षिण्य का, '**प्रतीची**'=प्रत्याहार का और उदीची (उत्तरा) उन्नति का तथा अन्त में 'ऊर्ध्वा'—सर्वोत्कृष्ट स्थिति का उपदेश

कर रही है, अतः २. **तस्य**=उपासक का **श्रोत्रम्**=श्रोत्र **सौवम्**=स्वः का सन्तान होता है—इसका श्रोत्र दिशाओं के उपदेश को सुनता है। ३. **श्रौत्री शरत्**=इसके जीवन में श्रोत्र—सुनने की सन्तान शरत् होती है, अर्थात् यह दिशाओं के इन उपदेशों को सुनता हुआ अपने सब पापों को शीर्ण करनेवाला होता है। ४. **शारदी अनुष्टुभः**=पापों की शीर्णता से प्रतिक्षण इसका प्रभु-स्तवन चलता है, अर्थात् इसका प्रभु-स्तवन यही है कि यह बुराइयों को अपने से दूर करता है। ५. **अनुष्टुभः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन से **ऐडम्**=(इडायाः ज्ञानम्)=इस वेदवाणी का ज्ञान होता है—हृदयदेश में ज्ञान का प्रकाश होता है। **ऐडात्**=इस वाणी के ज्ञान से यह **मन्थी**=मन्थन व चिन्तन करनेवाला बनता है। **मन्थिनः**=इस मन्थन से **एकविंशः**=यह त्रिगुणासप्त (ये त्रिषप्तः) शक्तियोंवाला होता है। ८. **एकविंशात् वैराजम्**=इन इक्कीस शक्तियों से यह विशिष्ट रूप से चमकनेवाला बनता है। ९. यह विशेष रूप से चमकनेवाला **विश्वामित्र ऋषिः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. और पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली, प्रभु का ध्यान करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **श्रोत्रं गृह्णामि**=मैं इस कान को वश में करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—दिशाओं के उपदेश को सुनते हुए हम श्रोत्र को पूर्णरूप से वश में करके कभी अशुभ का श्रवण न करें, जिससे हमारी सन्तानें उत्तम ही हों।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडाकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

मतिः (उपरिमतिः) वाग्-ग्रहण, विश्वकर्मा

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यांशाक्वररैवते विश्वकर्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५८॥

१. **इयम्**=यह **उपरि मतिः**=ऊर्ध्वदेश में स्थित चन्द्रमा है (मन्येत यया—मतिः—उव्वट, 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्', 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति')—मन सर्वोपरि है, वह मन जो आह्लादमय है २. **तस्य** (तस्याः) **वाङ् मात्या**=उसी की सन्तान यह वाणी है, इसी से इसे 'मात्या' कहा गया है (मतेः इयम्)। वस्तुतः वाणी सदा विचारपूर्वक ही उच्चरित होनी चाहिए। ३. **वाच्यः**=वाणी की सन्तान ही **हेमन्तः**=हेमन्त है (हि गतौ वृद्धौ) सब प्रकार की गति, कर्म व वृद्धि इस वाणी का ही परिणाम है (यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति)। ४. **पंक्तिः हैमन्ती**=हेमन्त का—गति व वृद्धि का ही परिणाम 'पंक्ति' है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राण ये गति से ठीक रहते हैं। क्रियाशीलता ही इनके स्वास्थ्य का रहस्य है। ५. **पङ्क्त्यै** =ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण पञ्चकों के स्वास्थ्य से **निधनवत्**=निधनवत् साम उत्पन्न होता है। यह निधनवत् साम अध्यात्म-शत्रुओं का निधन ही है। ६. **निधनवतः**=इस शत्रु-निधन से हीं **आग्रयणाः**=यह अग्रगति का सन्तान, अर्थात् अत्यन्त उन्नतिवाला होता है। ७. **आग्रयणात्**=इस निरन्तर अग्रगति से **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=त्रि+णव अर्थात् बारह विश्वेदेवों की इसमें उत्पत्ति होती है। सब दिव्य गुणों का इसमें जन्म होता है और **त्रयस्त्रिंश**=(३+३०) ३३ प्राकृतिक देव इसमें विराजमान होते हैं। सूर्य चक्षुरूप से, चन्द्रमा मनरूप से और अग्नि वाणीरूप से इसमें निवास करती है। इसी प्रकार 'सर्वा

ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवसाते' सारे ही देवता इसमें आकर स्थित होते हैं। ८. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्**=इन बारह अध्यात्म दिव्य गुणों से तथा ३३ प्राकृतिक देवों से **शाक्वररैवते**=शाक्वर व रैवत की स्थिति होती है। यह अध्यात्म-गुणों से शक्तिशाली बनता है तो प्राकृतिक शक्तियों से स्वास्थ्य की सम्पत्तिवाला होता है। ९. शक्ति व स्वास्थ्य को पाकर यह **विश्वकर्मा**=निर्माण के सब कर्मों को करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा अपनी पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **वाचं गृह्णामि** =मैं वाणी का ग्रहण करता हूँ, ज्ञानोपार्जन व योगाभ्यास करनेवाला बनता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—हम सर्वोपरि स्थित मानस-आह्लाद (चन्द्र=चदि आह्लादे) को अपनाकर मधुर वाणीवाले हों। इस वाणी को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। यही मार्ग हमें उत्तम लोक व प्रभु को भी प्राप्त कराएगा।

सूचना—१. ऊपर के पाँच मन्त्रों में 'प्रजापतिगृहीतया' शब्द की भावना (प्रजापतिः ग्राहयति यां तया) यह भी है कि पत्नी का हाथ प्रभु ही पकड़ाते हैं। 'ये सब सम्बन्ध स्वर्ग में बनते हैं' का यही भाव है, अतः इस सम्बन्ध की पवित्रता को हमें समझना चाहिए।

२. सन्तानों की उत्तमता के लिए 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाक्' इन पाँचों का निग्रह—वशीकरण आवश्यक है। इस निग्रह को करनेवाला ही क्रमशः 'वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र व विश्वकर्मा बनता है। ये ऋषि क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाओं व चन्द्र' के अधिपति होते हैं।

॥इति त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ध्रुव

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥१॥

१. तेरहवें अध्याय की समाप्ति पर पति पत्नी से कह रहा था कि हम 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाणी' का निरोध करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। उसी प्रकरण को आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे पत्नि! २. **ध्रुवक्षितिः**=(क्षिति=मनुष्य) ध्रुव मनुष्यवाली तू हो, अर्थात् तेरा पति ध्रुवता से चलनेवाला हो, मर्यादित ज़ीवनवाला हो। ३. **ध्रुवयोनिः**=(योनिः गृहम्) तू ध्रुव गृहवाली हो। जिस घर से तू आयी है उस घर के लोग भी ध्रुवतावाले हों, अर्थात् तेरे माता-पिता का जीवन भी मर्यादावाला हो। ४. परिणामतः **ध्रुवा असि**=तू स्वयं भी ध्रुव हो। पति का जीवन मर्यादित होने पर ही पत्नी का जीवन मर्यादित हो सकता है, उसे बीज में भी अमर्यादा न मिली हो, इसी से मन्त्र में माता-पिता के भी मर्यादित जीवन का उल्लेख है। बीज में भी मर्यादा हो, परिस्थिति में भी। ५. इस प्रकार **साधुया**=बड़ी उत्तमता से तू **ध्रुवं योनिम् आसीद**=इस मर्यादा-सम्पन्न घर में निवास करनेवाली हो, अर्थात् स्वयं ध्रुव बनकर अपने घर को भी ध्रुव ही बनाना। तेरी सब सन्तानें ध्रुव जीवनवाली हों। ६. इस सबके साथ **प्रथमम्**=मुख्य बात यह है कि (The first and foremost thing is this) **उख्यस्य**=(उखा=स्थाली=पतीली) उखा के, पाचन-पात्र के **केतुम्**=अन्न को **जुषाणा**=तू प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। घर के सभी व्यक्तियों का स्वास्थ्य भोजन के पाचन पर ही निर्भर करता है। पत्नी ने बड़े प्रेम से भोजन तैयार करना है। प्रेम से बनाया गया भोजन ही स्वास्थ्य का साधक होता है। ७. **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **अविश्नौ**=स्वयं कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञ से अपना सम्बन्ध रखनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **सादयताम्**=बिठाएँ। माता-पिता का जीवन क्रियामय-यज्ञिय होगा तभी तो कन्या में भी वही वृत्ति उत्पन्न हो पाएगी।

भावार्थ—पति ध्रुव हो, कन्या के माता-पिता ध्रुव हों, पत्नी स्वयं भी ध्रुव हो। वह पाचन-कुशल हो। क्रियाशील-यज्ञशील माता-पिता उसे घर के निर्माण के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराएँ।

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

कुलायिनी

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥२॥

१. **कुलायिनी**=(कुलायो नीडम्=गृहम्) तू उत्तम गृहवाली हो। पत्नी ने ही घर को बनाना है—जैसा वह चाहेगी वैसा ही घर वह बना लेगी। ताण्ड्य ब्राह्मण में 'प्रजा' वै 'कुलायम्' (१९।१५।१) सन्तान को कुलाय कहा है—इससे ही कुल आगे बढ़ता है

(कुलम्=प्रयते अनेन) अतः तू **कुलायिनी**=उत्तम प्रजावाली हो। सन्तान के उत्तम होने पर ही घर उत्तम बना रहता है। २. **घृतवती**=तू मलों के क्षरण के द्वारा (घृ=क्षरण) उत्तम स्वास्थ्यवाली तथा ज्ञान की दीप्तिवाली (घृ=दीप्ति) हो। शरीर में स्वास्थ्य की दीप्ति हो तो मस्तिष्क में ज्ञान की। ३. **पुरन्धिः**=(रूपिणी युवतिः—श० १३।१।९।६) स्वास्थ्य व ज्ञान को प्राप्त करके तू उत्तम रूपवाली हो। (पुरूणि बहूनि सुखानि दधाति—द०) तू बहुत सुखों को धारण करनेवाली बन। अथवा 'पृ पालनपूरणयोः' पालक व पूरक बुद्धि का धारण करनेवाली तू हो, तुझे घर के पालन व पूरण का ध्यान हो। ४. **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयवाली श्वश्रू के **स्योने**=सुखमय **सदने**=घर में **सीद**=तू बैठ। तेरी सास उदार हृदयवाली हो, छोटी-छोटी बातों में व्यर्थ क्रोध करनेवाली न हो। वास्तव में तो अब तक उसने इस घर का निर्माण किया था अब तू घर की साम्राज्ञी बन (साम्राज्ञी श्वश्र्वां०)। ५. **त्वा**=तुझे **वसवः**=प्रारम्भिक शिक्षणालय के अध्यापक 'उत्तम निवास' की विद्या को **गृणन्तु**=उपदिष्ट करें तथा **रुद्राः**=उच्च विद्यालय के अध्यापक **त्वा अभिगृणन्तु**=तुझे बाह्य व अन्तः शत्रुओं को रुलाने का उपदेश करें। तुझे वसु प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कराएँ तो रुद्र विद्यालय की उच्च शिक्षा देनेवाले हों। इसके बाद महाविद्यालय में प्राप्त होनेवाली विशेष-शिक्षा सद्गृहिणी बनने के लिए उतनी उपयुक्त नहीं, अतः मन्त्र में यहाँ 'आदित्यों' का उल्लेख छोड़ दिया है। ६. **इमा ब्रह्म**=इन ज्ञानों को तू **सौभगाय**=सौन्दर्य के लिए, घर के प्रत्येक कार्य को समझदारी से करने के लिए **पीपिहि**=(प्राप्नुहि) प्राप्त हो। **अश्विना**=कार्यों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानशक्ति-सम्पन्न **अध्वर्यू**=यज्ञशील माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थयज्ञ में **सादयताम्**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह घर को उत्तम बनाये, स्वयं स्वस्थ व ज्ञान की दीप्तिवाली हो। घर के पालन व पूरण का ध्यान करे। प्राथमिक व विद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करके वह अन्तः व बाह्य शत्रुओं को दूर कर सके। ज्ञानपूर्वक कार्य करनेवाली हो, जिससे उसके प्रत्येक कार्य में सौन्दर्य हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

यक्ष-पिता

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानांꣳसुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनवऽआ सुशेवा स्वावेशा तन्वा॒ संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥३॥

१. **दक्षपिता**=(दक्षं वीर्यं पाति, वीर्यस्य पालयित्री—म०) अपने वीर्य=प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाली तू **स्वैः दक्षैः**=(दक्षं वीर्यं बलम्) अपने बलों के साथ **इह**=इस गृहस्थ में **सीद**=स्थित हो, अर्थात् इस गृहस्थ में तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करनेवाली बन। **देवानां सुम्ने**=तू सब देवों अर्थात् इन्द्रियों के सुख में स्थित हो। प्राणशक्ति की रक्षा से सब इन्द्रियों का सुख सम्भव क्यों न होगा? इन सब इन्द्रियों में प्राणशक्ति ही तो कार्य करती है। ३. इस प्राणशक्ति की रक्षा से तू **बृहते रणाय**=महती रमणीयता के लिए हो। वीर्य की रक्षा होने पर तेरा सारा शरीर सुन्दर बना रहेगा। ४. **इव**=जैसे पिता **सूनवे**=पुत्र के लिए सुख देनेवाला होता है, उसी प्रकार तू सारे घर के लिए **आ**=समन्तात् **सुशेवा**=उत्तम कल्याण के लिए हो। तू सबको सुख देनेवाली हो। ५. **स्वावेशा**=(सु=आविश) सर्वथा उत्तमता से घर में प्रवेश करनेवाली तू **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ (तन् विस्तारे) **संविशस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, (अवस्थानं कुरु—म०)। ६. **अश्विनौ**=स्वयं कार्यों में व्याप्त होनेवाले

अध्वर्यू=यज्ञ का सञ्चालन करनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। उनसे उत्तम संस्कारों को लेकर तू भी इस घर को उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी शक्ति की रक्षा करनेवाली हो, जिससे उसकी सब इन्द्रियाँ उत्तम हों और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयता हो। घर में सभी के सुख का वह ध्यान करें, उसकी प्रत्येक क्रिया उत्तम हो। वह अपनी शक्तियों का ह्रास न होने दे।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

स्तोमपृष्ठा (वीर-जननी)

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥४॥

१. तू **पृथिव्याः**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली अपनी सास का **पुरीषम्**=पालन करनेवाली **असि**=है। 'उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे' इस बात का ध्यान करनेवाली है। २. **अप्सः नाम**=(रसो नाम, अपः सनोति इति अप्सः, अपां हि रसो गुणः—म०) तू रसमय होने के नाते प्रसिद्ध है। तेरे व्यवहार में कटुता न होकर रस-ही-रस है। (अप्स इति रूपनाम—नि० ३।७) वस्तुतः इस रसमयता के कारण तेरा रूप उत्तम है। ३. तेरे व्यवहार से प्रसन्न होकर घर में रहनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव—जिनमें कई अभी खेल ही रहे हैं (क्रीडन्ति), कई विद्यालय में प्रविष्ट होकर एक-दूसरे के जीतने में लगे हैं (विजिगीषा), दीक्षान्त को प्राप्त कर कई व्यवहार-क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं (व्यवहार), कई ज्ञान-ज्योति से द्योतित हो रहे हैं (द्युति), कई अत्यन्त वृद्ध होने से स्तुतिमात्र में लगे हैं (स्तुति), कुछ नौ-दस वर्ष की कन्याएँ खूब प्रसन्न हैं (मोद), दूसरी अठारह साल की युवतियाँ माद्यन्ती अवस्था में हैं (मद), कई विवाहित होकर नवजात सोते शिशु को गोद में लिये हैं (स्वप्न), कई पन्द्रह-सोलह साल की कन्याएँ घर के लिए नाना वस्तुओं की इच्छा कर रही हैं (कान्ति) और कई केवल चहल-पहल में ही हैं (गति), ये सब-के-सब **तां त्वा**=उस तेरी **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसा ही करें। ४. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननं वै स्तोमः—तां० २१।९।३) वीरजननरूप बोझ को तू अपनी पीठ पर लिये हुए है। वीर सन्तानों को जन्म देना ही तेरा मौलिक उत्तरदायित्व है। ५. **घृतवती**=मलक्षरण से स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=आसीन हो, और ६. **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणम्**=उत्तम सन्तानवाले धन को **यजस्व**=हमारे साथ सङ्गत कर। हमें उत्तम सन्तान प्राप्त करा तथा मितव्ययिता से हमारे ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली बन। ७. **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञात्मक जीवनवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ इस प्रकार के सुन्दर गृहस्थाश्रम में **सादयताम्**=बिठाएँ।

भावार्थ—पत्नी सास के सुख का ध्यान करे। उसकी वाणी में रस हो। घर के सब व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें। यह वीर सन्तानों को जन्म दे। स्वस्थ व ज्ञान-दीप्त हो। घर में उत्तम सन्तानों व ऐश्वर्यों को लानेवाली हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अपाम् ऊर्मिः

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्। ऊर्मिर्द्रप्सोऽअपामसि विश्वकर्मा तऽऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥५॥

१. **त्वा**=तुझे **अदित्याः पृष्ठे**=अखण्डता के पृष्ठ पर **सादयामि**=बिठाता हूँ, अर्थात् पूर्ण स्वास्थ्यवाली बनाता हूँ। तेरे स्वास्थ्य का खण्डन नहीं होता। २. **अन्तरिक्षस्य धर्त्रीम्**=तुझे अन्तरिक्ष का धारण करनेवाली बनाता हूँ। 'अन्तरा क्षि' तू सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। तू सदा अति को छोड़कर ही चलती है। ३. **दिशां विष्टम्भनीम्**=तू दिशाओं को थामनेवाली है। वेद में दिये गये जीवन निर्देशों को धारण करनेवाली है। ४. **भुवनानाम्**=लोकों की **अधिपत्नीम्**=तू अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है। इस शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को तू अधिष्ठात्री बनकर सुरक्षित रखती है। ५. **अपाम्**=तू प्राणशक्ति व कर्मों की **ऊर्मिः**=तरङ्ग है। तेरे जीवन में कर्मों का उत्साह है और प्राणशक्ति तुझमें तरङ्गित होती है, अतएव **द्रप्सः**=(दृप् हर्षे) तू हर्ष व आनन्द का पुञ्ज **असि**=है। तेरा जीवन नितान्त आनन्दमय व रसमय है। ६. वस्तुतः वह **विश्वकर्मा**=सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला प्रभु ही **ते**=तेरा **ऋषिः**=द्रष्टा है। उल्लिखित सुन्दर जीवन के कारण तू प्रभु की रक्षा का पात्र हुई है। ७. **अश्विनौ**=कर्म व्याप्तिवाले **अध्वर्यू**=यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता तुझे **इह**=यहाँ **सादयताम्**=बिठाएँ, तुझे गृहस्थ में प्रविष्ट करानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी का जीवन स्वास्थ्य-सम्पन्न हो। यह मध्यमार्ग में चलनेवाली हो, वेद के आदेशों को ग्रहण करनेवाली, शरीर, हृदय व मस्तिष्करूप लोकों को धारण करनेवाली, कर्मों में उत्साह के कारण आनन्दमय जीवनवाली हो। प्रभु का इसपर अनुग्रह हो।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—ग्रीष्मर्तुः। **छन्दः**—निचृदुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

शुक्र+शुचि=ग्रीष्म

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। ग्रैष्मावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६॥

१. पुरोहित वर-वधू को संकेत करता है कि—वर **शुक्रः**=(शुक गतौ) सदा क्रियाशील हो। पुरुषार्थ से धन कमानेवाला हो। उद्योग न करनेवाले गृहस्थ को तो समुद्र में डुबा देना चाहिए। २. पत्नी की ओर देखकर कहता है कि—**शुचिः**=वह बड़े पवित्र जीवनवाली हो। पति क्रियाशील है, पत्नी पवित्र जीवनवाली है तो वह घर स्वर्ग क्यों न बनेगा? यहाँ 'च' का प्रयोग अपि='भी' के अर्थ में आकर यह भाव प्रकट करता है कि पति गतिशील भी हो, अर्थात् पवित्र तो हो ही, गतिशील भी। इसी प्रकार पत्नी क्रियाशील तो हो ही, पवित्र भी। इस प्रकार दोनों में दोनों ही गुण अभीष्ट हैं। ३. क्रियाशीलता व पवित्रतावाले ये दोनों **ग्रैष्मौ**=ग्रीष्म के सन्तान हैं, इनमें प्राणशक्ति की गरमी है। ये उष्णिक-उद्योगी हैं। **ऋतू**=ये ऋतुओं के समान व्यवस्थित गतिवाले हैं, सब कार्यों को समय पर करनेवाले हैं। ५. इनमें से एक-एक **अग्नेः**=उस अग्नि नामक प्रभु को **अन्तःश्लेषः**=हृदय के अन्दर आलिङ्गन करनेवाला **असि**=है। ये हृदय में प्रभु का ध्यान करनेवाले हैं। ६. इस प्रकार इनके **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों **कल्पेताम्**=शक्तिशाली हों (कृपू सामर्थ्ये)। ७. इनके लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=शक्ति देनेवाली हों। ये पानी पीएँ, वनस्पति खाएँ और अपने को सबल बनाएँ। ८. पति-पत्नी चाहते हैं कि **मम**=मेरे **ज्येष्ठ्याय**=ज्येष्ठतारूप=श्रेष्ठ कर्म के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर, अर्थात् मेरी ज्येष्ठता को ही अपना

लक्ष्य बनाकर **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता तथा आहवनीयाग्निरूप आचार्य **पृथक्**=अलग-अलग—पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता तथा चौबीस वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये सब मिलकर हमें ज्येष्ठ बनानेवाले हों। ९. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **ये अग्नयः** =जो माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों, उन सबकी यह समान कामना हो कि हमें इन भावी नागरिकों को उत्तम बनाना है। १०. तुम दोनों पति-पत्नी **ग्रैष्मौ**=गरमी व उत्साहवाले बनो, **ऋतू**=नियमित गतिवाले होके **अभिकल्पमाना**= शरीर व अध्यात्म बल का सम्पादन करनेवाले बनो। ११. **इन्द्रमिव**=सब इन्द्रियों को जीतकर इन्द्र के समान बने हुए तुझे **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। १२. **तया देवतया**=उस प्रसिद्ध देवता परमात्मा के साथ सम्पर्क के द्वारा **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चारवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=तुम ध्रुव होकर इस मर्यादावाले घर में आसीन होओ। प्रभु-सम्पर्क से तुम्हें शक्ति प्राप्त हो। तुम्हारा जीवन मर्यादित हो और सारा घर मर्यादा में चलनेवाला हो।

भावार्थ—पति-पत्नी क्रियाशील व पवित्रतावाले हों। प्रतिदिन प्रभु-सम्पर्क से अपने को प्रकृष्ट बलवाला बनाते हुए ये मर्यादा का पालन करनेवाले होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्प्रकृतिः [उ], स्वराट्पङ्क्तिः [क], निचृदाकृतिः [र]। **स्वरः**—धैवतः [उ], पञ्चमः [क, र]॥

'अग्नि-वैश्वानर'

[उ]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [क]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [र]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥७॥

१. हे पत्नि! तू **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं की भाँति ही तू बड़ी व्यवस्थित गतिवाली है। २. **विधाभिः सजूः**=(आपो वै विधाः, अद्भिर्हीदं सर्वं विहितम्—श० ८।२।२।८) जलों के साथ तू समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं से तूने मर्यादा सीखी, तो जलों से तू शान्ति का पाठ लेती है, तेरा स्वभाव शीतलता व माधुर्य है। ३. **देवैः सजूः**=तू दिव्य गुणों के साथ समान प्रीतिवाली है। सब दिव्य गुणों को अपनाने का पूर्ण प्रयत्न करती है। ४. **वयोनाधैः देवैः सजूः**=(प्राणा वै वयोनाधाः प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्—श० ८।२।२।८) तू देदीप्यमान प्राणों के साथ प्रीतिवाली है। तेरी प्राणशक्ति तुझे तेजस्विनी बनाती है। तू अपनी प्राणशक्ति से चमकती है। ५. **त्वा**=तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=कर्मों में व्यापृत रहनेवाले यज्ञशील माता-पिता **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। वे **त्वा**=तुझे **अग्नये**=प्रगतिशील व्यक्ति के लिए तथा **वैश्वानराय**=सबका भला करनेवाले के लिए देते हैं। आदर्श पति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—एक तो वह प्रगतिशील हो proggressive mentality को लिये हुए हो। दूसरा यह कि वह यथासम्भव सभी का भला करे। अग्नि

हो, वैश्वानर हो। किसी से वैर-विरोध करनेवाला न हो। ६. **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ तेरी प्रीति हो। उनके समान तू सब कार्य समय पर करनेवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों के साथ प्रीतिवाली हो, जलों की भाँति शान्त व मधुर बन। **वसुभिः सजूः**=वसुओं के साथ तेरा प्रेम हो, वसुओं के साथ अविरोध में चलती हुई तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाली हो। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=(छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः छन्दाभिर्हीदं सर्वं प्रज्ञानं नद्धम्—श० ८।२।२।८) ज्ञान-ज्योति देनेवाले शब्दों से तेरी प्रीति हो, छन्दों के ज्ञान से अपने को आच्छादित करके वासनाओं के आक्रमण से तू अपने को सुरक्षित करनेवाली हो। **अश्विनौ अध्वर्यू**=कार्यों को कल पर न टालनेवाले यज्ञ के प्रवर्त्तक तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **अग्नये वैश्वानराय**=अग्नि के समान प्रकाशमान (भद्रं वर्णं पुष्यन्) तथा सबको आगे ले-चलनेवाले (विश्वान् नरान् नयति) नेतृत्व देनेवाले व्यक्ति के लिए **इह**=यहाँ **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ऐसे ही व्यक्ति को तेरा जीवन-सखा बनाएँ। ७. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की साथी बन। उनकी भाँति नियमित गतिवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की साथी हो। उनकी भाँति सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाली हो (विदधति इति विधाः) **रुद्रैः सजूः**=एकादश रुद्रों की तू संगिनी हो। दस प्राण व आत्मा तुझे प्रिय हों, इनकी उन्नति में तू अपनी उन्नति समझे। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=इन शक्ति देनेवाले प्राणों के साथ तेरा साथ बना रहे। **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न परन्तु अहिंसात्मक (अ+ध्वर) जीवनवाले तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ गृहस्थ में **अग्नये वैश्वानराय** =(अगि गतौ) क्रियाशील व सर्वहितकर्त्ता व्यक्ति के लिए **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ८. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की सखी हो, उनमें ग्रीष्म से शुचिता का, वर्षा से आनन्द वर्षण का, शरत् से वासनाओं के शीर्ण करने का, हेमन्त से वृद्धि का, शिशिर से द्रुतगति—स्फूर्ति का तथा वसन्त से चारों ओर सुगन्ध फैलाने का पाठ तू पढ़। **विधाभिः सजूः**=जलों की तू सखी हो। जलों के समान तू नैर्मल्यवाली हो। **आदित्यैः सजूः**=बारह आदित्यों की तू सखी बन। उनसे शिक्षा ग्रहण करके संसार वृक्ष की विशिष्ट शाखा बनने का निश्चय कर (विशाखा), ज्येष्ठ बनने का संकल्प रख (ज्येष्ठ), कामादि से पराभूत न हो (अ+षाढ़ा), सदुपदेशों का श्रवण कर (श्रवणा), तेरा मार्ग सदा कल्याण का हो (भाद्रपदा), कल-कल की उपासना करनेवाली न हो (अश्विनी), शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर (कृतिका), अपने अन्दर छिपे हुए कामादि शत्रुओं को ढूँढनेवालों में तू अग्रणी बन (मृगशिरस्), इन्हें मारकर तू अपना वास्तविक पोषण साध (पुष्य), यह निश्चय कर कि तुझसे पाप न हो (मघा=मा अघ)। इसी निष्पापता को सच्चा ऐश्वर्य समझ (मघ=ऐश्वर्य) उस समय यह प्रलोभनमय संसार तेरे लिए तुच्छ हो जाएगा (फल्गुनी, फल्गु=फोक) इस आश्चर्य को अपने जीवन में करनेवाली तू चित्रा होगी। यही आदित्यों का सखित्व है। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=शक्तिप्रद प्राणों की तू सखी बन। आदित्य तो हैं ही प्राण। **त्वा**=ऐसी तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=सदा क्रियाशील यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=अग्निवत् सब दोषों का भस्म करनेवाले, सर्वहित साधक व्यक्ति के लिए **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ९. **ऋतुभिः सजूः**= तू ऋतुओं के साथ मित्रतावाली हो, ऋतुगामिनी हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की तरह निरन्तर कर्मों में व्याप्त होती हुई उनकी सखी बन। **विश्वैः देवैः सजूः**=इस कर्मव्याप्ति द्वारा सब दिव्य गुणों की सङ्गिनी बन। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=उत्तम जीवन के साथ सम्बद्ध करनेवाले (वयः+न ह्) देवों के साथ तेरी मित्रता हो। **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान शक्ति-सम्पन्न, यज्ञिय वृत्तिवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=आगे बढ़नेवाले, सर्वहित

साधक व्यक्ति के लिए ही **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—पत्नी नियमित जीवनवाली, शान्त, मधुर स्वभाववाली, दिव्य गुणोंवाली, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो (नाजुक नहीं) और पति 'अग्नि'=उन्नतिशील व 'वैश्वानर' सबका भला ही करनेवाला हो। ऐसा होने पर ही ये प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वेदेवा:' बन सकेंगे।

ऋषि:—विश्वदेव:। **देवता**—दम्पती। **छन्द:**—भुरिग्जगती। **स्वर:**—निषाद:॥

अप:+ओषधी:—आठ आदेश

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय। अप: पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥८॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि हैं कि—हे जीव! **मे प्राणं पाहि**=मेरे दिये हुए प्राण की तू रक्षा करना। प्राणशक्ति का अपव्यय न करना। २. **मे अपानं पाहि**= मुझसे दी गई अपानशक्ति को सुरक्षित रखना। यही तेरे दोषों को दूर करके तेरे शरीर को निर्दोष बनाएगी। ३. **मे व्यानं पाहि**=मेरी दी हुई व्यानशक्ति की भी रक्षा करना। यह सारे शरीर में गति करती हुई तेरे सारे स्नायुसंस्थान को ठीक रक्खेगी। तुझे किसी प्रकार का नर्वससिस्टम का रोग पीड़ित न करेगा। ४. **मे चक्षु:**=मुझसे दी गई आँख को **उर्व्या**=विस्तीर्णता से **विभाहि**=विशिष्ट दीप्तिवाला करना। तेरा दृष्टिकोण सदा विशाल हो, संकुचित न हो। ५. **मे श्रोत्रं श्लोकय**=मेरे द्वारा प्रदत्त श्रोत्र को तू उत्तम शब्दों का सुननेवाला बनाना (श्लोक:=यश:, पद्यम्)। यह यश की ही बातें सुनें तथा ज्ञान की वाणियाँ ही इसे प्रिय हों। ६. इस सबके लिए **अप: पिन्व**=(पुष्णीहि—म०) जलों का ही शरीर में पोषण कर—प्यास लगने पर जलों से ही गले को सींच। **ओषधी: जिन्व** (प्राप्नुहि)=भोजन के लिए ओषधियों को प्राप्त कर। वनस्पति ही तेरा भोजन हो। ७. इस सात्त्विक भोजन से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर तू **द्विपात् अव**=सब मनुष्यों की रक्षा कर, सभी का प्रीणन करनेवाला हो। **चतुष्पात् पाहि**=गौ आदि चौपायों का भी तू रक्षण करनेवाला बन। ८. **दिव:**=ज्ञान की **वृष्टिम् ऐरय**=वृष्टि को तू प्रेरित कर। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके औरों को भी ज्ञान देनेवाला बन अथवा **दिव: वृष्टिम् ऐरय**=तू आकाश से वृष्टि को प्रेरित कर। नियमपूर्वक यज्ञादि कर्मों को करता हुआ तू **'निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु'** इस प्रार्थना को क्रियान्वित करनेवाला बन।

भावार्थ—मन्त्र में उल्लिखित आठ आदेशों का हम पालन करें। प्राण, अपान, व्यान की रक्षा करें, विशाल दृष्टि व उत्तम श्रवणवाले बनें, जलों व ओषधियों का ही ग्रहण करें, मनुष्य व अन्य प्राणियों का ध्यान करें और अन्त में यज्ञादि से सामयिक वर्षा को सिद्ध करें।

ऋषि:—विश्वेदेवा:, प्रजापत्यादय:। **छन्द:**—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्ति:[क], शक्वरी[र]। **स्वर:**—पञ्चम[क] धैवत:[र]॥

वय:+छन्द:

[क]मूर्धा वय: प्रजापतिश्छन्द: क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वय: परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्द: [र]पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्द: सिंहो वयश्छदिश्छन्द: पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दऽउक्षा वय: ककुप् छन्दऽऋषभो वय: सतोबृहती छन्द:॥९॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में 'वय:' शब्द जीवन का वाचक है और 'छन्द:' इच्छा या संकल्प का अथवा 'वीर्यं छन्दासि' शतपथ ४।४।३।१ के अनुसार 'छन्द:' का अर्थ वीर्य व शक्ति

है। वस्तुत: संकल्प में भी 'कृपू सामर्थ्ये' के अनुसार शक्ति की ही भावना है। प्रभु कहते हैं कि यदि तुम्हारा **वयः**=जीवन **मूर्धा**=शिर-स्थानापन्न है, अर्थात् यदि तुम समाज में सबसे ऊँचे स्थान पर हो तो **प्रजापतिः छन्दः**=तुम्हारा प्रबल संकल्प यह होना चाहिए कि तुम प्रजापति बनोगे, प्रजा का रक्षण करनेवाले बनोगे। समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च है, ब्राह्मण को प्रजा-रक्षण अपना मौलिक कर्त्तव्य समझना चाहिए। २. **क्षत्रं वयः**=यदि तुम्हारा जीवन क्षत्रिय का है तो **मयन्दं छन्दः**=तुम्हारी कामना यह होनी चाहिए कि (मयं ददाति इति–द०) तुम सबको सुख देनेवाले बनो। क्षत्रिय का कार्य 'क्षतात् त्राण' ही तो है। जो क्षत्रिय औरों को घावों से बचाकर उन्हें सुख नहीं पहुँचाता वह क्षत्रिय नहीं है। ३. **विष्टम्भः वयः**=(विष्टभ्नोति अन्नादिकं जगत् स्तम्भयति–म०) यदि तुम्हारा जीवन 'विष्टम्भ' का है, उस वैश्य का है जो अन्नादि को स्तम्भों [elevators] पर सुरक्षित रखता है तो **अधिपतिः छन्दः**=उसकी यही कामना होनी चाहिए कि वह अन्नादि का अधिष्ठाता होता हुआ प्रजा का रक्षक हो, दुर्भिक्षादि के समय अपने उन अन्न-भण्डारों से सभी को अन्न देनेवाला हो। ४. **विश्वकर्मा वयः**=यदि तुम्हारा जीवन सब कर्मों को करनेवाला है तो तुम्हारी **छन्दः**=यह कामना हो कि **परमेष्ठी**=मैं परम स्थान में स्थित होऊँ। बिना कर्मों में प्रवृत्त हुए, आलस्य में पड़े हुए तुम उच्च स्थान में स्थित नहीं हो सकते। ५. **वस्तः वयः**=(वस्त् to hurt, to kill) यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारा जीवन सब बुराइयों का ध्वंस करनेवाला हो तो **विवलं छन्दः**=तुम्हारी सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि मैं (वल् to go) विशिष्ट कर्मों में लगा रहूँ। उत्तम कर्मों में लगे रहना ही बुराइयों को समाप्त करने का तरीका है। 'वस्त' यह संज्ञा बकरी की भी है, उसका दूध 'सर्वरोगापहा' सब रोगों का हनन करनेवाला है। वह इसीलिए कि 'व्यायामात्' बकरी दिनभर में खूब व्यायाम कर लेती है। मेरा जीवन भी 'वस्त'=बुराइयों को नष्ट करनेवाला तभी बनेगा जब मैं विशिष्ट गतिवाला, कर्मशील बनने का संकल्प रक्खूँगा। ६. **वृष्णिः वयः**=निरन्तर गतिशीलता से तुम्हारा जीवन **वृष्णिः**=खूब वीर्यवान् बना है तो **विशालं छन्दः**=अब तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं **वि**=विविध उत्तम कर्मों से (शालते) शोभायान होऊँ। शक्ति का विनियोग उत्तम कर्मों में ही होना ठीक है। ७. **पुरुषो वयः**=यदि तुम्हारा जीवन पौरुष सम्पन्न पुरुष का बना है तो **तन्द्रं छन्दः**=(क) तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं (पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः) पाँचों का धारण करनेवाला बनूँ 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करना मेरा धर्म हो। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण-पञ्चकों को वशीभूत करने का मेरा प्रयत्न हो। (ख) अथवा तन्द्रं=तन्त्रम् =कुटुम्ब का मैं धारण करनेवाला बनूँ। ८. **व्याघ्रः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'पुरुषव्याघ्र' का हुआ है–तुम व्याघ्र के समान बने हो तो **अनाधृष्टं छन्दः**=प्रबल कामना करो कि मैं शत्रुओं से धर्षित न होऊँ। ९. **सिंहो वयः**=यदि 'पुरुषसिंह' के जीवनवाले हो तो **छदिः छन्दः**='नरसिंह' की भाँति प्राणिमात्र को सुरक्षित करनेवाले बनो। तुम्हारी शक्ति निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचानेवाली हो। १०. **पष्ठवाट् वयः**=(पष्ठे=पृष्ठभागे वहतीति–म०) यदि तुम्हारा जीवन पीठ पर खूब कार्यभार उठाने में समर्थ पुरुष का हुआ है तो **बृहती छन्दः**=(वाग् वै बृहती–श० १४।४।१।२२) वेदवाणी के अनुसार ही निरन्तर कार्यों को निभाने की तुम्हारी कामना हो। शक्ति है तो तुम मनमाने मार्ग से न चलने लग जाना। शास्त्रीय मार्ग से चलने से ही शक्ति बढ़ती है, शक्ति के मद में शास्त्रीय मार्ग छोड़ा और शक्ति का ह्रास हुआ। ११. **उक्षा वयः** =(उक्ष् to grow up, become strong) यदि तुम जीवन को शक्तिशाली पुरुष का जीवन बनाना चाहते हो, यदि निरन्तर उन्नति चाहते हो तो **ककुप् छन्दः**=दिशाएँ

ही तुम्हारे संकल्प हों, अर्थात् इन दिशाओं से तुम प्रेरणा लेकर चलो। 'प्राची' से आगे बढ़ना, 'दक्षिणा' से नैपुण्य प्राप्त करना, 'प्रतीची' से प्रत्याहार का पाठ पढ़कर, 'उदीची' से ऊपर उठना और 'ध्रुवा' से दृढ़ता व 'ऊर्ध्वा' से उन्नति के शिखर पर पहुँचने की भावना को लेना। 'ककुप्' शब्द का एक अर्थ 'शिखर' है। शिखर (summit) पर पहुँचना तुम्हारा ध्येय ही बन जाए। 'ककुप्' का अर्थ (a sacred treatise) धर्मशास्त्र भी है—शास्त्र के अनुसार चलने का संकल्प होने पर उन्नति होगी। १२. **ऋषभो वयः**=यदि श्रेष्ठ जीवनवाले 'पुरुषर्षभ' होना चाहते हो तो **सतोबृहती छन्दः**=सत् को=प्राप्त वस्तु को ही (बृहि वृद्धौ) बढ़ाने की कामना करो। सदा वर्त्तमान में चलो 'वर्त्तमानेन वर्त्तयन्ति मनीषिणः'। भूतकाल में रहकर 'था' को ही न बोलते रहो, भूतकाल ही के गीत न गाते रहो। न ही सदा भविष्यत् की बातें करते हुए 'गा' का ही प्रयोग करते रहो, और हवाई किले ही न बनाते रह जाओ। वर्त्तमान को ही उन्नत करने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—मन्त्र के बारह आदेशों का ध्यान करके हम अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

लोकं ता इन्द्रम्

अ॒न॒ड्वान्वयः॑ प॒ङ्क्तिश्छन्दो॑ धे॒नुर्वयो॒ जग॑ती॒ छन्द॒स्त्र्यवि॒र्वय॑स्त्रि॒ष्टुप् छन्दो॑ दित्य॒वाड् वयो॑ वि॒राट् छन्द॒ः पञ्चा॑वि॒र्वयो॑ गाय॒त्री छन्द॑स्त्रिव॒त्सो वय॑ऽ उ॒ष्णिक् छन्द॑स्तु॒र्य॒वाड् वयो॑ऽनु॒ष्टुप् छन्द॑ः ॥१०॥

१३. गत मन्त्र में १२ संख्या हो चुकी है, अतः १३ से यहाँ प्रारम्भ करते हैं कि **अनड्वान् वयः**=यदि जीवन को गृहस्थ की गाड़ी के वहन के योग्य बनाना है तो **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को वशीभूत करने की कामना करना। इस गृहस्थ में पाँच यज्ञों को विधिपूर्वक करने का संकल्प रखना। इन यज्ञों के अभाव में गृहस्थ-शकट उत्तमता से नहीं चलता। १४. **धेनुः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'धेनु' का बना है—दुधारू गौ के समान तुम्हारे पास ऐश्वर्यरूप दुग्ध की कमी नहीं तो **जगती छन्दः**=लोकहित करने की कामना करना। १५. **त्र्यविः वयः**='धर्म, अर्थ व काम' तीनों का रक्षण (त्रि+अव) करनेवाला जीवन बनाना है तो **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की तुम्हारी कामना हो। इन तीन शत्रुओं को रोककर ही तुम तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकते हो। कामात्मतारूप काम शत्रु है अन्यथा यह पुरुषार्थ है। 'अर्थलोभ ' शत्रु है, लोभ न होने पर 'अर्थ' पुरुषार्थ है। 'विचारशून्य क्रोध' शत्रु है—परन्तु विचारसहित मन्यु 'धर्म' है। मनुष्य 'त्रिष्टुप्' से ही त्र्यवि बनता है। 'काम, क्रोध व लोभ' को रोककर ही 'धर्मार्थकाम' की साधना होती है। १६. **दित्यवाट् वयः**=(दितेः कर्म दित्यम्=खण्डनम्) यदि तूने जीवन को दित्य=शत्रु-खण्डन का वहन करनेवाला बनाना है तो तू **विराट् छन्दः**=विशेषरूप से चमकनेवाला बनने की इच्छा कर। शत्रु-खण्डन करके ही तू चमक पाएगा, अन्यथा कामादि तेरी दीप्ति को समाप्त कर देंगे। १७. **पञ्चाविःवयः**=यदि पाँचों यमों व पाँचों नियमों की रक्षा करनेवाला तेरा जीवन है तभी तू **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा करना। (**गयाः प्राणाः, त्र**=रक्षा)। यम-नियम के पालन के बिना प्राण-रक्षण सम्भव नहीं। उनके पालन के अभाव में प्राण-रक्षण की आवश्यकता भी नहीं। १८. **त्रिवत्सो वयः**='ज्ञान, कर्म व

उपासना' तीनों की साधना के लिए **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) तूने उत्कृष्ट स्नेह करने की कामना करनी। तेरा स्नेह सदा उत्कर्षवाला हो, तुझमें हीनाकर्षण न हो। १९. **तुर्यवाट् वयः**=(तुर्यं वहति) चतुर्थ अवस्था, अर्थात् संन्यास का वहन करनेवाला तेरा जीवन बने तो **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण तेरी कामना प्रभु के स्तवन की ही हो। प्रतिक्षण प्रभु- स्तवन ही तुझे इस तुरीयावस्था में दृढ़ रक्खेगा और तू सच्चा संन्यासी बन पाएगा।

भावार्थ—प्रस्तुतः मन्त्र के सात नियम अवश्य ध्यान में रखने चाहिएँ, जिससे हम उनके पालन में प्रवृत्त हो पाएँ।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पृष्ठेन

इन्द्राग्नीऽअव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं च विबाधसे॥११॥

१. प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—**'इन्द्रः अग्निःच'**=पति ने 'इन्द्र' बनना है—जितेन्द्रिय होना है तथा ऐश्वर्य को कमानेवाला बनना है, पत्नी ने 'अग्नि' बनकर घर को सदा आगे ले-चलना है। घर की उन्नति का बहुत कुछ निर्भर पत्नी पर ही होता है। हे **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रिय पति व अग्नितुल्य पत्नि! **युवम्**=तुम दोनों **अव्यथमानाम्**=(व्यथ् to change, to be disturbed) कभी विहत न होते हुए **इष्टकाम्**=यज्ञ को **दृंहतम्**=घर में दृढ़ करो। घर के अन्दर यज्ञ अविच्छिन्नरूप से अपने समय पर होता रहे। प्रातः का यज्ञ सायं तक, और सायं का यज्ञ प्रातः तक हम सबके मनों को सौमनस्य का देनेवाला हो। घर में यज्ञ के विच्छिन्न न होने से सन्तानों के चरित्र भी विच्छिन्न नहीं होते। २. घर के प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहते हैं कि हे गृहजनो! तुम **पृष्ठेन**=('तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीर्वै पृष्ठानि' ऐ० ६। ५) ब्रह्मवर्चस् के द्वारा **द्यावापृथिवी**=द्यावा=मस्तिष्क को तेज के द्वारा, पृथिवी—शरीर को, **च**=और **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को, श्रीः (श्रीञ् सेवायाम्=भज्) भक्ति व सेवा के द्वारा **विबाधसे**=विगत बाधावाला करते हो, निर्बाध करते हो। तुम्हारा मस्तिष्क ब्रह्मवर्चस् से दीप्त होता है, शरीर तेज से और हृदयान्तरिक्ष **श्री**=भक्ति से देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय हो, पत्नी घर की उन्नति-साधिका हो। घरों में यज्ञ अविच्छिन्न रूप से चलें। मस्तिष्क ज्ञानमय, शरीर तेजस्वी व हृदय भक्ति-सम्पन्न हो।

ऋषिः—विश्वकर्मा। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिग्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

मही-स्वस्ति-शन्तमछर्दि

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१२॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **त्वा**=तुझे **अन्तरिक्षस्य पृष्ठे**=हृदयान्तरिक्ष की श्री में (पृष्ठ=श्री—ऐ० ६।५) **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तुझमें सेवा की भावना को जन्म दे (श्रिञ् सेवायाम्)। अथवा **विश्वकर्मा**=आजीविका के लिए सब धर्म्य कर्मों को करने के लिए सदा उद्यत पति तुझे सेवा की वृत्तिवाला बनाये। पति को गृह-भार को वहन करते हुए देखकर पत्नी में इस वृत्तिका उत्पन्न होना स्वाभाविक

है। 'ध्रुवैधि पोष्ये मयि' पोषण करनेवाले पति में पत्नी ध्रुव होकर रहेगी ही। २. तू **व्यचस्वतीम्**=(वि अञ्च्) वस्तुओं को व्यक्त करनेवाले ज्ञानवाली है तथा **प्रथस्वतीम्**=(प्रथ विस्तारे) हृदय के विस्तारवाली है। जहाँ तेरा ज्ञान ऊँचा है वहाँ तेरा हृदय भी विशाल है। ३. **अन्तरिक्षं यच्छ**=तू अपने मन को नियमित कर, मन को काबू करनेवाली हो। **अन्तरिक्षं दृंह**=इस मन को दृढ़ बना तथा **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=अपने मन को नष्ट न होने दे। 'मन के हारे हार है'—मन का उत्साह गया तो जीवन समाप्त हुआ, मन के उत्साह में ही सब उन्नति है। ४. इस प्रकार मन को नियमित, दृढ़ व जीवित बनाकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए, **व्यानाय**=सर्वशरीर व्यापी व्यानशक्ति के लिए और उसके द्वारा सारे नाड़ी-संस्थान के स्वास्थ्य के लिए, **उदानाय**=कण्ठदेश में ठीक स्थिति को रखनेवाली उदानवायु के लिए, **प्रतिष्ठायै**=स्थिरता के लिए तथा **चरित्राय**=उत्तम आचरण के लिए, **विश्वस्मै**=इन सब बातों के लिए सन्नद्ध हो। ५. **वायुः** (वा गतौ)=क्रियाशील पति **त्वा मह्या**=तुझे गौ के द्वारा (मही गोनाम—नि० २।११) **शन्तमेन छर्दिषा**=सब ऋतुओं में अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले घर से **स्वस्त्या**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने से अविनाश के द्वारा या उत्तम स्थिति के द्वारा **अभिपातु**=अन्दर व बाहर से सुरक्षित करे—इहलोक व परलोक के दृष्टिकोण से सुरक्षित करे। ६. **तया देवतया**=उस गौ, उत्तम घर व सम्पत्ति आदि को प्राप्त करानेवाले देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस गृह में बैठ। ६. जिस घर में गौ होगी वहाँ 'देवत्व—अङ्गिरसत्व व ध्रुवत्व' ये सभी बातें सम्भव होंगी। गोदुग्ध सेवन से मन सात्त्विक व दैवी सम्पत्तिवाला बनाता है—गोरस शीतवीर्य को जन्म देकर अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाला होता है।

भावार्थ—पत्नी हृदय में सेवा की वृत्तिवाली हो, ज्ञान के लिए विस्तारवाली, विशाल हृदयवाली हो। मन को दृढ़ व नियमित रक्खे। पति उत्तम गौ, उत्तम घर व समृद्धता का ध्यान करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—दिशः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राज्ञी-अधिपत्नी

राज्ञ्य॑सि प्राची॒ दिग्वि॒राड॑सि दक्षि॑णा॒ दिक् स॒म्राड॑सि प्र॒तीची॒ दिक् स्व॒राड॒स्युदी॑ची॒ दिगधि॑पत्न्यसि बृह॒ती दिक् ॥१३॥

१. हे पत्नि! **राज्ञी असि**=तू (राज् दीप्तौ) शरीर में स्वास्थ्य की दीप्तिवाली है—मन में भक्ति की दीप्तिवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली है। इसी से **प्राची दिक्**=तेरी दिशा (प्र अञ्च्) आगे बढ़ने की बनी है। इन दीप्तियों के बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं होता। २. तू **विराट् असि**=विशेषरूप से दीप्त हुई है, क्योंकि तू (विराधनाद्वा) कार्यों को सदा विशिष्टरूप से सिद्ध करने का ध्यान करती है—प्रत्येक कार्य को अप्रमाद व गम्भीरता से करती है। इसी से **दक्षिणा दिक्**=तेरी दिशा दाक्षिण्य की हुई है। तू अपने कार्यों में बड़ी कुशल हो गई है। ३. **सम्राट् असि**=तू घर पर उत्तम प्रकार से शासन करनेवाली है—सारे घर को बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से चलाती है। इसी से तू स्वयं भी **प्रतीची दिक्**=(प्रति अञ्च्) इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत करनेवाली—इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाली बनी है। स्वयं अपना शासन न कर सकनेवाला औरों का शासन नहीं कर सकता। ४. **स्वराट्**

असि=तू अपना शासन करनेवाली बनी है अथवा स्व को—आत्मा को दीप्त करनेवाली हुई है। इसी से उदीची (उद् अञ्च) तेरी दिशा उन्नति की हुई है। बिना स्वशासन के कोई कभी उन्नत नहीं हुआ। ५. **अधिपत्नी असि**=तू घर की अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है, अतः **बृहती दिक्**=(बृहि वृद्धौ) घर को सब प्रकार से बढ़ाने की ही तेरी दिशा है। घर की सर्वतोमुखी उन्नति करने में ही तू प्रवृत्त है। जो उन्नति न करे वह 'अधिपत्नी' कैसी!

भावार्थ—पत्नी ने 'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराड् व अधिपत्नी' बनना है।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ज्योतिष्मती

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१४॥

१. **विश्वकर्मा**=सारे संसार के कर्मों का सञ्चालक वह प्रभु तुझे **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष की **पृष्ठे**=पीठ पर **सादयतु**=बिठाये। जैसे घुड़सवार घोड़े की पीठ पर अविचल होकर बैठता है, उसी प्रकार तू मन पर अधिष्ठित हो। मन पूर्णरूप से तेरे वश में हो अथवा हृदयान्तरिक्ष की श्री (ऐ० ६।५) में तुझे स्थापित करे। तू **ज्योतिष्मतीम्**=ज्योतिर्मय है। तेरा जीवन ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहा है। ३. ज्ञान की ज्योति से दीप्त होकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए तथा **व्यानाय**=सारे शरीर में व्याप्त होकर नाड़ीसंस्थान को उत्तम रखनेवाली व्यानशक्ति के लिए **विश्वस्मै**=इन सबके लिए समर्थ हो। ४. इस प्रकार प्राणापान, व्यान से 'भूर्भुवः स्वः' से अलंकृत होकर 'स्वस्थ, ज्ञानशीला व जितेन्द्रिय' बनकर तू अपने सन्तानों को भी **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=सम्पूर्ण ज्ञान देनेवाली बन। ५. **वायुः ते अधिपतिः**=तेरा गुण-सम्पन्न पति क्रियाशील हो। क्रियाशीलता से दोषों का गन्धन—हिंसन करनेवाला हो। ६. **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली बन।

भावार्थ—पत्नी का जीवन भी ज्योतिर्मय हो, जिससे वह सन्तानों को भी ज्ञान दे सके।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—स्वराडुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

नभ+नभस्य

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वार्षिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥१५॥

१. हे पति-पत्नि! **नभः च**=तुम नभ बनो। निरुक्त के अनुसार तुम **'नेता भासाम्'**=दीप्तियों के प्रणयन करनेवाले बनो। अपने को ज्ञान की दीप्ति से भरने का प्रयत्न करो। इसी से **नभस्यः**=(नभसि साधुः, नभ हिंसायाम्) सब बुराइयों के—काम, क्रोध, लोभ के हिंसन में तुम समर्थ बनोगे। संक्षेप में अपने को ज्ञान से परिपूर्ण करो और बुराइयों को समाप्त कर

दो। २. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके **वार्षिकौ**=एक-दूसरे पर आनन्द की वर्षा करनेवाले बनो। **ऋतू**=तुम दोनों पति-पत्नी का जीवन नियमित गतिवाला हो (ऋ+गतौ)। जिस प्रकार ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं, उसी प्रकार तुम अपने कार्य को समयानुसार करनेवाले बनो। ३. ऐसा बनने पर ही तुम **अग्नेः**=प्रभु को **अन्तः**=हृदयान्तरिक्ष में **श्लेषः असि**=आलिङ्गन करनेवाले होते हो। ४. प्रभु के सम्पर्क में रहने से **द्यावापृथिवी**=तुम्हारे मस्तिष्क व शरीर **कल्पेताम्**=सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ५. इसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल और ओषधियाँ तुम्हारे लिए शक्तिशाली हों। ६. **अग्नयः**=माता (दक्षिणाग्नि), पिता (गार्हपत्य अग्नि) व आचार्य (आहवनीय अग्नि)-ये सब **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता के लिए **पृथक्**=अलग-अलग, पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता आचरण व शिष्टाचार को तथा आचार्य मेरे ज्ञान को उन्नत करके मेरी ज्येष्ठता को सिद्ध करनेवाले हों। ७. वस्तुतः **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी एक ही भावना हो कि हमें राष्ट्र के इन भावी नागरिकों को ज्येष्ठ बनाना है, खूब उन्नत करना है। ८. जब इस प्रकार उन्नत होकर व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तभी वे **वार्षिकौ**=आनन्द की वर्षा करनेवाले होंगे **ऋतू**=नियमित जीवनवाले होंगे तथा **अभिकल्पमाना**=शरीर व बौद्धिक उन्नति करनेवाले होंगे। शरीर व बुद्धि दोनों को शक्तिशाली बनाएँगे। इस लोक व परलोक दोनों को सफल करेंगे। शरीर व आत्मा दोनों का ध्यान करेंगे। ९. **इन्द्रम् इव**=जितेन्द्रियता के द्वारा इन्द्र के समान बने हुए इनको **देवाः**=सब देव **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इनके अन्दर सारी अच्छाइयाँ हों। १०. ऐसे बने हुए ये पति-पत्नी **तया देवतया**=उस परमात्मा के साथ, देव बनकर महादेव के साथ रहते हुए, अर्थात् सशक्त शरीरवाले होते हुए **ध्रुवे**=ध्रुव बनकर-मर्यादित व स्थिर जीवनवाले होते हुए **सीदतम्**=इस घर में बैठें। इनका जीवन मर्यादामय व शान्त (still=स्थिर) हो।

भावार्थ-पति-पत्नी ज्ञान-ज्योतियों का प्रणयन करनेवाले तथा बुराइयों को समाप्त करनेवालों में उत्तम बनकर, प्रभु-सम्पर्क से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हुए, ध्रुवता से, मर्यादा व शान्ति से घर में निवास करें।

सूचना-नभः=श्रावण मास का नाम है, नभस्य=भाद्रपद का, श्रवण ही ज्ञान-प्रणयन का उपाय है। बुराइयों को समाप्त करना ही भद्र का पद=कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः-विश्वेदेवाः। **देवता**-ऋतवः। **छन्दः**-उत्कृतिः। **स्वरः**-षड्जः॥

इष+ऊर्ज=शरत्

इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शारदावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥१६॥

१. तुम **इषः**=(इष प्रेरणे=प्र+ईर=प्रकृष्ट गति) प्रकृष्ट गतिवाले होओ **च**=तथा **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनो। **'इष'** आश्विनमास का नाम है-इसी में क्षत्रिय घोड़ों को (अश्वों को) काठी लगाकर यात्राओं के लिए निकलते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा जीवन भी इन्द्रियाश्वों

पर आरुढ़ होकर गतिवाला हो। आत्मवश्य इन्द्रियों से विचरण ही यात्रापूर्ति का साधन है। **'ऊर्ज'** कार्त्तिक मास का नाम है—'कृन्तन'=शत्रुओं का छेदन-भेदन करने के लिए तुम्हें भी बल व पराक्रमवाला बनना है। २. शक्तिशाली बनकर **शारदौ**=तुम शारद बनो—शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनों। जैसे शरद में सब पत्ते झड़ जाते हैं, उसी प्रकार तुमसे सब बुराइयाँ झड़ जाएँ। **ऋतू**=तुम नियमित गतिवाले बनो। ३. **अग्नेः अन्तः श्लेषः असि**=हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों। ४. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=तुम्हारे शरीर व मस्तिष्क शक्तिशाली हों। ५. उसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ तुम्हें शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठयाय**=मेरी ज्येष्ठता के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **पृथक्**= अलग-अलग, क्रमशः ५, ८ व २५ वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये मेरे जीवन को खूब उन्नत कर दें। ७. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी समानरूप से एक ही कामना हो कि इस राष्ट्र की भावी सन्तति को उत्तम-ज्येष्ठ बनाना है। ८. **शारदौ**=इस प्रकार उत्तम बने हुए युवक और युवति सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले हों। **ऋतू**=नियमित गतिवाले हों। **अभिकल्पमाना**=शरीर व बुद्धि दोनों को समर्थ बनाएँ। अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का साधन करें। ९. **इन्द्रमिव**=इन्द्र की भाँति बने हुए इस व्यक्ति को **देवाः अभिसंविशन्तु**=सब देवता प्राप्त हों। १०. सब देवताओं के समावेश से देव बनकर **तया देवतया**=उस महादेव के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले की भाँति, अर्थात् शक्तिशाली अङ्गोंवाले होते हुए **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर—मर्यादित जीवनवाले होकर घर में विराजो।

भावार्थ—पति-पत्नी गतिशील हों। गतिशीलता से शक्तिशाली बनें। शक्ति से सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों। नियमित गतिवाले होकर, प्रभु की उपासना से अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करें और ध्रुव होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आयु-ज्योतिः

आयु॑र्मे पाहि प्रा॒णं मे॑ पाह्यपा॒नं मे॑ पाहि व्या॒नं मे॑ पाहि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॒ श्रोत्रं॑ मे पाहि॒ वाचं॑म्मे पिन्व॒ मनो॑ मे जिन्वा॒त्मानं॑म्मे पाहि॒ ज्योति॑र्मे यच्छ ॥१७॥

१. गत मन्त्र के 'वार्षिक (आनन्द की वर्षा करनेवाले) व शारद (बुराइयों को शीर्ण करनेवाले)' पति-पत्नी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **मे आयुः पाहि**=मेरे जीवन की रक्षा कीजिए। वस्तुतः इस प्रार्थना को करते हुए वे अपनी आयु की रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। पूर्ण प्रयत्न के साथ ही प्रार्थना शोभा देती है। २. इस जीवन में **प्राणं मे पाहि**=मेरी प्राणशक्ति की रक्षा कीजिए, **अपानं मे पाहि**=मेरी अपान-रोगनिराकरण-शक्ति की रक्षा कीजिए। **व्यानं मे पाहि**=मेरी इस सर्वशरीर-व्यापिनी व्यानशक्ति की रक्षा कीजिए। वस्तुतः 'प्राणापान, व्यान' से रहित जीवन कोई जीवन नहीं है। स्वस्थ जीवन ही जीवन है। ३. इस स्वस्थ जीवन में **मे चक्षुः**=मेरी आँख की **पाहि**=रक्षा कीजिए। मेरी दृष्टिशक्ति विकृत न हो जाए। मेरे जीवन का दृष्टिकोण ठीक बना रहे। इसके ठीक रहने पर ही सब कार्य ठीक होते हैं। ४. **श्रोत्रं मे पाहि**=मेरे श्रोत्र की रक्षा कीजिए। इससे मैं कभी अभद्र न सुनूँ। संसार में ये स्तुति-निन्दा को न सुनेंगे तो न झगड़ेंगे न पतित होंगे। ५. **वाचं मे पिन्व**=मेरी वाणी

को प्रीणित कीजिए। यह औरों का प्रीणन करनेवाली हो, इसमें कटुता न हो। ६. **मे मनः जिन्व**=मुझे मानस शक्ति दीजिए (जिव्=give)। मेरा मन प्रबल हो। ७. **मे आत्मानं पाहि**=मेरी आत्मा की रक्षा कीजिए, अर्थात् मेरी आत्मा, जो आप हैं, उन्हें मैं भूल न जाऊँ, इसीलिए मैं चाहता हूँ कि ८. **मे ज्योतिः यच्छ**=मुझे प्रकाश दीजिए। मुझे वह ज्ञान की ज्योति दीजिए, जिससे मैं आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—हमारा जीवन दीर्घ, शक्ति-सम्पन्न, शुद्ध इन्द्रियों व मनवाला तथा ज्योतिर्मय हो, जिससे हम प्रभु-दर्शन में समर्थ हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—छन्दांसि। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

उत्तम इच्छाएँ

मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दोऽअस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥१८॥

१. प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं कि तुम्हारी पहली **छन्दः**=इच्छा **मा**=लक्ष्मी की हो। तुम धन को धर्म्य मार्गों से कमाने का ध्यान करो। धन के बिना गृहस्थ व संसार नहीं चल सकता। तुम्हारे ध्येय 'मा+धव' हों, लक्ष्मीपति विष्णु हों, परन्तु धन को सुपथा कमाने का प्रयत्न करो। २. **प्रमा छन्दः**=ज्ञान-प्राप्ति की तुम्हारी कामना हो। कहीं धनोपासना में फँसकर 'लक्ष्मी के वाहन-उल्लू' ही न बन जाना। केवल लक्ष्मी की उपासना उल्लू बनना ही है, अतः धन के साथ ज्ञान को जोड़ने का प्रयत्न करना। ३. इस प्रकार **प्रतिमा छन्दः**=प्रभु की ही प्रतिमा (image) तदनुरूप ही बनने की इच्छा करना। 'धन व ज्ञान' ये हमें प्रभु के समीप पहुँचा देते हैं। ४. इन बातों के लिए **अस्त्रीवयः छन्दः**=(अस्यति क्षिपति, वेञ् तन्तु सन्ताने) उस अन्न की कामना करना जो सब बुराइयों को, रोगों व मानस विकारों को दूर फेंकता है और जीवनतन्तु का सन्तान करते हुए दीर्घ-जीवन का कारण बनता है। ५. इस उत्तम अन्न के प्रयोग से **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को बढ़ाने की तुम्हारी कामना हो। इन सब पञ्चकों को बड़ा ठीक रखना है। ६. ऊपर के पञ्चकों को ठीक करके **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की तुम्हारी इच्छा हो। तुम्हारा प्रेम हीन वस्तुओं के साथ न हो। ७. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि-उन्नति की ही तुम्हारी कामना हो। ८. इसके लिए **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हम कामना करें। हमें कभी प्रभु-विस्मरण न हो। ९. तभी **विराट् छन्दः**=हम विशेषरूप से दीप्त होने की कामना कर सकेंगे। प्रभु-स्मरण हमारे चेहरों को आनन्द से दीप्त कर देता है। अथवा प्रभु-स्मरण ही हमें **विराट्**=विशिष्टरूप से व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला बनाएगा १०. और हम **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा कर पाएँगे। व्यवस्थित जीवन में ही प्राण सुरक्षित रहते हैं। ११. इसके लिए तुमने **त्रिष्टुप् छन्दः**=काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामना करनी है। १२. **जगती छन्दः**=लोकहित में लगे रहने की इच्छा करनी। लोकहित में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं से बचा रहता है और दीर्घ-जीवन पाता है।

भावार्थ—इस मन्त्र का प्रारम्भ 'मा' से है। समाप्ति 'जगती' पर है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पत्ति का सर्वोत्तम विनियोग लोकहित ही है।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—पृथिव्यादयः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः॥१९॥

१३. **पृथिवी छन्दः**=तुम्हारी इच्छा शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने की हो। इसकी शक्तियों का तुम विस्तार करो। १४. **अन्तरिक्षं छन्दः**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने की कामना करो। इसके अधिपति बनो, मन को वश में करके चलो, सदा मध्यमार्ग को अपनाओ। यह मन तुम्हें अति में ले-जानेवाला न हो जाए। १५. **द्यौः छन्दः**=मस्तिष्करूप द्युलोक की तुम कामना करो। इसे (दिव्=द्युति) प्रकाशमय बनाने के लिए प्रयत्नशील होओ। १६. **समाः छन्दः**=(समायन्ति ऋतवो यस्यां सा समाः) संवत्सर की तुम्हारी कामना हो, जैसे इसमें सब ऋतुएँ समय पर आती हैं, इसी प्रकार तुममें भी सब कर्त्तव्य समय-समय पर आते रहें। तुम अपने सब कार्यों को समय पर करते रहो अथवा **समाः**=काल जैसे सबके लिए सम है, उसी प्रकार तुम भी सबके लिए सम होओ। तुम्हारे व्यवहार में वैषम्य न हो। १७. **नक्षत्राणि छन्दः**=नक्षत्रों के समान (नक्ष गतौ) सदा क्रियाशीलता की भावना तुममें बनी रहे। 'न क्षिणोति हिनस्ति इति'=तुम नक्षत्रों से हिंसा न करने का पाठ सीखो। ये कल्याण-ही-कल्याण करते हैं, हिंसा नहीं। तुम भी लोगों को थोड़ा-बहुत प्रकाश देनेवाले होओ। १८. **वाक् छन्दः**=तुम्हारी इच्छा निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की हो। १९. **मनः छन्दः**=मन को निरुद्ध करने की और इस प्रकार मानस-बल को बढ़ाने की तुम्हारी इच्छा हो। २०. इस मनो-निरोध के लिए तुम **कृषिः छन्दः**=कृषि आदि कार्यों की इच्छा करो। कृषि आदि कार्यों में लगा हुआ मन विषयों में जाने से रुका रहेगा। २१. इस कृषि से प्राप्य **हिरण्यं छन्दः**=धन की तुम कामना करो। कृषि से प्राप्य धन वस्तुतः मनुष्य के लिए बड़ा हितरमणीय है, अतः वस्तुतः यही धन 'हिरण्य' है। २२. **गौः छन्दः**=वहाँ खेती में गौओं की तुम इच्छा करो (तत्र गावः)। कृषि करते हुए गौएँ रखने में आर्थिक कष्ट नहीं होता। २३. **अजाः छन्दः**=वहाँ खेती में तू बकरियों को रखने की इच्छा कर तथा २४. **अश्वः छन्दः**=घोड़ों को रखने की तू कामना कर। ये गौ और घोड़े ही तेरे जीवन को उत्कृष्ट बुद्धि व बल से सम्पन्न करेंगे।

भावार्थ—यह मन्त्र 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौ' से प्रारम्भ होता है, शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाने की कामना हमें करनी ही चाहिए। समाप्ति पर 'गौ-अजा व अश्व' हैं। गौ-दुग्ध हमारे मस्तिष्कों को सुन्दर बनाएगा, अजा दुग्ध हमारे मनों को तथा अश्व हमारे शरीर को सबल बनानेवाले होंगे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आराध्यदेवता

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥२०॥

१. **अग्निः देवता**=अग्नि तेरा देवता हो—तू अग्नि से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला बन। अग्नि मलों का दहन कर देता है, तू भी सब मलिन वासनाओं को ज्ञानाग्नि में दग्ध

करनेवाला बन। २. **वातः देवता** =वायु तेरा देवता हो। वायु से तू कर्मफल की अपेक्षा न करते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करनेवाला बन। ३. **सूर्यः देवता**=सूर्य तेरा देवता हो। सूर्य की भाँति तेरी ज्ञान की ज्योति चमके। ४. **चन्द्रमाः देवता**=चन्द्र तेरा देवता हो। तू सदा आह्लादमय, सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर। ५. **वसवः देवता**=वसु तेरे देव हों। तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाला हो। ६. **रुद्राः देवता** =रुद्र तेरे देव हों। 'रोरूयमाणो द्रवति' तू प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला हो। ७. **आदित्याः देवता**=आदित्य तेरे देव हों। इनसे तू सब स्थानों से अच्छाई के ग्रहण का नियम सीख। ये समुद्र में से भी खारेपन को न लेकर शुद्ध जल को लेते हैं, तू सब स्थानों से अच्छाई को ही ले। गुणग्राही बन, अवगुणों को त्याग। ८. **मरुतः देवता**=मरुत तेरे देव हों। 'मरुतः मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति—नि० ११। १३' तू मरुतों की भाँति बहुत न बोलनेवाला तथा खूब कार्य करनेवाला बन। अथवा 'मा+रुद्' रोनेवाला न बन। ९. **विश्वेदेवाः देवता**=विश्वेदेव तेरे देवता हों। सब दिव्य गुणों को तू अपनानेवाला बन। १०. **बृहस्पतिः देवता**=ब्रह्मणस्पति तेरा देवता हो। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करनेवाला हो। ११. **इन्द्रः देवता** =इन्द्र तेरा देवता हो। तू सब शत्रुओं का विद्रावण करने के हेतु जितेन्द्रिय बन। १२. **वरुणः देवता** =वरुण तेरा देवता हो। वरुण के पाश अनृतवादी को छिन्न करते हैं तथा सत्यवादी को उनमें बाँधते नहीं, अतः तू भी वरुण को देवता माननेवाला सत्यवादी बन। अथवा द्वेष का निवारण करनेवाला बन (वारयति)। इस प्रकार सत्यवादी तथा निर्वैर बनकर तू प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों से प्रेरणा प्राप्त करके देव बनें और अन्त में प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मूर्धा-ध्रुवा-धर्त्री

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥२१॥

१. **मूर्धा असि**=(एष वै मूर्धा य एष सूर्यः तपतिः—श० १३।४।१।१३) तू सूर्य की भाँति ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाली है, और अतएव **राट्**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाली है। ज्ञान हमारे जीवन को व्यवस्थित कर देता है। प्रभु के ज्ञानमय तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति होती है। हमारे जीवन में भी ज्ञान से इस ऋत और सत्य की उत्पत्ति क्यों न होगी? एवं, ज्ञान हमारे जीवनों में व्यवस्था लाता है। उस व्यवस्था के कारण जीवन चमक उठता है (राज् दीप्तौ) २. **ध्रुवा असि**=(इयं पृथिवी एव ध्रुवा—श० २।३।२।४) तू इस पृथिवी के समान ध्रुवा बनती है, मर्यादा में चलनेवाली होती है। स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ व जीवन-मरण के प्रलोभन तुझे नीति-मार्ग से विचलित नहीं कर पाते, अतएव तू **धरुणा**=सबका धारण करनेवाली बनती है। ध्रुव पृथिवी जैसे सबका धारण करती है, उसी प्रकार ध्रुव बनकर तू भी सबका धारण करनेवाली होती है। ३. **धर्त्री असि**=(वायुर्वाव धर्त्रम्—श० ८।४।१।२६) तू वायु के समान सबके जीवन का धारण करनेवाली है, गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन=हिंसन करनेवाली है (वा गतिगन्धनयोः), अतएव **धरणी**=स्वास्थ्य के धरण (रक्षण) से दीर्घायुष्य का धारण करनेवाली बनती है। ५. मैं **त्वा**=तेरा सखित्व **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए स्वीकार करता हूँ। **त्वा**=तेरा सखित्व **वर्चसे**=वर्चस के लिए

होता है। **कृष्यै त्वा**=मैं तेरा सखा बनता हूँ, जिससे हम मिलकर अपने इस कृषिकर्म को उन्नत कर पाएँ और इस प्रकार **क्षेमाय त्वा**=मैं तुझे योगक्षेम के साधन के लिए अपनाता हूँ। वस्तुतः आदर्श जीवन वही है जिसमें लोग श्रमपूर्वक योगक्षेम को सिद्ध करते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को दीर्घ व शक्तिशाली बना पाते हैं।

भावार्थ—गृहपत्नी ज्ञान द्वारा सूर्य की भाँति चमके, पृथिवी के समान धारण करनेवाली हो और वायु के समान शरीर के स्वास्थ्य को सुरक्षित करनेवाली हो। वायु बनकर आयु का स्थापन करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यन्त्री-यमनी

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥२२॥

१. तू **यन्त्री**=अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाली है और इसी का परिणाम है कि तू **राट्**=चमकती है। जैसे नियमित गति के कारण सूर्य चमकता है, उसी प्रकार नियमित जीवनवाला व्यक्ति भी चमकता है। २. और वस्तुतः **यन्त्री असि**=तू अपने जीवन को नियन्त्रण में रखनेवाली है, अतएव **यमनी**=सबको नियमित जीवनवाला बनाती है। सबको नियम में वही रख सकता है जो स्वयं अपने को नियमित बनाये। ३. **ध्रुवा असि**=पृथिवी के समान तू ध्रुवा है (ध्रुवा=पृथिवी—श० १।३।२।४), अतएव **धरित्री**=सबका धारण व पोषण करनेवाली है। स्वयं अध्रुव जीवनवाला औरों का धारण नहीं कर सकता। ४. पत्नी कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे अपना जीवन-सखा बनाती हूँ, **इषे**=अन्न-प्राप्ति के लिए। हमारे घर में 'अन्न की कमी न होने देना' यह आपका पहला कर्त्तव्य है। मैं **ऊर्जे त्वा**= आपको वरती हूँ, जिससे हमारा जीवन बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। 'ऊर्ग् वै रसः'=हमारे घर में उस गोरस व दूध की कमी न हो जो हम सबके जीवनों को बल व प्राणशक्ति- सम्पन्न बनाएगा। **रय्यै त्वा**=मैंने आपका वरण इसलिए किया है कि आप घर के कार्य- सञ्चालन के लिए पर्याप्त धन का अर्जन करनेवाले होंगे। **पोषाय त्वा**=उचित धनार्जन के द्वारा सबका पोषण करने के लिए मैंने आपका वरण किया है।

भावार्थ—पत्नी को चाहिए कि अपने जीवन को नियमित बनाकर घर में सबके जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। पति ने अन्न, रस, धन व पोषण का ध्यान करना है। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्य को करने से इनका यह लोक अच्छा बनेगा।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः [क], भुरिगतिजगती [र]। **स्वरः**—पञ्चमः [क], निषादः [र]॥

आशुः, चतुष्टोमः

[क]आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽएकविंशः प्रतूर्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो [र]गर्भाः पञ्चविंशऽओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोमः॥२३॥

१. **आशुः** (अश्नुते कर्मसु)=तू सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला बनता है और आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है। कर्मों में व्याप्त होते हुए तू **त्रिवृत्**=(त्रिषु

वर्त्तते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों में समरूप से वर्त्तनेवाला होता है। केवल 'धर्म' को अपनाकर, जटाधारी बन, अग्नि में आहुति ही नहीं देता रहता। केवल 'अर्थ' को अपनाकर 'मनी-मेकिंग-मशीन'=धनार्जन-यन्त्र ही नहीं हो जाता और केवल 'काम' को ध्येय बनाकर निकम्मा नहीं हो जाता। २. **भान्तः**='भा कान्तिरेव अन्तःस्वरूपं यस्य' तू कान्त रूपवाले चन्द्रमा के समान बनता है, सदा आह्लादमय तेरा रूप होता है (चदि आह्लादे) और **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उत्तम बनाकर पन्द्रहवाला बनता है। ३. **व्योमा**='विविधम् अवति'=तू **वी**=प्रकृति **ओम्**=परमात्मा व **अन्**=जीव (वी+ओम्+ अन्=व्योमन्) इन सभी का अपने में समन्वय करता है और सचमुच इन विविध तत्त्वों का अपने में रक्षण करता है। प्रकृति के अवन से तेरा भौतिक (material) अंश ठीक बनता है, जीव के अवन से तेरा सामाजिक (social) अंश ठीक होता है और प्रभु के अवन से तेरा अध्यात्म (spiritual) अंश ठीक होता है। इस प्रकार तू **सप्तदशः** ='पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय+पाँच प्राण+मन व बुद्धि' इन सत्रह तत्त्वों को ठीक रखनेवाला होता है। ४. **धरुणः**=(धरुण आदित्यः-श० ८।१।१।१२) आदित्य के समान प्रकाश आदि उत्तम तत्त्वों का आदान व धारण करनेवाला बनता है। इसी से तू **एकविंशः**=शरीर के धारण करनेवाले २१ तत्त्वोंवाला होता है (ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः) ५. **प्रतूर्तिः**=(प्रकृष्टा तूर्तिः त्वरा यस्य) जिसके जीवन में शीघ्रता है व आलस्य का अभाव है, ऐसा तू **अष्टादशः**=अठारह तत्त्वोंवाले इस सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता **विराट्**=चमकनेवाला आत्मा बनेगा। ६. **तपः**=यदि तू तपस्या की प्रतिमूर्त्ति, खूब तपस्वी जीवनवाला बनेगा तो **नवदशः**=शरीर के नौ द्वारों (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) तथा दश प्राणों का अपनानेवाला होगा। तपस्या तेरे इन इन्द्रिय-द्वारों व प्राणों को स्वस्थ व शक्ति-सम्पन्न बनाएगी। ७. **अभीवर्त्तः**= (अभि-वर्तते) उस प्रभु की ओर जानेवाला होगा तो **सविंशः**=तू बीस के साथ होगा। ये शरीर की दस इन्द्रियाँ व दस प्राण तेरे अधीन होंगे, ये तेरा साथ न छोड़नेवाले होंगे। प्रभु की ओर झुकाव से-प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण से प्रभु की शक्ति हमारी इन्द्रियों व प्राणों को सशक्त बनाएगी। ८. **वर्चः**=प्रभु-स्मरणवाला तू तब वर्चस्वी=वर्चस् का पुतला ही बन जाएगा तो **द्वाविंशः**=दस इन्द्रियों, दस प्राणों व मन और बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला होगा। ९. **सम्भरणः**=अपने में शक्ति का सम्यक् भरण करनेवाला तथा शक्ति के द्वारा सबका सम्यक् भरण करनेवाला तू **त्रयोविंशः**=दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, मन-बुद्धि तथा चित्तवाला होगा। तेरे ये तेईस-के-तेईस तत्त्व ठीक होंगे। १०. **योनिः**=(यु=मिश्रण अमिश्रण) सब अच्छाइयों को अपने से संपृक्त व बुराइयों को असंपृक्त करनेवाला तू सर्वस्थानभूतः=सबको आश्रय देनेवाला **चतुर्विंशः**=चौबीस गुणोंवाला होगा। दर्शन में चौबीस ही गुण हैं, तथा मोक्ष में इन्हीं चौबीस शक्तियों से जीव सुख भोगता है। ११. **गर्भः**=(व्यत्ययेन बहुत्वम्) (गिरति अनर्थान् इति गर्भः)=सब अनर्थों को तू नष्ट करनेवाला हुआ है, इसी से तू **पञ्चविंशः**=चौबीस गुणों वा शक्तियों का अधिष्ठाता पच्चीसवाँ पुरुष हुआ है। १२. **ओजः**=तू ओजस्वी बना है (वज्रो वा ओजः) अनर्थों को दूर करनेवाले वज्र के समान तू हुआ है और इसी से चौबीस गुण तथा मन-बुद्धि व आत्म-तत्त्ववाला **त्रिणवः**=३ गुणा ९ सताईस तत्त्वोंवाला तू है। १३. **क्रतुः**=ओजस्वी बने रहने के लिए तू क्रतुमय जीवनवाला है, सदा यज्ञशील है और इसी से **एकत्रिंशः**=चौबीस गुणों तथा सात रत्नोंवाला (दमे-दमे सप्तरत्नं दधानम्) हुआ है। १४. **प्रतिष्ठा**=यज्ञों के द्वारा तू प्रभु में प्रतिष्ठित हुआ है और **त्रयस्त्रिंशः**=सब तेतीस देवोंवाला बना है। १५. **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=(असौ वा आदित्यो ब्रध्नः-श० ८।४।१।२३) ब्रह्मरूप

आधारवाला होकर तू 'आदित्यलोक' वाला हो गया है (ब्रध्नस्य विष्टपं=स्वराज्यस्थापकम्) तू स्वतन्त्र, स्वराट् हो गया है। तुझमें किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं रह गई। इसी से **चतुस्त्रिंशः**=३३ देव व ३४ वें महादेववाला तू है। १६. **नाकः**=अब स्वतन्त्र होकर—स्वराट् बनकर (सर्वमात्मवशं सुखम्) तू दुःख के लवलेश से भी रहित स्वर्ग में पहुँच गया है (न अकं दुखं यत्र) और **षट्त्रिंशः**=तू तेतीस देवों तथा धर्मार्थ-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंवाला हुआ है। १७. **विवर्त्तः**=आज तू विशिष्ट ही वर्त्तनवाला बना है, तेरे सब कर्म दिव्य हो गये हैं और **अष्टाचत्वारिंशः**=२७ भागों में बटी हुई दैवी सम्पत् तथा शरीर की २१ शक्तियों को अपने में धारण करनेवाला बना है। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से तेरा जीवन ऊँचा बना है। १८. **धर्त्रम्**=(वायुर्वाव धर्त्रम्) विशिष्ट क्रियाओंवाला बनकर तू वायु की भाँति सबका धारण करनेवाला है। तेरी गति स्वाभाविक रूप से है और तू सभी का हित करने में प्रवृत्त है, तू सभी का धारण कर रहा है और **चतुष्टोमः**=(चतुर्भिः दिग्भिः स्तूयते) चारों दिशाओं में तेरा स्तवन-ही-स्तवन है, तेरी सर्वत्र कीर्ति हो रही है। अथवा चारों वेदज्ञानों के द्वारा तेरा स्तवन चल रहा है।

भावार्थ—हमारा जीवन, ऊपर की अठारह बातों को धारण करके, पूर्ण यज्ञिय बन जाए, हम 'आशु' से जीवन को प्रारम्भ करें, शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले बनें और 'चतुष्टोम' पर हमारे जीवन का अन्त हो। चारों वेदों से हमारा प्रभु-स्तवन चल रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—मेधाविनः। **छन्दः**—भुरिग्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

ब्रध्न+क्षत्र+जनित्र+वात

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षायाऽआधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमऽइन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳस्पृतं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳस्पृतꣳसप्तदश स्तोमो मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृतऽएकविꣳश स्तोमः॥२४॥

१. **अग्नेः**=अग्नि का **भागः** (भज सेवायाम्)=भजन करनेवाला, अतएव अग्नि का ही अंश—छोटारूप तू **असि**=है। 'नाधः शिखा याति कदाचिदेव'=अग्नि की ज्वाला कभी नीचे की ओर नहीं जाती। इसी प्रकार अग्नि का उपासक भी कभी नीचे की ओर झुकाववाला नहीं होता। **दीक्षाया आधिपत्यम्**=(वाग्वै दीक्षा—श० ८।४।२।३) वाणी पर इसका आधिपत्य होता है। वस्तुतः 'अग्निर्वाग् भूत्वा०' अग्नि ही वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रवेश करती है, अतः यह अग्नि की उपासना करता हुआ वाणी का अधिपति बनता है। वाणी का अधिपति बनकर **ब्रह्म स्पृतम्**=(स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु) इसने ज्ञान के साथ प्रीति की है, ज्ञान की रक्षा की है तथा ज्ञान को ही अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किया है। **त्रिवृत्स्तोमः**=ज्ञान प्राप्त करके यह (त्रिषु वर्त्तते) 'धर्मार्थ, काम' तीनों में वर्त्तनेवाला बना है और यह धर्म, अर्थ, काम का सम सेवन ही **स्तोमः**=इसकी स्तुति हुई है। २. **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **भागः असि**=तू भजन व उपासन करनेवाला हुआ है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर **विष्णोः आधिपत्यम्**=तुझे व्यापकता, उदारता व यज्ञिय वृत्ति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तूने इस यज्ञिय भावना के द्वारा विषयासक्ति से बचकर **क्षत्रं स्पृतम्**=बल की रक्षा की है—बल को प्रिय वस्तु बनाया है सबल जीवन जीने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को तूने स्वस्थ किया है। उन्हें

अपनी सम्पत्ति बनाया है और यही तेरा **स्तोमः**=स्तवन हो गया है। इन्द्रियों व प्राणों का ठीक रखना वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। ३. **नृचक्षसाम्**=(नॄन् चक्षते—look after men=देवाः) मनुष्यों का रक्षण करनेवाले देवों का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। इस भजन से तू उनका भाग—अंश वा छोटा रूप बना है। **धातुराधिपत्यम्**=तुझे धारण करनेवाले का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। धारक देवों का उपासक धारक क्यों न बनेगा? **जनित्रं स्पृतम्**=धारक बनकर तूने (विड् वै जनित्रम्—श० ८।४।२।५) प्रजा से प्रेम किया है, प्रजा की रक्षा की है और प्रजाओं को ही अपना प्राण बनाया है। **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व तेरा स्तवन बने हैं। इनको ठीक रखना ही तेरा प्रभु-स्तवन बन गया है। ४. **मित्रस्य**=प्राण का व स्नेह की देवता का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। वस्तुतः प्राणशक्ति के ठीक होने पर ही स्नेह की प्रवृत्ति होती है। इनमें कार्यकारण भाव है—प्राण की कमी स्नेहवृत्ति की न्यूनता का कारण बनती है। इस स्नेह की वृत्ति से तुझे **वरुणस्याधिपत्यम्**=अपान का व द्वेष-निवारण का आधिपत्य प्राप्त होता है। 'अपान' से दोषों का दूरीकरण होता है और मनुष्य निर्द्वेष बनता है। इस स्नेह व निर्द्वेष के होने पर **दिवः वृष्टिः**=मूर्धा में (मस्तिष्क में) होनेवाली आनन्द की वर्षा होती है अथवा प्रकाश की वृष्टि होती है, जीवन वस्तुतः आनन्दमय बनता है। इस उच्च स्थिति को स्थिर रखने के लिए तूने **वातः स्पृतः**=वायु की, निरन्तर क्रियाशीलता की रक्षा की है, क्रियाशीलता से ही प्रेम किया है तथा क्रियाशीलता से ही जीने का प्रयत्न किया है। क्रियाशीलता से **एकविंशः**=शरीर की इक्कीस शक्तियोंवाला तू होता है और यही तेरा **स्तोमः**=प्रभु-स्तवन है।

भावार्थ—अग्नि के उपासक बनकर हम ज्ञान की रक्षा करें। इन्द्र के उपासक बनकर हम बल की रक्षा करें। देवों के उपासक बनकर प्रजाओं की रक्षा करें। मित्र—स्नेह की देवता के उपासक बनकर हम क्रियाशीलता की रक्षा करें। हम ज्ञानी, सबल, प्रजारक्षक व क्रियाशील बनें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृदभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

चतुष्पात्+गर्भ+ओजस्+समीचीर्दिश

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳश स्तोमऽआदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविꣳश स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्णऽआधिपत्यमोज स्पृतं त्रिणव स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳसमीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः॥२५॥

१. तू **वसूनाम्**=वसुओं की **भागः**=उपासना करनेवाला है, निवास के लिए आवश्यक सब देवों का सेवन करनेवाला है और तुझे **रुद्राणाम्**=रुद्रों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त होता है। दस प्राण और आत्मा का स्वास्थ्य तुझे प्राप्त होता है। इस स्वास्थ्य को प्राप्त करके **चतुष्पात् स्पृतम्**=तूने 'स्वाध्याय+यज्ञ+तप+दान' रूप चतुष्पात् धर्म से प्रेम किया है, इसका रक्षण किया है। इस धर्म को जीने का प्रयत्न किया है और **चतुर्विंशः**=चौबीस-के-चौबीस गुणों की प्राप्ति ही **स्तोमः**=तेरा प्रभु-स्तवन हो गया है। २. **आदित्यानाम्**=तू आदित्यों का **भागः**=उपासक हुआ है। आदित्यों की आदानवृत्ति को धारण करके तूने दिव्य गुणों का आदान किया है और इससे **मरुतामाधिपत्यम्**=तुझे मरुतों का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। (मरुतः=ऋत्विजः० २।१८—नि०) ऋत्विजों का तू अधिपति बना है—ऋतु-ऋतु में, अर्थात् सदा यज्ञशीलों का तू अधिपति हुआ है। उन मरुतों का जोकि (मितराविणः, महद् द्रवन्तीति

वा–नि० ११।१३) बड़ा परिमित बोलते हैं और खूब गतिशील होते हैं अथवा वासनाओं पर खूब आक्रमण करनेवाले होते हैं। इसी से तूने **गर्भाः स्पृताः**=(इन्द्रियं वै गर्भः–तै० १।८।३।३) अपनी इन्द्रियों की रक्षा की है, इन्द्रिय-शक्तियों को नष्ट नहीं होने दिया है। **पञ्चविंशः स्तोमः** =इन्द्रियों को अनर्थों से बचाकर चौबीस गुणों के सम्पादन करनेवाला पच्चीसवाँ तू पुरुष हुआ है, पच्चीसवाँ बनना ही तेरा प्रभु-स्तवन है। ३. **आदित्यै भागः असि**=अदीना देवमाता का अथवा अखण्डन (दो अवखण्डने) की देवता का–पूर्ण स्वास्थ्य का–तू सेवन करनेवाला हुआ है। **पूष्णः आधिपत्यम्**=तूने पूषा का आधिपत्य प्राप्त किया है, अर्थात् सर्वोत्तम पोषण करनेवाला बना है। इस पोषण के द्वारा **ओजः स्पृतम्**=तूने ओजस्विता से प्रेम किया है, ओजस्विता का रक्षण किया है। वस्तुतः ओजस्वी जीवन जीने का ही ध्यान किया है। **त्रिणवः स्तोमः**=ओजस्विता से तीन गुणा नौ, अर्थात् चौबीस गुणों तथा मन, बुद्धि व आत्मतत्त्व का सम्पादन ही तेरा स्तवन बन गया है। इन २७ को प्राप्त करना ही तेरी स्तुति है। ४. **सवितुः देवस्य भागः असि**=उस उत्पादक देव का तू उपासक बना है। इसकी उपासना से तुझे **बृहस्पतेः आधिपत्यम्** =ब्रह्मणस्पति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बना है। इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके **समीचीः दिशः स्पृताः**= (सम्+अञ्च) उत्तम गतिवाली दिशाओं से तूने प्रेम किया है, उनसे प्राप्त होनेवाले 'आगे बढ़ना', दाक्षिण्य प्राप्त करना, प्रत्याहार व उन्नति और ध्रुव तथा उच्चस्थिति के उपदेशों को तूने अपने जीवन में घटाया है और इस प्रकार इन वेदोक्त उपदेशों का रक्षण किया है। **चतुः स्तोमः**=वेदों का समूह जिनमें सब उपदेश दिये गये हैं वे वेद ही तेरे **स्तोमः**=स्तवन हुए हैं।

भावार्थ–हम उत्तम निवासवाले बनकर चतुष्पात् धर्म (स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान) की रक्षा करें। गुणों का आदान करनेवाले बनकर हम अपनी सब इन्द्रियों की अनर्थों से रक्षा करें। अदिति (पूर्ण स्वास्थ्य) के उपासक बनकर हम ओजस्वी बनें और उत्पादक देव की उपासना करते हुए दिशाओं से दिये गये उपदेशों को जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः–विश्वदेवः। **देवता**–ऋभवः। **छन्दः**–निचृदतिजगती। **स्वरः**–निषादः॥

प्रजाः-भूतं यव व ऋभू की उपासना

यवा॑नां भा॒गो॒ऽस्यय॑वाना॒माधि॑पत्यं प्र॒जा स्पृ॒ताश्च॑तुश्चत्वारि॒ꣳश स्तोम॑ऽ ऋभू॒णां भा॒गो॒ऽसि॒ विश्वे॑षां दे॒वाना॒माधि॑पत्यं भू॒तꣳस्पृ॒तं त्र॑यस्त्रि॒ꣳश स्तोम॑: ॥२६॥

१. **यवानाम्**=(पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः–श० ८।४।२।११) तू चन्द्रमा की एक-एक कला को जोड़ते चलनेवाले शुक्लपक्षों का **भागः असि**=उपासक हुआ है। तू भी एक-एक कला को ग्रहण करते-करते १६ कलाओं से पूर्ण हुआ है। तूने **अयवानाम्**=अपरपक्षों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त किया है। इस अपरपक्ष में जैसे एक-एक कला न्यून व पृथक् होती चलती है, तूने भी एक-एक अवगुण व वासना को अपने से पृथक् किया है और सब अवगुणों को समाप्त करके अमावास्या=उस प्रभु के साथ रहने की स्थिति को पाया है (अमा=साथ, वस=रहना)। इस प्रकार तूने **प्रजाः स्पृताः**=सब प्रकृष्ट विकासों से प्रेम किया है, उनकी रक्षा की है, उन्हें अपने जीवन का अङ्ग बनाने का प्रयत्न किया है। **चतुः चत्वारिंशः स्तोमः**=इस प्रकार (आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः) चारों अङ्गों में चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास ही तेरा स्तवन हो गया है। तूने 'मुख, बाहू, उदर व पाद' सभी अङ्गों का चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास किया है और इस विकास द्वारा ही प्रभु की स्तुति की है। २. **ऋभूणां भागः असि** (उरु भान्ति–ऋतेन भान्ति–

ऋतेन भवन्ति—नि० ११।१६ ऋभवो: मेधाविन:—नि० ३।१५) तूने ज्ञान से दीप्त होनेवाले, ऋत से चमकनेवाले अथवा सदा ऋत के साथ रहनेवाले मेधावियों का उपासन किया है। इस उपासन का ही परिणाम है कि **विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्**=सब देवों का तू अधिपति बना है। **भूतं स्पृतम्**=(भूतं=जन्म—नि० ३।१३) इस प्रकार तूने अपने जीवन की रक्षा की है और **त्रयस्त्रिंशः स्तोमः**=यह तेतीस देवों का धारण ही तेरा स्तवन हो गया है। सच्चा प्रभु-स्तवन यही होता है कि हम सब देवों को अपनाएँ। देवों को अपनाकर ही हम महादेव के समीप पहुँचेंगे।

भावार्थ—शुक्लपक्ष हमें गुण-कला वृद्धि का उपदेश दे रहा है और कृष्णापक्ष एक-एक करके अवगुणों को समाप्त करके प्रभु के समीप पहुँचने का संकेत करता है, अतः हम ज्ञानदीप्त, ऋतमय जीवनवाले मेधावियों के उपासक बनकर जीवन में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ऋतवः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती [क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती [र]। **स्वरः**—निषादः [क], मध्यमः [र]॥

सह+सहस्य=हेमन्त

[क]सह॑श्च सह॒स्य॒श्च॒ हैम॑न्तिकावृ॒तू॒ऽअ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॒ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ऽओष॑धय॒: कल्प॑न्ताम॒ग्नय॒: पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः। [र]येऽअ॒ग्नय॒: सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वीऽइ॒मे। हैम॑न्तिकावृ॒तूऽअ॑भि॒कल्प॑माना॒ऽ इन्द्र॑मिव दे॒वाऽअ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम्॥२७॥

१. **सहः च**=तुम सहन शक्तिवाले बनो। संसार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहनशक्ति ही है। स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति मानापमान में तुल्य रहता है, स्तुति-निन्दा उसे विचलित नहीं करती। **सहस्यः च**=तुम बल में उत्तम बनो। 'सह' मार्गशीर्ष मास का नाम है। जो व्यक्ति (मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य होगा वह अपने दोषों को जानता हुआ वस्तुतः सहनशील होगा। उसे अपनी निर्दोषता का अभिमान न होगा। 'सहस्य' पौष है—सबल व्यक्ति अपने में गुणों का पोषण करता है। २. इस प्रकार सहनशील व सबल बनकर आप दोनों (पति-पत्नी) **हैमन्तिकौ**=(हि गतौ वृद्धौ च) गतिशील व वृद्धिशील बनों। ३. **ऋतू**=आप दोनों बड़ी व्यवस्थित गतिवाले बनों। ऋतुओं की भाँति आपका जीवन व्यवस्थित हो। ४. **अग्नेः अन्तः श्लेषः असि**=अपने अन्दर हृदयाकाश में उस प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों और इस प्रकार कामना करो कि ५. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=मेरा मस्तिष्क व शरीर शक्तिशाली बने। **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ मुझे शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर—मेरी उन्नति के साधनरूप एक लक्ष्यवाले होकर—**मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता—उन्नति के लिए **पृथक्**=अलग-अलग **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। पाँच वर्ष तक माता मेरे चरित्र के निर्माण के लिए यत्नशील हो। आठ वर्ष तक पिता मुझे शिष्टाचार सम्पन्न बनाएँ और पच्चीस वर्ष तक आचार्य मुझे ज्ञान से व्याप्त कर दें। ७. मेरे माता-पिता आचार्य ही क्या, सभी **अग्नयः**=पुरोहित, उपदेशक व विद्वान् आदि **ये**=जो **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में हैं, वे सब **समनसः**=समान मनवाले हों कि आगे आनेवाली इस पीढ़ी के जीवन को खूब सुन्दर बनाना है। ८. **हैमन्तिकौ ऋतू**=पूर्वोक्त प्रकार से माता-पिता व आचार्य से शिक्षित होकर गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी क्रियाशील व वृद्धिशील हों। निरन्तर गतिवाले और सदा आगे बढ़नेवाले हों। **ऋतू**=ऋतुओं के अनुसार व्यवस्थित गतिवाले हों।

अभिकल्पमाना=अपनी ऐहिक व पारलौकिक उन्नति को सिद्ध करनेवाले हों। बाह्य व अन्त:शक्ति का साधन करें। इहलोक के अभ्युदय व परलोक के नि:श्रेयसवाले हों। ९. **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान—पूर्ण जितेन्द्रिय के समान बने हुए तुझमें **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्रविष्ट हों। १०. इसी उद्देश्य से **तया देवताया**=उस महती देवता के साथ सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर स्थित होओ। घर ही तुम्हारा स्थान हो, न कि क्लब।

भावार्थ—सहनशक्ति व बल का सम्पादन करके हम गतिशील व प्रगतिशील बनें। हमारा जीवन व्यवस्थित हो। हम जलों व ओषधियों का ही सेवन करें। यह ध्यान रक्खें कि 'मांस' न खाएँ, क्योंकि वह तो मुझे ही खा जाएगा। प्रभु-उपासना करते हुए हम घर में ध्रुव निवासवाले हों, वहाँ हमारा जीवन बड़ा मर्यादित हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—निचृद्विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

एक-तीन-पाँच-सात

एकयास्तुवत प्रजाऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥२८॥

१. **प्रजाः अधीयन्त**=सब प्रजाएँ उस-उस शरीर में स्थापित की गईं। आत्माएँ पैदा तो कभी नहीं होतीं—ये सनातन हैं, परन्तु जब वे प्रभु कर्मव्यवस्थानुसार किसी शरीर में इनका स्थापन करते हैं तब यह स्थापन ही उनका जन्म व उत्पादन हो जाता है। ये शरीर में स्थापित जीव **एकयास्तुवत**=(वाग् वा एका वाचैव तदस्तुवत—श० ८।४।३।३) इस मुख्य वाणी से (एक=मुख्य) उस प्रभु का स्तवन करें कि **प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्**=वह सब प्रजाओं का रक्षक ही सब प्रजाओं का अधिपति है। प्रजाओं का रक्षक होने से वह 'प्रजापति' नामवाला है। उस प्रभु ने ही हमें यह 'अद्भुत वाणी' प्राप्त करायी है। मनुष्य को ही व्यक्त वाणी दी गई है। अन्य सब प्राणियों की वाणी अव्यक्त है। २. प्रजाओं को इस प्रकार शरीरबद्ध करके प्रभु ने उन्हें ज्ञान दिया, जिसके अनुसार उन्हें अपना जीवन चलाना है। **ब्रह्म असृज्यत**=वेदज्ञान उत्पन्न किया गया। यह वेदज्ञान 'ऋग्-यजुः-साम' मन्त्रों में विभक्त था। ऋङ्मन्त्रों का सार 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' हुआ, यजुर्मन्त्रों का सार 'भर्गो देवस्य धीमहि' तथा साममन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हुआ। यही त्रिचरणा गायत्री थी। इस गायत्री के तीनों चरणों का सार 'भूः, भुवः, स्वः' था, और इन तीन महाव्यहृतियों का सार 'अ, उ, म्'—ये ओम् की तीन मात्राएँ हुईं। **तिसृभिः**=इन तीनों मात्राओं से ही **अस्तुवत**=प्रजाएँ उस प्रभु का स्तवन करें कि **ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्**=यह वेदज्ञान का रक्षक प्रभु ही हम सबका अधिपति है। उसने ही इस त्रिविध मन्त्रों में विभक्त वेदज्ञान को हमारे रक्षण के लिए दिया है। वह 'ब्रह्मणस्पति' नामवाला है। ३. प्रभु के इस वेदज्ञान से ज्ञेय, **भूतानि**=पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश ये पाँच भूत **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पञ्चभूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्दरूप पाँच गुणों के ज्ञान प्राप्त करानेवाले **पञ्चभिः**=घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् व श्रोत्ररूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्रजाएँ उस प्रभु का **अस्तुवत**=स्तवन करें कि इन सब **भूतानां पतिः**=पाँच भूतों का रक्षक वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। वह अधिपति ही 'भूतानां पति' नामवाला हो गया है। ४. इन

भूतों के ज्ञान के लिए साधनरूप से, कारणरूप से—**सप्त ऋषयः**=दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख–(कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्)–रूप सात ऋषि **असृज्यन्त**=बनाये गये। इन सात ऋषियों से सब भूतों का ज्ञान प्राप्त करके–उन भूतों की रचना में रचयिता के महत्त्व का दर्शन करती हुई प्रजाएँ **सप्तभिः**=इन सात ऋषियों से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **धाता**=इन पदार्थों के निर्माण के द्वारा हम सबका धारण करनेवाला वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। धारण करनेवाला होने से वह '**धाता**' नामवाला है।

भावार्थ—उस प्रभु का स्तवन हम 'प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, भूतानांपति व धाता' इन नामों से करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीजगती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], निषादः[र]॥

नौ-ग्यारह-तेरह-पन्द्रह-सत्रह

[क]नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवतऽऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽअधिपतयऽआसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासाऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥२९॥

१. **पितरः असृज्यन्त**=(पितरः=नव जगद्रक्षका रश्मयः। नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ–श० ८।४।३।७) ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ रक्षा करने के प्रमुख साधन होने से यहाँ 'पितरः' (पा रक्षणे) कही गई हैं। यद्यपि ये पाँच-पाँच होकर दस हैं तथापि 'जिह्वा' रस ग्रहण करने से ज्ञानेन्द्रियों में तथा शब्द बोलने से कर्मेन्द्रियों में परिगणित होती है, अतः यह दोनों ओर एक ही है। एवं, ये मिलकर वस्तुतः नौ हैं। ये नौ इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में रश्मियाँ व किरणें हैं, कर्मेन्द्रियों की दृष्टि से ये रश्मियाँ लगामें हैं। ये सब रक्षक इन्द्रियाँ प्रभु से उत्पन्न की गई हैं। इनकी रचना के सौन्दर्य व अद्भुतता को देखकर **नवभिः**=इन नौ इन्द्रियों से प्रजाएँ **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **अदितिः**=इन इन्द्रियों के निर्माण से हमारा खण्डन न होने देनेवाली वह जगज्जननी ही हमारी **अधिपत्नी आसीत्**=पालिका अधिष्ठात्री देवी है। खण्डन न होने देने के कारण ही वह 'अदिति' नामवाली है। २. **ऋतवः**=ऋतुएँ **असृज्यन्त**=उत्पन्न की गईं। एक-एक ऋतु जीव को शक्ति देनेवाली है। ऋतुचर्या के ठीक पालन से जीव के सब प्राण व सब इन्द्रियाँ बड़े शक्तिशाली बने रहते हैं। इनको शक्ति प्राप्त कराने के लिए उस-उस ऋतु में वनस्पतियों से समपोषयुक्त वे-वे ओषधियाँ प्राप्त होती हैं। इसी से ब्राह्मणों में हम पढ़ते हैं कि 'ऋतवः वै पृष्ठानि' (श० १।३।३।२।१) 'वीर्यं वै पृष्ठानि' (ता० ४।८।७) ऋतुएँ हमारी पृष्ठ (backbone) व वीर्यशक्ति हैं, अतः जीव **एकादशभिः**=(दश प्राणा आत्मैकादशः–श० २।४।३।८) दश प्राणों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि किस प्रकार 'आर्तवाः'=(ऋतुषु भवा गुणाः–द०) उस-उस ऋतु के गुण-खूबियाँ **अधिपतयः आसन्**=हमारा सम्यक् पालन करनेवाले हैं। ३. **मासा असृज्यन्त**=महीने (वैशाख आदि बारह मास तथा १३वाँ मलमास, वेद के शब्दों में 'अहंसस्पति') उत्पन्न किये गये। 'मासो मानात्–नि० ४।२७' ये हमारे जीवन का निर्माण करते हैं। 'यव्या मासा–श० १।७।२।२६' ये हमारे शरीर के अवगुणों को दूर करनेवाले तथा गुणों का शरीर में उपचय करनेवाले हैं। यु=इस मिश्रण व अमिश्रण की क्रिया में ये उत्तम हैं। इस प्रकार ये हमारे जीवन को उत्तम बनाते हैं। हमें चाहिए कि

त्रयोदशभिः अस्तुवत=(दश प्राणाः प्रतिष्ठे एक आत्मा—श० ८।४।३।८) अपने दश प्राणों दो आधारभूत पाँव व आत्मा से उस प्रभु का स्तवन करें, जो इन तेरह मासों के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनाने के कारण 'संवत्सरः'=(उत्तम निवासक) संवत्सर नामवाला होता हुआ **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। ये मास उस 'संवत्सर' के ही कर्मकर—रक्षणात्मक कर्म करनेवाले हैं। (मासाः संवत्सरस्य कर्मकराः—तै० ३।११।१०।३) ये उस प्रभु के कर्मकर हमारे जीवन को निरन्तर उन्नत करनेवाले हैं। उन्नत करने से ही 'उदाना मासाः—ता० ५।२०' इन्हें 'उदान' कहा गया है 'उत्कर्षेण आनयन्ति'। ४. ऋतुचर्या व मासचर्या के ठीक चलने के परिणामरूप ही अब **क्षत्रम्**=क्षत्रिय वर्ण की विशेषता का सम्पादक यह बल **असृज्यत**=उत्पन्न किया गया। सबल बनी हुई **पञ्चदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत् पंचदशम्—श० ८।४।३।१०) हाथ की दस अंगुलियों, दो हाथों, दो बाहुओं तथा नाभि से उपरले शरीरभाग से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्य का स्वामी, सब शक्तियों का स्रोत (इन्द to be powerful) वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। हमारे सब अङ्गों को वह सबल बनाकर हमारा पालन कर रहा है। ५. बल व शक्ति को प्राप्त कराने के लिए ही जीवन की आवश्यक सामग्रियों को—दूध तथा वस्त्रादि के लिए ऊन आदि को—प्राप्त करानेवाले **ग्राम्याःपशवः**=ग्राम्य पशु (जो संख्या में सम्भवतः सत्रह जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पशुओं के महत्त्व को समझते हुए हम **सप्तदशभिः अस्तुवत**=(दश पाद्या अंगुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत् सप्तदशम्—श० ८।४।३।११) अपने पाँवों की दस अंगुलियों, दो घुटने, दो जाँघों, दो पाँव व सतरहवें नाभि के अधःदेश से उस प्रभु का स्तवन करें कि वह **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति प्रभु वेदज्ञान के देने से हमारा **अधिपतिः आसीत्**=रक्षक है। वह प्रभु वेद द्वारा इन सब पशुओं से उपयुक्त सामग्री प्राप्त करने का उपदेश देता है और इस प्रकार इन्हें हमारे जीवन के साथ जोड़ देता है।

भावार्थ—हमारा रोम-रोम उस प्रभु का स्तवन 'अदिति, आर्तव, संवत्सर, इन्द्र व बृहस्पति' इन नामों से कर रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—जगदीश्वरः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीजगती[क], ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

उन्नीस-इक्कीस-तेईस-पच्चीस व सताईस

[क]नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्तामेकविꣳशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविꣳशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् [र]पञ्चविꣳशत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्राऽआदित्याऽअनुव्यायँस्तऽएवाधिपतयऽआसन् ॥३०॥

१. अब गत मन्त्र के ग्राम्य पशुओं से सीधे कार्य लेनेवाले **शूद्रार्यौ**=शूद्र व वैश्य **असृज्येताम्**=उत्पन्न किये गये। शूद्रों व वैश्यों को 'कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य' आदि कार्यों में इन ग्राम्य पशुओं के प्रयोग के लिए नियुक्त किया गया। इस सारी व्यवस्था को देखते हुए **नवदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयः नव प्राणाः—श० ८।४।३।१२) मेरे हाथ की दस अंगुलियों व नौ प्राण—इन्द्रियों—से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें। 'शूद्र वर्ण' 'अहन्' है, 'न

जहाति' यह 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' इन द्विजातियों की सेवा को नहीं छोड़ता—अनसूया से—दोषदर्शन के बिना यह इनकी सेवा में लगा रहता है। वैश्य 'रात्रि' है, रमयित्री—इसकी सम्पत्ति सभी को रमण करनेवाली होती है। यह अपनी सम्पत्ति से 'ब्राह्मण, क्षत्रिय व शूद्र' सभी का पोषण करता है, जैसे शरीर में उदर अन्य सब अङ्गों का अपने से उत्पादित रुधिर के द्वारा पोषण करता है। इन शूद्र व अर्यों को इन कार्यों में नियुक्त करनेवाला वह प्रभु **अहोरात्रे**=कभी हमारा साथ न छोड़नेवाला व उन-उन पदार्थों से हमारा रमण सिद्ध करनेवाला **अधिपत्नी आस्ताम्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। उस 'अहोरात्र' नामवाले प्रभु ने दिन कार्य करने के लिए—अहन्—एक भी क्षण न खराब करने के लिए तथा रात्रि सब थकावट को दूर करके रमण के लिए बनायी है। इसी से उसका यह नाम हो गया है। २. **एकशफाः पशवः**=एक खुरवाले पशु (जो सम्भवतः संख्या में २१ जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। मानव जीवन में अश्व व खच्चर की अत्यन्त उपयोगिता है, अतः **एकविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः—श० ८।५।३।१३) २१ अवयवों से—दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों तथा २१ वें आत्मा से **अस्तुवत**=तुम प्रभु का स्तवन करो कि **वरुणः**=इन पशुओं की सहायता से हमारे कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ३. **क्षुद्राः पशवः**=(आनकुलात् क्षुद्रजन्तवः) कृमि, कीट, नेवला आदि क्षुद्र पशु जो सम्भवतः २३ जातियों में विभक्त हैं, **असृज्यन्त**=बनाये गये। इनकी भी उस-उस उपयोगिता का ध्यान करते हुए **त्रयोविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः) हाथ-पाँवों की अंगुलियों, पाँवों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **पूषा**=इन कृमियों के द्वारा भी हमारा पोषण करनेवाला वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**= अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ४. **आरण्याः पशवः**=वन के पशु (जो सम्भवतः पच्चीस जातियों में विभक्त हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन आरण्य पशुओं की आवश्यकता को समझकर मनुष्य **पञ्चविंशत्या**=दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों, शरीर के चारों अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) तथा आत्मा से **अस्तुवत**=स्तुति करें कि **वायुः**=इन पशुओं के निर्माण द्वारा हमारी गति व गति द्वारा दोषों के हिंसन को बढ़ानेवाला (वा गतिगन्धनयोः) वायु नामक वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक था। ५. अब इन सब पशुओं के निर्माण के बाद **द्यावापृथिवी व्यैताम्**=द्यावापृथिवी विशिष्ट रूप से गतिवाले हुए, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का काम ठीक से चलने लगा। पृथिवी के **वसवः**=वसु नामक देव अन्तरिक्ष के **रुद्राः**=रुद्र नामक देव तथा द्युलोक के **आदित्याः**= आदित्य नामक देव **अनुव्यायन्**=ठीक-ठीक कार्य करने लग गये, अर्थात् संसार की सब प्राकृतिक शक्तियाँ ठीक-ठीक कार्य करने में प्रवृत्त हो गईं। वसुओं ने हमारे निवास को उत्तम बनाया—रुद्रों ने हमारे प्राणों को पुष्ट किया और आदित्यों ने हमें दिव्य गुणों से पूर्ण कर दिया, अतः हम **सप्तविंशत्या**=दस हस्तांगुलियों, दस पादांगुलियों—चार अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) दो पाँवों तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **ते एव अधिपतयः आसन्**=वसुओं के द्वारा रक्षा करनेवाले आप ही 'वसु' हैं। प्राणशक्ति देनेवाले आप 'रुद्र' हो तथा दिव्य गुणों से हमें परिपूर्ण करनेवाले आप 'आदित्य' हो। **ते एव**=वे 'वसु, रुद्र और आदित्य' नामवाले ही आप हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हो।

भावार्थ—हम 'एकशफ, क्षुद्र व आरण्य' पशुओं का भी उपयोग समझें और इनमें भी

प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें। हमारा प्रत्येक अङ्ग प्रभु का स्तवन करनेवाला हो। हम उस प्रभु 'को 'अहोरात्र-वरुण-पूषा-वायु तथा वसु, रुद्र व आदित्य' नाम से स्मरण करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

उनत्तीस-इकतीस-तेतीस

नवविꣳशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिꣳशतास्तुवत प्रजाऽअसृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयऽआसंस्त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥३१॥

१. प्रभु से **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ **असृज्यन्त**=बनाई गईं (जो सम्भवतः २९ प्रकार की थी—२९ जातियों में विभक्त थीं)। मानव जीवन में इन वनस्पतियों का स्थान स्पष्ट है। मनुष्य इन्हीं के उपयोग से अपने शरीर, मन व बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। इन्हें वनस्पति नाम इसीलिए दिया गया कि ये मानवरूपी गृह (वन=a house) की रक्षा करती हैं। इस मानव-शरीर में वनस्=ज्ञानकिरणों की रक्षा करती हैं—बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाली हैं। मनुष्य को चाहिए कि **नवविंशत्या**=हाथ-पैर की अंगुलियों व नौ प्राणों इन २९ से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **सोमः**=हमारे जीवनों में इन वनस्पतियों के प्रयोग से सौम्यता का वर्धन करनेवाला वह 'सोम' नामक प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। २. अब इन वनस्पतियों के द्वारा **प्रजाः**=सब प्रकार के विकासों (प्र+जन्) का **असृज्यन्त**=सर्जन हुआ। मनुष्य को चाहिए कि **एकत्रिंशता** =बीस अंगुलियाँ, दस प्राण तथा इकतीसवें आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करे कि **यवाः च**=हमारे साथ सब अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले 'यवाः' नामवाले वे प्रभु तथा **अयवाः च**=हमारी सब बुराइयों को दूर करनेवाले 'अयवाः' नामवाले प्रभु **अधिपतयः आसन्**=हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार शुक्ल पूर्वपक्ष 'यव' हैं, कृष्ण अपरपक्ष 'अयव' हैं। वे प्रभु भी हमारे अन्दर शुक्लपक्ष की भाँति एक-एक गुणकला को भरनेवाले हैं तथा कृष्णपक्ष की भाँति एक-एक दोषकला को क्षीण करनेवाले हैं। ३. इस प्रकार सब विकासों के हो जाने पर—अथवा गुणपूर्ति व दोष-निराकरण हो जाने पर **भूतानि अशाम्यन्**=सब प्राणी पूर्णरूप से शान्ति का अनुभव करनेवाले हुए। हमें चाहिए कि हम **त्रयस्त्रिंशता**=सब अंगुलियों, प्राणों, दो आधारभूत पाँव तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **परमेष्ठी**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं—अपने भक्तों को भी सर्वोच्च स्थान में पहुँचानेवाले हैं, **अधिपतिः आसीत्**=वे ही हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभु विविध वनस्पतियों के उत्पादन द्वारा हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनते हैं और हमारे जीवनों में शान्ति उत्पन्न करते हैं। हम उस प्रभु का 'सोम, यव, अयव तथा प्रजापति, परमेष्ठी' नाम से स्तवन करें।

सूचना—गत मन्त्रों में यह भावना बारम्बार दोहराई गई है कि मेरा अङ्ग-अङ्ग उस प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। हमारे अङ्गों से कोई ऐसा कार्य न हो जो प्रभु की सत्ता का इन्कार करनेवाला हो। हमारी वाणी मधुर शब्द बोले, कान भद्र शब्दों को ही सुनें, आँखें भद्रता से ही देखें।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

जब हम प्रभु को पा लेते हैं तब वे प्रभु हमारे आतिथेय (host) होते हैं, हम उस प्रभु के अतिथि होते हैं और अब यह उस प्रभु का कार्य हो जाता है कि वह हमारी रक्षा करे, हमारे शत्रुओं को दूर करे। बस, इसी भावना से पञ्चदश अध्याय का प्रारम्भ होता है—

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

त्रिवरूथ शर्म

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः।
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मँस्त्रिवरूथऽउद्भौ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमारे सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **जातान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में उत्पन्न हुए **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओं को **प्रणुद**=प्रकर्षेण धकेल दीजिए। हमारे जीवन से इन्हें दूर कर दीजिए। आपने इस शरीर की रचना करके मुझे यहाँ अधिष्ठातृदेव के रूप में नियत किया है, परन्तु ये कामादि इसमें अपने क़िले बनाकर इसपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, इस प्रकार ये मेरे सपत्न हो जाते हैं। आप इन्हें हमसे दूर भगाने की कृपा कीजिए। २. हे **जातवेदः**=भविष्य में आविर्भूत होनेवाले और इस समय बीजरूप में अंकुरित हो रहे कामादि को भी जाननेवाले प्रभो! आप **अजातान्**=अभी पूर्ण रूप से विकसित न हुए इन कामादि को **प्रतिनुद**=एक-एक करके धकेल दीजिए और इस प्रकार इनके विकास को सम्भव ही न होने दीजिए। ३. **सुमनाः**=हमारे प्रति सदा उत्तम विचारवाले हे प्रभो! सदा जीव का शुभ चाहनेवाले प्रभो! **अहेडन्**=क्रोध न करते हुए आप **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदय में स्थित हुए उपदेश दीजिए। ४. उस उपदेश के अनुसार चलते हुए हम **तव**=तेरी **त्रिवरूथे**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि तीनों की रक्षक-(वरूथ=cover)-भूत अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक त्रिविध सुखों के हेतुभूत **उद्भौ**=(उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन्—द०) उत्तम पदार्थों से युक्त आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा सुख से रहें। ५. आपके सम्पर्क में रहते हुए सदा आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' बनकर हम भी परम स्थान में स्थित हों और आपके अनुरूप बनकर प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'परमेष्ठी' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों, हम प्रभु के सन्देश को सुनें और प्रभु की उस शरण में सदा निवास करें, जो 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निवारण करके (त्रिवरूथ=निवारण) 'प्रेम, दया व दान' आदि उत्कृष्ट भावनाओं को हममें जन्म देती है और इसी कारण 'उद्भि' कहलाती है (भवतेर्डिः)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वयं स्याम

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयथंस्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥२॥

१. ये कामादि हमारी इच्छा से तो हममें उत्पन्न नहीं होते। ये तो हमारे न चाहते हुए भी हममें आ घुसते हैं। इसी से इन्हें 'विश्वानि' (विशन्ति) कहा गया है, अतः **सहसा**=बलपूर्वक **जातान्**=हममें उत्पन्न हो गये इन **नः**=हमारे **सपत्नान्**='काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को हमसे **प्रणुद**=प्रकर्षेण दूर धकेल दीजिए। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न हो रहे हमारे इन शत्रुओं को जाननेवाले प्रभो! **अजातान्**=पूर्णरूप से प्रादुर्भूत न हुए-हुए, बीजरूप से अवस्थित इन कामादि को **प्रतिनुदस्व**=एक-एक करके दूर प्रेरित कर दीजिए। ३. **सुमनस्यमानः**=हमारे लिए सदा शुभ चाहनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदयस्थ आप उपदेश दीजिए। ४. **वयं स्याम्**=आपके उपदेशानुसार चलते हुए हम सदा बने रहें, कामादि शत्रुओं से आक्रान्त होकर समाप्त न हो जाएँ, अतः ५. आप **नः**=हमारे **सपत्नान्**=शत्रुओं को-चाहे वे 'जात' (fully developed) हैं, चाहे 'अजात' **प्रणुद**=हमसे दूर कीजिए। ६. इन शत्रुओं को दूर करके निरन्तर आगे बढ़नेवाले हम भी परम स्थान में स्थित होकर आपकी भाँति 'परमेष्ठी' नामवाले होंगे?

भावार्थ-कामादि अत्यन्त प्रबल हैं। हमारे न चाहते हुए भी ये हममें आ घुसते हैं। हम सबका भला चाहनेवाले प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे इन शत्रुओं को दूर प्रेरित करें, जिससे हम इस शरीर में सदा बने रहें। इन शत्रुओं से धकेले जाकर जीवन से दूर न कर दिये जाएँ, मार न दिये जाएँ।

ऋषिः-परमेष्ठी। **देवता**-दम्पती। **छन्दः**-ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

दम्पती

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमो वर्चो द्रविणम्।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार शत्रुओं को दूर करके मनुष्य अपने जीवन में 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिः, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम (नम्रता)' इन सोलह कलाओं को विकसित करके **षोडशी**=सोलह कलाओंवाला बने। यह सोलह कलाओंवाला बनना ही **स्तोमः**=उसका स्तवन है। इस प्रकार वह प्रभु की स्तुति कर रहा होता है। इस क्रियात्मक प्रभु-स्तुति से **ओजः द्रविणम्**=ओजरूप धन प्राप्त होता है, यह स्तोता ओजस्वी बनता है। २. **चतुः चत्वारिंशः**=चवालीस संख्या को पूर्ण करनेवाला ब्रह्मचर्य का आचरण ही इसका **स्तोमः**=स्तुतिसमूह हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास से 'चारों अङ्गों में चवालीस वर्षों तक होनेवाली सम्पूर्णता का सम्पादन' सच्चा स्तवन है। इससे **वर्चः द्रविणम्**=अध्ययनरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ३. एवं, पति ने ओजस्वी व वर्चस्वी बनना है। इस प्रकार बनना ही उसका सच्चा प्रभु-स्तवन है। ४. अब पत्नी के लिए कहते हैं कि **अग्नेः पुरीषं असि**=तू इस प्रगतिशील पति की पूर्तिकरी है (पृ=पूरण), पति के कार्य का पूरण करनेवाली है। पति-पत्नी से मिलकर ही घर की व्यवस्था पूर्ण होती है। पति कमाता है तो पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई उस धन की रक्षा करती है। एवं, गृहस्थ में पत्नी पति के साथ मिलाकर क़दम रखती है। ५. **अप्सः नाम**=(प्सा भक्षणे) (न विद्यते परपदार्थभक्षणं यस्य-द०) तू कभी पराये पदार्थ का सेवन करने का विचार नहीं करती, इसी बात में तेरी प्रसिद्धि है। 'आत्मना भुजमश्नुताम्' इस वेदसन्देश का

ध्यान करते हुए तू स्वयं पुरुषार्थ से भोजन को जुटाना ही ठीक समझती है। ६. **तां त्वा**=उस तुझे **विश्वेदेवा:**=सब समझदार लोग **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसित ही करते हैं। तेरा व्यवहार तेरी प्रशंसा का कारण बनता है। ७. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननम्=स्तोम: पृष्ठे यस्या:)=वीर सन्तानों को जन्म देने का तेरा दायित्व है। तूने 'वीरसू:' ही बनना है। ८. **घृतवती**=शरीर से मलों के क्षरणवाली और मल निराकरण से पूर्ण स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=विराज। ९. इस प्रकार इस घर में निवास करती हुई तू **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणा**=उत्तम सन्तानरूप धनों को **यजस्व**=सङ्गत करानेवाली हो, अर्थात् तेरे साथ इस गृहस्थ की मंज़िल को पूर्ण करते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—पति ओजस्वी व वर्चस्वी हो। पत्नी पति की पूरिका, किसी के आगे हाथ न फैलानेवाली तथा वीर सन्तानों को जन्म देने के व्रतवाली, स्वस्थ्य व ज्ञान-दीप्त हो।

ऋषि:—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांस:। **छन्द:**—भुरिगाकृति:। **स्वर:**—पञ्चम:॥

इस लोक से उस लोक तक

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दोऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः ॥४॥

१. प्रभु 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होने के निश्चयवाले से कहते हैं कि तेरी **एव: छन्द:**=ज्ञान की कामना हो। 'एव' की मूल भावना गति है—'गतेस्त्रयोऽर्था: ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च' इस आधार से गति का अर्थ ज्ञान हो जाता है। २. ज्ञान प्राप्त करके तेरी **वरिव: छन्द:**=(वरिवस्या तु शुश्रूषा) सेवा की कामना हो। ज्ञान प्राप्त करके तू अधिक-से-अधिक लोकहित करनेवाला हो। ३. **शम्भू: छन्द:**=शान्ति के उत्पादन की तेरी इच्छा हो, सबको सुखी करने की तेरी भावना हो। ४. **परिभू: छन्द:**=(सर्वत: पुरुषार्थी—द०) शारीरिक, मानस, बौद्धिक व सामाजिक विकास के लिए तेरी विविध पुरुषार्थों की कामना हो। ५. **आच्छत् छन्द:**=इस व्यापक पुरुषार्थ के द्वारा (दोषापवारणम्—द०) दोषों के दूर करने की तेरी कामना हो। निरन्तर पुरुषार्थ में लगा व्यक्ति दोषों से बचा रहता है। ६. **मन: छन्द:**=दोषापवारण द्वारा निर्मल मन से तू उत्तम मनन का संकल्प कर, तेरा विचार उत्तम हो। ७. **व्यच: छन्द:**=(शुभगुणव्याप्ति:—द०) इस मन को तू शुभ गुणों से व्याप्त करने की इच्छा कर अथवा विस्तृत मनवाला होने की इच्छा कर। ८. **सिन्धु: छन्द:**=(नदीव चलनम्—द०) नदी की भाँति स्वाभाविक कर्म की वृत्तिवाला बनने की इच्छा कर। ९. **समुद्र: छन्द:**=समुद्र के समान गम्भीर बनने की कामना कर अथवा सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर (स+मुद्र) १०. **सरिरं छन्द:** =बहनेवाले जल की भाँति तू शान्त होने की कामना कर। ११. उल्लिखित गुणों को धारण करके **ककुप् छन्द:**=शिखर तेरी इच्छा हो। तू शिखर पर पहुँचने का संकल्प कर। १२. **त्रिककुप् छन्द:**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर पहुँचने की तेरी कामना हो अथवा धन, बल व ज्ञान तीनों में तू अग्रणी बनने की भावना रख। 'प्रेम, दया व दान' ये तीनों तुझे उच्च स्थानों में स्थित करें। १३. **काव्यं छन्द:**=प्रभु का अजरामर वेदरूपी काव्य तेरी कामना का विषय बने। इसके द्वारा तू सब सत्य विद्याओं

का जाननेवाला बन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझ। १४. कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझकर **अङ्कुपं छन्दः**=कुटिलता से अपने को आक्रान्त न होने देने की कामना कर (अङ्कोःपाति)। 'अकुटिलता व आर्जव ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है' इस बात को न भूल। १५. अकुटिल व सरल बनकर तू **अक्षरपंक्तिः छन्दः**=उस अविनाशी परमात्मा में अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो (अक्षरे पंक्तिः यस्य)। तेरी कामना यही हो कि सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु में प्रभु महिमा को देखनेवाली हों। १६. **पदपंक्तिः छन्दः**=प्रभु का स्मरण करते हुए (पदे पंक्तिर्यस्य) तू सदा उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बन। तेरी कामना यही हो कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ धर्ममार्ग से रेखामात्र भी विचलित न हों। १७. इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा कर्मेन्द्रियों से धर्ममार्ग पर चलते हुए तू यह कामना कर कि **विष्टारपंक्तिः छन्दः** =(विष्टारे पंक्तिः यस्य) सब शक्तियों के विस्तार में तेरे पाँचों प्राण विनियुक्त हों। तेरी सब शक्ति विस्तार व वृद्धि के लिए हो। १८. इस शक्तियों के निरन्तर विस्तार से **क्षुरोभ्रजः छन्दः**=(असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः—श० ८। ५। २। ४) आदित्य बनने की तेरी कामना हो। आदित्य 'क्षुर' है। यह सब अन्धकार का छेदन—विलेखन करता है, यह भ्रज है 'भ्राजते' दीप्त होता है। तू भी अज्ञानान्धकार का विलेखन करके ज्ञान-दीप्ति से भ्राजमान होने के लिए प्रबल कामना व यत्नवाला हो।

१९. प्रस्तुत मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसका प्रारम्भ 'एवः' से है, जिसका अर्थ ज्ञान है—ज्ञान-प्राप्ति के लिए गतिशीलता है और मन्त्र की समाप्ति पर सूर्य की भाँति अन्धकार का विलेखन करके ज्ञान से दीप्त होने का उपदेश है। संक्षेप में ज्ञान से प्रारम्भ है और ज्ञान पर ही अन्त है। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला यह ज्ञान ही है। ज्ञान ही उसे ऊँचा उठाता हुआ 'परमेष्ठी' बनाएगा।

भावार्थ—इस जीवन में मेरी कामना मन्त्र-वर्णित १८ शब्दों के अनुसार हो। 'ज्ञान, सेवा, शान्ति, पुरुषार्थ, दोषापावरण, मनन, आत्म-विस्तार एवं सद्गुण ग्रहण, सहज क्रियाएँ, गम्भीरता, शान्ति व माधुर्य, शिखर पर पहुँचना, स्वास्थ्य नैर्मल्य, प्रभु के काव्य को अपनाना, अकुटिलता, सदा प्रभु-स्मरण, न्यायमार्ग-प्रवृत्ति, शक्ति-विस्तार, अन्धकार विलेखन व ज्ञान-दीप्ति' ये मेरी कामना के विषय हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

आच्छत्+अङ्काङ्कम् (गोदों की गोद)

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरञ्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्दऽएवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः॥५॥

१. **आच्छत् छन्दः**=(समन्तात् पापनिवारकं कर्म—द०) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। अपने को पाप से बचाने के लिए हम सदा कर्मों में लगे रहें। २. **प्रच्छत् छन्दः**=(प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म—द०) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। जहाँ हम पापकर्मों से अपने को बचाएँ, वहाँ अपने जीवन को इस प्रकार चलाने का ध्यान करें कि हमारा स्वभाव दुष्ट न हो जाए। ३. **संयत् छन्दः**=संयम की हमारी कामना हो। हम मन को पवित्र रखकर संयमी

बनने का प्रयत्न करें। ४. **वियत् छन्दः**=विविध यत्नों की हमारी इच्छा हो। हम अपने जीवन को सदा अच्छा बनाने का यत्न करें। ५. **बृहत् छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) बहुत वृद्धि की हमारी कामना बनी रहे। हमारे सब यत्न वृद्धि के लिए हों। ६. **रथन्तरं छन्दः**=हमें यह ध्यान रहे कि इस शरीररूप रथ से हमने संसार को तैरना है। इस प्रकार जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की हमारी प्रबल कामना हो। ७. **निकायः छन्दः**=(निकाय=The supreme being) जीवन-यात्रा को पूर्ण करके उस पुरुषोत्तम को, जो वास्तव में हमारा घर है, प्राप्त करने की हमारी कामना हो। निकाय शब्द का अर्थ गुणों का समूह भी है। हम अपने जीवन में अधिक-से-अधिक गुणों का संग्रह करने की कामनावाले हों। ८. **विवधः छन्दः**=(विशिष्टो वधः) अन्तःशत्रुओं का नाश ही 'विशिष्ट' वध है, उसकी हमें इच्छा करनी चाहिए। ९. **गिरः छन्दः**=इनका वध कर सकने के लिए वेदवाणियों की हमारी कामना हो। इन ज्ञानवाणियों को अपना व्यसन बनाकर ही हम काम-क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनों का वध कर पाएँगे। १०. **भ्रजः छन्दः**=ज्ञान को अपना व्यसन बनाकर हम ज्ञान की दीप्ति से चमकने की कामना करें। (भ्राजृ दीप्तौ) ११. **संस्तुप् छन्दः**=इस ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करके अपनी देदीप्यमान ज्ञानाग्नि में हम कामादि को भस्म करने की कामनावाले बनें। कामादि को **सम्**=सम्यक्, पूर्णतया **स्तुप्**=रोक देने की इच्छा करें। इसी उद्देश्य से १२. **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हमारी कामना हो। इस प्रभु-स्मरण से हमें १३. **एवः छन्दः**=ज्ञान प्राप्त होगा। इस अन्तःज्ञानस्त्रोत को प्रवाहित करने की कामनावाले हम बनें। १४. **वरिवः छन्दः** =ज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'गुरु-शुश्रूषा' की हमारी कामना हो। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सवेया'** यह ज्ञान प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा से प्राप्त होता है। १५. वस्तुतः मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, आचार्य-सेवा व लोक-सेवा के लिए ही **वयः छन्दः**=जीवन-तन्तु का विस्तार हमारी इच्छा का विषय बने (वेञ् तन्तुसन्ताने)। १६. इस जीवन विस्तार के लिए **वयस्कृत् छन्दः**=हम उन्हीं अन्नों व भोज्यद्रव्यों की कामना करें जो जीवन-तन्तु को दीर्घ करनेवाले हों। १७. इस दीर्घ जीवन में **विष्पर्द्धाः छन्दः**=हम विशिष्ट स्पर्धा की कामना करें। गुणों के दृष्टिकोण से औरों से आगे बढ़ने का ध्यान करें। स्पर्धापूर्वक निरन्तर आगे बढ़ते हुए १८. **विशालं छन्दः**=हम अपने को विशाल बनाने की कामनावाले हों। १९. इस विशालता की ओर चलते हुए **छदिः छन्दः** (छद अपवारणे)=विघ्नों को दूर करने की हमारी कामना हो। विघ्न हमें हतोत्साह करनेवाले न हो जाएँ। २०. इन विघ्नों को दूर करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठते चलें। वेद के 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्' इन शब्दों के अनुसार हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँचनेवाले हों। **दूरोहणं छन्दः**=(दुःखेन रोद्धुं योग्यम्) जहाँ तक पहुँचना सुगम नहीं, उस आदित्य तक पहुँचने का संकल्प करें। (असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः-श० ८। ५। २।६)। २१. **तन्द्रं छन्दः**=हमारा एक ही ध्येय हो **तन्**=शक्तियों का विस्तार तथा **द्र**=विघ्नों का विद्रावण। हम शक्तियों के विस्तार व विघ्न-नाश की प्रबल कामना करें। २२. इस प्रकार निरन्तर उन्नति के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम **'अङ्क+अङ्कं छन्दः'**=गोदों की भी गोद-उस सर्वोत्तम गोद में, अर्थात् प्रभु के समीप पहुँचने की इच्छावाले हों। यह गोद ही 'अभयम्'=पूर्ण निर्भयता देनेवाली है।

भावार्थ-हम आच्छत् छन्द से अङ्काङ्क छन्द तक पहुँचनेवाले बनें। पाप-निवारणात्मक कर्मों को करते हुए हम प्रभु की गोद में पहुँचने का ध्यान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—विराडभिकृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

र॒श्मिना॑ स॒त्याय॑ स॒त्यं जि॑न्व॒ प्रेति॑ना॒ धर्म॑णा॒ धर्मं॑ जि॒न्वान्वि॑त्या दि॒वा दिवं॑ जिन्व स॒न्धिना॒न्तरि॑क्षेणा॒न्तरि॑क्षं जिन्व प्रति॒धिना॑ पृथि॒व्या पृ॑थि॒वीं जि॑न्व विष्ट॒म्भेन॑ वृष्ट्या॒ वृष्टिं॑ जिन्व प्र॒वया॒ऽह्नाह॑र्जिन्वानु॒या रात्र्या॒ रात्रीं॑ जिन्वो॒शिजा॒ वसु॑भ्यो॒ वसू॑ञ्जिन्व प्र॒केते॑नादि॒त्येभ्य॑ऽआदि॒त्याञ्जि॑न्व ॥६॥

१. **सत्याय**=सत्य के लिए (उपहिता सती—म० enjoined) आदिष्ट हुआ-हुआ तू **रश्मिना**=ज्ञान-किरणों से तथा मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रिय-निरोध से (रश्मिः=किरण, लगाम) **सत्यं जिन्व**=सत्य को प्राप्त कर, सत्य को अपने अन्दर प्रीणित कर। ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में 'रश्मि' किरण है और कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में यह लगाम है। ज्ञान-किरणों के प्राप्त करने में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ असत्य से बची रहती हैं और सत्य का पोषण करती हैं, इसी प्रकार बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा निरुद्ध कर्मेन्द्रियाँ असत्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। २. **धर्मणा**=(धर्मो धारयते प्रजाः) धारणात्मक कर्मों को करने के हेतु से इस मानव शरीर को प्राप्त कराया हुआ तू **प्रेतिना**=(प्रकृष्टा इतिः) प्रकृष्ट गति से, अर्थात् सदा गो-सेवा आदि उत्तम कर्मों में लगे रहने से **धर्मं जिन्व**=अपने अन्दर धर्म को प्रीणित कर। धन कमाने के कार्यों से निपटने पर गो-सेवादि कार्य ही तेरे आमोद-प्रमोद हों। ३. **दिवा**=ज्ञान के लिए सब साधनों को प्राप्त कराया हुआ तू **अन्वित्या**=(अनु+इति) माता-पिता व आचार्य के अनुकूल गति करने के द्वारा, अर्थात् उनकी आज्ञा के अनुसार चलता हुआ तू **दिवं जिन्व**=प्रकाश को प्राप्त कर। तू माता से चरित्र और पिता से आचार (Manners) तथा आचार्य से ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके प्रकाशमय जीवनवाला बन। ४. **अन्तरिक्षेण**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने के हेतु से ही तुझे बुद्धि दी गई है। मध्यमार्ग में चलने के हेतु से इस मानव जीवन को प्राप्त करायां हुआ तू **सन्धिना**=शरीर व मन के बल का अपने में सम्यग् आधान (स्थापन) द्वारा **अन्तरिक्षं जिन्व**=इस मध्यमार्ग को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा **सन्धिना**=दोनों अतियों के मेल के द्वारा तू मध्यमार्ग को प्राप्त कर। एक ओर अतियोग है—दूसरी ओर अयोग। दोनों का मध्य यथायोग है। इस यथायोग को तू अपनानेवाला हो। ५. **पृथिव्या**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **प्रतिधिना**=अङ्ग-अङ्ग में-प्रत्येक अङ्ग में शक्ति के आधान द्वारा (प्रति-धानं) **पृथिवीं जिन्व**=शरीर को पूर्ण स्वस्थ बना। ६. शरीर को स्वस्थ बनाकर अध्यात्म उन्नति करके **वृष्ट्या**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा को प्राप्त करने के हेतु से इस संसार में भेजा हुआ तू **विष्टम्भेन**=(वि+स्तम्भ्) विशिष्ट रूप से चित्तवृति के स्तम्भन के द्वारा **वृष्टिं जिन्व**=इस आनन्द की वर्षा को प्राप्त करनेवाला बन। ७. **अह्ना**=(अहन्) जीवन के एक भी क्षण को नष्ट न करने के लिए भेजा हुआ तू **प्रवया** (प्रकर्षेण यानं प्रवा, वा गतिगन्धनयोः)=प्रकृष्ट गति के द्वारा **अहः**=अपने आयुष्य के दिनों को **जिन्व**=बड़ा क्रियामय बना। तेरे जीवन के दिन उत्साहपूर्ण प्रतीत हों। ८. **रात्र्या**=(रात्रिः रमयित्री) रात्रि को सचमुच आनन्दप्रद बनाने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **अनुया**=एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे इस प्रकार निरन्तर कर्मों में लगने के द्वारा **रात्रीं जिन्व**=रात्रि को आनन्दप्रद बना (to refresh, to animate)। ९. इस प्रकार दिन-रात्रि को ठीक बनाने के बाद **वसुभ्यः**=वसुओं के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **उशिजा**=(उशिक्=मेधावी, तथा

वष्टि कामयते) बुद्धिमता से उत्तम कामनाओं के द्वारा **वसून् जिन्व**=सब निवासक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बन। इन वसुओं ने ही तो तेरे निवास को उत्तम बनाना है। इन वसुओं की अनुकूलता से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। १०. पूर्ण स्वस्थ बनकर **आदित्येभ्यः**=आदित्यों के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **प्रकेतेन**=प्रकृष्ट ज्ञान से **आदित्यान् जिन्व**=आदित्यों को प्रीणित करनेवाला बन। आदित्य की भाँति ही तुझे ज्ञान की दीप्ति से चमकना है। यह ज्ञान 'प्रकेत' है 'प्रकर्षेण कं सुखं इष्यतेऽनेन'=इसी से प्रकृष्ट सुख की गति होती है। इसी से उस **क**=अनिर्वचनीय प्रजापति परमात्मा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्रस्तुत मन्त्र में दस आदेश दिये हैं। उन आदेशों के अनुसार हमें सत्य, धर्म, प्रकाश, मध्यमार्ग, शरीर का स्वास्थ्य, आनन्द-वृष्टि की अनुभूति, समय की अव्यर्थता, रात्रि का रमयितृत्व—वासक तत्त्व तथा प्रकेत (=प्रकृष्ट ज्ञान) की साधना करनी है। हम इन आदेशों का पालन करते हैं तो वे ही हमारे स्तोम=प्रभु-स्तवन हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

रायस्पोष से तेजस् तक २९ में से ११-१६ तक स्तोमभाग

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥७॥

११. **रायस्पोषेण**=इस संसार में तू रायस्पोष के हेतु से, धन के पोषण के लिए भेजा गया है। इस धन के बिना लोकयात्रा चलना सम्भव नहीं, अतः तू **तन्तुना**=कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा **रायस्पोषं जिन्व**=धन के पोषण को प्राप्त कर। तू पुरुषार्थ से धनार्जन कर। १२. धन के साथ तू **श्रुताय**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी उद्दिष्ट हुआ है, अतः तू **संसर्पेण** =सदा विद्यावृद्धों के समीप जाने से **श्रुतं जिन्व**=अपने शास्त्र-ज्ञान को बढ़ानेवाला बन। 'श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो'—इस बात को तू भूलना नहीं। १३. **ओषधीभिः**=इस संसार में तुझे ओषधियों के ही सेवन का आदेश है, अतः **ऐडेन**=उन ओषधियों के गुण-स्तवन के द्वारा (आ-ईड् स्तुतौ=ऋच्), अर्थात् उनके गुणधर्मों के ज्ञान के साथ **ओषधीः जिन्व**=तू ओषधियों को प्राप्त हो। मांसाहार बुद्धि को राजस् बनाकर ज्ञान को विकृत कर देता है। १४. **तनूभिः** =शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) के हेतु तुझे यह जन्म मिला है, अतः **उत्तमेन**=(उद्गतं तमो यस्मात्—म०) तमोगुणरहित अन्नादि के सेवन से **तनूः जिन्व**=शक्तियों के विस्तार को प्राप्त हो। १५. **अधीतेन**=अध्ययन के हेतु तुझे यह मानव जीवन मिला है, अतः **वयोधसा**=(वयो दधाति पुष्णाति) आयुष्य के पोषक अन्न के सेवन से **अधीतं जिन्व**=अध्ययन को प्राप्त हो। आयुष्य का स्थापक अन्न तुझे दीर्घजीवी बनाकर दीर्घकाल तक अध्ययन के योग्य बनाएगा। १६. **तेजसा**=तेज के हेतु तुझे यह जीवन मिला है, अतः **अभिजिता**=अन्तरिन्द्रिय मन व बाह्येन्द्रियों के विजय से पूर्ण जितेन्द्रिय होकर **तेजः जिन्व**=तू तेज प्राप्त कर।

भावार्थ—मानव जीवन को प्राप्त करके हम 'धन, ज्ञान (श्रुत) सात्त्विक अन्न, शक्ति-विस्तार, अध्ययन व तेज' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रतिपद-अनुपद्-सम्पत्-तेज १७ से २० तक

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

१७. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **प्रतिपत् असि**=तू ज्ञान-सम्पन्न है (प्रतिपत्=बुद्धि) **प्रतिपदे त्वा** =ज्ञान के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। हम परस्पर ज्ञानचर्चाएँ करते हुए एक-दूसरे के ज्ञान को बढ़ानेवाले बन पाएँगे। १८. **अनुपद् असि**=तू अनुकूल चलनेवाली है। **अनुपदे त्वा**=अनुकूलता के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। १९. **सम्पत् असि**=तू लक्ष्मी है। **सम्पदे त्वा**=सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। सप्तपदी में भी 'रायस्पोषाय त्रिपदी भव' इस वाक्य के अनुसार सम्पत्ति वृद्धि के लिए ही तीसरा पग है। यहाँ मन्त्र की समाप्ति इस रूप में है कि २०. **तेजः असि**=तू संयम के द्वारा तेज का पुञ्ज बना है, **तेजसे त्वा**=अपने तेज की स्थिरता के लिए मैं तेरा स्वीकार करता हूँ। इस तेजस्विता ने ही तो पति-पत्नी के जीवन को स्वस्थ बनाकर कल्याण का भावन (उत्पादन) करना है।

भावार्थ—गृहस्थ को स्वर्गतुल्य बनाने के लिए चार बातें आवश्यक है—१. ज्ञान (समझदारी), २. अनुकूलता, ३. कार्यसाधिका सम्पत्ति, ४. तेजस्विता (संयम के द्वारा)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

इक्कीस से उनतीस तक स्तोमभाग

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥९॥

२१. **त्रिवृत् असि**=तू 'धर्म, अर्थ व काम' तीनों में वर्त्तनेवाला है, तीनों का समानुपात में सेवन करनेवाला है। मस्तिष्क की उन्नति से ज्ञान-वृद्धि द्वारा तू धर्म को अपनाता है, हृदय के नैर्मल्य से मधुर व्यवहारवाला बनकर तू सुपथा अर्थ का अर्जन करता है और शारीरिक उन्नति के द्वारा स्वस्थ बनकर उचित आनन्द (=काम) को प्राप्त करनेवाला होता है। **त्रिवृते त्वा**=इस प्रकार धर्मार्थकाम तीनों में वर्त्तने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २२. **प्रवृत् असि**=तू सदा उत्कृष्ट कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला है (प्रवर्त्तते), **प्रवृते त्वा**=सदा कार्य-प्रवृत्त होने के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों में आलस्यशून्यता से सदा प्रवृत्त होने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २३. **विवृत् असि**=(विशेषेण वर्त्तते भूतेषु) तू विशिष्टरूप से यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्राणियों के हित में प्रवृत्त होनेवाला है। **विवृते त्वा**=इस विशिष्ट वर्त्तन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। पति-पत्नी प्राणिमात्र के प्रीति-(आनन्द)-वर्धक कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए ही परस्पर सङ्गत हों। २४. **सवृत् असि**=(सह वर्त्तते) तू सदा साथ मिलकर चलनेवाली है, **सवृते त्वा**=इस सह वृत्ति के लिए ही मैं तुझे अङ्गीकार करता हूँ। २५. **आक्रमः असि**=(आक्रामति पराभवति अशुभम्) तू उद्योग से सब अशुभों का पराभव करनेवाला है, इस **आक्रमाय त्वा**=अशुभ-पराभवन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २६. **संक्रमोऽसि**=(संक्रामति) सदा मिलकर क़दम रखनेवाला है, अकेला ही तेज़ी से आगे

बढ़ जानेवाला नहीं, अतः **संक्रमाय त्वा**=इस मिलकर उन्नति के मार्ग में क़दम रखने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २७. **उत्क्रमः असि**=तू (उत्=out) विषयों से बाहर निकलने के लिए व विघ्नों के पार होने के लिए क़दम रखनेवाला है अतः **उत्क्रमाय त्वा**=इस उत्क्रमवृत्ति के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २८. **उत्क्रान्तिः असि**=(उत्कृष्ट क्रान्तिर्गमनं यस्य) तू सदा उत्कृष्ट क्रान्तिवाला है, अच्छाई के लिए क्रान्ति करनेवाला है। **उत्क्रान्त्यै त्वा**=अपने जीवन में उत्कृष्ट क्रान्ति लाने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २९. और तू सदा **अधिपतिना**=(अधिकं पाति) अधिष्ठातृरूपेण वर्त्तमान उस सर्वाधिक रक्षक प्रभु के साथ प्रातः-सायं सङ्गत होकर **उर्जा**=बल और प्राणशक्ति के प्रवाह के द्वारा **ऊर्जं जिन्व**=अपने बल व प्राण को प्रीणित क़रनेवाला बन। यह सन्धि-वेला की सन्ध्या तुझे उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से संहित करके फिर-फिर शक्ति से भरनेवाली होगी और अपने को शक्ति से भरने की क्रिया ही तेरे प्रभु-स्तवन की चरम कला होगी, जो तुझे अवश्य प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना देगी। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** प्रभु निर्बल को नहीं मिलते, शक्ति-सम्पन्न बनकर उसे पाया जाता है।

भावार्थ—हम 'त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत् व सवृत्' बनकर 'आक्रम, संक्रम व उत्क्रम' हों और एक विशिष्ट (उत्कृष्ट) क्रान्ति के लिए प्रभु-सम्पर्क से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसवः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

राज्ञी (गृहपत्नी)

[क]राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳬसाम प्रतिष्ठित्याऽ अन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१०॥

१. हे गृहपत्नि! तू **राज्ञी असि**=(राज्=दीप्तौ, to regulate, to direct) तू अपने व्यवहार से दीप्त होनेवाली है। तेरा जीवन बड़ा व्यवस्थित है, इसी से तो तू सारे घर को व्यवस्थित करनेवाली है। २. **प्राची दिक्**=प्राची तेरी दिशा है। यह दिशा तुझे तेरे मार्ग का संकेत करनेवाली है। (प्र अञ्च) यह तुझे निरन्तर आगे बढ़ने का निर्देश कर रही है। ३. **वसवः ते देवाः**=वसु तेरे आराध्य देव हैं, शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू निवासक तत्त्वों का ध्यान करनेवाली है। वे देव ही तेरे **अधिपतयः**=आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **अग्निः**=उन्नतिशील, अग्रेणी यह तेरा पति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों (हेतिः=वज्रम्—नि० २।२०) का, कष्टों का **प्रतिधर्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। घर पर होनेवाले आक्रमणों से बचाना पति का ही काम है, पति ही रक्षक है (हेतीनाम्=उपद्रवकारिणीनां परायुधानां प्रतिधर्ता निराकर्त्ता—म०)। ५. **त्रिवृत्**=धर्मार्थकाम तीनों का होना और इसी रूप में होनेवाला **स्तोमः**=यह प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयतु**=सेवन करनेवाला हो। धर्मार्थकाम में सम्यक् वृत्ति शरीर में उत्तम निवास के लिए तेरी सहायता करे। ६. **उक्थम्**=(वक्तुमर्हं) प्रशंसनीय, स्तुति के योग्य **आज्यम्**=घृत अर्थात् प्रशंसनीय गोघृत तुझे **अव्यथायै**=किसी प्रकार की व्यथा-पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=थामे, दृढ़ करे। प्रशस्य गोघृत के

सेवन से तू सब रोग व पीड़ाओं से ऊपर उठ। ७. **रथन्तरं साम**='मुझे शरीररूप रथ से इस भवसागर को तैरना है, जीवन-यात्रा को पूरा करना है' ऐसा निश्चय ही मानो प्रभु-स्तवन है। यह साम=प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्या**=प्रतिष्ठिति के लिए हो। यह निश्चय मन में स्थिरता से रहे। यह तेरे जीवन का मौलिक सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में जो **प्रथमजाः**=प्रथम विभाग में होनेवाले उच्चकोटि के **ऋषयः**=ज्ञानी हैं, वे **दिवो मात्रया**=अपने-अपने ज्ञान के अंश से, **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला 'अग्निः', **च अयम् अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक निवासकदेव **ते त्वा सर्वे**=और वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=जहाँ दुःख है ही नहीं, उस लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=उत्तम कर्मों से अर्जनीय लोक में **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी ज्ञान-दीप्त, निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ़नेवाली हो, धर्मार्थ, काम का समानुपात में सेवन करती हो। घृतादि के प्रयोग से शरीर को स्वस्थ रक्खे। शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का निश्चय करे। पति 'अग्नि'=अग्रेणी हो। ऐसा होने पर घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

विराट् (गृहपत्नी)

[क]विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥११॥

१. हे पत्नि! **विराट् असि**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित करने के कारण तू विशेषरूप से चमकनेवाली है २. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य का उपदेश देनेवाली यह दक्षिणा तेरी दिशा है। ३. **ते देवाः रुद्राः**=ये रुद्र तेरे देव हैं। प्राणशक्ति को स्थिरता देनेवाले ये रुद्र देव ही **अधिपतयः**=तेरी आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **इन्द्रः**=ऐश्वर्य को कमानेवाला, इन्द्रियों का विजेता यह पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर पड़नेवाले घातक अस्त्रों का प्रतीकार करनेवाला है। ५. पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का यह **पञ्चदशः स्तोमः**=पन्द्रहवाला समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस शरीर में उत्तमता से आश्रय देनेवाला हो। ६. आज्यादि उत्तम वस्तुओं का **उक्थम्**=प्रशंसनीय **प्रउगम्**=प्रयोग **अव्यथायै स्तभ्नातु**=किसी प्रकार की पीड़ा न होने देने के लिए तुझे थामे, दृढ़ करे। प्रत्येक वस्तु का यथायोग शरीर को बिल्कुल ठीक-ठाक रखता है। ७. **बृहत्साम**=निरन्तर वृद्धि की भावनारूप प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=दृढ़ स्थिति के लिए हो, अर्थात् तू हृदय में 'वृद्धि' का ही संकल्प धारण कर। इस संकल्प को ही तू अपना प्रभु-स्तवन समझ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि में होनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **दिवो मात्रया** =ज्ञान के उस अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन को प्रसिद्ध करें। तेरा जीवन मस्तिष्क में ज्ञान व हृदय में विशालता की कीर्तिवाला हो। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों

का प्रतीकार करनेवाला तेरा पति 'इन्द्र', **च अयं अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक प्राण **ते च सर्वे**=और ज्ञान देनेवाले वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और इस घर के यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें, अर्थात् तुम्हारे गृहस्थ को दुःखरहित प्रकाशमय, स्वर्ग-सा बना दें।

भावार्थ—पत्नी व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाली हो। गृहकार्यों में बड़ी दक्षिण व निपुण हो, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व प्राण सभी स्वस्थ हों। उत्तम वस्तुओं का वह प्रशंसनीय प्रयोग करनेवाली हो। 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाकर चले। पति 'इन्द्र' हो, ऐश्वर्यशाली व जितेन्द्रिय। घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह सब आवश्यक है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीबृहती [र]। **स्वरः**—निषादः [क], मध्यमः [र]॥

सम्राट्

[क]सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याश्श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१२॥

१. **सम्राट् असि**=तू घर में उत्तमता से शासन करनेवाली है। २. **प्रतीची दिक्**=प्रतीची तेरी दिशा है। यह तुझे (प्रति अञ्च्) वापस लौटने का उपदेश दे रही है। दाक्षिण्य से ऐश्वर्य के बढ़ने पर इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने की बड़ी आशंका है, अतः तूने इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने का ध्यान करना है, यही 'प्रत्याहार' है। ३. **आदित्याः ते देवाः**=आदित्य तेरे देव हैं। इनकी आराधना से तू इनकी भाँति ही उत्तमता का आदान करनेवाली हो। इस उत्तमता का निरन्तर आदान **अधिपतयः**=तेरा आधिक्येन रक्षक हो। ४. **वरुणः**=सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाला गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों व कष्टों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला हो। वस्तुतः यह निर्द्वेषता ही घर के कल्याण का साधन हो जाए। ५. **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि का समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में सेवन करनेवाला हो। इनके द्वारा तेरा शरीर बड़ा ठीक बना रहे। ६. **मरुत्वतीय उक्थम्**=प्रशंसनीय मितभाषण (मरुतः मितराविणः, मरुत्वतीय=मरुतोंवाली मितभाषिता) **अव्यथायै**=पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=तुझे थामे, अर्थात् मितभाषण तेरी पीड़ा के अभाव का कारण बने। ७. **वैरूपं साम**='मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है' इस निश्चय-सम्बन्धी उपासना **अन्तरिक्षे**=हृदयाकाश में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठा के लिए हो। तेरे हृदय में यह मूलभूत सिद्धान्त अंकित हो जाए कि 'इस मानव जीवन में मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है।' ८. **त्वा** =तुझे **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः**=प्रथम कोटि में होनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **दिवः मात्रया**=ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय के विस्तार से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें, तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=सब द्वेषों के निवारण से आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला यह 'वरुण', **च अयं अधिपतिः** =और अधिष्ठातृरूपेण रक्षक ये आदित्य देव, **ते सर्वे च**=और

वे सब प्रथमज ऋषि—उत्कृष्ट श्रेणी के ज्ञानी लोग **संविदाना:**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=दु:खाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=सुखमय लोक में **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=बिठाएँ। इन सबकी कृपा से गृह स्वर्ग बन जाए।

भावार्थ—पत्नी घर में उत्तमता से शासन करनेवाली हो। अच्छाइयों के ग्रहण के स्वभाववाली, मितभाषिणी, विशिष्ट रूपता को ध्येय बनाकर चलनेवाली हो। पति सब प्रकार के द्वेष का निवारण करनेवाला हो। ये बातें घर को अवश्य स्वर्ग बनाएँगी।

ऋषि:—परमेष्ठी। **देवता**—मरुत:। **छन्द:**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप् [क], ब्राह्मीबृहती [र]। **स्वर:**—धैवत: [क], मध्यम: [र]॥

स्वराट्

[क]स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवाऽअधिपतय: सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविꣳशस्त्वा स्तोम: पृथिव्याꣳश्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१३॥

१. सम्राट् औरों का शासन करता है। पत्नी को सम्राट् तो होना ही है, पर सम्राट् बनने के लिए तू **स्वराड् असि**=अपना शासन करनेवाली बनी है। **उदीची दिक्**=उत्तर तेरी दिशा हुई है। 'उद् अञ्च' ऊपर, और ऊपर उठते जाना ही तूने उदीची से सीखा है। ३. **मरुत: ते देवा:**=मरुत् तेरे आराध्य देव हैं—तूने उनकी भाँति ही (मितराविण:) मितभाषिणी बनने का संकल्प किया है। ये मरुत् ही तेरे **अधिपतय:** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। मितभाषिता जीवन को दीर्घ करनेवाली है। ४. **सोम:**=सौम्य व शान्त स्वभाववाला तेरा पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर होनेवाले घातक आक्रमणों से तेरी रक्षा करे। उसकी सौम्यता ही वस्तुत: घर की रक्षक बन जाए। ५. **एकविंश: स्तोम:**=शरीर का भरण करनेवाली इक्कीस शक्तियों का समूह तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस पृथिवीरूप शरीर में सेवित करे। इन इक्कीस शक्तियों से तेरी शारीरिक स्थिति उत्तम हो। ६. **उक्थम्**=प्रशंसनीय **निष्केवल्यम्** =(नि:=बाहर, केवल=सुखरूप प्रभु में विचरना) विषयों से बाहर होकर उस आनन्दमय प्रभु में विचरना **अव्यथायै**=तुझे पीड़ा के अभाव के लिए **स्तभ्नातु**=दृढ़ करे, अर्थात् विषयासक्ति का अभाव तेरे जीवन को सुखी करे। ७. **वैराजं साम**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित बनाने की भावना ही तेरी प्रभु-उपासना हो और यह **अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै**=हृदयान्तरिक्ष में प्रतिष्ठा के लिए हो। यह भावना हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहे। यह तेरे जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजा: ऋषय:**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=उस-उस ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें व विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=अपने सौम्य स्वभाव से घर का विशिष्टरूप से धारण करनेवाला पति 'मरुत्' **अयं अधिपति: च**=ये मितरावी अधिष्ठातृरूपेण रक्षक मरुत् **ते च सर्वे**=और वे सब तत्त्वद्रष्टा ऋषि **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दु:खाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=देदीप्यमान प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें। ये सब तेरे घर को स्वर्ग बनानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी स्वराट्—पूर्ण जितेन्द्रिय हो, मितभाषिता उसके दीर्घ जीवन का कारण बने। वह विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। वह ज्ञान के साथ हृदय की विशालतावाली हो। पति सौम्य व शान्त स्वभाव हो—यही घर को स्वर्ग बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीत्रिष्टुप् [र]। **स्वरः**—निषादः [क], धैवतः [र]॥

अधिपत्नी

[क]अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽअधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳश्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुतेऽउक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳशाक्वररैवते सामनी [र]प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥१४॥

१. **अधिपत्नी असि**=हे स्त्रि! तू इस घर की आधिक्येन पालयित्री है। २. **बृहती दिक्**=यह प्रौढ़ा बृहस्पतिरूप अधिष्ठातावाली—बढ़ी हुई ऊर्ध्वा तेरी दिशा है। तेरे जीवन का लक्ष्य सर्वोच्च स्थिति में पहुँचना है, तूने ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति बनना है। ३. **ते देवाः विश्वे**=बारह विश्वेदेव ही तेरे देव हैं। इन बारह–के–बारह मासों के नामों से तुझे 'इस संसार–वृक्ष की विशिष्ट शाख बनना है, ज्येष्ठ बनना है, कामादि से पराभूत नहीं होना, शुभ उपदेश का श्रवण करना है, इसे ही कल्याण का मार्ग समझना है—इसपर चलने के लिए कल का प्रोग्राम नहीं बनाना—कामादि का कृन्तन करना है—इन्हें आत्मालोचन द्वारा ढूँढ–ढूँढ कर मारना है—इस प्रकार अपना पोषण करना है—यही तेरा ऐश्वर्य है। इस एश्वर्य के सामने सांसारिक ऐश्वर्य तो नितान्त तुच्छ हैं—यही तेरे जीवन का आश्चर्य होगा। ये देव, ये मास इन बातों का बोध दे रहे हैं। यह बोध देकर ये देव ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक होंगे। ४. **बृहस्पतिः**=ऊँचे–से–ऊँचे ज्ञान का पति गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर आनेवाली घातक बातों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। ५. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=('त्रिणवस्तोमं पुष्टिरित्याहुः'—श० १०।१।१।५) पुष्टि तथा तेतीस देवों का धारण ही **स्तोमौ**=तेरा प्रभु–स्तवन हो और यह पुष्टि व तेतीस देवों का धारणरूप प्रभु–स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयताम्**=सेवित करनेवाले हों। तेरे शरीर को ये पूर्ण स्वस्थ बनाएँ। ६. **उक्थे वैश्वदेवाग्निमारुते**=प्रशंसनीय विश्वेदेव, अग्नि तथा मरुत ये सब **अव्यथायै**=पीड़ा के अभाव के लिए तुझे **स्तभ्नीताम्**=थामें। तेरा मन दिव्य गुणों का अधिष्ठान बने तो तेरा देह वैश्वानर अग्नि व प्राणापानरूप मरुतों का स्थान बने। दिव्य गुण मन को स्वस्थ बनाएँ और यह वैश्वानर अग्नि व प्राणापान अन्न के ठीक पाचन से शरीर को स्वस्थ करें। ७. **शाक्वररैवते**=शक्ति को प्राप्त करने की भावना तथा धन और ज्ञानधन को प्राप्त करने की भावना **सामनी**=मेरे साम व उपासन हों। ये **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठिति के लिए हों। मेरे जीवन में ये सिद्धान्त बन जाएँ। इन्हें मैं अपने हृदय से कभी दूर न करूँ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा विद्वान् **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=ज्ञान के अमुक–अमुक अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=घर को आपत्तियों से बचानेवाला ज्ञानी गृहपति **अयं च अधिपतिः**=और ये आधिक्येन रक्षक 'विश्वेदेव' **ते च सर्वे**=और वे सब ज्ञानी **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक

के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी घर की अधिपत्नी हो। उसका 'शरीर, मन व बुद्धि तीनों को नवीन (त्रि+नव) व पुष्ट बनाये रखना व मन में सब गुणों को धारण करना' ये मौलिक सिद्धान्त हो जाएँ। वह 'शरीर को शक्तिशाली बनाये, मस्तिष्क को ज्ञानधन सम्पन्न करे' इन्हीं को वह प्रभु-उपासन जाने। पति ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करे।

सूचना—(१) १० से १४ तक मन्त्रों में पत्नी की विशेषताओं के सूचक **'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् व अधिपत्नी'** शब्द हैं। पति की विशेषता को **अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम** व **बृहस्पति**—ये शब्द कह रहे हैं। इन विशषेताओं को धारण करके स्त्री दुःख से ऊपर उठकर स्वर्ग में स्थित हुआ करती है। (२) जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की सूचना 'रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज व शाक्वररैवत' इन साम-संज्ञा शब्दों से होती है। (क) हमें शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करना है। (ख) वृद्धि को प्राप्त करना है। (ग) विशिष्ट रूपवाला बनना है। (घ) हमारा जीवन विशिष्ट रूप से दीप्त व व्यवस्थित हो। (ङ) हम 'शक्ति-धन' व 'ज्ञान-धन' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसन्तर्तुः। **छन्दः**—विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरिकेश

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१५॥

१. राष्ट्र में राजा 'परमेष्ठी'=सर्वोच्च स्थान में स्थित है। **अयम्**=यह **पुरः**=राष्ट्र का पालन व पूरण करनेवाला है। (पृ पालनपूरणयोः) अथवा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला है (पुरः=आगे, fore)। २. **हरिकेशः**=(केशाः रश्मयः काशनाद्वा—नि० १२।२६) इसकी ज्ञानरश्मियाँ राष्ट्र के कष्टों का हरण करनेवाली हैं। **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान इसकी ज्ञानरश्मियाँ सारे राष्ट्र को प्रकाशित करनेवाली हैं। स्वयं यह 'सर्ववेदवित्' बना है। इसने ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करके सारे राष्ट्र में ज्ञान के फैलाव की व्यवस्था की है। यह ज्ञान लोगों के दुःखों का हरण करनेवाला हुआ है। ३. **तस्य**=आगे ले-चलनेवाले राजा का **रथगृत्सः**=(रथेगृत्सः मेधावी) रथ में निपुण **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथौजाः**=(रथे ओजो यस्य) रथ के क्षेत्र में ओजस्वी **ग्रामणी**=ग्रामनायक है। इसके ये दोनों परिचारक 'वासन्तिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१६' प्रजा का उत्तम निवास करनेवाले तथा उनकी जीवन-मर्यादा को ऋतुओं की भाँति व्यवस्थित करनेवाले हैं। सेनापति ने रथगृत्स होना ही है। ग्रामणी ने भी प्रजा के निरीक्षण के लिए रथौजा ही होना है, कुर्सी के ओजवाला नहीं। ४. इस राजा की सेना के दृष्टिकोण से 'पुञ्जिकस्थला' अप्सरा है तथा ग्राम के दृष्टिकोण से 'क्रतुस्थला' अप्सरा है **पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला च अप्सरसौ**=(पुञ्जिकस्य स्थलं यस्याः) सेना को पुञ्जीभूत—न तितर-बितर हुआ-हुआ रखनेवाला अफ़्सर है तथा ग्राम को (क्रतूनां स्थलं यस्याः) यज्ञों का स्थल बनानेवाला अफ़्सर है (अप्सरस्=अफ़्सर, officer)। सेनानी का मुख्य कार्य सेना को सङ्गठित रखना है, ग्रामणी का मुख्य कार्य ग्राम में यज्ञादि उत्तम कार्यों

का प्रवर्त्तन है। ५. सेनानी के दृष्टिकोण से **दङ्क्ष्णवः पशवः**=दशनशील पशु=व्याघ्रादि की भाँति शत्रुसैन्य को चीर-फाड़ देनेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं, प्रहार के साधन हैं तथा ग्रामणी के दृष्टिकोण से **पौरुषेयः**=फाँसी के लिए नियुक्त पुरुष के द्वारा किया जानेवाला **वधः**=वध **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है। वस्तुतः इस पौरुषेय वध के द्वारा ही राष्ट्र में होनेवाले बड़े पापों की समाप्ति की जा सकती है। एक ब्लैकमार्केटिंग करनेवाले के फाँसी पर चढ़ते ही सब व्यापार शुद्ध हो जाता है—एवं यह 'पौरुषेय वध' सचमुच 'प्रहेति'=प्रकृष्ट वज्र है। ६. **तेभ्यः**=उनके पुरः=सामने यः=जो अग्नि है और उसके सेनानी व ग्रामणी हैं तथा उसके अप्सरस् हैं और जो हेति, प्रहेति हैं, इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार है। **ते नः अवन्तु**=ये सब हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम सब **यं द्विष्मः**=जिस भी व्यक्ति को प्रीति नहीं कर पाते **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन सेनानी-ग्रामणी आदि के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़ों में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, स्वयं क़ानून को हाथ में न लेकर हम उसे इन न्यायाधीशों को सौंपते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, दु:ख का हरणकारी, ज्ञान से परिपूर्ण, सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियों से प्रजा में प्रकाश फैलानेवाला हो। इसके परिचारक रथों से प्रजा में विचरण करनेवाले हों—कुर्सियों को ही सँभाले रखनेवाले नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—ग्रीष्मर्तुः। **छन्दः**—निचृत्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

१. **अयं दक्षिणा**=यह राजा दक्षिणा दिग् का अधिपति है, अर्थात् दाक्षिण्य का—नैपुण्य का—अधिपति है। २. दाक्षिण्य का अधिपति होता हुआ यह विश्वकर्मा—'विश्वस्मिन् करोति' सदा कार्यों का करनेवाला है, 'अयं वै वायु विश्वकर्मा०—श० ८।६।१।१७' वायु की भाँति सदा क्रियाशील है। ३. **तस्य**=उस राजा का **रथस्वनः**=(रथे स्थितः स्वनति) युद्ध-रथ पर आरुढ़ होकर शत्रुओं को ललकारनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथेचित्रः**=(रथे स्थितः आश्चर्यकारी) सदा रथारुढ़ होकर आश्चर्यजनक शक्ति से निरन्तर कार्यों को करनेवाला एक **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ग्रैष्मौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१७।—ये सदा सोत्साह हैं और बड़ी व्यवस्थित गतिवाले हैं। ४. शत्रु पराजय के द्वारा मान पानेवाला 'मेनका' (मानयन्ति एनाम्)=सम्मानित सेनानी **अप्सरसौ**=अफ़्सर है तथा ग्रामणी रूप अफ़्सर **सहजन्या**=लोगों के अन्दर मिलकर कार्यों को विकास करने की भावना को जन्म देनेवाला है। आजकल के कोऑपरेटिव सिस्टम तथा कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स इस 'सहजन्या' शब्द से संकेतित हो रहे हैं। ५. सेनानी दृष्टिकोण से **यातुधानाः**=शत्रुओं में पीड़ा का आधान करनेवाले—प्रतिक्षण उनकी सिरदर्दी का कारण बननेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं—राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से रक्षांसि (रक्ष् resque) रक्षा के लिए नियत चौकीदार व पुलिस के व्यक्ति **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये सदा राष्ट्र को अन्दर की अव्यवस्था

से बचाते हैं। ६. **तेभ्यः**=इस वायु सदृश राजा, उन सेनानी, ग्रामणी, अप्सरस् व हेति और प्रहेति सबके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँ। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=अवाञ्छनीय होने से जिसके प्रति हम सब प्रेम नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि** =जो हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसको **एषाम्**=इन राजा व उसके अफ़सरों के **जभ्मे**=दंष्ट्राकराल न्यायरूप जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा वायु की भाँति नैसर्गिकी क्रियावाला है—आलस्य से दूर है। इसके सेनानी शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र का मान बढ़ाते हैं और ग्रामणी लोगों में मिलकर कार्य करने के द्वारा विकास की भावना को दृढ़-मूल करते हैं।

ऋषिः -परमेष्ठी। **देवता**—वर्षर्तुः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वव्यचाः

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

१. **अयं पश्चात्**=यह राजा इन्द्रियों को विषयों से पीछे खेंचनेवाला, **विश्वव्यचाः**=(असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः—श० ८।६।१।१८) उदय होते ही पश्चिम की ओर (प्रतीची की ओर) चलना प्रारम्भ करनेवाले सूर्य के समान है (विश्वं विचति व्याप्नोति प्रकाशयति)। जैसे सूर्य सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करता है, इसी प्रकार इसकी शासन-शक्ति भी सारे राष्ट्र में व्याप्त होती है। सूर्य की भाँति यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है—सूर्य की भाँति कररूप जल का ग्रहण करता है। सूर्य की भाँति मलों को नष्ट कर राष्ट्रीय नीरोगता उत्पन्न करता है। २. **तस्य**=इस राजा के **रथप्रोतः च**=रथ में प्रोत—स्थिर-सा हुआ-हुआ—सदा रथ से बँधा हुआ **सेनानीः**=सेनापति है। **असमरथः च**=अद्वितीय रथवाला—विशिष्ट गाड़ीवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। सेनापति आवश्यकता पड़ते ही सदा युद्ध के लिए तैयार है, और ग्रामणी सदा रथ पर इधर-उधर घूमता हुआ व्यवस्था में लगा है—इसका रथ कभी विश्रान्त न होने से अद्भुत है। 'वार्षिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१८' ये अपनी निरन्तर क्रियाशीलता से प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं और बड़ी नियमित गतिवाले हैं। ३. प्रम्लोचन्ती (अहः—श० ८।६।१।१८) जैसे दिन में सब प्राणी गतिवाले होते हैं उसी प्रकार **प्रम्लोचन्ती**= सेनानी के दृष्टिकोण से सेना को प्रकृष्ट गति देनेवाले इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स होते हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से (अनुम्लोचनी रात्रिः—श० ८।६।१।१८) प्रति रात्रि की समाप्ति पर कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अप्सरस्**=अफ़्सर होते हैं। सेना ने दिन-रात चौकन्ना रहना है, गति में रहना है। राष्ट्र के अन्य अध्यक्षों ने भी प्रतिदिन कार्य में व्याप्त होना है (म्लोचति=to go, move)। संक्षेप में सब अफ़्सरों क्या फौजी और क्या सिविलियन—सभी के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। ४. शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **व्याघ्राः**=व्याघ्रों के समान सैनिक **हेतिः**=इसके राष्ट्र-रक्षक वज्र हैं तो **सर्पाः**=ग्रामणी के दृष्टिकोण से गुप्तचर रूप में सब न्यूनताओं का पता लगानेवाले **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये राष्ट्र को अन्तः उपद्रवों से बचाने में सहायक होते हैं। ५. **तेभ्यः**=इस आदित्यतुल्य राजा, उसके सेनानी, ग्रामणी, उसके

अप्सरस् तथा हेति-प्रहेति का **नमः अस्तु**=हम आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=वे हमें सुखी करें। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=जिसे हम प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हमारे साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, वे ही इन्हें उचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—राजा सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो, रोगकृमियों के नाश के लिए सफ़ाई का प्रबन्ध करे, सूर्यकिरणें जैसे जल को ले-जाती हैं, यह भी थोड़ा-थोड़ा कर ले। इसके कर्मचारी स्वयं क्रियाशील हों और प्रजा में भी क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को पैदा करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—शरदृतुः। **छन्दः**—भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

संयद् वसुः

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य ताक्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१८॥

१. **अयम्**=यह राजा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में स्थित होता हुआ सचमुच राष्ट्र को उत्कृष्ट बनाता है। २. राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए ही यह **संयद्वसुः**=धन का नियमन करता है (वसु संयच्छति), करादि के उत्तम नियमों को बनाकर तथा व्यापार को भी व्यवस्थित करके यह धन को किसी एक स्थान में केन्द्रित नहीं होने देता। ३. **तस्य**=इसका **सेनानीः**=सेनापति **ताक्ष्यः**=शत्रुओं पर उसी प्रकार आक्रमण करनेवाला होता है जैसेकि गरुड़ सर्पों पर और इसका **ग्रामणीः**=ग्रामनायक **अरिष्टनेमिः**=धर्म-मार्गों की परिधि को या मर्यादा को हिंसित नहीं होने देता (**अ**=नहीं **रिष्ट**=हिंसित **नेमि**=मर्यादा) ४. सेनानी के दृष्टिकोण से इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स **विश्वाची**=सारे राष्ट्र की सीमा पर, राष्ट्र के चारों ओर गतिवाले होते है तथा ग्रामनायक के **अप्सरस्**=अफ़्सर **घृताची**=घृतादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। इस प्रकार ये 'शारदौ ऋतू'=बाहर व अन्दर के उपद्रवों को शीर्ण करनेवाले व नियमित गति से राष्ट्र को चलानेवाले होते हैं। अन्दर के उपद्रव प्रायः तभी होते हैं, जब प्रजा को आवश्यक पदार्थ भी दुर्लभ हो जाते हैं। ५. **आपः**=सारे प्रान्त-भागों में व्याप्त हो जानेवाले (आप्लृ व्याप्तौ) सैनिक ही इसके **हेतिः**=शत्रुओं से रक्षक वज्र के समान हैं और **वातः**=वायु के समान प्रजा को जीवन देनेवाले ग्रामाध्यक्ष इसके **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है, क्योंकि ये ही राष्ट्र को अन्तःकोप का शिकार नहीं होने देते। ६. **तेभ्यः**=इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिससे प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हम सबसे द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा का यह महान् कार्य है कि वह राष्ट्र में धन का पूर्ण नियमन करे। इसी के विषम असम-विभाग से राष्ट्र में अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) ये दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और राष्ट्र रोगी हो जाता है। इसके सैनिक सारे प्रान्त-भाग में व्याप्त होकर देश की रक्षा करें और अन्य अध्यक्ष जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—हेमन्तर्तुः। **छन्दः**—निचृत्कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

अर्वाग् वसुः

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१९॥

१. **अयम्**=यह राजा **उपरि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थित है, राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान में स्थित होने से यह सचमुच 'परमेष्ठी' है। २. इस उच्चस्थान में स्थित होता हुआ यह **अर्वाग् वसुः**=नीचे आनेवाले धनवाला है। जैसे सूर्य किरणों द्वारा जल लेता है, परन्तु सारे-के-सारे जल को पर्जन्य के रूप में करके बरसा देता है, उसी प्रकार यह राजा कर के रूप में प्रजा से धनों को लेता है, परन्तु उसे प्रजाहित के लिए ही बरसा देता है। यह राष्ट्रकोश को अपने लिए 'वशा गौ' (बाँझ गौ) के समान समझता है, उससे अपने महल नहीं बना लेता। कालिदास के शब्दों में 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'= यह प्रजाओं के कल्याण के लिए ही उनसे कर लेता है और सूर्य की भाँति सहस्र गुणा करके बरसा देता है, अतः यह सचमुच 'अर्वाग् वसु' है। ३. इस कार्य में **तस्य**=उसके सहायक **सेनजित् च**=सेना के द्वारा शत्रु का विजय करनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **सुषेणः च**=ग्रामों से उत्तम सैनिकों को प्रस्तुत करके उत्तम सेना बनानेंवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ४. **अप्सरसौ**=इसके सैनिक अफ़सर **उर्वशी**=खूब ही शत्रुओं को वश में करनेवाले हैं तथा ग्रामों के अफ़सर **पूर्वचित्तिः च**=प्रत्येक कार्य को पहले से सोचकर करनेवाले हैं। ५. **अवस्फूर्जन्**=(स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे) शत्रु-सेना के समक्ष वज्र निर्घोष करते हुए सेनानायक इसके **हेतिः**=(शत्रुनाशक, राष्ट्र रक्षक) वज्र हैं तथा **विद्युत्**=राष्ट्र में सर्वत्र विशिष्ट द्युति को फैलानेवाले और इस प्रकार अपराधों की संख्या को कम करनेवाले ग्रामाध्यक्ष **प्रहेतिः**=पापनाशक प्रकृष्ट वज्र हैं। इस प्रकार ये सेनानी व ग्रामणी 'हैमन्तिकौ ऋतू—श० ८।६।१।२०' राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले तथा उसे नियमित गतिवाला करनेवाले हैं। ६. **तेभ्यो नमः अस्तु**=हम इन सबका आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिसे प्रीति नहीं करते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इनके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा करादि से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। राष्ट्र की सेना उत्तम हो। सेनानी शत्रुओं को वश में करे तो ग्रामनायक प्रत्येक कार्य को सोचकर करे। राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रजाजन क़ानून को अपने हाथ में न लें, इन अध्यक्षों को ही न्याय का कार्य सौंपा जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ककुत्पतिः=सर्वोच्च रक्षक

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित राजा **अग्निः**=अग्रेणी बनता है। यह स्वयं उन्नति करते हुए सारे राष्ट्र को आगे ले-चलता है। २. **मूर्धाः**=यह राष्ट्र का मूर्धा बनता है, मस्तिष्क से जैसे सारे शरीर की सारी क्रियाओं की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार यह राष्ट्र की सब क्रियाओं का व्यवस्थापन करता है। ३. **अयम्**=यह **दिवः**=प्रकाश का, मस्तिष्क में ज्ञान को परिपूर्ण

करने का तथा **पृथिव्याः**=शारीरिक स्वास्थ्य का **ककुत् पतिः**=चोटी का रक्षक-रक्षक शिरोमणि बनता है। यह इस बात का ध्यान करता है कि राष्ट्र में कोई व्यक्ति अनपढ़ न रह जाए तथा यह भी व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है कि सबके शरीर स्वस्थ हों। संक्षेप में, यह शिक्षा-विभाग व स्वास्थ्य-विभाग को सर्वाधिक महत्त्व देता है, अधिक-से-अधिक विद्यालयों की स्थापना तथा सफ़ाई का ध्यान करके यह लोगों के मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए यत्नशील होता है। ४. यह **अपाम्**=प्रजाओं के (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **रेतांसि**=शक्तियों को **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उनके जीवन में स्वास्थ्य व संयम के महत्त्व को बढ़ाकर यह उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—१. राजा को राष्ट्र का अग्रणी बनना है। २. यह राष्ट्र-शरीर का मस्तिष्क बने। ३. प्रजाओं के ज्ञान व स्वास्थ्य का ध्यान करे। ४. प्रजाओं को शक्ति-सम्पन्न बनाये।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अग्नि कौन है? मूर्धा

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः। मूर्धा कवी रयीणाम्॥२१॥

१. पिछले मन्त्र में कहे गये अग्नि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अयम्**=आगे बढ़नेवाला यह वह है जोकि **सहस्त्रिणः**=(स हस्) सदा हास्य व आनन्द से युक्त **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **वाजस्य**=बल का **पतिः**=रक्षक है, अर्थात् जो अपनी शक्ति को सौ-के-सौ वर्ष तक स्थिर रखता है और इस शक्ति के कारण ही प्रसन्न जीवनवाला होता है, खिझता नहीं। वीरत्व के कारण virtuous बना रहता है। २. **मूर्धा**=यह शिखर पर पहुँचता है क्योंकि **रयीणां कविः**=धनों का सूक्ष्मदर्शी होता है। धनों के वास्तविक रूप को समझकर वह उनका पति ही बना रहता है, कभी उनका दास नहीं हो जाता। इसे यह भूलता नहीं कि मैं धन का दास बना और मेरा निधन हुआ। धन की दासता ही उन्नति के मार्ग में सर्वाधिक रुकावट है। धन का दास लक्ष्मीपति नारायण को भी भूल जाता है, अतः धनों के तत्त्व को समझे रखना आवश्यक है। इनके स्वरूप को भूलना नहीं चाहिए। यही इनका 'कवि' बनना है। धन के दास न बनकर हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं, हमारा ज्ञान बढ़ता है और प्रभु का दर्शन कर हम सर्वोच्च स्थिति में होते हैं।

भावार्थ—हम आनन्दयुक्त शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाली शक्ति के पति हों। शिखर पर पहुँचें। धन के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए उसमें उलझें नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अथर्वा

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥२२॥

१. धन में न उलझनेवाला आगे और आगे बढ़ता हुआ **अथर्वा**=धन की चमक से डाँवाँडोल न होनेवाला हे **अग्ने**=सर्वमहान् अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **निरमन्थत**=मन्थन करके ग्रहण करता है। जैसे दधि के मन्थन से नवनीत के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मन्थन से प्रभु का दर्शन होता है। २. कहाँ मन्थन से? **पुष्करादधि**=हृदयान्तरिक्ष में। 'पुष्कर' वह हृदय है जहाँ उत्तमोत्तम भावनाओं का पोषण (पुष्ट) किया गया है (कर) और जो **पुष्कर**=कमल की भाँति धन के पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

३. फिर कहाँ से? **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से। जो मस्तिष्क **विश्वस्य वाघतः**=प्रभु की सम्पूर्ण रचना–कृति के ज्ञान को धारण किये हुए है। ५. एवं, प्रभु के ज्ञान के लिए हृदय को उत्तमोत्तम भावनाओं के पोषण से पानी में रहनेवाले कमल की भाँति निर्लेप बनाना चाहिए तथा मस्तिष्क को सब विज्ञानों का वहन करनेवाला। हृदय व मस्तिष्क दोनों का विकास ही प्रभु–दर्शन कराएगा, अतः हम 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्–अथर्व०' मस्तिष्क व हृदय दोनों को परस्पर सीं देनेवाले अथर्वा बनें।

भावार्थ–हृदय को हम पुष्कर=कमल बनाएँ, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान का वाहक और इस प्रकार प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

प्रभु–धारक के लक्षण, आत्मद्रष्टा के चिह्न

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म्॥२३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु–दर्शन करनेवाला अपने जीवन में **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाला होता है। २. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए ही **रजसः च नेता**=(रजसस्त्वर्थ उच्यते) धन का उत्तम मार्ग से प्रणयन करनेवाला बनता है। 'अग्ने नय सुपथा राये' यह उसकी आराधना होती है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'=हम धनों के पति बने रहें। उनके दास बनकर कृपण वृत्तिवाले न हो जाएँ। उनके प्रभु होते हुए यज्ञों में उनका विनियोग करते रहें। ३. परन्तु ऐसा तू तभी कर सकता है **यत्र**=जिस काल में तू–**शिवाभिः**=कल्याण में प्रवृत्त होनेवाले **नियुद्भिः**=इस वायु नामक जीव के इन्द्रियरूप घोड़ों से जोकि सदा निश्चयपूर्वक उत्तम कर्मों में लगाये रक्खे जाते हैं (नि+यु) **सचसे**=युक्त होता है। तू वायु है–आत्मा है (वा गतौ=अत गतौ) ये इन्द्रियाँ तेरे घोड़े हैं। इनको तूने कर्मों में लगाये रखकर 'नियुत्' इस अन्वर्थक नामवाला बनाना है। यह ध्यान रखना है कि ये सदा शिवमार्ग में ही प्रवृत्त हों। ४. तू अपने **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। मस्तिष्क को सदा ज्ञान के प्रकाश से व्याप्त रखने के लिए यत्नशील होता है। ५. और **अग्ने**=हे अग्रेणी जीव! तू **जिह्वाम्**=अपनी जिह्वा को **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) उस देदीप्यमान प्रभु का सम्भजन करनेवाली बनाता है, अथवा जिह्वा को ज्ञान का सेवन करनेवाली करता है और इसी उद्देश्य से ६. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=करता है। यह सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करती है।

भावार्थ–आत्मद्रष्टा पुरुष वह है जो १. यज्ञमय जीवनवाला होता है। २. यज्ञार्थ ही धनार्जन करता है। ३. शिव मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों का स्वामी बनता है। ४. मस्तिष्क को ज्ञान में स्थापित करता है। ५. जिह्वा से प्रभु–नामोच्चरण करता है। ६. सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

उन्नति के चार प्रमाण

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म्।
य॒ह्वाऽइ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑॥२४॥

१. गत मन्त्र का आत्मद्रष्टा जिन प्रयाणों से चलकर उस स्थिति में पहुँचता है, उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **जनानाम्**=(जन् प्रादुर्भाव) प्रादुर्भाव व जीवन का विकास करनेवाले माता-पिता व आचार्यों की **समिधा**=सन्तान में रक्खी गई ज्ञान-दीप्ति से (इन्ध्=दीप्ति) **अग्निः**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला युवक **अबोधि**=उद्बुद्ध जीवनवाला बनता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह 'मातृमान् पितृमान् व आचार्यवान् पुरुष' ज्ञान-सम्पन्न हो पाता है। २. अब यह आचार्यकुल से समावृत्त होकर जीवन-यात्रा के दूसरे प्रयाण गृहस्थ में प्रवेश करता है और **प्रति आयतीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में यह **जनानाम्**=सब लोगों के-'ब्रह्मचारी, वनस्थ व संन्यासियों' के लिए **धेनुम् इव**=धेनु के समान होता है। ३. गृहस्थ-भार वहन कर चुकने के बाद सब सन्तानों को यथास्थान स्थापित कर देने पर **इव**=जैसे **यह्वाः**=(महान्तः जातपक्षाः-उ०) उत्पन्न पंखोंवाले पक्षी **वयाम्**=शाखा को छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ **यह्वाः**=बड़े होकर (यातश्च हूतः च) प्रभु की ओर चलनेवाले व प्रभु को ही पुकारनेवाले होकर **वयाम्**=इस प्रजातन्तु सन्तानवाले आश्रम को **प्रउज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़ने की इच्छावाले होते हैं। नहीं छोड़ते तो जैसे पक्षी को उसी के माता-पिता चोचें मारकर निकाल देते हैं, उसी प्रकार यहाँ सन्तानें तङ्ग करके निकलने के लिए बाधित कर देती हैं। ४. अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से **प्रभानवः**=प्रकृष्ट ज्ञान-दीप्तिवाले बनकर **नाकम् अच्छ**=उस क्लेश लव से अपरामृष्ट, पूर्णानन्दमय रस नामवाले प्रभु की ओर **सिस्रते**=बढ़ चलते हैं (प्रसर्पन्ति-द०)। संन्यासी सब उत्तरदायित्वों से निपटकर भूतहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर ही तो बढ़ रहा है।

भावार्थ-जीवन के चार प्रयाण=पड़ाव हैं। प्रथम में ज्ञानदीप्त बनना है, द्वितीय में सभी का पालन करना है, तृतीय में घर को छोड़ वनस्थ हो उस प्रभु की ओर चलना है, उसी को पुकारना है और चतुर्थ में प्रकृष्ट दीप्तिवाले होकर प्रभु को पाना है।

ऋषिः-परमेष्ठी। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

वन्दारु वचः

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृ॒ष॒भाय॒ वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वी॑व रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत्॥२५॥

१. जीवन के इन प्रयाणों में चलते हुए हम उस प्रभु के लिए **वन्दारु वचः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बचन **अवोचाम**=बोलें, जो प्रभु (क) **कवये**=सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं 'कौति सर्वा विद्याः'। (ख) **मेध्याय**=जो पूर्ण पवित्र हैं और अतएव 'मेधृ सङ्गमे'=सङ्गम के योग्य हैं। (ग) **वृषभाय**=जो शक्तिशाली व श्रेष्ठ हैं। (घ) **वृष्णे**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। २. **गविष्ठिरः**=वेदवाणी व इन्द्रियों में स्थिर-पूर्ण जितेन्द्रिय व ज्ञानी व्यक्ति **नमसा**=नमन के द्वारा **अग्नौ**=उस अग्रेणी प्रभु में **स्तोमं अश्रेत्**=स्तुति का सम्भजन करता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला वही है जो 'गविष्ठिर' है, ज्ञानी व जितेन्द्रिय है, जो विनीतता व नम्रता से युक्त है। ३. यह उसी प्रकार स्तवन करता है **इव**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **रुक्मम्**=हिरण्य की भाँति देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति को सम्बद्ध करता है। ४. और हाथों में **उरुव्यचम्**=(उरुषु बहुषु विशेषेण अच्छति-द०) बहुतों के कल्याण में प्रवृत्त होनेवाली गति को जोड़ता है। ५. एवं, इस संन्यस्त भक्त के जीवन में वाणी प्रभु नामोच्चारण करती है, हृदय प्रभु-स्तवन करता हुआ उसके प्रति नत होता है-मस्तिष्क

ज्ञान-दीप्ति का आश्रय करता है और हाथ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—मेरी वाणी प्रभु नाम का उच्चारण करे। हृदय नम्रतापूर्वक प्रभु-स्तवन करता हो, मस्तिष्क प्रभु के साम्राज्य के ज्ञान से दीप्त हो और हाथ अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में लगे हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

(उस प्रभु के लिए) वनेषु चित्रम्

**अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥२६॥**

१. **अयं प्रथमः**=यह आद्य पुरुष—सृष्टि बनने से पहले ही वर्त्तमान स्वयम्भू परमात्मा **इह**=इस मानव-जीवन में **धातृभिः**=धाताओं—लोकहित में लगे व्यक्तियों से **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाते हैं जो अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त होते हैं। २. इन धाताओं से अपने हृदयों में उस प्रभु का धारण होता है जो (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाला है—उस दाता प्रभु का स्मरण करते हुए ये भी देनेवाले बनते हैं। (ख) **यजिष्ठः**= सर्वाधिक पूज्य है—सबके साथ सङ्गतीकरणवाला है और वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों व इन्द्रियादि का देनेवाला है। जिसका दान निरतिशय है। इस प्रभु का स्मरण करते हुए ये भक्त भी अधिक-से-अधिक प्राणियों के सम्पर्क में आते हैं और उनके कष्टों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। (ग) **अध्वरेष्वीड्यः**=हिंसाशून्य महान् यज्ञों में वह प्रभु ही स्तुति के योग्य है। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। प्रभु का इस रूप में स्मरण करता हुआ भक्त यज्ञों की सफलता में गर्ववाला नहीं हो जाता। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको (क) **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले और अतएव उत्तम रूपवाले (अप्न=A sacrificial act; shape) **भृगवः**=ज्ञानविदग्ध (भ्रस्ज पाके) तेजस्वी पुरुष **विरुरुचुः**= (रोचयामासुः—म०) अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त किया करते हैं। (ख) जो प्रभु **वनेषु**= सम्भजनशील भक्त पुरुषों में (वन=संभक्तौ) अथवा जितेन्द्रिय पुरुषों में (वन्= win) **चित्रम्**= (चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं तथा (२) **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=व्यापक रूप से विद्यमान हैं अथवा प्रत्येक व्यक्ति में विभुत्व शक्ति से युक्त हैं। उस-उस को वह-वह शक्ति प्राप्त करा रहे हैं। बुद्धिमानों की वे बुद्धि हैं तो बलवानों के वे बल हैं।

भावार्थ—प्रभु धाताओं से—औरों का धारण करनेवालों से धारण किया जाता है। उपासकों को वे प्रभु ज्ञान देते हैं, वे सबको शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

गोपाः

**जनस्य गोपाऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥**

१. प्रभु का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **जनस्य**=अपने जीवन में विकास करनेवाले के **गोपाः**=वे प्रभु रक्षक हैं। 'गोपाः' शब्द कुछ ऐसा संकेत करता है कि मनुष्य गौएँ हैं तो प्रभु उनके ग्वाले हैं। २. **जागृविः**=वह रक्षक सदा जागरणशील है—सदा सावधान है। ३. **अग्निः**=वह हमें निरन्तर आगे ले-चल रहा है। ४. **सुदक्षः**=(दक्ष to grow) वह

उत्तमता से उत्साहित करता हुआ हमारी वृद्धि का कारण है। ५. वह **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिए और **नव्यसे**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य आचरण के लिए **अजनिष्ट**=होता है। जब तक हम उस प्रभु को भूलते नहीं तब तक हमारी जीवन की गाड़ी पथभ्रष्ट नहीं होती। ६. वे प्रभु **घृतप्रतीकः**=दीप्त मुखवाले हैं। अपने इन दीप्तमुखों से वे अपना दीप्त ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दे रहे हैं' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'=प्रभु में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास ही है—उस निराकार प्रभु के इन्द्रियाँ तो हैं ही नहीं। ७. वे **शुचिः**=पूर्ण पवित्र प्रभु **बृहता**=निरतिशय वृद्धिवाले **दिविस्पृशा**=द्युलोक को स्पर्श करनेवाले, अर्थात् व्यापक ज्ञान से **द्युमद्**=ज्योतिवाले होकर **भरतेभ्यः**=औरों का भरण करनेवालों के लिए, सदा परोपकाररूप यज्ञ करनेवालों के लिए **विभाति**=चमकते हैं, प्रकाशित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन भक्तों को ही होता है जो औरों का भरण करनेवाले—यज्ञिय जीवनवाले हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सहसस्पुत्रः

त्वामग्नेऽअङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥२८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी—सर्वोन्नति-साधक प्रभो! **गुहा हितम्**=हृदयरूप निगूढ प्रदेश में स्थित **त्वाम्**=आपको **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति **अनु अविन्दत्**=आत्मदर्शन के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके अन्तर्यात्रा करता हुआ अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तभी वह प्रभु-दर्शन कर पाता है। २. उस प्रभु को देख पाता है जो **वनेवने**=सब जितेन्द्रिय पुरुषों में तथा (वन= ray of light) ज्ञान के पुञ्ज बने हुए पुरुषों में **शिश्रियाणम्**=अवस्थित हैं, आश्रय किये हुए हैं। जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का आश्रय बनते हैं। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी प्रभु इन्हीं में प्रकट होते हैं। ३. हे प्रभो! **सः**=वे आप **जायसे**=प्रकट होते हैं। कब? जबकि **मथ्यमानः**=वे अङ्गिरस् आपका मन्थन करते हैं। जैसे दो अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हृदय व मस्तिष्करूप अरणियों के मन्थन से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। ४. **सहः महत्**=हे प्रभो! आप महान् बल हो। जिसमें भी आपका प्रकाश होता है, वह आपकी इस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। ५. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **सहसः पुत्रम्**=बल का पुतला=बल का पुञ्ज **आहुः** =कहते हैं। अथवा **सहसः**=बल के द्वारा **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाला व रक्षा करनेवाला कहते हैं। 'सहस्' सर्वोत्तम शक्ति का वाचक है—यह आनन्दमयकोश का बल है। इसके साथ ही सब गुणों का वास है। इसके होने पर ही मनुष्य में सब उत्तमताओं का विकास होता है। इस 'सहस्' को प्राप्त करनेवाले 'अङ्गिरस्' लोग ही प्रभु का दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अङ्गिरस् बनें। सहस् व बल का धारण करें। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानी बनें तभी हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वर्षिष्ठ व ऊर्जो नपात्

सखा॑यः सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳस्तोमं॑ चा॒ग्नये॑।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते॥२९॥

१. **सखायः**=ज्ञान-सम्पादन के द्वारा प्रभु के मित्र बननेवालो! **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **सम्यञ्चम्**=(सम् अञ्च्) उत्तम पूजन को **इषम्**=गति को **स्तोमं च**=और स्तुति-समूह को **सम्**=(सम्पादयत) सिद्ध करो। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम देवपूजा की वृत्तिवाले हों—उत्तम गतिवाले हों, प्रभु प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों और प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए उन्हीं गुणों को धारण करनेवाले बनें। २. उस प्रभु के लिए हम इस पूजा, गति व स्तुति का सम्पादन करें जो **वर्षिष्ठाय**=श्रेष्ठ व वृद्धतम हैं, पुराणपुरुष हैं अथवा अतिशयेन आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। ३. **क्षितीनाम्**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों के (क्षि निवासगत्योः) **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति के नष्ट न होने देनेवाले हैं (न पतियित्रे), ४. जो प्रभु **सहस्वते**=सहस्‌वाले हैं। वस्तुतः सहस् के पुञ्ज हैं—सहोरूप हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन 'पूजा, गति व स्तुति' हैं। वे प्रभु १. अग्नि=हमारी उन्नति के साधक है। २. वृद्धतम व सर्वाधिक आनन्द के वर्षक हैं। ३. हमारी शक्तियों को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा ४. सहस् के पुञ्ज हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वृषन्

सꣳस॒मिद्यु॑वसे वृष॒न्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्यऽआ।
इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्याभ॑र॥३०॥

१. हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **सं सं युवसे**=हम सबको उत्तमता से प्राप्त होनेवाले हो तथा हम सबको परस्पर सङ्गत करनेवाले हो। २. **वृषन्**=आप हमपर सुखों की वर्षा करते हो। ३. **अग्ने**=आप सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ४. **अर्यः**=स्वामी व परमेश्वर होते हुए आप **विश्वानि**=सब आवश्यक वस्तुओं को **आ** (युवसे)=हमें प्राप्त कराते हो। ५. **इडः पदे**=वाणी के स्थान में **समिध्यसे**=आप समिद्ध होते हो। जितना-जितना हम अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं उतना-उतना आपके अधिकाधिक प्रकाश को देखते हैं। ६. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=उत्तम धनों—निवास के लिए आवश्यक पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—वे प्रभु हमें परस्पर मिलाते हैं। हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। हमें उन्नत करते हैं। परमेश्वर होते हुए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु का दर्शन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाकर होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चित्रश्रवस्तम

त्वां चि॑त्रश्रवस्तम॒ हव॑न्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑।
शो॒चिष्के॑शं पुरुप्रि॒याग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥३१॥

१. हे **चित्रश्रवस्तम**=(चित्+र, श्रवः=धनम्) ज्ञानयुक्त धन के अतिशयवाले प्रभो!

विक्षु=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले (विश्=to enter) प्राणियों में **जन्तवः**=अपना विकास (जन् प्रादुर्भाव) करनेवाले मनुष्य **त्वां हवन्ते**=तुझे पुकारते हैं। २. हे **पुरुप्रिय** =पालन व पूरण करनेवाले तथा इस पालन व पूरण से ही प्रीणित करनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाले आप (प्रभु) को उपासक **हवन्ते**=पुकारते हैं। ३. **हव्याय**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए, सात्त्विक भोजन के लिए और **वोढवे**=वहन के लिए। जैसे जब बच्चा थक जाता है तो माँ उसे उठा लेती है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त आपसे वहन किये जाने के लिए। आप ही मेरा वहन करेंगे तभी मैं लक्ष्य-स्थान पर पहुँच पाऊँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम विकास के मार्ग पर चलें, सदा आपकी आराधना करें। आपसे ज्ञान व धन प्राप्त करके हम आगे बढ़ें। आपकी कृपा से हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त हो और आपसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचाये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊर्जो नपात् व चेतिष्ठ

एना वोऽअग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिश्ःस्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥३२॥

१. **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **आहुवे**=मैं पुकारता हूँ। नम्र हुआ मैं नतमस्तक होकर उस प्रभु की प्रार्थना करता हूँ जो २. **वः अग्निम्**=तुम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ३. **ऊर्जो नपातम्**=शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ४. **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाले हैं, जिनको पाकर जीव एक तृप्तिकर आनन्द का अनुभव करता है। ५. **चेतिष्ठम्**=अतिशयेन ज्ञान-सम्पन्न हैं और अपने उपासकों को ज्ञान देनेवाले हैं। ६. **अरतिम्**=(रतिः उपरमः तद्रहितम्—म०) सदा उद्योगयुक्त हैं 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'=जिनकी क्रिया स्वाभाविक है। ७. **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। जीवों से किये जानेवाले सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से ही सिद्ध होते हैं। ८. **विश्वस्य दूतम्**=सबके प्रेरक है (messenger) अथवा सबके दोषों को दूर करनेवाले तथा धर्मार्थमोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं। (यो दोषान् दुनोति दूरीकरोति धर्मार्थमोक्षान् प्रापयति वा—द० ६।१५।९) जो अविद्या के पार ले-जानेवाले हैं (ऋ० ३।१२।२ अविद्यायाः पारे गमयिता) अथवा सब दुःखों का निवारण करनेवाले हैं। (दूतः वारयतेः—नि० ५।१) ९. **अमृतम्**=वे प्रभु अमृत हैं। उनको पाकर मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वे प्रभु हमें आगे ले-चलते हैं, हमें अक्षीण शक्ति बनाते हैं, प्रीति को देनेवाले हैं, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, सदा सहायता के लिए उद्यत हैं, हमारे सब यज्ञ उन्हीं की कृपा से पूर्ण होते हैं, सब कष्टों व अज्ञानों को दूर करनेवाले व अमर हैं। हम उन्हीं को पुकारें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्व का दूत

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्।
स योजतेऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः॥३३॥

१. वे प्रभु **विश्वस्य दूतम्**=(दूतः जवतेर्वा द्रवतेर्वा—वारयतेर्वा—नि० ५।१) सम्पूर्ण

संसार को गति देनेवाले हैं, सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक हैं, सबके कष्टों व अज्ञानों का निवारण करनेवाले हैं। **अमृतम्**=इस प्रकार अमृतत्व को देनेवाले हैं। २. वे प्रभु सचमुच ही **विश्वस्य दूतम्**=विश्व के प्रेरक हैं **अमृतम्**=अमर प्रेरक हैं। ३. वे हमारे इन शरीररूप रथों में **अरुषा**=(अकोपनौ) क्रोधशून्य, अर्थात् सरल व **विश्वभोजसा**=सबका पालन करनेवाले ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योजते**=जोड़ते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अरुष हैं 'ऋच्छति अध्वानम्'=ये सरलता से मार्ग पर चल रही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु का ज्ञान देकर पालन करनेवाली हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **स्वाहुतः**=(शोभनप्रकारेण हुतः—उ०) उत्तमता से आत्मार्पण किया हुआ अथवा (शोभनाह्वानः—द०) उत्तमता से पुकारा हुआ **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें व उसे पुकारें तो प्रभु सहायता के लिए सदा उपस्थित होते हैं। वे हमारे शरीर-रथ में शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले व ज्ञान-प्रकाश द्वारा पालक इन्द्रियाश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वाहुतः दुद्रवत् देवराधः

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳराधो जनानाम्॥३४॥

१. **सः**=वह **स्वाहुतः**=उत्तमता से समर्पण किया हुआ, अथवा उत्तमता से पुकारा हुआ प्रभु **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है। **स्वाहुतः स दुद्रवत्**=पुकारा हुआ वह प्राप्त होता ही है। ये शब्द ठीक ही हैं कि 'knock, and it will be opened to you' खटखटाओ और यह दरवाज़ा तुम्हारे लिए खुलेगा ही। २. प्रभु वहाँ अवश्य पहुँचते हैं, जहाँ **वसूनाम्**=इस शरीररूपी देवाश्रम में उत्तमता से निवास करनेवालों का **सुब्रह्मा**=उत्तम ज्ञानियों से युक्त अथवा (शोभनं ब्रह्म यस्मिन्) उत्तम ज्ञान से युक्त **सुशमी**=(शमी=कर्म) उत्तम कर्मोंवाला **यज्ञः**=यज्ञ प्रवृत्त होता है, अर्थात् जहाँ एक व्यक्ति युक्ताहार-विहार के द्वारा शरीर को नीरोग बनाता है, मस्तिष्क को ज्ञान-परिपूर्ण करता है तथा हाथों द्वारा सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर जीवन को एक यज्ञ ही बना देता है, वहाँ प्रभु अवश्य उपस्थित होते हैं। ३. फिर प्रभु वहाँ अवश्य उपस्थित होते हैं जहाँ कि **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवालों का **देवं राधः**=दिव्य व्यवहार से सिद्ध किया हुआ धन होता है। आसुर लोग ही अन्याय से अर्थसञ्चय के लिए यत्नशील होते हैं। दैवी प्रवृत्तिवाले लोग देवयान से, देवोचित व्यवहारों से ही **राधः**=कार्य-साधक धन जुटाते हैं। जहाँ धन न्याय-मार्ग से ही प्राप्त करने की वृत्ति होती है, वहीं प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु को वही पाता है जो १. स्वस्थ व ज्ञानी बनकर क्रियाशील होता है और इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ बना देता है। तथा २. जो अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ देवोचित न्यायमार्ग से व्यवहार-साधक धन कमाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

गोमत वाज

अग्ने वाजस्य गोमतऽईशानः सहसो यहो।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥३५॥

१. हे **अग्ने**=सर्वोन्नति साधक प्रभो! हे **सहसः यहो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **गोमतः**=उत्तम गौवोंवाले, उत्तम गौवें के द्वारा गोदुग्ध युक्त **वाजस्य**=शक्तिप्रद अन्न के **ईशानः**=ईश हैं—स्वामी हैं। २. अतः आप कृपा करके **अस्मे धेहि**=हमारे लिए इस गोदुग्ध युक्त अन्न को दीजिए। गो-दुग्ध से हमारे अन्दर सात्त्विकता की वृद्धि हो तो शक्तिप्रद अन्न से हमारे शरीर पुष्ट हों। इस गोदुग्ध युक्त पौष्टिक अन्न को प्राप्त करके हमारे मस्तिष्क ज्ञान से इस प्रकार चमकें जैसे अग्नि चमकती है, और हमारे शरीर सबल होकर हमें भी सहसस्पुत्र=शक्ति-पुञ्ज बनाएँ। ३. हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण ज्ञान के उत्पत्ति-स्थल प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **महि श्रवः**=महनीय अन्न प्राप्त कराइए (श्रवः=अन्ननाम्—नि० १०।३) उसके सेवन के द्वारा हमारे जीवन को प्रशंसनीय बनाइए (श्रवः प्रशंसा—नि० ४।२४) और आपकी कृपा से हम महनीय धन को (श्रवः=धनम्—नि० २।१०) प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम गोदुग्ध का सेवन करें, शक्तिप्रद अन्नों का प्रयोग करें। इस संसार में उत्तम अन्न के द्वारा प्रशंसित जीवनवाले हों तथा प्रशस्त मार्ग से ही धन कमाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

धन+ज्ञान

सऽइधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि॥३६॥

१. **सः**=वह प्रभु **इधानः**=स्वभावतः ही ज्ञान से दीप्यमान हैं। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। प्रभु स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं। जीव को ज्ञान से दीप्त करते हैं। २. **वसुः**=ज्ञान देकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। ३. **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देते हैं। ४. विद्योपदेश देकर ही वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करते हैं, अग्रेणी होते हैं। ५. वस्तुतः ये प्रभु ही **गिरा**=इन सब वेदवाणियों से **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** यह उपनिषद् वाक्य यही तो कह रहा है कि सारे वेद उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**= सारी ऋचाएँ उस परम अक्षर में ही निषण्ण होती हैं। ६. हे **पुर्वणीक**=अनन्त सैन्य बलवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक बलवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**= धनवाले होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं धन प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह धन ज्ञान की दीप्तिवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें धन दीजिए। धन के साथ प्रकाश भी प्राप्त कराइए।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

तिग्म-जम्भ-रक्षो-दहन

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति॥३७॥

१. हे **तिग्मजम्भ**=(तिग्म-वज्र) वज्र के समान दंष्ट्रावाले अथवा तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले! **राजन्**=राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित करनेवाले राजन्! **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी! **सः**=वे आप **त्मना**=स्वयं **क्षपः**=रात्रि में (नि० १।७) **उत**=और **वस्तोः**=दिन में (नि० १।९) **उत**=और **उषसः**=उषःकालों में **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोगों को **प्रतिदह**=एक-एक को भस्म कर दीजिए। २. यहाँ 'तिग्मजम्भ' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा को राक्षसी वृत्तिवालों के लिए तीव्र दण्डवाला होना है। ३. राजा ने उचित दण्ड-व्यवस्था के द्वारा प्रजा के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करना है।

तभी तो वह 'राजा' कहलाने के योग्य होगा। ४. प्रजा के व्यवस्थित जीवन के द्वारा राष्ट्र की उन्नति करनेवाला, राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला यह राजा 'अग्नि' है। ५. यह सब कार्य उसे स्वयं करना है। ऐसा संकेत 'त्मना' शब्द कर रहा है। कर्मचारी वर्ग पर कार्यभार डालकर वह स्वयं आमोद-प्रमोद में ही न फँसे जाए। ६. राजा ने अपने इस कार्य में क्या दिन क्या रात व क्या उषःकाल सदा लगे रहना है। उसे तो 'जागृवि' बनना है। सदा जागते रहकर प्रजा का हित-साधन करना है। ७. ऐसी सब व्यवस्था होने पर ही राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति के लोग नहीं पनप पाते और राष्ट्र दिन-ब-दिन उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—राजा यथार्हदण्ड होकर राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति का अन्त करे। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

समर्पण-दान-यज्ञ-स्तवन

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः।
भद्राऽउत प्रशस्तयः ॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उत्तमता से शासित और अतएव शान्त राज्य में सब आश्रमवासी अपने-अपने कार्य में दत्तचित्त हों, और स्वकर्त्तव्य पालन के द्वारा कल्याण व सुख का सम्पादन करें। २. ब्रह्मचारियों की प्रार्थना यह हो कि **अग्निः**=मातारूपी दक्षिणाग्नि, पितारूप गार्हपत्याग्नि, आचार्यरूप आहवनीयाग्नि **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याण व सुख देनेवाला हो। हम माता-पिता व आचार्य के प्रति समर्पण कर अपना कल्याण सिद्ध करें। हम इन अग्नियों के पूर्ण अनुकूल होंगे तो अपना कल्याण अवश्य सिद्ध कर पाएँगे। माता हमें चरित्रवान् बनाएगी तो पिता आचारवान् तथा आचार्य ज्ञानवान्। इस प्रकार से तीनों हमारे जीवन को भद्र बनाएँगे। ३. अब गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! इस गृहस्थ में **रातिः**=दान की वृत्ति **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। हम धन को अपना समझें ही नहीं। वास्तव में तो यह धन है ही आपका। इस बात का स्मरण करते हुए हमें दान में किसी प्रकार का संकोच न हो। हम अपने को आपके इस धन का ट्रस्टी=धरोहर-रक्षक ही समझें और सदा दान देते हुए विषय-वासनाओं से बचकर अपने कल्याण को सिद्ध करें ४. अब तृतीयाश्रम में वनस्थ होकर हम चाहते हैं कि **अध्वरः**=हिंसा के लवलेश से शून्य यह यज्ञ **भद्रः**=हमारा कल्याण करे। वनस्थ होकर अन्य सब सम्भारों को छोड़कर हम 'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्'=अग्निहोत्र व अग्निहोत्र के अन्य साधनभूत पात्रों को लेकर ही वनस्थ हों। वानप्रस्थ में भी यज्ञों को विधिवत् करते रहें। इन यज्ञों से अपने जीवन को सदा पवित्र और कल्याणमय बनाये रक्खें। ५. **उत**=और अब चतुर्थाश्रम में **प्रशस्तयः**=हमारे से दिन-रात की गई प्रभु की प्रशस्तियाँ **भद्रः**=हमारा कल्याण करें। हम श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के गुणों का गान करें। उन गुणों के अनुरूप अपने जीवन को बनाने का निश्चय करके हम अपने कल्याण-सम्पादन में समर्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी का मूलमन्त्र 'माता-पिता व आचार्य के प्रति अर्पण' हो। गृहस्थ का दान, वनस्थ का यज्ञ तथा संन्यास का प्रभु-स्तवन ही मुख्य ध्येय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

वृत्र-तूर्य

भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये। येना समत्सु सासहः ॥३९॥

१. **भद्राः उत प्रशस्तयः**=उस प्रभु की प्रशस्तियाँ तो निश्चय से हमारा कल्याण करें ही। २. हे उपासक! तू प्रभु-शक्तियों से **भद्रम्**=उत्तम बने हुए **मनः**=अपने मन को **वृत्रतूर्ये**=पाप के नाश के लिए अथवा बुरी वृत्तियों से संग्राम के लिए **कृणुष्व**=कर। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर कि मुझे इस अध्यात्मसंग्राम में काम, क्रोध, लोभ का—ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहार (तूर्य—वध) करना है। ३. **येन**=जिस दृढ़ निश्चय के होने से ही **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=तू शत्रुओं का पराभव करता है। ढिलमिल विचार हमें किसी भी कार्य में सफल नहीं बनाता। दृढ़ निश्चय ही—संकल्प ही वह शक्ति देता है जिससे शक्तिशाली बनकर हम शत्रुओं का शातन कर पाते हैं। ४. एवं, कामादि के पराजय के लिए दो बातें बड़ी आवश्यक हैं। (क) स्तवन तथा (ख) मन में इनके नाश के लिए दृढ़ संकल्प।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करें। मन को उत्तम बनाएँ। दृढ़ निश्चय करके कामादि से संग्राम में उनका पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

विजय

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्।
वनेमा तेऽअभिष्टिभिः ॥४०॥

१. हे प्रभो! हमें गत मन्त्र में वर्णित वह 'भद्र मन' दीजिए **येन**=जिससे **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=शत्रुओं का पराभव कर सकें। २. आप कृपा करके **भूरि शर्धताम्**=नाना प्रकार से प्रभूत बल प्राप्त कराते हुए (अभिबलायमानानाम्—उ०) इन काम, क्रोध व लोभादि के **स्थिरा**=स्थिर धनुषों को **अवतनुहि**=ज्या-(डोरी)-रहित कर दीजिए, अर्थात् इनकी शक्ति को क्षीण कर दीजिए। इस पञ्चबाण (काम) के बाण मुझपर चल ही न सकें, इस प्रकार इसके धनुष को ढीला कर दीजिए। ३. हे प्रभो! **ते अभिष्टिभिः**=तेरे द्वारा इन कामादि पर किये गये आक्रमणों से **वनेम**=हम विजयी बनें (वन्=win) अथवा **अभिष्टिभिः**=अभीष्ट यागों के द्वारा **ते वनेम**=तेरा सम्भजन करें। यज्ञों के द्वारा हम आपका उपासन करें और 'त्वया स्विद् युजा वयम्'=आपको अपना साथी पाकर हम इन क्रोधादि का पराजय करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से अत्यन्त प्रबल भी इन काम, क्रोध आदि को हम जीतनेवाले बनें। इन अभिबलायमान कामादि के अस्त्र शिथिल हो जाएँ और हम इन्हें पराजित कर सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्निः अस्तम्

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्तऽआशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर ॥४१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामादि का पराजय करके **यः**=जो **वसुः**=शरीर में अपने

निवास को उत्तम बनाता है, अर्थात् शरीर को व्याधियों से शून्य और मन को आधियों से रहित करता है **तम्**=उसी वसु को **अग्निं मन्ये**=मैं अग्नि मानता हूँ, उसी को उन्नतिशील कहता हूँ। प्रभु की दृष्टि में अग्नि वही है जो आधि-व्याधिशून्य जीवनवाला है। २. ये 'अग्नि' जिन घरों में उत्पन्न होते हैं, उन घरों का लक्षण करते हुए कहते हैं कि **अस्तम्**=मैं घर उसी को कहता हूँ **यम्**=जिसकी ओर **धेनवः**=गौवें **यन्ति**=आती हैं। गृहसूक्त के शब्द स्मरणीय हैं कि 'आ धनेवः सायमास्पन्दमानाः' घरों में सायंकाल उछलती-कूदती गौवें आएँ। ३. **अस्तम्**=घर उसे मानता हूँ जिसमें **आशवः**=शीघ्रता से मार्गों के व्यापनेवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **यन्ति**=जाते हैं। घरों में गौवे हों, घोड़े हों। गौवें सात्त्विकता की वृद्धि का कारण बनती हैं तो घोड़े शक्ति की वृद्धि में साधन बनते हैं। ४. **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासः वाजिनः**=स्थिर शक्ति देनेवाले अन्न प्राप्त होते हैं। (नि=in, त्य=होनेवाले, अर्थात् स्थिर पौष्टिक, वाज=शक्ति) ५. हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे वे स्तोता मन्त्र-वर्णित घर को ही बनानेवाले हों और उन घरों में 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—घर वही है, जिसमें १. दुधारू गौवें आती हैं। २. तीव्र गतिवाले घोड़े आते हैं, और ३. सदा यज्ञ की वृत्तिवाले लोग आते हैं। इन घरों में रहनेवाला **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष वही है जिसने अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्तमता से निवास किया है।

सूचना—'नित्यासः वाजिनः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सदा यज्ञिय कर्मों के करनेवाले (वाज =A sacrificial act)।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीपंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्नि

सोऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳसुजातासः सूरयऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४२॥

१. **सः अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष वह है **यः**=जो **वसुः**=उत्तम निवासवाला है। २. **गृणे** (गृणाति)=जो नित्य प्रभु का स्तवन करता है। ३. **यम्**=जिसको **धेनवः**=दुधारू गौवें **समायन्ति**=सम्यक्तया प्राप्त होती हैं। ४. **रघुद्रुवः**=(लघुद्रवाणाः) शीघ्र गतिवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं, और जिसे ५. **सुजातासः**=शोभन जन्मवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=विद्वान् लोग **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं। ६. हे प्रभो! आप इन अग्नि बनानेवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे उस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ये सचमुच अग्नि बन सकें।

भावार्थ—उन्नतिशील व्यक्ति के लक्षण ये हैं। १. स्वस्थ बनता है, शरीर में उत्तम निवासवाला होता है। २. गौवों के दुग्ध का प्रयोग करता है। ३. विकासशील विद्वानों का सङ्ग करता है। ४. प्रभु-स्तवन के द्वारा प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अग्निहोत्र

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि।
उतो नऽउत्पुपूर्याऽउक्थेषु शवसस्पतऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४३॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=(शोभनं चन्दति आह्लादते आह्लादयति वा) उत्तम आनन्द को प्राप्त करने व करानेवाले स्तोत:! तू **उभे**=दोनों सन्ध्याकालों में **सर्पिष: दर्वी**=घृत की भरी कड़छियों को **आसनि**=अग्निकुण्ड में–प्रज्वलित अग्नि के मुख में **श्रीणीषे**=(श्रयसि आश्लेषसि–उ०) आश्रित करता है, अर्थात् घृत से अग्निहोत्र करता है। २. इस प्रकार प्रात:-सायं अग्निहोत्र करते हुए तू यही प्रार्थना करता है कि हे अग्ने! **उत उ**=और अब तू भी **न:**=हमें **उत्पुपूर्या:**=(उत्कर्षेण अन्नादिभि: पूरय–म०) उत्कृष्ट अन्नादि से पूर्ण करनेवाला हो। 'देहि मे ददामि ते'–'तू मुझे दे तो मैं भी तुझे देता हूँ,' इस अपनी प्रतिज्ञा को तू अब पूरा कर। वस्तुत: अग्निहोत्र में डाला हुआ घृतादि पदार्थ नष्ट न होकर सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। वह वृष्टि-बिन्दुओं का केन्द्र बनकर इस पृथिवी पर आता है और अन्न के एक-एक कण को पौष्टिक बना देता हे। ३. **उक्थेषु**=स्तुतियों के होने पर स्तोताओं में **शवसस्पते**=बल की रक्षा करनेवाले प्रभो! आप **स्तोतृभ्य:**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ–नियम से अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति सदा आनन्दमय जीवनवाला व सौमनस्यवाला होता है। वह अग्निहोत्र से अपने अन्न-भण्डारों को पूर्ण करता है और प्रभु-स्तवन से सशक्त बनता है।

ऋषि:–परमेष्ठी। **देवता**–अग्नि:। **छन्द:**–आर्षीगायत्री। **स्वर:**–षड्ज:॥

स्तुति+यज्ञ–शक्ति+उत्तम-संकल्प

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳहृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा तऽओहैः ॥४४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **ते ओहै:**=(तव प्रापणै:) आपको प्राप्त करानेवाले **स्तोमै:**=स्तुतिसमूहों के साथ **अद्य**=आज हम **तम्**=उस–गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ को **ऋध्याम्**=समृद्ध करें। २. उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे (न=इव) **अश्वम्**=क्रियाओं में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को। 'इन्द्रियाणि हयानाहु:'=हमारे इन्द्रियरूप अश्व खूब शक्तिशाली हों। ३. हम यज्ञ को उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे **हृदिस्पृशम्**=(हृदिस्पृशति इति) हृदय में जँच जानेवाले **भद्रम्**=शुभ **क्रतुम्**=संकल्प को। हमारे संकल्प शुभ तो हों ही, ऐसे शुभ हों कि सुननेवाले को भी जँचें, उसके हृदय पर उनका उत्तम प्रभाव हो। ४. एवं, मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट हैं कि (क) हम स्तुति करें, वह स्तुति जो हमारे जीवनों में एक विशिष्ट परिवर्तन लाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हो। (ख) इन स्तुतियों के साथ हम पिछले मन्त्र में वर्णित यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों। (ग) इन स्तुतियों व यज्ञों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ और (घ) साथ ही प्रभु-स्तवन व यज्ञों के कारण हमारे संकल्प भी सदा उत्तम हों, सुननेवाला भी उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ–हम स्तुति करें, यज्ञमय जीवनवाले हों, हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, संकल्प उत्तम हों।

ऋषि:–परमेष्ठी। **देवता**–अग्नि:। **छन्द:**–भुरिगार्षीगायत्री। **स्वर:**–षड्ज:॥

संकल्प+बल+यज्ञ

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥४५॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवन के अग्रेणी प्रभो! आप **अद्य**=अब हमारे स्तवन के बाद **हि**=निश्चय से **भद्रस्य क्रतोः**=शुभ संकल्प, प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्म के **रथीः**=सारथि के समान निर्वाहक होते हो। आप हमें शुभ संकल्प, प्रज्ञान व कर्म प्राप्त कराते हो। (क्रतु=संकल्प, प्रज्ञान, कर्म–नि० ३।५)। २. आप **दक्षस्य**=उस बल के (नि० २।५) भी प्राप्त करानेवाले हो जो बल **साधोः**=(साध्नोति) लोकरक्षा व परहित को सिद्ध करनेवाला होता है, आप हमें वह शक्ति देते हैं जो सदा उत्तम कार्यों की साधिका होती है और लोकरक्षण में विनियुक्त होती है। ३. आप उत्तम संकल्प व साधक शक्ति प्राप्त कराके **बृहतः**=सदा वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=यज्ञ के (नि० ८।२) और वस्तुतः सब ठीक कर्मों के **रथीः**=निर्वाहक **बभूथ**=होते हो।

भावार्थ–प्रभु हमें १. भद्र क्रतु=उत्तम संकल्पवाला बनाते हैं। २. कार्यसाधक शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. संकल्प और शक्ति प्रदान कर हमारी वृद्धि के कारणभूत यज्ञों के निर्वाहक होते हैं।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए पाँच बातें

एभिर्नोऽअर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽअनीकैः ॥४६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एभिः नः अर्कैः**=(अर्को मन्त्रः, अर्चन्त्येनन)=इन हमारे मन्त्रों के द्वारा–सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान के रूप में दिये गये इन मन्त्रों से तू **नः भव**=हमारा बन। प्रभुभक्त की सर्वोत्तम पहचान यही होनी चाहिए कि वह प्रभु की दी गई वाणी को पढ़ता हो। २. इस वाणी से ज्ञान प्राप्त करके तू **अर्वाङ्**=नीचा–नम्र बन। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति' ज्ञान से मनुष्य नम्र बनता ही है। 'विद्या ददाति विनयम्'=विद्या विनय देती है। 'अहंभावोदयाभावो ज्ञानस्य परमावधिः' ज्ञान की चरम सीमा अहंकार का नितान्त अभाव ही है। मूर्ख ही सर्वज्ञता का गर्व करता है। ज्ञानी अपने ज्ञान की सीमा व अल्पता को समझता हुआ गर्वित नहीं होता। ३. **स्वः न ज्योतिः**=(स्वः आदित्यः–म०) इस नम्रता के परिणामस्वरूप सूर्य के समान देदीप्यमान तेरा ज्ञान हो, अथवा तू स्वर्ण के समान चमकते हुए ज्ञानवाला हो। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वेभिः अनीकैः**=सम्पूर्ण तेजस्विताओं के साथ (अनीक=splendour, brilliance तेजस्) तू **सुमनाः**=उत्तम मनवाला हो, अर्थात् स्वस्थ तेजोमय शरीर में तू उत्तम स्वस्थ मनवाला बन।

भावार्थ–प्रभु-प्राप्ति के लिए मन्त्र में पाँच बातों का संकेत है। १. वेद-मन्त्राध्ययन, २. नम्रता, ३. सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त होना औरों को भी अपने जीवन से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराना, ४. तेजस्विता और ५. सौमनस्य।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

होता 'अग्नि' का लक्षण

अग्निꣳहोतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳसूनुꣳसहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्। यऽऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥४७॥

१. **अग्निं मन्ये**=मैं उसको अग्नि=उन्नतिशील—अग्रेणी मानता हूँ जो **होतारम्**=(हु दानादनयोः) सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का ही सेवन करता है। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को भूल नहीं जाता। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस आदेश का पालन करता है। २. **दास्वन्तम्**=दानवन्तम्=जिसके जीवन में दान की वृत्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती। ३. **वसु**=(वसति, वासयति) जो स्वयं उत्तम निवासवाला होता हुआ औरों के भी उत्तम निवास का कारण बनता है। ४. विलासवृत्ति से बचे रहने के कारण **सहसः सूनुम्**=जो बल का पुत्र—शक्ति का पुञ्ज बनता है। ५. **जातवेदसम्**=जीवन-यात्रा के लिए (जातं वेदो यस्मात्, वेदा धनम्) उचित धन को उत्पन्न करनेवाला है। ६. धनोत्पादन के साथ ही **विप्रं न**=यह विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ब्राह्मण के समान है और इसने **जातवेदसम्**=अपने में ज्ञान का विकास किया है। और ७. **यः**=ज्ञान से दीप्त जो **देवः**= दिव्य गुणोंवाला अग्निपुरुष **ऊर्ध्वया**=उत्कृष्ट, अर्थात् सात्त्विक **देवाच्या**=देवों की ओर ले-जानेवाले (देवान् अञ्चति) **कृपा**=सामर्थ्य से (कृपू सामर्थ्ये) **स्वध्वरः**=सदा उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। दिव्य गुणोंवाला तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शक्ति का प्रयोग हिंसा में नहीं करता। इसकी शक्ति इसे देव बनाती है नकि असुर। ८. **आजुह्वानस्य**= (आहूयमानस्य—उ०) शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुति दिये जाते हुए, दानपूर्वक अदन किये जाते हुए, **सर्पिषः**=घृत की **शोचिषा**=दीप्ति से, अर्थात् 'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व' इस वेदोपदेश के अनुसार घृत के उचित प्रयोग से शरीर को कान्ति-सम्पन्न बनाने से **घृतस्य**=मन की मलिनताओं के विनाश (क्षरण) तथा ज्ञान की दीप्ति की (घृ क्षरणदीप्तयोः) **विभ्राष्टिम् अनुवष्टि**=विशिष्ट चमक के बाद यह अग्नि प्रभु को प्राप्त करने की कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न बातें चाहिएँ—१. होता व दानशील बनना। २. उत्तम निवासवाला व शक्ति का पुञ्ज बनना। ३. उचित धनार्जन व खूब ज्ञानार्जन करना। ४. शक्तिशाली व देव बनकर अहिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होना। ५. घृत प्रयोग से शरीर को स्वस्थ बनाना और ज्ञान-दीप्ति से प्रभु-दर्शन की कामना करना।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्नि की अग्नि से प्रार्थना, He knocks

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४८॥

१. गत मन्त्र का अग्नि=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम मित्र हो। सभी साथ छोड़ जाएँ तो भी आप सदा साथ होते हो। मैं आपका मित्र बनूँ या न बनूँ आप तो मेरे मित्र हो ही। २. **उत**=और **त्राता**=आप ही रक्षक हो। उचित अन्नादि प्राप्त कराके आप ही मेरा त्राण करते हो। ३. **शिवः**=आप सदा मेरा कल्याण करते हो। ४. **वरूथ्यः**=आप मेरे उत्तम आच्छादन (cover) **भव**=हो। 'अमृतोपस्तरणं, अमृतापिधानम्'=आप अमृत उपस्तरण व अपिधान हो। आपको अपना आवरण पाकर ही तो मैं 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त किया करता हूँ। ५. **वसुः**=इस प्रकार आप मेरे निवास को उत्तम बनाते हो। वस्तुतः मैं आपमें ही निवास पाता हूँ। ६. **अग्निः**=आप सब प्रकार से मुझे आगे ले-चलते हो। ७. आप **वसुश्रवाः**=निवास के

लिए आवश्यक धनों के देनेवाले हो। (श्रवः=धन–नि० २।२०) आप ही निवास के लिए आवश्यक अन्नों को देते हो (श्रवः=अन्न–नि० १०।३) ८. **अच्छ**=आप सदा मेरी ओर आते हो, आते ही नहीं **नक्षि**=(knock at) मेरे द्वार को खटखटाते भी हो, परन्तु मैं अभागा उस ब्राह्ममुहूर्त में सोया ही रह जाता हूँ और आपके लिए द्वार को खोलता नहीं। बाइबल तो कहती है कि 'knock and it will be opened to you' पर वेद कहता है कि 'He knocks, be wise to open it.' परमात्मा द्वार खटखटाता है, ज़रा जाग और खोल। ९. वे परमात्मा **द्युमत्तमं रयिन्दाः**=अधिक-से-अधिक ज्योतिर्मय धन देंगे। धन देंगे, साथ ही वे ज्ञान भी प्राप्त कराएँगे। १०. हे प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=आपको जो आप **शोचिष्ठ**=अतिशयेन तेजस्वी हैं, **दीदिवः**=(ये दीदयन्ति ते दीदयाः प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन्–द०)=अतिशयेन ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, उन आपको **नूनम्**=निश्चय से **सखिभ्यः**=सब मित्रों के लिए नकि केवल अपने **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। सुख की प्रार्थना केवल अपने लिए नहीं करनी, घर में रहनेवाले पत्नी, पुत्री, भाई आदि सबके लिए यह प्रार्थना करनी है।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे अत्यन्त समीप हैं। वे हमारी रक्षा करते हैं, हमारे घरों पर आते हैं और यदि हम द्वार खोलें तो ज्ञानयुक्त धन देते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

तप

येन॒ऽऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमाय॒न्निन्धा॑नाऽअ॒ग्निꣳस्व॑रा॒भर॑न्तः।
तस्मि॑न्न॒हं निद॑धे॒ नाके॑ऽअ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑व स्ती॒र्णब॑र्हिषम्॥४९॥

१. **येन**=जिस **तपसा**=धर्मानुष्ठान से (द०) या चित्त की एकाग्रता से (मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तपः–म०) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **सत्रम्**=(सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने–द०) सत्य ज्ञान को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। २. और जिस तप से **अग्निं इन्धानाः**=प्रतिदिन अग्निकुण्ड में अग्नि का समिन्धन करते हैं। ३. जिस तप से **स्वः आभरन्तः**=स्वर्गलोक को स्वीकार करनेवाले होते हैं। ४. **तस्मिन्**=उस तप के होने पर **नाके**=मोक्षसुख के निमित्त मैं **अग्निम्**=उस–सब साधकों की उन्नति के साधक प्रभु को **निदधे**=स्थापित करता हूँ। उस प्रभु को स्थापित करता हूँ **यम्**=जिसको **मनवः**=ज्ञानी लोग **स्तीर्णबर्हिषम्**=आच्छादित किया है हृदयान्तरिक्ष को जिसने, ऐसा **आहुः**=कहते हैं। (तस्मिन् तपसि सति स्वर्गलोकनिमित्तं अग्निमहं स्थापयामि–म०) ५. 'प्रभु स्तीर्णबर्हिषम्' हैं जब हमारा हृदय उस प्रभु से आच्छादित होता है तब इस हृदय में 'सत्य, यश व श्री' का ही निवास होता है, इसमें आसुर भावनाएँ प्रवेश नहीं कर पातीं। 'अमृतोपस्तरणम्-अमृतापिधानम्' के बाद 'सत्य, यशः, श्रीः' आते हैं। उस अमृत प्रभु से आच्छादित–पूर्ण रूप से सुरक्षित हृदय में अशुभ भावनाएँ आ ही कैसे सकती हैं? ६. इस प्रभु की प्राप्ति उस तप के द्वारा ही होती है जिस तप से ऋषि सत्यज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिस तप से नियमित रूप से अग्निहोत्र होता है और जिस तप से सुख का आभरण होता है।

भावार्थ—तप से ज्ञान, यज्ञ व सुख की प्राप्ति होती है। यही तप परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनता है, उस परमात्मा की प्राप्ति का जो हृदय को आच्छादित करके आसुर वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु चरणों में (सब मिलकर)

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठेऽअधि रोचने दिवः॥५०॥

१. **देवाः**=देव बनकर, अर्थात् संसार को क्रीड़ा-स्थल समझते हुए, कामादि को जीतने की कामना करते हुए, संसार से न भागकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, ज्ञान से चमकते हुए, प्रभु का स्तवन करते हुए, सदा प्रसन्न रहते हुए, एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्त बने हुए, ऊँचे-से-ऊँचे स्वप्न लेनेवाले बनकर, उन स्वप्नों को क्रियान्वित करने की इच्छावाले और सतत गतिशील हम २. **पत्नीभिः**=पत्नियों **पुत्रैः भ्रातृभिः**=पुत्रों व भाइयों के साथ तथा **हिरण्यैः**=अपने धनों के साथ **तम्**=उस प्रभु के **अनुगच्छेम**=पीछे जाएँ, उसके अनुयायी बनें। सब मिलकर उस प्रभु के चरणों में उपस्थित हों और अपने धनों को उसके चरणों में अर्पित करें। ३. यहाँ 'भ्रातृभिः तथा पत्नीभिः' शब्द सम्मिलित परिवार (joint family) का संकेत करता है। अलग-अलग भी रहते हों तो समीप रहने से प्रार्थना के समय हम एकचित हो सकते हैं। 'हिरण्यैः' शब्द की भावना स्पष्ट है कि हम अर्जित धनों को 'अपना' न समझ 'प्रभु का दिया हुआ' ही समझें। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए धनों का विजय करते हैं। ४. इस प्रकार (क) देव बनकर (ख) सम्मिलित प्रभु-उपासना से और (ग) धनों को उस प्रभु का ही दिया हुआ समझने से हम **नाकं**=मोक्षलोक का, दुःख के लेश से भी रहित सुखमय स्थिति का **गृभ्णानाः**=ग्रहण करनेवाले हों। ५. जो सुखमय स्थिति **सुकृतस्य लोके**=पुण्यकर्मों से अर्जित लोक में होती है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति पुण्यकर्मों से होती है। **तृतीये पृष्ठे**=जो सुखमय स्थिति इस पृथिवी-पृष्ठ व अन्तरिक्ष-पृष्ठ से ऊपर उठकर तृतीय पृष्ठ में है। **दिवः अधिरोचने**=जो सुखमय स्थिति आधिक्येन दीप्यमान द्युलोक के पृष्ठ पर है। ६. इस सुखमयलोक की कामना ही **'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'**—इस मन्त्र में इस प्रकार की गई है कि मैं पृथिवी के पृष्ठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ होऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आरूढ़ होऊँ और सुखमयलोक के पृष्ठभूत इस द्युलोक से भी ऊपर उठकर मैं स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करूँ। ७. पृथिवीलोक का विजय पहला क़दम है, इसके लिए साधन विज्ञान व मधुर भाषण हैं। अन्तरिक्षलोक का विजय दूसरा क़दम है, इसके विजय के लिए साधन यज्ञात्मक कर्म हैं। द्युलोक का विजय तीसरा क़दम है, इस विजय के लिए मुख्य साधन उपासना है। एवं, यह सुखमयलोक क्रमशः 'विज्ञान, मधुर-भाषण, यज्ञ व उपासनादि' उत्तम सुकृत कर्मों से ही प्राप्य है। इस सुख में भी आसक्ति न होने पर चौथा क़दम रक्खा जाता है, हम चतुष्पात् बनते हैं (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) और प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—घर के सब व्यक्ति मिलकर प्रभु की उपासना करें। अपने धनों को प्रभु-चरणों में अर्पित करें और सुकृतों के द्वारा देदीप्यमान सुखमय स्थिति का लाभ करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्पतिः, वाचः मध्यम्

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥५१॥

१. **अयं अग्निः**=यह प्रगतिशील विद्वान् (द०) **वाचः मध्यम् अरुहत्**=वाणी के मध्य में अपने आसन पर आरोहण करता है, अर्थात् अपने स्वाध्याय (Study) के कमरे में इसके चारों ओर वाङ्मय-ही-वाङ्मय होता है, बीच में यह बैठा होता है। यह ज्ञान का ही केन्द्र बनने का प्रयत्न करता है, ज्ञान में ही विचरण करता है। २. परन्तु **भुरण्युः**=यह भरणशील भी बनता है। अपने ज्ञान के रसास्वाद में यह इतना आसक्त नहीं हो जाता कि लोकहित करना ही भूल जाए। ३. **सत्पतिः**=अपने जीवन में 'सत्' की रक्षा करता है। यह 'उत्तम कर्मों को', 'उत्तम भावना' से तथा 'उत्तम प्रकार' से करनेवाला बनता है। ४. **चेकितानः**=यह सदा चेतनायुक्त होता है, संसार में समझदारी से चलता है। ५. **पृष्ठे पृथिव्याः निहितः**=यह पृथिवी के पृष्ठ पर स्थित होता है। पृथिवी=शरीरम्। शरीररूप रथ पर यह आरूढ़ होता है। इसका शरीर इसके वश में होता है, यह स्वस्थ होता है। ६. **दविद्युतत्**=ज्ञान की दीप्ति से यह अत्यन्त देदीप्यमान होता है। ७. और **ये**=जो काम, क्रोध, लोभ आदि पाप-वृत्तियाँ **पृतन्यवः**=इसके साथ युद्ध की इच्छावाली होती हैं, अर्थात् इसपर आक्रमण करती हैं, उन्हें यह **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँवों तले कुचल डाले।

भावार्थ—अग्नि 'ज्ञानी बनता है, औरों के भरण का भी ध्यान करता है' सत्कर्मों का रक्षक व समझदार बनता है। यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ करके ज्ञान-दीप्त होता है और वासनाओं को कुचल डालता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वीरतमः

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्र याहि दिव्यानि धाम॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार शत्रुओं को पाँव तले कुचल डालनेवाला **अयम् अग्निः**=यह शत्रुदाहक प्रगतिशील व्यक्ति **वीरतमः**=सर्वोत्तम वीर है। जिसने बाह्य शत्रुओं को जीता वह 'वीर' है। जिसने अपनों को जीता तथा भौतिक कष्टों को जीता वह 'वीरतर' है। कामादि अन्तःशत्रुओं का विजेता यह 'वीरतम' है। २. **वयोधाः**=वस्तुतः जीवन का धारण तो इसी ने किया है, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ जीवन ही तो जीवन है। वासनामय जीवन भी कोई जीवन है? ३. यह सदा **सहस्रियः**=आमोद के साथ रहनेवाला है, सदा प्रसन्न रहता है (स+हस)। हास्य सदा इसके चेहरे पर स्थित होता है (always smiling)। ४. **द्योतताम्**=यह ज्ञान की ज्योति से चमकता है। ५. **अप्रयुच्छन्**=यह अपने कर्त्तव्यों में (अप्रमाद्यन्) कभी प्रमाद नहीं करता। ६. **सरिरस्य मध्ये**='इमे वै लोकाः सरिरम्'=पञ्चकोशों में अवस्थित हुआ-हुआ **विभ्राजमानः**=उस-उस कोश की शक्ति से चमकता है। ७. इस प्रकार के जीवनवाला अग्नि तू **दिव्यानि धाम**=(धामानि) दिव्य धामों को **उप प्रयाहि**=प्राप्त हो। (उप प्रयाहि स्वर्गलोकम्—श० ८।३।२।१) इस प्रकार के जीवनवाला बनकर ही तू स्वर्ग को, सुखमयलोक को प्राप्त होता है।

भावार्थ—कामादि शत्रु-विजेता अग्नि वीरतम है, उत्कृष्ट जीवनवाला है, प्रसन्न, ज्ञानी, अप्रमत्त है। इन कोशों में यह दीप्त जीवनवाला है और तभी स्वर्ग को प्राप्त करता है।

ऋषि:—परमेष्ठी। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—भुरिगार्षीपङ्क्ति:। **स्वर:**—पञ्चम:।।

तन्तु-सन्तान Rejuvenation

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुन: कृण्वाना पितरा युवानान्वाताᳪसीत् त्वयि तन्तुमेतम्॥५३॥

१. **सम्प्रच्यवध्वम्**=(सं गच्छध्वम्) तुम सब मिलकर चलो और मिलकर चलने के द्वारा २. **उप सम्प्रयात**=मेरे समीप आओ, मेरी उपासना करो। जो घर में मिलकर नहीं चल सकते, उन्हें प्रभु की उपासना का भी क्या अधिकार है? ३. हे **अग्ने**=दोषों का दहन करनेवाले विद्वन्! तुम सब **देवयानान् पथ: कृणुध्वम्**=देवयान मार्गों को करो, अर्थात् देवयान मार्ग से चलनेवाले बनो। देवताओं के मार्ग को अपनाओ। ४. **पितरा युवाना कृण्वाना**=माता-पिता को अपने उत्तम कर्मों से फिर से युवा करने के हेतु वे अग्नि में यज्ञ करते हैं। **पुन:**=फिर-फिर **पितरा**=(वाक् चैव मनश्च पितरा युवाना—श० ८।६।३।२२) पालक होने से 'पितृ' शब्दवाच्य वाणी और मन को **युवाना**=(तरुणौ अयातयामौ अथवा अन्योन्यसंगतौ—म०) तरुण—अक्षीणशक्ति तथा परस्पर सम्बद्ध **कृण्वाना**=करते हुए। ५. हे अग्ने! **त्वयि**=तुझमें **एतं तन्तुम्**=इस यज्ञ को **अन्वातांसीत्**=(अतानिषु: अनुक्रमेण विस्तारितवन्त:—म०) विस्तृत करते हैं, अर्थात् वाणी और मन के द्वारा यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन संयत रहते हैं—क्षीणशक्ति नहीं होते।

भावार्थ—हम मिलकर चलें, प्रभु के उपासक बनें, देवताओं के मार्ग पर चलें। वाणी व मन को संस्कृत करके यज्ञों का विस्तार करें। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन परिष्कृत बने रहते हैं।

ऋषि:—परमेष्ठी। **देवता**—अग्नि:। **छन्द:**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:।।

इष्टापूर्त

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳪसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥५४॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति यज्ञ का विस्तार करने पर हुई थी। उसी यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! तू **उद्बुध्यस्व**=उद्बुद्ध हो। उद्बुद्ध अग्नि ही तो हमारे घृत व सामग्री आदि पदार्थों को देवों में ले-जाएगी। २. **त्वं प्रतिजागृहि**=तू प्रत्येक घर में जागरित हो। वैदिक राष्ट्र में कोई घर ऐसा नहीं होता जहाँ अग्निहोत्र न होता हो। अग्निकुण्ड में भी दाएँ-बाएँ, पूर्व-पश्चिम व मध्य सर्वत्र अग्नि प्रज्वलित हो जाए और सामग्री को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र विस्तृत करने के लिए उद्यत हो जाए। ३. हे अग्ने! **त्वम्**=तू **अयं च**=और यह यजमान दोनों मिलकर **इष्टापूर्ते**=इष्ट और आपूर्त को **सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले होओ। यह यजमान 'इष्ट को करे', अर्थात् तेरे साथ घृत व हव्य का सम्पर्क करे। (यज्=सङ्गतीकरण) और तू उस घृत व हव्य को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके 'आ-पूर्त'=चारों ओर सारे वायुमण्डल में भर दे। ४. **अस्मिन् सधस्थे**=इस यज्ञस्थल में जोकि घर के सब व्यक्तियों का सधस्थ है, मिलकर बैठने का स्थान है तथा ५. **अध्युत्तरस्मिन्**=जोकि घर में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वेद में **'हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां**

सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले' इन शब्दों में घर में सर्वप्रथम स्थान '**हविर्धान**'= अग्निहोत्र के कमरे को ही दिया है। ६. इस सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब छोटे-बड़े व मध्यम आयुष्यवाले देव-दिव्य प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति **यजमानः च**=और घर का सबसे बड़ा यज्ञशील पुरुष भी **सीदत**=मिलकर बैठें और प्रेम से प्रभु-प्रार्थना करते हुए इस यज्ञ को सिद्ध करें।

भावार्थ—घर-घर में अग्निहोत्र हो। अग्नि में डाले हुए घृतादि पदार्थों को अग्नि सारे आकाश में भर देता है। (pours=पूरयति)। इस आपूर्ति के द्वारा यह यज्ञाग्नि वायुमण्डल को तो शुद्ध करता ही है साथ ही ये घृतादि पदार्थ सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनकर वृष्टि में भी सहायक होते हैं। यह बरसकर भूमि में होनेवाले अन्न-कणों का अंश बनते हैं और इस प्रकार फिर से हमें प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवेषु गन्तवे सहस्त्रं सर्ववेदसम्

येन वहसि सहस्त्रं येनाग्ने सर्ववेदसम्।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे॥५५॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! तू **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से हमारे दिये हुए घृतादि पदार्थों को **सहस्त्रं वहसि**=सहस्त्रगुणा करके प्राप्त कराता है और **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से तू **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है। स्वास्थ्य व सौमनस्य के साथ उत्तम अन्नादि को प्राप्त कराता हुआ यह अग्नि हमें सब धनों को प्राप्त करने के योग्य करता है। २. **तेन**=अपने उसी 'सहस्त्र वहन' व 'सर्ववेदस् वहन' के सामर्थ्य से **नः इमं यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ को—यज्ञ में डाले गये पदार्थों को **स्वः**=आदित्य तक **नय**=ले-जा, जिससे **देवेषु गन्तवे**=ये पदार्थ देवों में जानेवाले हों, वायु आदि सारे देवों को प्राप्त हों। ये वायु आदि का मानो भोजन ही बन जाए। ३. मनु के अनुसार—'**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**'= अग्नि में विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है और इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के सब देवों में पहुँच जाती है। देव मानो इस अग्निरूप मुख से इन घृतादि पदार्थों को खानेवाले बनते हैं। ४. पिछले मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि हे अग्ने! क्योंकि तू दत्तहवि को सहस्त्रगुणा करके इन सम्पूर्ण धनों को ही हमें प्राप्त करानेवाला है **तेन**=अतः **नः देवेषु**=हमारे देववृत्तिवाले—समझदार पुरुषों में **इमं यज्ञं नय**=इस यज्ञ को प्राप्त करा, वे सब इस यज्ञ को करनेवाले हों, जिससे **स्वः गन्तवे**=सुखमय स्थिति में पहुँच सकें। 'स्वर्गकामो यजेत'=यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, अतः इन यज्ञों से हमारे घर स्वर्ग बन जाएँ। ५. '**येन वहसि सहस्त्रम्**' इस मन्त्रभाग के भाव से ही कालिदास ने 'सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' ये शब्द लिखे हैं कि सूर्य जल को लेता है पर सहस्त्रगुणित-सा करके उसे फिर इस भूमि पर बरसा देता है। इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी हमारे घृतादि पदार्थों को लेती है और सहस्त्रगुणित करके हमें लौटा देती है। सारे वायुमण्डल को शुद्ध करके और हमें स्वास्थ्य व सौमनस्य देकर यह सम्पूर्ण धनों का कारण बनती है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि में डाले गये पदार्थ सहस्त्रगुणित होकर हमें फिर प्राप्त हो जाते हैं। ये हमारी सुखमय स्थिति का कारण हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रयि-वर्धन

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि 'हममें यज्ञों का प्रणयन हो', घर-घर में यज्ञ हों, प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अग्ने! अयं ते योनिः**=यह घर तो तेरा ही है। यह हमारा घर न होकर तेरा ही है। २. तू यहाँ **'ऋत्वियः'**=(ऋतौ-ऋतौ प्राप्तः) समय-समय पर प्राप्त होता है। तू यहाँ प्रातः-सायं सदा अग्निकुण्ड में उद्‌बुद्ध होता है। **यतः**=क्योंकि **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **अरोचथाः**=(रोचयसि) हम सबके जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है। जिस घर में भी तेरा प्रणयन होता है, वहाँ तू सब गृहवासियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। उनके जीवन को तू रोचक व आनन्दयुक्त कर देता है। ३. **तं जानन्**=अपने उस घर को जानता हुआ, अर्थात् घर की रक्षा को न भूलता हुआ तू **आरोह**=(पुनरुद्धरणाय प्रविश—म०) सबके उद्धार के लिए यहाँ प्रवेश कर। इस घर में तेरा स्थान सर्वोपरि हो। तू ही तो सब घरवालों का रक्षक है। ४. **अथ**=और अब हमें स्वस्थ व सुमनस् बनाकर **नः**=हमारे **रयिम्**=धन को **वर्धय**=बढ़ा। अग्नि हमारी सम्पत्ति को कम न करके बढ़ाता ही है। यह समझना कि 'पचास ग्राम घी जल गया' ठीक नहीं। वह घृत सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सर्वत्र फैल गया है, वह वायु में रोगकृमियों का नाशक बनता है, यही अग्नि का 'रक्षो-दहन' है। अग्नि हमें स्वस्थ बनाता है। ठीक समय पर वृष्टि आदि का कारण बनकर प्रचुर मात्रा में पौष्टिक अन्नों के उत्पादन का कारण बनता है। इस प्रकार हमारे धनों की वृद्धि का हेतु होता है। दवाइयों के व्यय को भी समाप्त करके हमारे धनों का रक्षक बनता है।

भावार्थ—हमारा घर यज्ञाग्नि का ही घर हो जाए—'यज्ञभवन' बन जाए। यह अग्नि हमारे स्वास्थ्य आदि का रक्षक और हमारे धनों का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—शिशिरर्तुः। **छन्दः**—स्वराडुत्कृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

तप+तपस्य=शैशिरौ ऋतू

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शैशिरावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥५७॥

१. पति-पत्नी को चाहिए कि वे **तपः च**=(तप दीप्तौ) ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। जैसे सूर्यः तपति=सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है, इसी प्रकार ये ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले हों। २. **तपस्यः च** (तपसि साधुः)=उत्तम तपस्यावाले हों। उत्तम तपस्या वही है जो शरीर को पीड़ित न करके की गई है। 'ब्रह्मचर्य' शारीरिक तप है तो 'मधुर भाषण' वाणी का तथा 'मनःप्रसाद' मन का। इन तपों में वे अग्रणी बनने का प्रयत्न करें। ३. **शैशिरौ** (शश प्लुतगतौ)=ये दोनों द्रुत गतिवाले हों। इनका जीवन क्रियाशील व स्फूर्तिमय हो। **ऋतू**=ये बड़ी नियमित गतिवाले हों। ऋतुओं के आने की भाँति ये अपने सब कार्यों को

समय पर करनेवाले हों। ४. **अग्नेः**=उस प्रभु का **अन्तः श्लेषः असि**=हृदयदेश में आलिङ्गन करनेवाला तू बनता है। ५. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**= सामर्थ्यवाले हों। ६. इसके लिए **आपः**=जल तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=हमें शक्तिशाली बनाएँ। जलों व ओषधियों का सेवन हमारे मस्तिष्क व शरीर को उत्तम व सशक्त बनाता है। ७. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः**=मेरी ज्येष्ठता के लिए समानरूप से व्रत धारण किये हुए **पृथक्**=अलग-अलग, क्रमशः पाँच, आठ व चौबीस वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=मेरे जीवन को सामर्थ्य-सम्पन्न करने में लगे रहें। ८. मेरे 'माता-पिता व आचार्य' ही क्या, **ये अग्नयः**=जो भी अग्नियाँ **इमे**=इन **द्यावापृथिवी अन्तरा**= द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में है, वे सब **समनसः**=समान मनवाली हों। सबका एक ही ध्येय हो कि आनेवाली पीढ़ी के जीवन को ज्येष्ठता तक पहुँचाना है। ९. इस प्रकार इन कर्मों से जिनके जीवन का निर्माण किया गया है वे **शैशिरौ ऋतू**=द्रुत गतिवाले तथा बड़ी नियमित गतिवाले होते हैं। १०. **अभिकल्पमानाः**=ये शारीरिक व बौद्धिक दोनों ही सामर्थ्यों का सम्पादन करते हैं। **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। तभी तो **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=इन्हें प्राप्त होते हैं। ११. इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **तया देवतया** =उस देवाधिदेव परमात्मा के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले बनकर, अर्थात् शक्ति से परिपूर्ण होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर रहो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान से चमकें, उत्तम तपस्वी हों। तीव्र गतिवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील और बड़ी नियमित गतिवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—विदुषी। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मती

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। सूर्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५८॥

१. हे पत्नि! **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के पृष्ठ पर **सादयतु**=बिठाए, अर्थात् प्रभु की कृपा से तू ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाली हो। **ज्योतिष्मतीम्**=प्रभु तेरे जीवन को ज्योतिर्मय करें। २. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=घर में तू सबके प्राण, अपान और व्यान को ठीक रखनेवाली हो। भोजनादि की उत्तम व्यवस्था से सबको नीरोग रखना पत्नी का ही कर्त्तव्य है। ३. **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=तू सबको ज्योति प्राप्त करानेवाली हो। स्वयं ज्योतिर्मय बनकर यह औरों को भी ज्ञान की ज्योति देनेवाली हो। प्रारम्भ में माता ने ही सब सन्तानों को ज्योति प्राप्त करानी है। ४. **सूर्यः ते अधिपतिः**=(सरति इति सूर्यः) निरन्तर क्रियाशील व्यक्ति ही तेरा उत्कृष्ट पति हो, अर्थात् पति का जीवन सतत क्रियाशील हो। ऐसा ही व्यक्ति गृहस्थ-सञ्चालन के लिए सम्पत्ति को कमानेवाला होता है तथा अपवित्रता को भी उत्पन्न नहीं होने देता। ५. **तया देवतया**=इस देवतुल्य अपने उत्कृष्ट (अधि-पति) पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली होती हुई तू—संयम के द्वारा शक्तिशालिनी बनी हुई तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस घर में निषण्ण हो। घर में तेरी स्थिति स्थिर हो।

भावार्थ—पत्नी का जीवन ज्योतिर्मय हो। वह सबके स्वास्थ्य का ध्यान करे। सन्तानों

को उत्तम ज्ञान देनेवाली हो। पति सूर्य की भाँति सतत क्रियाशील होकर घर का उत्कृष्ट रक्षण करनेवाला बने।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र, अग्नि व बृहस्पति

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥५९॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि तू **लोकं पृण**=प्रकाश को (लोकं=आलोकं) **पृण** (पिपूर्धि—म०) भरनेवाली हो और इस प्रकार सबको (लोकं) सुखी कर (पृण)। २. **छिद्रं पृण**=घर के दोषों को फिर से ठीक कर देनेवाली हो, छिद्र को भर दे, दोषों को दूर कर दे। ३. **अथ उ**=और अब प्रकाश को भरने व दोषों को दूर करने के साथ **त्वम् ध्रुवा सीद**=तू ध्रुव होकर यहाँ घर में रह। ४. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में **असीषदन्**=स्थापित करें—बिठाएँ, अर्थात् तेरे पति की तीन विशेषताएँ हों। (क) सर्वप्रथम वह 'इन्द्र' हो, जितेन्द्रिय हो। पति का असंयत जीवन पत्नी के जीवन पर एक ऐसा अशुभ प्रभाव उत्पन्न करेगा कि वह घर में ध्रुव होकर कभी न रह सकेगी। (ख) पति 'अग्नि' हो, उसके अन्दर गरमी व उत्साह हो। ऐसा ही पति घर की उन्नति का कारण बन सकता है और वही पत्नी के जीवन में उत्साह उत्पन्न करके उसे घर की उन्नति के कार्यों में व्यापृत रखनेवाला होता है। (ग) पति 'बृहस्पति हो, यह ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति हो। ऐसा ही पति पत्नी से उचित आदर पा सकता है और पत्नी के हृदय में अपने लिए स्थान बना सकता है। इस पति के साथ ही पत्नी अपने सम्बन्ध का ध्यान करती हुई अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है। असंयमी, उत्साहशून्य, मूर्ख पति पत्नी की स्थिरता का कारण नहीं बन सकता। 'इन्द्र' बनकर यह शरीर को सुन्दर बनाता है, 'अग्नि' बनकर मन को शक्तिशाली बनाता है, बृहस्पति बनकर यह मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। यही परमेष्ठी बनना है।

भावार्थ—पत्नी घर में अपने सौन्दर्य व ज्ञान से प्रकाश भर दे, दोषों को दूर करनेवाली हो, स्थिर वृत्तिवाली हो। पति 'जितेन्द्रिय, उत्साही तथा उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न' हो। ऐसा ही पति 'परमेष्ठी' कहला सकता है।

ऋषिः—प्रियमेधा। **देवता**—आपः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूद-दोहस

ताऽअस्य सूददोहसः सोमंꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः॥६०॥

१. उल्लिखित मन्त्र में वर्णित प्रकार के **ताः**=वे व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु के होते हैं, दैवी वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे होते हैं। २. जो **सूददोहसः**=(षूद क्षरणे throw away, दुह प्रपूरणे) दोषों को दूर फेंकनेवाले तथा गुणों का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये **सोमं श्रीणन्ति**=अपने में वीर्यशक्ति का परिपाक करते हैं। इस शक्ति के परिपाक के लिए ही ये २४, ४४ व ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ४. और **पृश्नयः**=ज्ञान की दीप्तियों का अपने से संस्पर्श करनेवाले होते हैं। (संस्पृष्टा भासाम्—नि०) ५. **देवानां जन्मन्**=ये देवों के जन्म में स्थित होते हैं, अर्थात् अपने

जीवन में अधिकाधिक दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ६. **त्रिषु विशः**=कर्म-उपासना व ज्ञान में प्रवेशवाले होते हैं अथवा धर्मार्थकाम तीनों का समरूप से सेवन करनेवाले होते हैं। ७. **दिवः आरोचने**=ज्ञान की दीप्ति में पूर्णरूप से स्थित होते हैं। अपने जीवन को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। इनके व्यवहार में कहीं भी मूर्खता नहीं टपकती। इसी से इनका नाम ही 'प्रियमेधा'=(जिनको बुद्धि प्रिय है) हो जाता है।

भावार्थ—जो प्रभु के उपासक होते हैं वे १. अवगुणों को दूर करके गुणों का ग्रहण करते हैं। २. अपनी वीर्यशक्ति को संयमी जीवन से परिपक्व बनाते हैं। ३. ज्ञान-रश्मियों से सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनते हैं। ४. दिव्य गुणों को धारण करके धर्मार्थकाम का समान रूप से सेवन करते हैं। ५. सदा ज्ञान के प्रकाश में रहते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

इन्द्र-वर्धन

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रियमेधा' ने अपने ज्ञान का वर्धन किया। उस ज्ञान-वर्धन के प्रसङ्ग में उसे अनुभव हुआ कि ये **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का ही **अवीवृधन्** =वर्धन करती हैं। अन्ततोगत्वा सब वाणियाँ उस प्रभु में ही स्थित होती हैं। इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों के वर्णन में भी उस कर्त्ता की रचना की कुशलता का उल्लेख होता है। २. उस प्रभु का ये वाणियाँ वर्णन करती हैं जो **समुद्रव्यचसम्**=(स+मुद्र) आनन्दमय तथा विस्तारवाले हैं। वस्तुतः विस्तार में ही आनन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विशालता ही सुख है। संकुचितता में निरानन्दता है। ३. उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो **रथीतमं रथीनाम्**=रथवाहकों में सर्वोत्तम रथवाहक हैं। हम भी अपने शरीररूप रथ का वाहक उस प्रभु को बनाएँगे तो यात्रा को अवश्य निर्विघ्नरूप से पूरा कर पाएँगे। ४. वे प्रभु **वाजानाम्**=सब शक्तियों के **पतिम्**=पति हैं—सब शक्तियों के स्वामी हैं। उनके सम्पर्क में आकर मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' भी शक्तियों का पति बनता है। ५. वे प्रभु **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं। सज्जन बनकर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' प्रभु का स्मरण 'इन्द्र, समुद्रव्यचस्, रथीतम, वाजपति व सत्पति' इन शब्दों से करता हुआ चाहता है कि वह भी शक्तिमान् व ऐश्वर्यशाली बने, आनन्दमय व उदार हो, अपने शरीररूप रथ का सारथि उस प्रभु को बना पाये, शक्तियों का पति बनकर अपने में सत्य को प्रतिष्ठित करे।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संवरण से ऊपर उठना

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातोऽअनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि सब वाणियाँ उस प्रभु की महिमा का वर्धन करती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र का ऋषि **वसिष्ठ**='अपने जीवन को अत्यन्त उत्तम बनानेवाला' **प्रोथत्**=(प्रोथतिः शब्दार्थः—उ०) शब्दायते=वाणियों का उच्चारण करता है। वाणियों

का उच्चारण करता हुआ उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है और उनके अनुसार अपना आचरण बनाता हुआ अपने जीवन को उच्च बनाता है। २. **अश्वः न**=यह अश्व के समान होता है। जैसे **अश्व**='अश्नुते अध्वानम्'=मार्ग का व्यापन करता है, इसी प्रकार यह भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, कभी आलस्य नहीं करता। ३. आलस्य न करने से ही यह **यवसे**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अपने जीवन में गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करने में समर्थ होता है। ४. **अविष्यन्**=वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता हुआ यह **यदा**=जब **महः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) तब यह **संवरणात्**=ज्ञानादि को आवृत करनेवाली कामादि वासनाओं से **व्यस्थात्**= अलग होकर ठहरता है। वासनाओं को परे फेंककर उठ खड़ा होता है। ये वासनाएँ संवरण व वृत्र हैं, यह ज्ञान पर पर्दा डाले रहती हैं। प्रभु-पूजन आरम्भ होते ही ये भाग खड़ी होती हैं। महादेव के सामने कामदेव भस्म हो जाते हैं। ५. **आत्**=अब **वातः अस्य अनुवाति**=वायु इसके अनुकूल बहती है, अर्थात् सारा वातावरण इसके लिए उत्तम होता है। अथवा **'वातः**=प्राणः (वायुः प्राणो भूत्वा) वात का अभिप्राय प्राण से है। अब जब प्राण भी उसके अनुकूल होता है, अर्थात् प्राण-साधना करके यह प्राणों को भी अनुकूल कर लेता है 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' प्राणापान की गति को सम कर लेता है तो **शोचिः**=यह दीप्त हो उठता है, इसका जीवन चमक जाता है। ६. हे वसिष्ठ! **अध स्म**=अब **ते व्रजनम्**=तेरी गति-चाल-ढाल **कृष्णम्**=(कर्षकम्-द०) बड़ी आकर्षक **अस्ति**=होती है। तेरा चरित्र बड़ा सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ-वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए जब हम उनके अनुसार आचरण करते हैं तब वासनाओं से बच जाते हैं। उपासक बनकर वृत्र को परे फेंक हम उठ खड़े होते हैं। प्राण-साधना करके अपने चरित्र को ऊँचा कर पाते हैं।

ऋषिः-वसिष्ठः। **देवता**-विदुषी। **छन्दः**-विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

आयु-अवन् व समुद्र

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाᳬसमुद्रस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥६३॥

१. पत्नी से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **आयोः**=(एति) गतिशील पुरुष के **सदने**=घर में **सादयामि**=स्थापित करते हैं। पति की प्रथम विशेषता यही है कि वह क्रियाशील हो, आलसी नहीं। २. **अवतः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुष की **छायायाम्**=आश्रय में तुझे स्थापित करते हैं। वासनामय वृत्तिवाला पुरुष एकपत्नीव्रत न होकर गृहस्थ को नरक-सा बना देता है। विलास के कारण वह अपनी शक्ति को क्षीण करनेवाला होता है और पत्नी को भी रोगों का घर बना देता है। ३. **समुद्रस्य**=सदा आनन्दमय स्वभाववाले (स+मुद) पुरुष के **हृदये**=हृदय में तुझे स्थापित करते हैं। खिझनेवाला पति घर को सुखी नहीं बना पाता। आर्थिक दृष्टि से भी वह घर को उन्नत बनाने में समर्थ नहीं होता। संसार में आगे बढ़ने के लिए प्रसन्न मनोवृत्ति नितान्त आवश्यक है। प्रसन्न मनोवृत्तिवाला ही पत्नी से भी उचित प्रेम कर पाता है। ४. कैसी तुझको? जो तू **रश्मीवतीम्**=लगामवाली है, कर्मेन्द्रियों को मनरूप लगाम से काबू करके ही विषयों में विचरनेवाली है तथा **भास्वतीम्**=ज्ञानेन्द्रियों के उचित व्यापार से ज्ञान की खूब दीप्तिवाली बनी है। ५. **या**=जो तू **द्याम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **आभासि**=ज्ञान से खूब दीप्त कर लेती है और जो **पृथिवीम्**=

शरीररूप पृथिवीलोक को पूर्ण स्वास्थ्य से **आभासि**=तेजस्वी बनानेवाली है तथा **उरु अन्तरिक्षम्**=अपने विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आभासि**=नैर्मल्य से चमका देती है।

भावार्थ—पति को गतिशील, वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाला व प्रसन्न स्वभाववाला होना है तथा पत्नी ने वश्येन्द्रिय व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर मस्तिष्क, शरीर व हृदय तीनों को ही दीप्त करना है।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—आकृतिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्यचस्वती-प्रथस्वती

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृꣳह दिवं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। सूर्यस्त्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६४॥

१. **परमेष्ठी**=परमस्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे सादयतु**=(दिव् कान्ति) कमनीय गृहस्थ-व्यवहार के आधार में स्थापित करे। सारे गृहस्थ-व्यवहार को सुन्दर प्रकार से चलाती हुई तू सचमुच उत्तम गृहिणी बन। २. **व्यचस्वतीम्**=तू प्रशस्त विद्याओं का व्यापन=अध्ययन करनेवाली है, इसीलिए आयुर्वेदादि शास्त्रों को जानने से तू उचित आहार के प्रापण से घर में सभी को नीरोग रखने का कारण बनती है। ३. **प्रथस्वतीम्**=(बहु प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम्) तू व्यवहार की कमनीयता व प्रशस्त विद्याध्ययन के कारण उत्तम प्रशंसावाली है। सब समाज में तेरी कीर्ति है। ४. **दिवं यच्छ**=तू अपने सन्तानों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाली बन। **दिवं दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर। **दिवं मा हिंसीः**=ज्ञान को नष्ट मत होने दे। ५. **विश्वस्मै प्राणाय**=समग्र जीवन के सुख के लिए **अपानाय**=दुःख निवृत्ति के लिए **व्यानाय**=नाना विद्याओं की व्याप्ति के लिए **उदानाय**=उत्तम बल के लिए **प्रतिष्ठायै**=सर्वत्र सत्कार की प्राप्ति के लिए और **चरित्राय**=सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रभु ने तुझे इस गृह में स्थापित किया है। तूने गृहस्थ में रहते हुए सबकी प्राणापानव्यान व उदानशक्ति की वृद्धि का कारण बनना है। ६. **सूर्यः**=सूर्य के समान निरन्तर गतिशील जो तेरे पति हैं वे **त्वा अभिपातु**=तेरी रक्षा करें। किस प्रकार? सबसे प्रथम तो (क) **मह्या**=एक सुन्दर गौ के द्वारा। घर में सबके स्वास्थ्य व सात्त्विक मनोवृत्ति को पैदा करने में गोदुग्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। (ख) **स्वस्त्या**=स्वस्ति के द्वारा। कभी यह कहने का अवसर न आये कि 'अब तो इस घर की स्थिति ठीक नहीं'। घर सदा धन-धान्य से पूर्ण हो। (ग) **शन्तमेन छर्दिषा**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाले घर से। घर का निर्माण इस प्रकार हो कि वहाँ सर्दियों में धूप का खूब प्रवेश हो और गर्मियों में धूप कम आये। घर में रहनेवालों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का अवांच्छनीय (रद्दी) प्रभाव न हो। ७. इस घर में **तया देवतया**=उस प्रभु के सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर तुम **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर निवास करो।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त विद्याओं का अध्ययन-मनन करनेवाली तथा उत्तम प्रशंसावाली व विशाल हृदयवाली हो। वह सबके प्राणापान आदि का वर्धन करनेवाली हो। पति सूर्य के समान सदा गतिशील होकर घर का रक्षण करे। घर में गौ हो, समृद्धि हो तथा घर स्वयं अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। इस घर में पति-पत्नी प्रभु का उपासन करते हुए

अपनी शक्ति को अक्षीण रखते हुए ध्रुव होकर निवास करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

साहस्त्र=सहस्त्रभक्त

सहस्त्रस्य प्रमासि सहस्त्रस्य प्रतिमासि सहस्त्रस्योन्मासि साहस्त्रोऽसि सहस्त्राय त्वा ॥६५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'तया देवतया'='उस देवता के साथ, उस देवाधिदेव प्रभु के सम्पर्क में' ये शब्द थे। उन्हीं का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि तू **सहस्त्रस्य**=सदा आनन्दस्वरूप (स+हस्) उस परमात्मा का **प्रमा असि**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। २. उसका ज्ञान प्राप्त करके **सहस्त्रस्य प्रतिमा असि**=तू उसकी प्रतिमा बना है। उस प्रभु का ही छोटा रूप बनने का तू प्रयत्न करता है। ३. उसका रूप बनने के लिए ही तू **सहस्त्रस्य**=उस सदा आनन्दमय परमात्मा का **उन्मा असि**=उत्तोलन करता है। उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ उन गुणों को अपने में लेने का प्रयत्न करता है। ४. और वस्तुतः इस प्रकार होने से ही तू **साहस्त्रः**=उस सहस्त्र प्रभु का सच्चा भक्त **असि**=बनता है। भक्त तो वही है जो भक्तिभाजन के गुणों का उत्तोलन करके उन्हें अपने में धारण करे। ५. इस सहस्त्र के भक्त बने हुए **त्वा सहस्त्राय**=तुझे मैं उस सहस्त्र प्रभु को पाने के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् प्रभु-भक्त बनकर तू उस प्रभु को पानेवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम आनन्दमय प्रभु का ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के अनुरूप बनने के लिए यत्नशील हों, प्रभु के गुणों का उत्तोलन करें और सच्चे प्रभु-भक्त बनकर प्रभु को पाने के पात्र बनें।

यहाँ पञ्चदशाध्याय की समाप्ति पर 'साहस्त्र' बनने का उल्लेख है। 'साहस्त्र' आनन्दमय प्रभु का भक्त है। यह साहस्त्र १६वें अध्याय में प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षोडशोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

मन्यु-इषु-बाहू

नम॑स्ते रुद्र म॒न्यव॑ऽउ॒तो त॒ऽइष॑वे॒ नम॑ः। बा॒हुभ्या॑मु॒त ते॒ नम॑ः ॥१॥

१. हे **रुद्र**=(रुत् ज्ञानं राति ददाति) ज्ञान देनेवाले और ज्ञान देकर (रुत्=दुःखं द्रावयति) सब दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **ते मन्यवे**=आपसे दिये जानेवाले ज्ञान के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। (क) विनीत को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और (ख) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य सब कष्टों से ऊपर उठता है। कष्टमात्र के लिए अविद्या, अज्ञान ही उर्वरा भूमि है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' (योगदर्शन)। २. **उत उ**=और अब निश्चय से **ते इषवे**=(इष् प्रेरणे) आपसे दी गई प्रेरणा का **नमः**=हम आदर करते हैं। आपसे वेदज्ञान में दी गई प्रेरणाएँ हमारे लिए कितनी उपयोगी हैं। अथर्व के प्रारम्भ में कहा गया 'वाचस्पति' शब्द 'वाणी व जिह्वा का पति बनना, इन्हें काबू में रखना' हमारे अनन्त कल्याण का कारण बन जाता है। जिह्वा के रस में न फँसकर परिमित भोजन करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठ जाते हैं और इस जिह्वा को वश में करके नपे-तुले परिमित शब्द बोलते हुए हम पारस्परिक कलहों में नहीं फँसते। आपकी एक-एक प्रेरणा हमारा अनन्त उपकार करनेवाली है। ३. **उत**=और **ते बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) आपके इन दोनों प्रयत्नों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। आपने हमें 'ऋग्वेद' के द्वारा विज्ञान दिया तो अथर्व के द्वारा ज्ञान। विज्ञान ने हमें अभ्युदय के साधन के योग्य बनाया तो ज्ञान से निःश्रेयस का पथिक। इस प्रकार हमारे जीवनों में आपने 'प्रेय व श्रेय' दोनों का समन्वय कर दिया। प्रकृति से हमने ऐहलौकिक उन्नति का साधन किया तो आत्मतत्त्व से परलोक का। इस प्रकार आपकी कृपा से हमारे जीवन में धर्म का उदय हुआ **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**। धर्म अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को ही सिद्ध करता है। धर्म के शिखर पर पहुँचनेवाला यह सचमुच 'परमेष्ठी' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि बनता है।

भावार्थ—प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान के लिए, उस ज्ञान द्वारा दी जानेवाली प्रेरणाओं, और उन प्रेरणाओं से सिद्ध होनेवाले अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए हम नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गिरिशन्त

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूरघो॒राऽपा॑पकाशिनी।
तया॑ नस्त॒न्वा॒ शन्त॑मया॒ गिरि॑शन्ता॒भि चा॑कशीहि ॥२॥

१. गत मन्त्र के ज्ञान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **रुद्र**=ज्ञान देकर दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **तनूः**=सत्योपेदेशनीति (द०)=सत्योपदेश का मार्ग है वह (क) **शिवा**=अभ्युदय व निःश्रेयस के साधन से सचमुच हमारा कल्याण

करनेवाला है। (ख) **अघोरा**=हमारे जीवनों को विषयशून्य व सौम्य बनानेवाला है। (ग) यह सत्योपदेशनीति **अपापकाशिनी**=अपापों को—सत्यधर्मों को ही प्रकाशित करनेवाली है। आपके वेदज्ञान में सत्यधर्म का ही उपदेश है। २. हे **गिरिशन्त**=(यो गिरिणा सत्योपदेशेन शं सुखं तनोति—द०) सत्योपदेश की वाणी से सुख व शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! (गिरि वाचि स्थितः शं तनोति—म०) आप इस वाणी के द्वारा परिमित भोजन का उपदेश देते हुए (आज्यं तौलस्य प्राशान=घी को तोलकर खाओ, नपा-तुला खाओ) हमें नीरोग व सुखी करते हैं तथा परिमित मधुर बोलने का उपदेश देते हुए (वाचं स्वदतु=स्वादवाली, मधुरवाणी ही बोलो) हमारे जीवनों को कलहों से ऊपर उठाकर शान्त करते हैं। आप **तया तन्वा**=उस सत्योपदेश नीति से जो **नः**=हमारे लिए **शन्तमया**=अधिक-से-अधिक शान्ति का विस्तार करनेवाली है, **अभिचाकशीहि**=हमें देखिए, हमारी रक्षा का ध्यान कीजिए (चाकशीतिः पश्यतिकर्मा—नि० ३।११ देखना=to look after ध्यान करना) ३. हे प्रभो! आप **गिरिशन्त**='गिरीश' वेदवाणी में स्थित होनेवाले तथा 'अन्त' (अमति गच्छति जानाति) सर्वज्ञ हैं। आप सब सत्यविद्याओं की आश्रयभूत, अत्यन्त सुखकारिणी इस वेदवाणी से हमारा पालन कीजिए।

भावार्थ—उस प्रभु का दिया हुआ ज्ञान 'शिव, अघोर व पुण्य का प्रकाशक' है और शन्तम=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला है। इस ज्ञान से ही प्रभु हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडार्ष्युनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अस्तवे (Broadcasting)

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥३॥

१. हे **गिरिशन्त**=वेदवाणी में स्थित होकर इस ज्ञानवाणी के द्वारा शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! **याम् इषुम्**=जिस प्रेरणा को **अस्तवे**=चारों ओर—सम्पूर्ण आकाशदेश में फेंकने (broadcast) के लिए **हस्ते बिभर्षि**=आप हाथ में धारण करते हैं। 'हाथ में धारण करना' यह प्रयोग 'ज्ञान के उपस्थित' होने का सूचक है (on the tip of fingers=सारे पाठ का अंगुलियों के अग्रभाग में उपस्थित होना) प्रभु तो ज्ञानमय हैं। इस ज्ञान के द्वारा वे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। उस प्रेरणा को मानो वे सम्पूर्ण आकाश में फैला रहे हैं। जैसे एक ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन से किसी समाचार को सारे आकाश में फेंका जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु सम्पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा को हाथ में धारण किये हुए चारों ओर फैला रहे हैं। २. यदि उस प्रेरणा को हम सुनते हैं तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होता है। हे **गिरित्र**=इस वेदवाणी में स्थित होकर हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस ज्ञान-प्रेरणा को आप हमारे लिए **शिवाम्**=कल्याणकारिणी **कुरु**=कीजिए। ३. आप उस प्रेरणा के द्वारा **जगत् पुरुषम्**=क्रियाशील पुरुष को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दीजिए। जो उस प्रेरणा के अनुसार गति करता है, उसकी हिंसा नहीं होती। हे प्रभो! आप उसे और अधिक क्रियान्वित करने के लिए भी प्रेरणा दीजिए तभी तो हम नाश से अपनी रक्षा कर सकेंगे।

भावार्थ—हे प्रभो! आप वेदवाणी के ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन हैं, मैं उसका ग्रहण करनेवाला रेडियो सेट बनूँ। उस प्रेरणा को ग्रहण करके अपना कल्याण सिद्ध कर सकूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

अयक्ष्मं+सुमना

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मःसुमनाऽअसत् ॥४॥

१. हे **गिरिश**=वेदवाणी में निवास करनेवाले प्रभो! सारी वाणियाँ आपका ही वर्णन कर रही हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। हम **शिवेन वचसा**=इस कल्याणकारिणी वेदवाणी से **त्वा अच्छ**=(अच्छ अभेदाप्तुम् इति शाकपूणिः—नि० ५।२८) आपको प्राप्त करने के लिए **वदामसि**=प्रार्थना करते हैं। अथवा इस वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाते हुए, वेदवाणी को जीवन से कहते हुए, आपको प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। आपको प्राप्त करने का उपाय यही है कि हम वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाएँ। २. **यथा**=जिससे **नः**=हमारा **सर्वं इत् जगत्**=सारा ही जगत्—हमारे सब क्रियाशील व्यक्ति **अयक्ष्मम्**=रोग से रहित तथा **सुमना**=उत्तम मनवाले=प्रसन्नचित्त **असत्**=हों। वेदवाणी के हमारे जीवनों पर दो परिणाम हैं। यह हमारे शरीरों को व्याधि-शून्य बनाती है (अयक्ष्मम्) तथा मन की आधियों को हरती है (सुमनाः)।

भावार्थ—हम अपने जीवन को वेदवाणी के अनुसार बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। हमारे शरीर व्याधियों से शून्य हों और मन आधियों से।

ऋषिः—बृहस्पतिः। **देवता**—एकरुद्रः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः।।

प्रथम दैव्य भिषक्

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥५॥

१. गत मन्त्र में आधि-व्याधियों के दूरीकरण का प्रसङ्ग था। इन आधि-व्याधियों को दूर करनेवाला **प्रथमः**=सबसे पहला **दैव्यः**=मन में दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाला तथा **भिषक्**=शरीर के रोगों का प्रतीकार करनेवाला वह प्रभु ही **अधिवक्ता**=(अधि=उपरिभाव व ऐश्वर्य का वाचक है) सबसे श्रेष्ठ उपदेष्टा है, वह गुरुओं का भी गुरु है 'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगदर्शन)। वह पूर्ण ज्ञानी होने से ऐश्वर्य के साथ, पूर्ण प्रभुत्व (full mastery) के साथ बोलनेवाला है। उसके प्रतिपादन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। २. वह प्रभु **अध्यवोचत्**=हमें आधिक्येन उपदेश करे, हमें खूब ही प्रेरणा प्राप्त कराता रहे। ३. हे प्रभो! आप हमारे मनों से **सर्वान् अहीन् च**=सब कुटिल वृत्तियों को (साँप कुटिलता का प्रतीक है) अथवा (आहन्ति) सब हिंसावृत्तियों को **जम्भयन्**=नष्ट करते हुए **सर्वाः च यातुधान्यः**=एक-दूसरे से बढ़कर पीड़ा (यातु) का आधान करनेवाली (धानी) सब बीमारियों को **अधराचीः** (अधः अञ्चति)=अधोगमनशील करके **परा सुव**=हमसे दूर कर दीजिए। ४. यहाँ 'अधराचीः' शब्द के महत्त्व को समझना चाहिए। सब रोग शरीर में मल-सञ्चित हो जाने से होते हैं। विरेचन के द्वारा इन्हें शरीर से पृथक् करना चाहिए। मल गया, रोग गया। एवं, विरेचन रोग को दूर भगाने में अत्यन्त सहायक है। ४. मलों के दूरीकरण से शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए मनों से कुटिलवृत्ति व हिंसा की वृत्ति को दूर करना है। यह स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति ही 'बृहस्पति' है, ऊर्ध्वा दिक्

का अधिपति है, यही तो सर्वोच्च स्थिति है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही अधिवक्ता हैं, प्रथम दैव्य भिषक् हैं। आप हमारे मनों से कुटिलता व हिंसा को भगाकर स्वस्थ कीजिए तथा रोगों को दूर करके शरीर की पीड़ा को दूर कीजिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजा ताम्रः अरुणः

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः।

ये चैनꣳरुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳहेडऽईमहे ॥६॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना थी कि हमारी सब 'आधि-व्याधि' दूर हो जाएँ। इन्हें दूर भगाने के लिए ही राजा एक राष्ट्र की व्यवस्था करता है। इस राज्य का मुखिया या राजा **असौ**=वह होता है **यः**=जो (क) **ताम्रः** =(ताम्रवत् कठिनाङ्गः—द०) ताम्र की तरह दृढ़ शरीरवाला होता है। अथवा 'तम्यते' (to wish, to desire) सब प्रजाओं से चाहा जाता है, अर्थात् अपने प्रजापालकत्वादि उत्तम गुणों के कारण जो सारी प्रजा का प्रिय है। यह अपने कान्त गुणों से सब प्रजा के लिए वैसे ही अभिगम्य बनता है, जैसे रत्नों के कारण समुद्र। (ख) **अरुणः**=(अग्निरिव तीव्रतेजाः—द०) जो अग्नि के समान तीव्र तेजवाला है। 'अरुणः आरोचनः' (नि० ५।२०) जो अपने तेज से सर्वतो देदीप्यमान है। उस तेज के कारण शत्रुओं से जिसका धर्षण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जैसेकि मगरमच्छों के कारण समुद्र का। (ग) वह **बभ्रुः**=प्रजा का खूब ही पालन व पोषण करनेवाला है। (घ) **सुमङ्गलः**= सदा उत्तम कल्याण को सिद्ध करनेवाला है। २. इस राजा ने राष्ट्ररक्षा के लिए कितने ही अध्यक्षों को नियत किया है। इनका कार्य (रुत्-र) प्रजा को ज्ञान देना है, प्रजा को राज्य के नियमों से भली-भाँति अवगत कराना है तथा (रुत्-द्रु) प्रजाओं के दुःखों के द्रावण के लिए (रोदयति) शत्रुओं को रुलाना है और नियम-भङ्ग करके औरों की असुविधा का कारण बननेवालों को भी पीड़ित करना है। एवं, ये अध्यक्ष 'रुद्र' हैं। ३. **ये च**=और जो **एनं अभिताः** =इस राजा के चारों ओर **रुद्राः**=वे अधिकारी लोग **दिक्षु श्रिताः**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में नियुक्त हुए-हुए हैं, **सहस्रशः**=जोकि हज़ारों की संख्या में हैं, **एषाम्**=इनके **हेडः**=क्रोध को **अव ईमहे**=(अवनयामः) हम अपने से दूर करते हैं। राज्य के नियमों के पालन का ध्यान करते हुए हम इनके क्रोध का पात्र नहीं बनते। ४. इस प्रकार उत्तम व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति, अर्थात् प्रजा का सच्चा रक्षक होता है'।

भावार्थ—राजा 'ताम्र, अरुण, बभ्रु व सुमङ्गल' हो। अध्यक्ष 'रुद्र' हों। प्रजा नियम-पालन करती हुई इनके क्रोध का पात्र न बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नीलग्रीवो विलोहित

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।

उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥७॥

१. गत मन्त्र के राजा का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **असौ**=वह **यः**=जो

अवसर्पति=अपने उच्च सिंहासन से नीचे (अव) आता है, आसन पर ही नहीं जमा बैठा रहता, अपितु (अव=away) राष्ट्र में नियत किये हुए अध्यक्षों के कार्यों को देखने के लिए दूर-दूर तक गति करनेवाला होता है। इसके इस निरीक्षण-कार्य के कारण ही अध्यक्ष प्रमत्त व रिश्वत लेनेवाले नहीं होते। २. **नीलग्रीवः**=**कल्माषग्रीवः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला यह राजा है। 'शुद्धकण्ठस्वराय' (द० १६।८) बड़े शुद्ध कण्ठ स्वर से यह युक्त है। इसकी वाणी स्पष्ट व मधुर है। यह अपने शासनों को बड़ी स्पष्टता से देता है। ३. **विलोहितः**=(विविधैः शुद्धगुणकर्मस्वभावै रोहितो वृद्धः-द०) विविध शुद्ध गुण-कर्म व स्वभावों से यह खूब बढ़ा हुआ व उन्नत है। अथवा (विशिष्टं लोहितं यस्य) विशिष्ट रुधिरवाला है। शुद्ध क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुआ है। ४. ऐसा होता हुआ भी यह प्रजाओं के लिए अनभिगम्य नहीं और तो और **एनं गोपाः उत**=इसको तो ग्वाले भी **अदृश्रन्**=देख पाते हैं-**उदहार्यः**=पानी ढोनेवाली कहारिन की भी **अदृश्रन्**=इस तक पहुँच हो सकती हैं। वे भी अपनी शिकायत को इस तक पहुँचाने के लिए इससे मिल सकती हैं। यह राजा राष्ट्र में छोटे-से-छोटे व्यक्ति की भी शिकायत सुनता है। ५. सुनकर अनसुना नहीं कर देता अपितु **दृष्टः सः**=देखा हुआ वह राजा जिसको मिलकर हमने अपनी दुःख की गाथा सुनाई है **नः मृडयाति**=हमारी शिकायतों को दूर करने की व्यवस्था करके हमें सुखी बनाता है।

भावार्थ-राजा प्रजा में विचरता है, खूब ज्ञानी व मधुर स्वरवाला है, खूब उन्नत व विशिष्ट रुधिरवाला तथा तेजस्वी है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति के लिए अभिगम्य है। वह सबकी शिकायतों को दूर करके उन्हें सुखी करता है।

ऋषिः-प्रजापतिः। **देवता**-रुद्रः। **छन्दः**-निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

सहस्राक्षा मीढ्वान्

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो येऽअस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः॥८॥

१. इस **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले अथवा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले **सहस्राक्षाय**=(चारैः चक्षुः) सहस्रों गुप्तचररूपी आँखोंवाले **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले राजा के लिए **नमः अस्तु** =आदर हो। २. राजा ज्ञानी व मधुरभाषी हो। आधिपत्य का मद उसे कठोरभाषी न कर दे। वह राष्ट्र में स्वयं घूमेगा तो सही, फिर भी प्रजा की स्थिति के ठीक परिज्ञान के लिए उसे सहस्रों गुप्तचरों को नियत करना होगा। **'चारैः पश्यन्ति राजानः'** राजा लोग गुप्तचरों के द्वारा ही आँखोंवाले होते हैं। गुप्तचरों से ठीक स्थिति को जानकर उचित व्यवस्था करते हुए ये प्रजा के जीवन को सुखी बनाएँ। ३. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **अस्य**=इस राजा के **सत्वानः**=प्राणी हैं, भृत्य हैं। बड़े अध्यक्ष 'रुद्र' हैं तो ये छोटे कर्मचारी 'सत्वानः' कहे गये हैं, 'सीदति राष्ट्रं येषु'=इन्हीं में राष्ट्र निषण्ण होता है, ये ही राष्ट्र की उत्तम स्थिति करने में सबसे अधिक सहायक हैं। **अहम्**=मैं **तेभ्यः**=इन सिपाही आदि छोटे कर्मचारियों का भी **नमः अकरम्**=उचित आदर करता हूँ। हमें चौराहे पर खड़े पुलिसमैन का भी आदर करना चाहिए। उसके दिये गये संकेत को हम न मानेंगे तो अवश्य दुर्घटना कराके अपने को घायल कर लेंगे, अतः हमें जैसे 'रुद्रों' का आदर करना है, वैसे ही इन 'सत्वानः' का भी आदर करना चाहिए।

भावार्थ-राजा चार-चक्षु होता है। प्रजा की स्थिति को उनके द्वारा जानकर वह

उचित व्यवस्था से सुखों का वर्षक होता है। व्यवस्था के लिए नियत उसके कर्मचारियों का भी हमें उचित आदर करना चाहिए।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—रुद्र:। **छन्द:**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वर:**—ऋषभ:॥

धनुः प्रमोचन

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्। याश्च ते हस्तऽइषवः परा ता भगवो वप॥९॥

१. राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'भगव:' शब्द से सम्बोधन किया है। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'** इस वाक्य के अनुसार राजा ने राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाना है, राष्ट्र में धर्म व शक्ति की वृद्धि करनी है। राष्ट्र को यशस्वी बनाना है, श्रीसम्पन्न करना है। राष्ट्र के लोगों में ज्ञान का विस्तार करके उन्हें विषयों के प्रति अनासक्त बनाना है। **भगव:**=हे ऐश्वर्यादि के साधक राजन्! **त्वम्**=तू **धन्वनः उभयोः आर्त्न्योः**=धनुष की दोनों कोटियों पर **ज्याम्**=डोरी को, प्रत्यञ्चा को **प्रमुञ्च**=(put on) धारण कर, अर्थात् अपने धनुष को, अस्त्रों को ठीक-ठाक कर। २. **च**=और **ते हस्ते**=आपके हाथ में **या इषव:**=जो बाण हैं, **ता:**=उन्हें **परावप**=सुदूर शत्रुओं पर फेंक। यहाँ 'परा' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि राजा ने अस्त्रों का प्रयोग दूर शत्रुओं पर ही करना है न कि समीप अपनी ही प्रजाओं पर। अस्त्रों का प्रयोग शत्रुओं को दूर करने के लिए होना चाहिए, प्रजा की भावनाओं को कुचलने के लिए नहीं।

भावार्थ—राजा का धनुष शत्रुओं के निधन का कारण बने। शत्रुओं से देश को सुरक्षित कर राजा राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला हो।

ऋषि:—प्रजापति:। **देवता**—रुद्र:। **छन्द:**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

विज्यं धनुः आभुःनिषङ्गधिः

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ऽउत।
अनेशन्नस्य याऽइषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः॥१०॥

१. शत्रुओं को दूर भगाकर **कपर्दिनः**='केन . सुखेन परं पूर्तिं ददाति'=प्रजाओं में सुख-विस्तार से तृप्ति देनेवाले, प्रजाओं में सुख को फैलानेवाले इस राजा का **धनुः**=धनुष, अब शत्रु-विजय के बाद **विज्यम्** =ज्यारहित हो जाता है। शत्रुओं को मारने के लिए गत मन्त्र में जिस धनुष पर ज्या को चढ़ाया था, वह धनुष अब विजय के बाद उतारी हुई ज्यावाला कर दिया गया है। २. **उत**=और **बाणवान्**=वह धनुष जोकि अब तक उत्तम बाणोंवाला था, अब **विशल्यः**=शल्यों से रहित हो गया है। ३. **अस्य**=इसके **याः इषवः**=जो शत्रु-शातन करनेवाले शर थे, वे सब अब **अनेशन्**=(णश् अदर्शन) अदृष्ट हो गये हैं। उन्हें अस्त्रागार में सुरक्षित रख दिया गया है। ४. **अस्य**=इसका **निषङ्गधिः**=(निषज्यते इति निषङ्गः खड्गः तद्यस्मिन् धीयते) म्यान, जिसमें कि अब तक तलवार विद्यमान थी, वह अब **आभुः**=रिक्त-खाली है। तलवार को भी ठीक-ठाक व तेज़ करने के लिए म्यान से निकाल कर अलग रख दिया गया है। ५. संक्षेप में, शत्रु को जीतकर यह राजा अब 'न्यस्तसर्वशस्त्र' हो गया है। अपनी प्रजा पर इसने अस्त्रों का प्रयोग थोड़े ही करना है।

भावार्थ—प्रजा में सुख-सञ्चार करनेवाले राजा का अस्त्रागार शत्रुओं के संहार के लिए है, प्रजा पर अत्याचार के लिए नहीं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मीढुष्टम

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः। तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज॥११॥

१. शत्रुओं के नाश व प्रजाओं के कल्याण के द्वारा यह राजा प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। हे **मीढुष्टम**=अधिक-से-अधिक सुखों के वर्षक राजन्! **या**=जो **ते**=तेरा **हेतिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला वज्र (नि० २।२०) है और **ते हस्ते**=तेरे हाथ में जो **धनुः बभूव**=धनुष है। २. **तया**=उस **अयक्ष्मया**=(नास्ति यक्ष्मा यस्य) सब रोगों—उपद्रवों को दूर करनेवाले अस्त्र से **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **त्वं परिभुज**=आप परिपालित कीजिए। ३. राजा प्रान्तभागों पर इस प्रकार सशस्त्र सैन्य को सन्नद्ध रखता है कि राष्ट्र में किसी प्रकार का शत्रुजनित प्रकोप न हो, शान्त—बीमारियों से रहित राज्य में ही प्रजा उन्नत हो पाती है।

भावार्थ—'मीढुष्टम' वह राजा है जो हाथ में धनुष लिये हुए चारों ओर से होनेवाले आक्रमणों से राष्ट्र को सुरक्षित रखता (करता) है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

धन्वनो हेतिः इषुधिः

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो यऽइषुधिस्तवारेऽअस्मन्निधेहि तम्॥१२॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरा **धन्वनः हेतिः**=धनुष-सम्बन्धी नाशक बाण **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिवृणक्तु**=शत्रु-संकट से मुक्त करे (परिवर्जयतु—उ०), अर्थात् सब प्रान्तभाग इस प्रकार शस्त्र-सन्नद्ध सेना से युक्त हों कि कोई भी शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके। राजा के ये शत्रु-शातक तीर हमें शत्रु-संकट से सदा सुरक्षित रक्खें। २. परन्तु हे राजन्! **अथ उ**=अब यह **यः**=जो तेरा **इषुधिः**=बाणों के रखने का तूणीर (तरकस) है **तम्**=उसे **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर ही **निधेहि**=रख, अर्थात् तेरे ये बाण अपनी प्रजा पर ही न चलने लगें।

भावार्थ—अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग शत्रुओं के शातन के लिए हो। अस्त्र-शस्त्रों को प्रजा से दूर ही रखना है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शतेषुधि

अवतत्य धनुष्ट्वꣳसहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव॥१३॥

१. हे शत्रुओं के विजेता **सहस्राक्ष**=गुप्तचररूपी हज़ारों आँखोंवाले! गुप्तचरों के द्वारा प्रजा की स्थिति या शत्रुओं की गतिविधि को भली प्रकार देखनेवाले! **शतेषुधे**=शत्रु-संहार के लिए अनन्त—बहुत अधिक तरकसोंवाले, अर्थात् अक्षीण अस्त्र-शस्त्रवाले राजन्! अब शत्रुओं को जीतकर **त्वम्**=तू **धनुः अवतत्य**=धनुष पर से डोरी को उतारकर और **शल्यानाम्**=बाणों के **मुखा**=मुखों को, अग्रभागों को, अर्थात् उनके फलाग्रों को **निशीर्य**=शीर्ण करके

नः=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला और **सुमना भव**=शोभन मनवाला हो। २. विजय से प्रसन्न राजा प्रजाओं से उत्साहित व अभिनन्दित किया जाता हुआ, प्रजाओं के कल्याण को सिद्ध करनेवाला हो। वह प्रसन्न मनवाला तथा उत्साहपूर्वक राजकार्य करनेवाला बने। शत्रु-विजय के लिए इसके शस्त्र पर्याप्त हों, अनन्त हों, परन्तु प्रजा पर अत्याचार के समय वे कुण्ठित हों।

भावार्थ—१. राजा शत्रु की गतिविधि के ज्ञान के लिए शतशः गुप्तचरों को नियत करता है, अनन्त अस्त्र-शस्त्रों को सुसज्जित करता है। एवं, राजा शत्रु के लिए भयंकर है, २. परन्तु प्रजा के लिए निरस्त्र होकर कल्याणकर व शोभन मनवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अनातत आयुध

नम॑स्तऽआयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑। उ॒भाभ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्यां॒ तव॒ धन्व॑ने॥१४॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरे **धृष्णवे**=धर्षणशील-शत्रुसंहार में निपुण, पर **अनातताय**=जिसकी धनुष पर आरोपित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, ऐसे उस **आयुधाय**=आयुध के लिए-शस्त्र-समूह के लिए अथवा जो प्रजा को दबाने के लिए कभी धनुष पर आरोपित नहीं किया जाता, उस आयुध के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, उसके महत्त्व की प्रशंसा करते हैं। २. हे राजन्! **उत**=और **ते**=तेरे **उभाभ्याम्**=दोनों **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों के लिए, अर्थात् बाह्यशत्रुओं के नाश तथा प्रजा-रक्षणरूप प्रयत्न के लिए **नमः**=हम तेरा आदर करते हैं। ३. इन दोनों प्रयत्नों में सहायभूत **तव धन्वने**=तेरे इस धनुष के लिए हम आदर करते हैं। ४. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'आयुधाय' शब्द से आयुधों का होना तो आवश्यक है परन्तु 'अनातताय' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि यथासम्भव इनका प्रयोग न ही करना पड़े। ५. 'उभाभ्यां बाहुभ्यां' इन शब्दों से राजा के इन दोनों मौलिक कर्त्तव्यों का भी स्पष्ट प्रतिपादन है कि (क) उसने युद्ध द्वारा शत्रुओं को जीतना है, उनके आक्रमणों से देश की रक्षा करनी है, और (ख) प्रजा की अन्तः उपद्रवों से भी रक्षा करनी है। 'सेना पहला कार्य करेगी,' तो राजपुरुष (police) दूसरे कार्य को। राजा के ये दोनों कार्य आदरणीय होते हैं। इन कार्यों के साधक अस्त्र भी आदृत होते हैं।

भावार्थ—हम 'शत्रुनाशक, राष्ट्ररक्षक' राजा का आदर करें। राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति' कहलाने योग्य है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सर्वरक्षण

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ऽअर्भ॒कं मा न॒ऽउक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ऽउक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॒ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॒ रुद्र रीरिषः॥१५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर अपने जीवनों को उत्तम बनाकर हम प्रभु से-प्रार्थना करें हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले और उस ज्ञान के अनुसार आचरण करनेवालों के दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **महान्तम्**=बड़े पुरुष को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए। आपकी कृपा से उनके दीर्घ जीवन के परिणामस्वरूप हमारे सिरों पर उनकी छत्रछाया बनी रहे। २. **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटों को भी **मा रीरिषः**=मत हिंसित

कीजिए। बड़ों के निर्देश व निरीक्षण छोटों के कल्याण का कारण होते ही हैं। ३. **नः**= **उक्षन्तम्**=गृहस्थ में नव प्रवेशवाले—सन्तति के लिए वीर्यसेक्ता तरुण को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वे संयमी जीवनवाले होकर दीर्घ जीवी बनें। ४. **उत**=और **नः**=हमारे **उक्षितम्**=सिक्त, गर्भस्थ बालक को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वीर्यसेक्ता के परिपक्व वीर्यवाला होने पर गर्भस्थ सन्तान कभी विपन्न नहीं होती। ५. **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता को **मा वधीः**=मत विपन्न कीजिए। पिता के चले जाने पर घर का रक्षण कैसे होगा? ६. **उत**=और **मातरं मा वधीः**=हमारी माता को भी सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः उसे सन्तानों में कुल-धर्मों की परम्परा को सुरक्षित करना है, सन्तानों के चरित्र का निर्माण माता ने ही करना है। ७. हे रुद्र! आप **नः**=हमारे **प्रियाः तन्वः**=जिनका तर्पण किया गया है (प्रीञ् तर्पणे) उचित भोजनादि के द्वारा जिनका ठीक पोषण किया गया है, जिन्हें हमने स्वास्थ्य की कान्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न किया है, उन हमारे प्रिय शरीरों को **मा रीरिषः**=मत हिंसित होने दीजिए। ८. 'रुद्र' राजा का सेनापति भी है जो शत्रुओं को रुलाने का कारण बनता है। युद्ध के अवसर पर उन 'योद्धा लोगों को चाहिए कि वृद्धों, बालकों, युद्ध न कर रहे युवकों, गर्भों, योद्धाओं के माता-पिताओं, सब स्त्रियों, युद्ध के देखनेवालों और दूतों को न मारें' (द०)। यदि ये लोग कैदी बनाये जा सकें तो इनको वश में रक्खें, परन्तु मारें नहीं। सेनापति 'कुत्स' है (कुथ हिंसायाम्) वह राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करता है, परन्तु युद्ध में भाग न लेनेवालों को नहीं मारता।

भावार्थ—प्रभु हम सबका रक्षण करनेवाले हैं। हमें भी चाहिए कि युद्ध उपस्थित होने पर भी युद्ध में भाग न लेनेवालों का हम संहार न करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

हविष्मान् की आराधना

मा नस्तोके तनये मा नऽआयुषि मा नो गोषु मा नोऽअश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥१६॥

१. **नः**=हमारे **तोके**=पुत्र के विषय में **मा रीरिषः**=हिंसा मत कीजिए। **तनये**=वंश का विस्तार करनेवाले पौत्र के विषय में भी हिंसा न कीजिए। २. **नः आयुषि**=हमारे जीवन के विषय में भी हिंसा न कीजिए तथा ३. **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों के विषय में **नः**=हमारे **अश्वेषु**=घोड़ों के विषय में (गोऽजाव्यादिषु, तुरङ्गहस्त्युष्ट्रादिषु—द०) गौ, बकरी, भेड़ आदि तथा घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि को **मा रीरिषः**=हिंसित मत कीजिए। ४. हे **रुद्र**=शत्रुओं के रुलानेवाले! तू **नः**=हमारे **भामिनः वीरान्**=(shining, beautiful) तेजस्वी, स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाले वीरों को **मा वधीः**=मत नष्ट कर। ५. **हविष्मन्तः**=हवि=बचे हुए को खानेवाले होकर **सदम् इत्**=सदा ही हम **त्वां हवामहे**=आपकी प्रार्थना करते हैं। प्रभु की उपासना 'हविवाले' बनने से ही होती है। ६. रुद्र की भावना सेनापति की लेने पर अर्थ होगा **हविष्मन्तः**=देव पदार्थों को लेकर **सदम्**=न्याय में आसीन **त्वा**=तुझे **इत्**=निश्चय से **हवामहे**=(स्वीकुर्महे) स्वीकार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारे पुत्र-पौत्र दीर्घजीवी हों। हमारे गवादि पशु सुरक्षित हों। हमारे तेजस्वी युवक असमय में न चले जाएँ।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नमः=आदर

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥१७॥

१. राष्ट्र में सबसे पहले हम **हिरण्यबाहवे**=हितरमणीय प्रयत्नवाले (हिरण्य=हितरमणीय, बाहू प्रयत्ने) अथवा भुजाओं में शक्ति को धारण करनेवाले (द०) अथवा (हिरण्यालंकार-भूषितबाहवे) स्वर्णाभूषण से अलंकृत भुजावाले **सेनान्ये**=सेनापति के लिए **नमः**=आदर देते हैं। उस सेनापति के लिए जो **दिशां च पतये**=राष्ट्र की सब दिशाओं में रक्षा करनेवाला है, हम **नमः**=नमन करते हैं। एवं, सेनापति का कार्य राष्ट्र-रक्षा करने के लिए सदा हित-रमणीय प्रयत्नों में प्रवृत्त रहना है। २. उन **वृक्षेभ्यः**=वृक्षों के लिए जो **हरिकेशेभ्यः**=हरित वर्ण के पत्र-केशोंवाले हैं, अथवा जिनमें हरणशील सूर्य-किरणें प्राप्त हैं, (द०) **नमः**=हम आदर करते हैं, इस बात का हम पूर्ण ध्यान करते हैं कि राष्ट्र में वृक्षों की कमी न हो जाए। इन वृक्षों के साथ **पशूनां पतये नमः**=राष्ट्र के उस अधिकारी का भी हम आदर करते हैं जो पशुओं का रक्षण करता है, जो राष्ट्र में गवादि उत्तम पशुओं की कमी नहीं होने देता। सेनापति ने देश की सब दिशाओं से रक्षा करनी है तो वनाध्यक्ष ने वृक्षों का रक्षण करना है और पशुओं के अध्यक्ष ने राष्ट्र की पशु-सम्पत्ति को नष्ट नहीं होने देना। ३. हम **शष्पिञ्जराय**=(शडुत्प्लुतं पिञ्जरं बन्धनं येन-द०) विषयादि के बन्धनों से पृथक् **त्विषीमते**=(बह्व्यस्त्विषयो न्यायदीप्तयो विद्यन्ते यस्य-द०) न्याय के प्रकाशों से युक्त राष्ट्र के न्यायाधीश के लिए **नमः**=नतमस्तक होते हैं। उस न्यायाधीश के लिए जो **पथीनां पतये**=न्याय के द्वारा मार्गों का रक्षक है हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। जिस भी राष्ट्र में दण्ड का प्रणयन न्यायपूर्वक होता है, उस राष्ट्र में ही प्रजा धर्म के मार्ग पर चलती है। 'दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः'=न्याय-प्रणीत दण्ड को ही विद्वान् लोग धर्म का रक्षक जानते हैं। ४. अन्त में **नमः**=उसका हम आदर करते हैं जो **हरिकेशाय**=प्रजाओं के दुःखहरण से 'हरि' है, सुखप्रापण से 'क' और न्यायशासन करने से 'ईश' है। **उपवीतिने**=प्रशस्त यज्ञोपवीतवाले के लिए, अर्थात् जिसने उपवीत के तीन तारों को धारण करते हुए तीन व्रत लिये हैं कि (क) शरीर को वज्रतुल्य बनाऊँगा। (ख) मन की वासनाओं को छेदने के लिए 'परशु' बनूँगा। (ग) मेरा जीवन अविच्छिन्न ज्ञान का होगा (अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव)। उसके लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **पुष्टानां पतये**=(पुष्+क्त भावे)=सब पोषणों का पति है। शारीरिक, मानस व बौद्ध पोषण करनेवाला है, इस आदर्श राष्ट्रपुरुष, के लिए भी हम आदर देते हैं। ५. सेनापति, वनाध्यक्ष, पश्वाध्यक्ष, न्यायाधीश व मुख्य राष्ट्रपुरुष, अर्थात् राजा ये सब 'कुत्स' हैं, ये सब राष्ट्र की खराबियों को दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र के मन्त्र-वर्णित अधिकारियों के उचित आदर से राष्ट्रोन्नति में सहायक हों।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

अन्न-क्षेत्र-वन

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥१८॥

१. **बभ्लुशाय** (बभ्लुषु राज्यधारकेषु शेते कर्मसु—द०)=सदा राज्यधारक कर्मों में निवास करनेवाले, **व्याधिने** (विध्यति—उ०)=शत्रुओं का वेधन करनेवाले के लिए, राष्ट्र-रक्षा के लिए शत्रुओं का संहार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शत्रु-संहार के साथ **अन्नानां पतये**=अन्नों के रक्षक के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं। राजा ने जहाँ शत्रु-संहार के लिए सेना व अस्त्रादि पर ध्यान देना है वहाँ उसने अन्न की भी पूर्ण व्यवस्था करनी है। शत्रुओं से बची हुई प्रजा कहीं अन्न-संकट का शिकार न हो जाए। राष्ट्र में गोलियाँ-ही-गोलियाँ (bullets and bullets) न हों, भोजन (bread) भी हो। २. **भवस्य**=संसार के ऐश्वर्य की (भूतिः भव=ऐश्वर्य) **हेत्यै**=(हि वृद्धौ) वृद्धि करनेवाले का हम **नमः**=आदर करते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाए और इस ऐश्वर्य वृद्धि के द्वारा **जगतां पतये नमः**=क्रियाशील पुरुषों की रक्षा करनेवाले के लिए हम नतमस्तक होते हैं। राष्ट्र में कोई भी आलसी, अकर्मण्य व याचक नहीं होना चाहिए। ३. **रुद्राय**=शत्रुओं के रुलानेवाले **आततायिने**=(आ समन्तात् ततं शत्रुदलमेतुं शीलमस्य—द०) चारों ओर फैले हुए शत्रुदलों पर आक्रमण करनेवाले के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, परन्तु साथ ही **क्षेत्राणां पतये**=अन्न-क्षेत्रों की रक्षा करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। शत्रुनाश के साथ क्षेत्रों के नाश होने पर शत्रुनाश से बची हुई प्रजा अन्नाभाव से मृत हो जाएगी। ४. अन्त में **सूताय**=उत्तम प्रेरणा देनेवाले और उस उत्तम प्रेरणा के द्वारा **आहन्त्यै**=न नष्ट होने देनेवाले धर्माध्यक्ष को **नमः**=हम आदर देते हैं। अथवा **सूताय** =उस सारथि के लिए जो **आहन्त्यै**=(हन्=गति) युद्ध में सर्वत्र घोड़ों को ले-जानेवाला है हम आदर देते हैं और **वनानाम्**=(Those who win) विजेताओं के **पतये**=मुखिया के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। अथवा **वनानाम्**=(वन=light) प्रकाश की किरणों के **पतये**=स्वामी के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानियों के लिए हम आदर देते हैं। वन 'शब्द का अर्थ घर' भी है। राष्ट्र में घरों के पति (Housing administrator) के लिए हम आदर देते हैं, उस अध्यक्ष के लिए जिसका काम घरों की उचित व्यवस्था करना है। अथवा वनों—जङ्गलों के रक्षक का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र-रक्षक पुरुषों का उचित आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराडतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

शिल्पी-कृषक-व्यापारी

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नमऽ उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥१९॥

१. **रोहिताय**=(वृद्धिकराय—द०) राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ानेवाले **स्थपतये**=गृहादि के बनानेवाले शिल्पियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। इसी शिल्प की उन्नति के लिए **वृक्षाणां पतये**=शिल्पोपयोगी काष्ठों को प्राप्त करानेवाले वृक्षों के रक्षकों का **नमः**=हम आदर करते हैं। घर आदि के निर्माण में लकड़ी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, घर का सारा परिच्छद (Furniture) लगभग इसी पर आश्रित है। २. **भुवन्तये**=भुवं तनोति=कृषि-योग्य भूमि का विस्तार करनेवाले के लिए, भूमि जोतनेवाले के लिए, और इस प्रकार **वारिवस्कृताय** (वरिवः=धनं वरिवस्कृदेव वारिवस्कृतः स्वार्थे अण्) धन के उत्पादक के लिए **नमः**=हम

नमस्कार करते हैं। इस कृषि के द्वारा **ओषधीनां पतये**=विविध ओषधियों के रक्षक व स्वामी के लिए हम **नमः**=आदर देते हैं। यहाँ 'भुवन्तये' शब्द से साम्राज्य-वृद्धि की भावना लेना उपयुक्त नहीं। ३. अब शिल्प व कृषि से उत्पन्न पदार्थों को विचारपूर्वक मण्डियों (Market) में ले-जानेवाले **मन्त्रिणे**=विचारशील **वाणिजाय**=व्यापारी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं और व्यापार की रक्षा के लिए **कक्षाणां पतये** (कक्ष=Gate)=सब द्वारों के रक्षकों का हम **नमः**=आदर करते हैं। इन द्वारों की रक्षा न होने पर तस्कर-व्यापार (Smuggling) बढ़ जाता है। इसके रोकने के लिए देश में प्रविष्ट होने के साधनभूत सब द्वारों की रक्षा होनी चाहिए। कक्ष शब्द का अर्थ 'वनलतागुल्मवीरुध आदि' भी है। इनसे नाना प्रकार की ओषधियों का निर्माण होता है, अत: इनके रक्षक का हम आदर करते हैं। ४. 'कक्ष' का अर्थ सामन्त (border) प्रदेश भी है। व्यापार की रक्षा के लिए और विशेषत: तस्कर व्यापार को रोकने के लिए सामन्त देश में नियुक्त सेना का जो सेनापति है जो **उच्चैःघोषाम्**=खूब गर्जती हुई आवाज़वाला है और **आक्रन्दयते**=युद्ध में शत्रुओं का सामना करनेवाला है तथा **पत्तीनां पतये**=जो पत्तियों का स्वामी है उसका हम आदर करते हैं। 'एको रथो गजश्चाश्वस्त्रयः पंच पदातयः। एष सेनाविशेषोऽयं पत्तिरित्यभिधीयते'=एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े, पाँच प्यादे—ये मिलकर 'पत्ति' कहलाती है। सामन्त प्रदेश में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की पत्ति की व्यवस्था होती है। इन पत्तियों के स्वामी को हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में 'शिल्पी, कृषक या व्यापारी' ये सब उचित आदर पाएँ तथा प्रान्तभाग पर रक्षा के लिए नियत पत्तियों के पति का भी हमें आदर करना है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—अतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

रक्षक पुरुष

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनऽआव्याधिनीनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ॥२०॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रान्तभाग पर नियुक्त रक्षकों के आदर' से हुई थी। उसी प्रसङ्ग को आगे कहते हैं कि **कृत्स्नायतया**=पूर्णरूप से (कृत्स्न) आयत खेंचे हुए आकर्णपूर्ण धनुष् के साथ **धावते**=रक्षा के लिए इधर-उधर भागते हुए अथवा सबके (आय) लाभ के दृष्टिकोण से गति करते हुए **सत्वनां पतये**=प्राणियों के रक्षक का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहमानाय**=(अरीन् सहते अभिभवति) शत्रुओं का पराभव करनेवाले **निव्याधिने**=(नितरां विध्यति) शत्रुओं का खूब वेधन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, और **आव्याधिनीनाम्**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली शूर सेनाओं के **पतये**=पति का **नमः**=हम आदर करते हैं। **निषङ्गिणे**=तलवारवाले के लिए (द०) अथवा बाण, असि, बन्दूक, तोप व तोमर आदि शस्त्रवाले के लिए **ककुभाय**=महान् के लिए (द०), प्रसन्नमूर्त्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **ककुभाय** =जो देखने में शानदार (Grand) लगता है, उसके लिए, और **स्तेनानां पतये**=अन्याय से परस्व—पराये धन को लेनेवालों को (पातयिष्णवे—द०, दण्डादिशोषकाय) दण्डादि से शोषित करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। ४. **निचेरवे**=(नितरां पुरुषार्थे चरति—द०) निरन्तर पुरुषार्थ के साथ विचरनेवाले **परिचराय**=धर्म, विद्या, माता-पिता, स्वामी व मित्रादि की सेवा करनेवाले के लिए तथा **अरण्यानां पतये**=अरण्य में निवास

करनेवाले वानप्रस्थों के रक्षक के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—चोरों व शत्रुओं से बचाकर सब वनस्थों की रक्षा करनेवाले राजपुरुषों को हम उचित आदर देते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

वञ्चन् परिवञ्चन

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥२१॥

१. (क) **वञ्चते**=गति करनेवाले के लिए और **परिवञ्चते**=राष्ट्र में सर्वत्र विचरनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। राजपुरुष व राजा वही ठीक है जो कुर्सी पर ही न बैठा रहे, अपितु सर्वत्र घूमे। सर्वत्र घूमकर **स्तायूनाम्**=चोरों को **पतये**=दण्डप्रहार से गिरानेवाले का हम **नमः**=आदर करते हैं। स्तेन और स्तायु में यह भेद है कि घर में सेन्ध आदि लगाकर रात्रि में द्रव्यहरण करनेवाला 'स्तेन' है, अपने ही नौकर-चाकर दिन-रात अज्ञातरूप से द्रव्यहरण करनेवाले 'स्तायु' हैं। (ख) 'वञ्चते' का अर्थ छल से पर-पदार्थों का हरण करनेवाला भी है तब 'परिवञ्चते' का अर्थ होगा सब प्रकार से कपट के साथ व्यवहार करनेवाला। इनके लिए **नमः**=(वज्रादिशस्त्रप्रहरणम्—द०) वज्रादि शस्त्रों से प्रहार हो। २. **निषङ्गिणे**=चोरों से रक्षा के लिए तलवार आदि अस्त्रों का धारण करनेवाले का **इषुधिमते**=उत्तम तरकसवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं और **तरस्कराणां**=डाकुओं का **पतये**=पतन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **सृकायिभ्यः**=वज्र के साथ गति करनेवालों के लिए (सृकेण एतुं शीलं येषाम्) और उस वज्र से **जिघांसद्भ्यः**=शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छावालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। भ्रमण करते हुए, गश्त लगाते हुए जब कभी ये क्षेत्रों से अन्नापहरण करते हुए लोगों को देखते हैं तब उन **मुष्णताम्**=खेतों से चोरी करनेवालों के **पतये**=पतन करनेवालों का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **नक्तंचरेभ्यः**=रात्रि में विचरनेवालों के वध के लिए **असिमद्भ्यः**=तलवार से सुसज्जित पुरुषों का **नमः**=हम आदर करते हैं और इस प्रकार रात्रि में पहरा देते हुए **विकृन्तानाम्**=छेदन-भेदन करनेवालों को **पतये**=दण्ड से गिरानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। 'विकृन्तानां' का अर्थ आचार्य ने 'गठकतरे' किया है, वह अर्थ भी बड़ा उपयुक्त है। रक्षापुरुषों ने 'स्तायु, तस्कर, मुष्णताम् व विकृन्तों' से प्रजा-जनों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—रक्षापुरुषों का कार्य है कि वे १. घर में ही रहनेवाले और चोरी कर लेनेवाले नौकरों से, २. लुटेरों से, ३. खेत आदि से धान का अपहरण करनेवालों से तथा, ४. गठकतरों व छेदन-भेदन करनेवालों से प्रजा-जनों की रक्षा करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

उष्णीषिणे व गिरिचर-ग्रामणी व गिरिचर

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥२२॥

१. **उष्णीषिणे**=जिसके माथे पर पगड़ी रक्खी गई है, उस प्रशस्त पगड़ीवाले ग्रामणी के लिए जो **गिरिचराय**=वेदवाणी में स्थित होकर विचरण करनेवाला है, अर्थात् शास्त्रानुकूल ग्राम की सब व्यवस्था करनेवाला है, उसके लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। इस 'गिरिचर ग्रामणी' के लिए जो **कुलुञ्चानाम् (कुत्सितं लुञ्चन्ति)**=बुरी तरह से अपहरण करनेवालों का अथवा कुलानि लुञ्चन्ति=कुलों को बरबाद करनेवालों का अथवा कुशीलेन लुञ्चन्ति (द०)=बुरे स्वभाव से धनों के नष्ट करनेवालों का **पतये**=दण्ड से पतन करनेवाला है, उस गिरिचर ग्रामणी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। २. ग्राम आदि की रक्षा के लिए नियत **वः**=तुम **इषुमद्भ्यः**=प्रशस्त बाणोंवालों के लिए, **धन्वायिभ्यः च**=(धन्वना यन्ति—म०) धनुष के साथ विचरनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। ३. **आतन्वानेभ्यः**=धनुष पर ज्या को चढ़ानेवालों के लिए **च**=और उन धनुषों पर **प्रतिदधानेभ्यः**= बाण सन्धान करनेवाले **वः**=तुम्हारे लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **आयच्छद्भ्यः**=इन धनुषों का आकर्षण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=तुम्हारे **अस्यद्भ्यः**=बाणादि को फेंकनेवाले रक्षापुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—ग्राम के मुखिया को शास्त्रानुसार व्यवहार करना है और कुलुञ्चों का नाश करने के लिए रक्षा-पुरुषों को नियत करना है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

कार्य व विश्राम

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॑ वि॒द्ध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्व॒पद्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒: शया॑नेभ्य॒ऽआसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥२३॥

१. **विसृजद्भ्यो नमः**=शत्रुओं पर बाणों को छोड़ते हुओं का हम आदर करते हैं (Honour to those) **विद्ध्यद्भ्यः च वः**=और तुममें से शत्रुओं का वेधन करते हुओं के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. अपना कार्य करने के बाद **स्वपद्भ्यः**=सोते हुओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=उनके लिए भी **नमः**=आदर करते हैं जो **वः**=आपमें से **जाग्रद्भ्यः**=जाग रहे हैं—अपने कार्य में जागरूक हैं। ३. **शयानेभ्यः** =थककर लेटे हुओं का हम आदर करते हैं और **वः**=तुममें से **आसीनेभ्यः च**=बैठे हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ४. **वः**=आपमें से **तिष्ठद्भ्यः**=खड़े हुओं के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं **च धावद्भ्यः**=और कार्यवश इधर-उधर भागते हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उन सब रक्षा-पुरुषों का आदर करते हैं जो कार्य पर उपस्थित हैं या कार्य के बाद विश्राम की स्थिति में हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

सभा-सभापति (war-council)

नमः॑ स॒भाभ्यः॑ स॒भाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमोऽश्वे॒भ्योऽश्व॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ऽआव्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ऽउग॑णाभ्यस्तृꣳह॒तीभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥२४॥

१. **सभाभ्यः**=शान्ति व युद्ध के समय देश की समृद्धि व रक्षा के विषय में विचार करने के लिए (सह भान्ति) एकत्र हुए विद्वानों का हम **नमः**=आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सभापतिभ्यः च**=उन सभा के सञ्चालकों का हम **नमः**=आदर करते हैं। २. **अश्वेभ्यः**=युद्ध में प्रमुख स्थान रखनेवाले तथा शान्ति के समय भी यातायात के प्रमुख साधनभूत घोड़ों को हम **नमः**=आदर देते हैं, **च**=और **वः**=आप **अश्वपतिभ्यः**=घोड़ों के रक्षकों व स्वामियों के लिए भी हम **नमः**=आदर का भाव रखते हैं। युद्ध का विजय करनेवाले इन घुड़सवार सैनिकों का आदर होना ही चाहिए। शान्ति के समय भी सामान को इधर-उधर पहुँचानेवाले इन अश्वस्वामियों को हम आदर प्राप्त कराते हैं। ३. **आव्याधिनीभ्यः**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं **च**=और **वः**=आपकी इन **विविध्यन्तीभ्यः**=विशेषरूप से शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ५. **उगणाभ्यः**=(उत्कृष्टा गणा यासां) उत्कृष्ट सैनिकगणोंवाली सेनाओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपकी **तृंहतीभ्यः**=शत्रु-हिंसन करती हुई सेनाओं का **नमः**=आदर होता है।

भावार्थ—राष्ट्र की सभाओं, सभापतियों, अश्वों, अश्वपतियों व अन्य शत्रुसंहारक सेनाओं का हम आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिक्शक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

गण-गणपति

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥२५॥

१. **गणेभ्यः**=एक स्थान पर रहनेवालों ने जो सहकर्मकर्तृ संघ (Co-operative societies) बना लिये हैं, उन 'संघों' का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **गणपतिभ्यः**=इन संघों के अध्यक्षों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **व्रातेभ्यः**=एक प्रकार के काम करनेवालों ने (जैसे टाङ्गेवाले, मोटरवाले, रिक्शावाले) जो संघात (unions) बना लिये हैं, उन संघातों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **व्रातपतिभ्यः**=इन संघातों के मुखियाओं के लिए हम **नमः**=उचित सम्मानभाव रखते हैं। ३. **गृत्सेभ्यः**=(गृणन्ति) औरों के लिए सदा हित का उपदेश देनेवाले मेधावी पुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=आपके इन **गृत्सपतिभ्यः**=विद्वानों के रक्षकों का (जो धनी पुरुष इन विद्वानों को वृत्ति देकर परिपालित करते हैं, उनका) **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **विरूपेभ्यः**=तेजस्विता के कारण विशिष्ट रूपवाले क्षत्रियों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **विश्वरूपेभ्यः**=सबको अपना ही रूप समझनेवाले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त माननेवालों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र में बने हुए गणों व व्रातों को उचित सम्मान दें। मेधावी पुरुष व तेजस्वी पुरुष तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को माननेवाले पुरुष आदरणीय हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सेना-सेनापति

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥२६॥

१. **सेनाभ्यः नमः**=हम राष्ट्र की सेनाओं का आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सेनानिभ्यः नमः**=सेनानायकों का हम आदर करते हैं। २. **रथिभ्यः**=सेना के अङ्गभूत रथियों के लिए **नमः**=आदर हो तथा **वः**=आप **अरथेभ्यः**=अविद्यमान रथवालों का भी **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **क्षत्तृभ्यः**='क्षिपन्ति प्रेरयन्ति सारथीन्' रथों के अधिष्ठाताओं के लिए **नमः**=आदर हो, **च**=और **वः**=आपके **संग्रहीतृभ्यः**=अश्वों की लगामों का संग्रहण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **महद्भ्यः**=वर्ण, विद्या, स्थिति आदि की दृष्टि से बड़ों के लिए **नमः**=आदर हो **च**=और **वः**=आपके **अर्भकेभ्यः**=छोटे, निचले कर्मचारियों के लिए **नमः**=आदर हो।

भावार्थ—राष्ट्र-रक्षा करनेवाली सेनाओं, सेनापतियों, रथियों, पैदलों, अश्वाध्यक्षों, अश्वचालकों तथा बड़े-छोटे सभी का प्रजाजन आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

तक्षा-रथकार (शिल्प-जातियाँ)

नम॒स्तक्ष॑भ्यो रथका॒रेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नम॒: कुला॑लेभ्य॑: क॒र्मारे॑भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ निषा॒देभ्य॑: पु॒ञ्जिष्ठे॑भ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑: श्व॒निभ्यो॑ मृग॒युभ्य॑श्च वो॒ नम॑: ॥२७॥

१. राष्ट्र के अन्य सेवकों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **तक्षभ्यः**=(काष्ठं तक्ष्णुवन्ति) रन्दा चलानेवाले बढ़ई आदि के लिए हम **नमः**=आदरभाव रखते हैं, **च**=और **वः**=इन बढ़इयों में **रथकारेभ्यः**=विविध प्रकार के रथों के निर्माताओं के लिए **नमः**=हम आदर का भाव प्रदर्शित करते हैं (विमानादि यान बनानेवालों के लिए—द०)। २. **कुलालेभ्यः**= मिट्टी के बर्तन बनानेवालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **कर्मारेभ्यः**=लोहारों (खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनानेवालों) का **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **निषादेभ्यः**=(मात्सिकाः—द०, गिरिचरा भिल्लाः—म०) मछियारों का या गिरिचर, गेंडे, शेर आदि के शिकारी भीलों का **नमः**=हम आदर करते हैं। (पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना देनेवालों के लिए—द०) **च**=और **वः**=आपके इन **पुञ्जिष्ठेभ्यः**=(पक्षिपुञ्ज-घातकाः पुल्कसादयः—म०) पक्षियों के शिकारियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। कृषिरक्षा के लिए कितने ही पक्षियों का शिकार आवश्यक हो जाता है। ४. **श्वनिभ्यः**=(शुनो नयन्ति इति श्वगणिकाः—उ०) वराहादि के शिकार के लिए श्वगणों का, कुत्ते रखनेवालों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपके इन **मृगयुभ्यः**=अन्य कृषि-विनाशक पशुओं का संहार करनेवालों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब शिल्पकारों व शिकारियों का भी हम उचित मान करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

भव-रुद्र

नम॒: श्वभ्य॒: श्वप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वाय॑ च रु॒द्राय॑ च॒ नम॑: श॒र्वाय॑ च पशु॒पत॑ये च॒ नमो॒ नील॑ग्रीवाय च शिति॒कण्ठा॑य च ॥२८॥

१. राष्ट्र में शिकार व पहरे आदि में उपयोगी, चोरी आदि के अन्वेषण में पुलिस की मदद करनेवाले **श्वभ्यः**=कुत्तों को **नमः**=अन्नादि द्वारा उचितरूप से आदृत करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **श्वपतिभ्यः**=कुत्तों (Dog squads) को शिक्षित करनेवालों को

नमः=हम आदर देते हैं। २. हम **नमः**=उस श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न ब्राह्मण का भी आदर करते हैं जो **भवाय**=(शुभगुणादि—द०) सदा उत्तम गुणों में ही निवास करता है **च**=और **रुद्राय**=(रुत् दु:खं द्रावयति) दु:ख को दूर भगानेवाला है। ३. उस ब्राह्मण का **नमः**=आदर करते हैं जो **शर्वाय**=(शृ हिंसायाम्) सब अशुभ वृत्तियों का संहार करनेवाला है **च**=तथा **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशव वृत्तियों को पूर्णरूप से अपने वश में रखता है, अथवा गवादि पशुओं का पालक है। ४. हम उस ब्राह्मण के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं जो **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाला है **च**=तथा **शितिकण्ठाय**=शुद्ध कण्ठ-स्वरवाला है। जो कभी अपशब्दों का प्रयोग न करता हुआ सदा शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम राष्ट्र के उन ब्राह्मणों का आदर करते हैं जो सदा शुभ गुणों में निवास करनेवाले, ज्ञान देनेवाले, बुराइयों का संहार करनेवाले, काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले, विद्याविभूषित कण्ठवाले तथा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिगतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥२९॥

१. **कपर्दिने**=(क-पर-द्) सुख की पूर्ति को देनेवाले—ज्ञान-प्रचारक ब्राह्मण का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **व्युप्तकेशाय**=जिसने सब बालों को मुण्डित करा दिया है उस ज्ञान-प्रचारक संन्यासी का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहस्राक्षाय**=गुप्तचररूपी हज़ारों आँखोंवाले राजा का हम आदर करते हैं, **च**=और राष्ट्र-रक्षा के लिए **शतधन्वने च**=सैकड़ों धनुर्धारी पुरुषोंवाले इस राजा के लिए **नमः**=हम आदरभाव रखते हैं। ३. **गिरिशयाय**=वाणी में शयन करनेवाले ज्ञानी के लिए **च**=और **शिपिविष्टाय**='यज्ञो वै शिपिः'=यज्ञों में प्रविष्ट व्यक्ति के लिए, सदा यज्ञों में जीवन बितानेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। 'ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार यज्ञादि उत्तम कर्मों को करना' ऐसा जीवन-सूत्र बनाकर चलनेवाले पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. (क) रक्षा के द्वारा **मीढुष्टमाय**=अधिक-से-अधिक सुखों का सेचन करनेवाले राजपुरुष के लिए **च**=और **इषुमते**=रक्षा के लिए प्रशस्त बाणों को धारण करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। (ख) **मीढुष्टमाय**=वृक्षों के खूब सेचक माली आदि के लिए तथा बाणादि का धारण कर पहरा देनेवाले के लिए **नमः**=हम आदर करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों का तथा रक्षक क्षत्रियों का सदा मान करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ह्रस्व-वामन

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥३०॥

१. उस **ह्रस्वाय**=छोटी उम्रवाले के लिए **च**=परन्तु **वामनाय**='वामं प्रशस्तं विज्ञानं विद्यते यस्य—द०' प्रशस्त विज्ञानवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं अथवा छोटी उम्रवाले

और अतएव छोटे-छोटे अङ्गोंवाले को हम आदर देते हैं, उसे भी बीजरूप में व अंकुररूप में विद्यमान 'राष्ट्र का भावी उत्तम नागरिक' ही समझते हैं २. उस **बृहते**=प्रौढ़ अङ्गोंवाले के लिए **च**=और **वर्षीयसे**=अतिशयेन विद्या-वयोवृद्ध को **नमः**=हम आदर देते हैं। ३. **वृद्धाय च**=विद्या-विनयादि गुणों से बढ़े हुए के लिए **च**=और **सवृधे च**='समानैः सह वर्धते'=समान पुरुषों के साथ बढ़नेवाले का, अर्थात् मिलकर चलनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **अग्र्याय च**='अग्रे भवाय सत्कर्मसु पुरःसराय-द०' आगे होनेवाले के लिए, अर्थात् सत्कर्मों में सदा आगे चलनेवाले का **च**=और **प्रथमाय**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शक्तियों के विस्तार के कारण ही **प्रथमाय**=प्रसिद्ध (प्रख्याताय) को हम आदर देते हैं।

भावार्थ—आयु की दृष्टि से विविध स्थितियों में स्थित, राष्ट्र के अङ्गभूत सब व्यक्तियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

आशु-अजिर या नादेय-द्वीप्य

नमऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च नमऽऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च॥३१॥

१. **आशवे**='अश्नुते कर्मसु' कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **अजिराय**='अज गतिक्षेपणयो' क्रियाशीलता के द्वारा विघ्नों को दूर फेंकनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **शीघ्र्याय च**=(शिंघति व्याप्नोति कर्मसु)=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **शीभ्याय च**=(To tell, to say, to speak) कर्मों द्वारा अपनी शक्ति का प्रतिपादन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **ऊर्म्याय** ='ऊर्मिषु भवाय' मन में उत्साह-तरङ्गों से युक्त के लिए **च**=और **अवस्वन्याय**='अर्वाचीनेषु स्वनेषु भवाय'=सदा नीचे स्वर में बोलनेवाले के लिए, अर्थात् उत्साहयुक्त होते हुए भी व्यर्थ में शोर न मचानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. **नादेयाय**=नदियों में रहनेवाले के लिए, अर्थात् सदा सामुद्रिक व्यापारादि के कार्य में प्रवृत्त का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **द्वीप्याय**=जलान्तर्वर्ति प्रदेशों में रहकर कार्य करनेवालों के लिए हम आदर देते हैं।

भावार्थ—सदा राष्ट्र-हित के उद्देश्य से विविध संस्थानों में कार्यों में रत पुरुषों को हम आदृत करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

छोटे-बड़े

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च॥३२॥

१. **ज्येष्ठाय**=अत्यन्त प्रशस्य ज्येष्ठ के लिए—आयुष्य के दृष्टिकोण से सबसे बड़े के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कनिष्ठाय**=आयुष्य के दृष्टिकोण से छोटे के लिए युवा व अल्प के लिए नमस्कार हो। **पूर्वजाय**=सबसे प्रथम उत्पन्न हुए के लिए **च**=तथा **अपरजाय**=अपर काल में उत्पन्न हुए के लिए **नमः**=हम आदर का भाव रखते हैं। ३. **मध्यमाय**=पूर्वज व अपरज के मध्य में होनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं,

च=और **अपगल्भाय**=(अपगतो गल्भो यस्मात्, गल्भः=व्युत्पन्नता धार्ष्ट्र्यम्) अव्युत्पन्नेन्द्रिय–सांसारिक बातों में अप्रवीण छोटे बच्चे का भी हम आदर करते हैं। ४. **जघन्याय च**=जघन= पश्चाद्भाग में होनेवाले के लिए, अर्थात् शूद्रादि के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **बुध्न्याय**=बिल्कुल मूल में होनेवाले–सबसे अन्तिम स्थानवाले अन्त्यजों का भी हम आदर करते हैं।

भावार्थ–राष्ट्र में उत्पन्न छोटे-बड़े तथा छोटे-बड़े कुलों में उत्पन्नों के लिए नमस्कार हो।

ऋषिः–कुत्सः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमऽउर्वर्याय च खल्याय च ॥३३॥

१. **सोभ्याय**=(उभाभ्यां सहितः सोभः तत्र साधुः) परा तथा अपरा-विद्या से युक्त पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। **च**=फिर **प्रतिसर्याय**=प्रत्येक उत्तम कर्म में गतिशील पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए (प्रति+सर्+य) हम आदरवान् होते हैं। २. **याम्याय च**=प्रजाओं के नियमन करनेवालों में उत्तम क्षत्रिय का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और उस क्षत्रिय का आदर करते हैं जो **क्षेम्याय**=योग-क्षेम को उत्तमता से प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् जिस क्षत्रिय के राष्ट्र में सभी का क्षेम चलता है, कोई भूखा नहीं मरता। ३. **श्लोक्याय नमः** (श्लोकः यशस्)=उस वैश्य के लिए हम नमस्कार करते हैं जो अन्नादि के वितरण के कारण अति यशस्वी बना है। वैश्य कमाता है, परन्तु सभी का पालन भी करता है। इस पालन से ही वैश्य का जीवन यशस्वी बनता है। **च**=और उस वैश्य को हम आदर देते हैं जो **अवसान्याय**=कर्मों को अवसान तक पहुँचाने में उत्तम हैं। ये स्वार्जित धन का ठीक प्रयोग करते हुए राष्ट्रहित के सभी कार्यों को पूर्णता तक पहुँचानेवाले होते हैं। धन के बिना किसी भी कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। ४. **नमः**=हम राष्ट्र में उन शूद्रों का भी आदर करते हैं जो **उर्वर्याय**=(उर्वरायां भवः) सर्वसस्य से आढ्य भूमियों पर उन्हें हलादि से जोतने के लिए निवास करते हैं, तथा **खल्याय**=धान्य विवेचन-(छिलके से अलग करना)-देशों में कुटाई आदि द्वारा धान्य को छिलके से अलग करने में लगे हैं।

भावार्थ–हम सोभ्य व प्रतिसर्य ब्राह्मणों का आदर करें। याम्य-क्षेम्य क्षत्रियों का, श्लोक्य व अवसान्य वैश्यों का तथा उर्वर्य व खल्य शूद्रों का भी हम उचित आदर करें। जीविका के लिए किये गये किन्हीं भी शास्त्रीय कर्मों से कोई छोटा-बड़ा नहीं होता।

ऋषिः–प्रजापतिः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

श्रव-प्रतिश्रव राजा

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥३४॥

१. **वन्याय**=वन-प्रदेश में भी रक्षा की व्यवस्था करनेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च** =और **कक्ष्याय**=झाड़ी-झंकाड़मय प्रदेशों में भी उत्तमता से रक्षा करनेवाले का

हम आदर करते हैं। २. **श्रवाय**=सबकी बात सुननेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **प्रतिश्रवाय**=सबकी शिकायतों को दूर करने की प्रतिज्ञा करनेवाले राजा का हम **नमः**=आदर करते हैं ३. **आशुषेणाय** (आशुः शीघ्रा सेना यस्य)=शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाली सेनावाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **आशुरथाय** =शीघ्रगामी रथवाले का हम आदर करते हैं। ४. उस राजा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **शूराय**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है **च**=और **अवभेदिने**=शत्रुओं का अवभेदन करनेवाले का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उस राजा का आदर करें जो वनों व कक्ष-प्रदेशों का भी उत्तम रक्षक है, जो प्रजा की बात सुनता है और शिकायतों को दूर करता है। शीघ्रगामी सेनावाला और शत्रुओं का संहार करनेवाला है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

क्षत्रिय

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या॒य चाहन॒न्या॒य च ॥३५॥

१. **बिल्मिने च नमः**=(बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति—म०) शिरस्त्राण (Helmet) को धारण किये हुए योद्धा को हम आदर देते हैं, **च**=और **कवचिने**=(पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्—म०) कपड़े के, रुई से भरे, सीये हुए देहरक्षक कवच को धारण करनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। (रुई में गोली उसी प्रकार धँस जाती है, जैसेकि मिट्टी में तोप का गोला)। २. **वर्मिणे च नमः**=लोहमय शरीररक्षक चर्म को धारण किये हुए सैनिक का हम आदर करते हैं, **च**=और **वरूथिने**=(वरूथ=रथगुप्ति) उत्तम रथ-गोपनवाले का भी हम आदर करते हैं। ३. **श्रुताय च**=अपने गुणों व विजयों के कारण प्रसिद्ध राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **श्रुतसेनाय**=अपनी वीरता व विजयों के कारण प्रसिद्ध सेनावाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **दुन्दुभ्याय च**=और युद्ध के समय उत्तम दुन्दुभिवादक को **नमः**=हम आदर देते हैं, **च**=और **आहनन्याय**=उत्तम वादन-साधन दण्डादिवाले का भी हम आदर करते हैं। ये दुन्दुभि (drums) व आहनन-(drum-sticks)-वाले पुरुष युद्ध-वाद्य को बजाकर जहाँ शत्रुसैन्य को भयभीत करते हैं, 'दुन्दुशब्दने भावयति' दुन्दु शब्द से भयभीत करने से यह दुन्दुभि है, वहाँ यह 'आनक' शब्द स्वसैन्य को सोत्साह भी करता है, आनयति=उत्साहयति। युद्ध में इसी कारण इनका भी प्रमुख स्थान है। विजय का बहुत कुछ श्रेय इन्हें भी मिलता है।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों का हमें उचित मान अवश्य करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शस्त्रास्त्र

नमो॑ धृष्णवे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषु॒धिमते॑ च॒ नम॑स्ती॒क्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥३६॥

१. **धृष्णवे च**=बाह्य शत्रुओं तथा अपने काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का धर्षण करनेवाले (धृष्णोतीति एवं शीलः) राजा के लिए **नमः**=हम आदर का भाव धारण करते हैं, **च**=और **प्रमृशाय**=(प्रमृशति विचारयति) सदा विचारशील राजा के लिए, कामादि से

प्रेरित न होकर विचारपूर्वक सन्धि-विग्रह आदि अपने कार्यों को करनेवाले के लिए हम सम्मान देते हैं। २. **निषङ्गिणे च**=तलवार धारण करनेवाले के .लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **इषुधिमते**=तीरों से भरे तरकसों को धारण करनेवाले का हम सत्कार करते हैं। ३. **तीक्ष्णेषवे च**=और तेज़ बाणोंवाले के लिए हम आदर देते हैं **च**=तथा **आयुधिने च**=अच्छे प्रकार तोप आदि से लड़नेवाले वीरों से युक्त अध्यक्ष पुरुष का भी हम मान करते हैं। ४. **स्वायुधाय च**=उत्तम आयुधों से युक्त (त्रिशूलधारी महादेव के समान प्रतीत होनेवाले) इन सैनिकों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **सुधन्वने**=उत्तम धनुष धारण किये हुए सैनिक का भी हम मान करते हैं।

भावार्थ—विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिकों का हमें सदा सम्मान करना चाहिए और इनके मुखिया शत्रुधर्षक, विचारशील राजा को भी आदर के भाव से देखना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जलाध्यक्ष

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥३७॥

१. **स्रुत्याय च नमः**=स्रोतों-नाले आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं **च**=और **पथ्याय च**=उन वारिप्रवाहों के साथ-साथ बने हुए मार्गों के शोधक पुरुष के लिए हम आदर देते हैं। २. **काट्याय च नमः**=कूप आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **नीप्याय**=(नीचैः पतन्त्यापो यत्र) बड़े गहरे जलाशयों में नियुक्त पुरुष का भी हम सम्मान करते हैं। ३. **कुल्याय च नमः**=नहरों का प्रबन्ध करनेवाले के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **सरस्याय**=तालाब (Tanks) आदि के काम में प्रसिद्ध होनेवाले के लिए हम मान का भाव धारण करते हैं। ४. **नादेयाय च नमः**=नदियों के विषय में नियुक्त पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **वैशन्ताय च**=छोटे-छोटे जोहड़ों-अल्पसरः (ponds) का ध्यान करनेवाले का हम सत्कार करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में भिन्न-भिन्न स्थानों में नियुक्त जलाध्यक्षों का उचित आदर करना चाहिए। इनके कार्य की शुद्धि पर ही राष्ट्र में सारे क्षेत्रों की सिंचाई निर्भर है, अतः अन्नोत्पादन में इनका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देश-भेद

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥३८॥

१. **कूप्याय**=कूओं से सिंचाई करने योग्य देश के अध्यक्ष के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **आवट्याय**=गर्तबहुल (अव=गड्ढा=गर्त) देश में कृषि की ठीक व्यवस्था करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **वीध्याय च नमः**=(विगत इध्रो दीप्तिः यस्मात् स वीध्रो घनागमः) खूब बादलोंवाली वर्षाऋतु के प्राचुर्यवाली भूमि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **आतप्याय**=(आतपे भवः) खूब प्रचण्ड गरमीवाले प्रदेशों में नियुक्त पुरुष का भी हम मान करते हैं। ३. **मेघ्याय च नमः**=मेघोंवाले प्रदेश में नियुक्त

पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **विद्युत्याय च**=विद्युत् की विद्या में निपुण व विद्युत्-विभाग में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. **वर्ष्याय च नमः**=उत्तम वृष्टि की व्यवस्था करनेवाले के लिए या वृष्टिकाल में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवर्ष्याय**=वर्षा के प्रतिबन्ध में निपुण पुरुष का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—विविध देशों में नियुक्त राजपुरुषों के लिए हम उचित मान दें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

स्वभाव-भेद व कार्यभेद

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥३९॥

१. **वात्याय च नमः**=वायु-विद्या में कुशल अतएव वायु के रुख की सूचना देने के कार्य में नियुक्त मेटेरौलौजिकल विभाग के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **रेष्म्याय**=(रिष हिंसायाम्) रेष्म में होनेवाले=डिस्ट्रक्शन के कार्य में नियुक्त स्लम क्लियरैन्स आदि कार्यों में नियुक्त व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं। २. **वास्तव्याय च नमः**=गृहों में नियुक्त, अर्थात् गृहों के निर्माण में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **वास्तुपाय**=निर्मित गृहों के रक्षण-कार्य में (मैण्टिनैन्स में) नियुक्त पुरुष के लिए भी हम सम्मान का भाव धारण करते हैं। ३. **सोमाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के विज्ञान व प्रयोग में कुशल शरीरभूत औषध ही बने हुए वैद्य के लिए हम नतमस्तक होते हैं, **च**=और उन औषधों के द्वारा **रुद्राय**=(रुत् रोगं द्रावयति) रोगों को दूर भगानेवाले के लिए हम आदर देते हैं। ४. **ताम्राय च नमः**=ताम्र आदि धातुओं से निर्मित भस्मादि के प्रयोग में कुशल व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं, **च**=और इन धातुओं के कुशल प्रयोग से **अरुणाय**=(प्रापकाय—द०) स्वास्थ्य को फिर से प्राप्त करानेवाले वैद्य के लिए हम आदर की भावनावाले होते हैं। ५. मन्त्र के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले **रुद्राय**=ज्ञान देकर औरों के दुःखों को दूर करनेवाले का हम आदर करते हैं। हम उस पुरुष का आदर करते हैं जो **ताम्राय**=(ताम्यति ग्लायति) बुरे कर्मों के करने से ग्लानि करता है तथा **अरुणाय**=शुभ कर्मों को प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान में भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए सब व्यक्तियों का—विशेषतः रोगों को दूर करके प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले औषध-विज्ञान के पण्डित व प्रयोग में कुशल वैद्यों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—अतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः॥

शान्तेन्द्रिय-शत्रुहन्ता

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नमऽउग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥४०॥

१. **शङ्गवे च नमः**=(शं गावः यस्य, गावः=इन्द्रियाणि) शान्त इन्द्रियोंवाले व्यक्ति के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशववृत्तियों को पूर्णरूप से वशीभूत करनेवाले के प्रति हम सम्मान की भावना रखते

हैं। २. **उग्राय च नमः**=हम तेजस्वी पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं, **च**=और **भीमाय**=जिससे शत्रु भयभीत होते हैं, उसका हम आदर करते हैं। ३. **अग्रेवधाय च नमः**=सेना के अग्रभाग में स्थित हुआ जो शत्रुओं का वध करता है, उसके लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **दूरेवधाय**=(यो अरीन् दूरे बध्नाति–द०) शत्रुओं को दूर ही बाँधने व मारनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। ४. **हन्त्रे च नमः**=(यो दुष्टान् हन्ति तस्मै–द०) दुष्टों को नष्ट करनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **हनीयसे** (दुष्टानामतिशयेन हन्त्रे)=दुष्टों का अत्यन्त विनाश करनेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं। ५. **वृक्षेभ्यः नमः**=(ये शत्रून् वृश्चन्ति–द०) शत्रुओं को काट डालनेवालों के लिए हम आदर देते हैं, तथा शत्रुओं का सफ़ाया करके **हरिकेशेभ्यः**=(हरि क ईश) दुःखों के हरण व सुख-प्रापण के ईश पुरुषों को हम नमस्कार करते हैं। ६. **ताराय नमः**=(दुःखात् सन्तारकाय–द०) दुःखों से तरानेवाले सभी राष्ट्र-पुरुषों का हम मान करते हैं।

भावार्थ–'शान्तेन्द्रिय', 'वशीभूत काम-क्रोधादि वृत्ति' पुरुषों का आदर तो करना ही चाहिए साथ ही वीरतापूर्वक शत्रुओं का हनन करते हुए हमारे दुःखों को दूर करके सुखों के प्राप्त करानेवाले पुरुषों का भी हम आदर करें।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–स्वराडार्षीबृहती। **स्वरः**–मध्यमः।।

शान्ति व सुख का राज्य Peace, (Plenty) Pleasure

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥४१॥

१. **शम्भवाय च नमः**=(शम्भावयति तस्मै परमेश्वराय सेनाध्यक्षाय वा–द०) राष्ट्र में सब उपद्रवों को शान्त करके शान्ति का स्थापन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम आदर करते हैं **च**=और **मयोभवाय**=(pleasure, delight, satisfaction) शत्रुओं के नाश के द्वारा सब सुखों का उत्पादन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम सम्मान करते हैं। २. **शङ्कराय च नमः**=(शं लौकिकं सुखं करोति–म०) शान्ति-स्थापन के द्वारा सब सांसारिक सुखों को देनेवाले राष्ट्र के मुख्य पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और उन्नति का वातावरण प्राप्त कराके **मयस्काराय**=मोक्षसुख को प्राप्त करानेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं (मयः=मोक्षसुखं करोति–म०) ३. **शिवाय च नमः**=कल्याणरूप निष्पाप के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **शिवतराय च**=अत्यन्त कल्याणरूप के लिए हम मान देते हैं।

भावार्थ–राष्ट्र में 'शं, मयः व शिव'=शान्ति, सुख व कल्याण करनेवालों का हम मान करें।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः।।

पारोवर्यवित्

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥४२॥

१. **पार्याय च नमः**=(परायां साधु) पराविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्याओं में निपुण आचार्य का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवार्याय**=(अवरायां साधु) अपराविद्या, अर्थात् प्रकृतिविद्या में निपुण आचार्य के लिए हमारा आदर हो। अपराविद्या से मनुष्य संसार-सागर के इस किनारे पर ही रहता है और पराविद्या से पार पहुँचता है २. **प्रतरणाय च नमः**=अपराविद्या

से मृत्यु को तैरने व तैरानेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **उत्तरणाय**=पराविद्या के द्वारा संसारोत्तरण हेतु—संसार से तरानेवाले आचार्य को हम आदर देते हैं। ३. **तीर्थ्याय च नमः**=ज्ञानादि के द्वारा सब पापों से तरानेवाले तीर्थों में उत्तम आचार्य के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कूल्याय च**=(कूल् To protect, to prevent) ज्ञान के द्वारा ही मानस विकारों से रक्षा करनेवालों तथा रोगों को शरीर में प्रवेश से रोकनेवालों में उत्तम इन 'कूल्य' आचार्यों के लिए हमारा आदर का भाव हो। ४. इन आचार्यों के 'पार्य व अवार्य' आदि बन पाने का रहस्य इस बात में है कि ये वनस्पति भोजन पर ही प्राणयात्रा करते हैं, अतः कहते हैं कि **शष्प्याय च नमः**=घास-तृण आदि, अर्थात् वानस्पतिक भोजन पर ही गुज़र करनेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **फेन्याय**=फेनमय दुग्धादि का सेवन करनेवालों के लिए हमारा नमस्कार हो।

भावार्थ—पारोवर्यवित् आचार्यों का हम सदा मान करनेवाले बनें। हम भी इनकी भाँति वनस्पति व दुग्ध पर ही जीवन-निर्वाह करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

गृह आदि निर्माण

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽइरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥४३॥

१. **सिकत्याय च नमः**=(सिकतासु भवः) बालू (रेता) के विज्ञान को जाननेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **प्रवाह्याय**=(प्रवाहे स्रोतसि भवः) जलधारा में बहकर आनेवाली मिट्टी, रेत आदि के विज्ञान में निपुण पुरुष का भी हम आदर करते हैं। २. **किंशिलाय च नमः**=(कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करारूपाः पाषाणाः तेषु भवः) पत्थर झुर-झुरकर बनी हुई बजरी के प्रयोग को समझनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **क्षयणाय**=(क्षियन्ति निवसन्त्यापो यत्र) 'जिनमें जलों का निवास सम्भव है' इस प्रकार के सीमैण्ट आदि के द्वारा गृह-निर्माण-कुशल पुरुष के लिए भी हम मान देते हैं। ३. **कपर्दिने च नमः**=कौड़ी, सीप, शंख आदि के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=तथा **पुलस्तये**=बड़े-बड़े भारी पदार्थों को उठानेवाले यन्त्रों के निर्माता (महाकायक्षेप्त्रे—द०) के लिए भी हममें सम्मान का भाव हो। ४. **इरिण्याय च नमः**=(इरिणम् ऊषरम् तत्र भवः) ऊसर भूमियों के अधिकारी व विज्ञाता का हम आदर करें, **च**=तथा **प्रपथ्याय**=(प्रकृष्टः पन्थाः तत्र भवः) प्रकृष्ट मार्गों के निर्माता का भी हम मान करें।

भावार्थ—घरों के बनाने में प्रयुक्त होनेवाले रेता, मिट्टी, बजरी व सीमैण्ट आदि के विज्ञाता तथा शंखादि के प्रयोगकर्त्ता, भारवाहक यन्त्रों के निर्माता, ऊसर भूमि के प्रयोगज्ञ तथा बड़े-बड़े मार्गों के निर्माताओं का हम मान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विविध कर्मकर

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

१. **व्रज्याय च नमः**=(व्रजे गोसमूहे भवः) गोचारण में कुशल पुरुष के लिए नमस्कार हो, **च**=और **गोष्ठ्याय**=गोशालाओं के अध्यक्ष के लिए आदर हो। २. **तल्प्याय**

च नमः=(तल्प शय्या) शयनागार के कर्मों में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, उत्तम शय्यादि बनानेवाले का आदर हो, **च**=और **गेह्याय**=गृहकार्य में कुशल पुरुष के लिए भी आदर हो। ३. **हृदय्याय च नमः**=हृदय को प्रसन्न करनेवाले खिलौने आदि बनाने में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, **च**=और **निवेष्याय**=उत्तम वेश (dresses) बनानेवाले का आदर हो। ४. **काट्याय च नमः**=कुओं के बनाने में कुशल पुरुष का आदर हो, **च**=और **गह्वरेष्ठाय**=कन्दराओं व गम्भीर जलाशयों के निर्माण में कुशल पुरुष का हम आदर करें। (गह्वरं गिरिगुहा, महदुदकं वा—उ०)।

भावार्थ—राष्ट्र में गडरिये से लेकर गम्भीर जलाशयों के निर्माता आदि मन्त्र-वर्णित सभी कर्मकरों का हम आदर करें, उन्हें तुच्छ न समझें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्यापारी व कृषक

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पाꣳसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नमऽऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥४५॥

१. **शुष्क्याय च नमः**=शुष्क पदार्थों (सूखे मेवों) के व्यापारी के लिए आदर हो, **च**=और **हरित्याय**=शाक आदि हरे पदार्थों के व्यापारी के लिए भी आदर हो। २. **पांसव्याय च नमः**=मिट्टी ढोनेवाले के लिए भी हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **रजस्याय**=सूक्ष्म धूल का व्यापार करनेवाले का भी मान करते हैं। ३. **लोप्याय च नमः**=(लुप् छेदने) घास व लकड़ी आदि काटनेवाले के लिए आदर हो, **च**=और **उलप्याय**=(उलप=बल्वजादि तृणानि) तृण-विशेषों का संग्रह करनेवाले के लिए भी मान हो। ४. **ऊर्व्याय च नमः**=विशाल खेतों के स्वामियों का आदर हो (ऊर्व्या भूमौ भवः—म०) **च**=और **सूर्व्याय**=शोभन भूस्वामियों के लिए हमारा मान हो।

भावार्थ—राष्ट्र के सब व्यापारियों व कृषकों का हम आदर करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराट्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

ओषधि-विक्रेता व काष्ठवाहक

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नमऽउद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नमऽआखिदते च प्रखिदते च नमऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाꣳहृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नमऽआनिर्हतेभ्यः ॥४६॥

१. **पर्णाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के पत्तों के व्यापारी का आदर हो, **च**=और **पर्णशदाय**=इन पत्तों को काटकर लानेवाले के लिए आदर हो। २. **उद्गुरमाणाय**=काष्ठभार उठानेवाले के लिए सत्कार हो, **च**=और **अभिघ्नते**=काष्ठछेदक (wood cutter) के लिए आदर हो। ३. **आखिदते च नमः**=खेतों को चर जानेवाले पशुओं को खदेड़नेवालों, अर्थात् क्षेत्ररक्षकों का भी हम आदर करते हैं **च**=और **प्रखिदते च नमः**=तोते आदि पक्षियों के खदेड़ने (खिद=To strike) से बागों की रक्षा करनेवालों का हम आदर करते हैं। ४. **इषुकृद्भ्यः च नमः**=बाणों के बनानेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **धनुष्कृद्भ्यः**=धनुष्

बनानेवालों का भी हम मान करते हैं। ५. **किरिकेभ्यः वः नमः**=(कुर्वन्ति इति—उ०) विविध वस्तुओं के निर्माता आप सबका हम आदर करते हैं। ६. **देवानां हृदयेभ्यः नमः**=देवताओं के हृदयवालों के लिए, अर्थात् जिनका हृदय आसुर भावनाओंवाला न होकर दैवी भावनाओं से भरा है उनके लिए हम नमस्कार करते हैं। ७. देव-हृदयवाला बनने के लिए **विचिन्वत्केभ्यः**= अपने हृदय में दैव व आसुर भावनाओं का विवेचन करनेवालों के लिए आदर हो। सदा हृदय की पड़ताल करनेवालों का हम सम्मान करें। ८. आसुर भावनाओं का **विक्षिणत्केभ्यः**= विशेषरूप से (क्षिण्वन्ति हिंसन्ति) हिंसन करनेवालों का आदर हो। ९. **आनिर्हतेभ्यः नमः** =(आ समन्तात् निर्हतं येषां) समन्तात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि—सबमें से इन कामादि को दूर भगा देनेवालों का हम आदर करें। ७, ८, ९ की भावना बाह्य शत्रुओं के विषय में भी हो सकती है कि छिपे हुए शत्रुओं को ढूँढनेवालों, उनका हिंसन करनेवालों व समन्तात् दूर भगा देनेवालों का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—ओषधि-विक्रेताओं, क्षेत्र-रक्षकों, शस्त्र-निर्माताओं तथा विविध शिल्पियों और निर्मल हृदयवाले, आत्म-निरीक्षण के अभ्यासियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

दरिद्र : आदर्श राजा

द्रापेऽअन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किं चनाममत्॥४७॥

१. गत मन्त्र में राष्ट्र के सब अधिकारियों व अन्य कर्मकरों का उल्लेख करके कहते हैं कि **द्रापे**=(द्रा कुत्सायां गतौ, तस्याः पाति) कुत्सित गति से सबकी रक्षा करनेवाले! वस्तुतः राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह सभी को स्वधर्म में स्थापित करे और कुत्सित आचरण से बचाये। २. **अन्धसस्पते**=(क) हे अन्नों के पति! (अन्धस्=अन्न) राजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि राजा राष्ट्र में किसी को भूखा न मरने दे ('नास्य विषये क्षुधा अवसीदेत्'—आपस्तम्ब)। धान्यों के अष्टम भाग को कर रूप में लेनेवाला राजा अन्नों का स्वामी तो बनता ही है। अचानक वृष्ट्यभाव में अन्न की कम उत्पत्ति होने पर राजा के वे अन्नकोश प्रजा के अन्नाभाव के कष्ट को दूर करनेवाले होते हैं। (ख) 'अन्धसस्पते' का अर्थ 'सोमपते' भी है (अन्धस्=सोम)=राजा अपने **सोम**=वीर्य-शक्ति की रक्षा करनेवाला हो। स्वयं संयमी राजा ही औरों का भी संयमन कर पाता है। ३. **दरिद्र**=निष्परिग्रह! राजा का यह सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि राजा को प्रजा से कर प्रजा के कल्याण के लिए ही लेना है। उस कर का विनियोग उसे अपने लिए नहीं करना है। 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्'='प्रजाओं के ही कल्याण के लिए वह उनसे कर लेता था— यह राजा के जीवन का आदर्श होना चाहिए।' सारे कोश का स्वामी होते हुए भी राजा स्वयं निष्परिग्रह ही बना रहे। यह कोशरूप धेनु प्रजा के लिए धेनु=दूध पिलानेवाली हो, राजा के लिए तो यह 'वशा' बाँझ गौ ही हो। ४. **नीललोहित** =(कण्ठे नीलः, अन्यत्र लोहितः—म०) कण्ठ में नील हो, अर्थात् विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला हो और शरीर में अत्यन्त तेजस्वी हो। एवं, ब्रह्म व क्षत्र के उचित विकासवाला हो। ५. हे राजन्! तू ऐसी व्यवस्था कर कि **आसां प्रजानाम्**=इन प्रजाओं में से तथा **एषां पशूनाम्**=इन पशुओं में से **मा भेः**=कोई भयभीत न हो। सब प्रजाओं व पशुओं का सारे राष्ट्र में अकुतोभय सञ्चार हो।

मार्गों में व अन्धकार के समय चोर-डाकुओं आदि का ख़तरा न हो। ६. **मा रोक्**=(रुजो भङ्गे) इनका किसी प्रकार का भङ्ग न हो। ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि न्यायमार्ग पर चलनेवाले किसी का भी कार्य असफल न हो। ७. **उ**=और **च**=फिर **नः**=हममें से **किंचन**=कोई भी **मा आममत्**=रोगी न हो (अम रोगे)। एवं, राजा तीन व्यवस्थाएँ अवश्य शीघ्रातिशीघ्र करे (क) सब निर्भीक होकर आवागमन कर सकें, न्याय्यकार्यों में असफलताएँ न हों तथा रोग न फैलें।

भावार्थ—राजा 'द्रापि-अन्धसस्पति-दरिद्र व नीललोहित' हो और उसकी व्यवस्था इतनी उत्तम हो कि किसी को मार्गों में भय न हो, असफलताएँ न हों और रोग न फैलें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

शम्-पुष्टम्-अनातुरम्

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम्॥४८॥

१. **रुद्राय**=(रुत् ज्ञानं राति, रुतं दुःखं द्रावयति) ज्ञान देनेवाले—सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले और प्रजा के दुःखों को दूर करनेवाले राजा के लिए, २. **तवसे**=महान् व बलवान् राजा के लिए (तवस्—महान्=बलवान्) अथवा (तु To thrive) राष्ट्र की सर्वतोमुखी वृद्धि करनेवाले राजा के लिए। ३. **कपर्दिने**=प्रजाओं के लिए (क) सुख की (ख) परं=पूर्ति को (ग) देनेवाले राजा के लिए। राजा को चाहिए कि वह सदा अपनी उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था से सभी के कष्टों को दूर करके उनके जीवन को सुखी बनाये। ४. **क्षयद्वीराय**=(क्षयन्तो वीरा यस्मिन्) जिसके समीप वीर पुरुषों का निवास है, अर्थात् जिस राजा की सेना वीरपुरुषों से परिपूर्ण है, उस राजा के लिए हम **मतीः**=(याभिः मन्यते स्तूयते) इन स्तुतियों व बुद्धियों को **प्र भरामहे**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। ५. **यथा**=जिससे इस राजा के द्वारा बुद्धिपूर्वक की गई व्यवस्था से **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपायों व चौपायों—मनुष्यों व पशुओं सभी के लिए **शम्**=शान्ति व सुख **असत्**=हो ६. **अस्मिन् ग्रामे**=इन राष्ट्र के नगरों में **विश्वम्**=सब कोई **पुष्टम्**=समृद्ध (possession वाला) हो और साथ ही **अनातुरम्**=आपद्रहित, स्वस्थ हो।

भावार्थ—राजा 'रुद्र, तवस्, कपर्दी व क्षयद्वीर' हो। उसकी उत्तम व्यवस्था से सब शान्त, समृद्ध व नीरोग जीवनवाले हों (शम्-पुष्टं-अनातुरम्)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिवा तनूः

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥४९॥

१. हे **रुद्र**=राष्ट्र के दुःखों को दूर करनेवाले राजन्! **या**=जो **ते**=तेरी **शिवा**=कल्याणकर **तनूः**=विस्तृत राजनीति है (द०) वह **शिवा**=सचमुच कल्याणकर हो। २. **विश्वाहा**=सदा **भेषजी**=कष्टों की औषधरूप हो, अर्थात् सब कष्टों को दूर करनेवाली हो। ३. **शिवा**=वह कल्याणकर नीति **रुतस्य**=रोगों की **भेषजी**=औषध हो, सब रोगों को दूर करनेवाली हो। ४. **तया**=अपनी उस नीति से **नः**=हमें **मृड**=सुखी कीजिए तथा ५. **जीवसे**=हमारे दीर्घ जीवन

का कारण बनो।

भावार्थ—राजा की राजनीति ऐसी सुन्दर हो कि उससे १. प्रजा के कष्ट दूर हों। ३. वह कल्याणकर होती हुई सब रोगों को दूर करनेवाली हो। २. उससे प्रजा के जीवन सुखी हों। ४. प्रजा दीर्घजीवी बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दण्ड व अपराध-शून्यता

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दु॒र्म॒तिर॑घा॒योः।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥५०॥

१. **नः**=हमें **रुद्रस्य**=अन्यायकारियों को रुलानेवाले (रोदयति) राजा का **हेतिः**=अस्त्र **परिवृणक्तु**=छोड़ दे। हमपर दण्ड देनेवाले राजा का वज्र न गिरे, अर्थात् हम राजनियमों का पालन करते हुए राजा के प्रकोप से बचे रहें। २. और इस राजा की उचित व्यवस्था से हमें **त्वेषस्य**=(त्वेषति क्रोधेन ज्वलति, red with anger) क्रोध की ज्वाला से तमतमाते हुए **अघायोः** (अघं परस्य इच्छति)=सदा औरों का अशुभ चाहनेवाले अघायु पुरुष की **दुर्मतिः**=बुरी बुद्धि **परि**=(वृणक्तु) छोड़ दे। हम उसकी बुरी बुद्धि का शिकार न हो जाएँ, अर्थात् उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के परिणामस्वरूप दुष्ट लोग सज्जनों को पीड़ित न कर पाएँ। ३. **स्थिरा**=अपने दृढ़ शस्त्रों को तू **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील जीवनवालों के लिए **अवतनुष्व**=शिथिल कर दे—धनुष की डोरी को उतार दे। ४. **मीढ्वः**=हे सब सुखों की वर्षा करनेवाले राजन्! तू **तोकाय**=हमारी सन्तानों के लिए तथा **तनयाय**=सन्तानों की भी सन्तानों के लिए **मृड**=सुख देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी उत्तम दण्ड-व्यवस्था करे कि दुर्जन सज्जनों को तङ्ग न कर सकें। यज्ञशीलों पर दण्डपात न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीयवमध्यात्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वृक्ष पर आयुधस्थापन

मीढु॑ष्टम॒ शिव॑तम शि॒वो नः॑ सु॒मना॑ भव। प॒र॒मे वृ॒क्षऽआयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्तिं॒ वसा॑न॒ऽआ च॑र॒ पिना॑क॒म्बिभ्र॒दा ग॑हि ॥५१॥

१. **मीढुष्टम**=अतिशयेन मीढ्वान्=सर्वाधिक सुखों का सेचन करनेवाले **शिवतम**=अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले राजन्! **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा का मन सदा प्रजा के हित की कामनावाला हो तथा उसके सारे प्रयत्न प्रजा को सुखी बनाने के लिए हों। २. **परमे**=अत्यन्त प्रबल **वृक्षे**=(व्रश्चनीये छेदनीये शत्रुसैन्ये—द०) काटने योग्य शत्रुसैन्य पर **आयुधं निधाय**=खड्ग, भुशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों को रखकर, अर्थात् इन आयुधों का शत्रुओं पर प्रयोग करते हुए, ३. **कृत्तिं वसानः**=छेदनक्रिया को धारण करता हुआ, अर्थात् शत्रुओं पर प्रयोग करता हुआ तू **आचर**=समन्तात् विचरण कर। ४. राष्ट्र की रक्षा के लिए **पिनाकम्**=(पाति रक्षति आत्मानं येन तद्धनुर्वर्मादिकम्—द०) रक्षा के साधनभूत धनुष को **बिभ्रत**=धारण किये हुए **आगहि**=तू आ।

भावार्थ—राजा ने प्रजा पर सुखों की वर्षा करनी है—प्रजा का कल्याण सिद्ध करना है। शत्रुओं पर शस्त्र-प्रयोग द्वारा उनका छेदन करते हुए प्रजा के रक्षण के लिए धनुर्धर

बनकर विचरना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दण्ड

विकिरिद्र विलोहित नमस्तेऽअस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रꣳहेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः॥५२॥

१. **विकिरिद्र**=(विकिरन् इषून् द्रावयति इति—उ०) बाणों की विशिष्ट वर्षा के द्वारा शत्रुओं को भगानेवाले राजन्! २. **विलोहित**=विशिष्टरूप से प्रवृद्ध शक्तियोंवाले व विशिष्ट तेजवाले राजन्! ३. **भगव** =ऐश्वर्य व शक्ति आदि भगों से युक्त राजन्! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए नमस्कार करते हैं। ४. हे राजन् ! **याः**=जो **ते**=आपके **सहस्रं हेतयः**=हज़ारों अस्त्र व वज्र हैं **ताः**=वे **अस्मत् अन्यः**=हमसे भिन्न व्यक्ति को **निवपन्तु**=छिन्न करनेवाले हों, अर्थात् आपके अस्त्र नियमानुकूल चलनेवाले हम लोगों से भिन्न लोगों को ही नष्ट करनेवाले हों। आपका दण्ड दण्डनीय पुरुषों को ही दण्डित करनेवाला हो। वह दण्ड असमीक्ष्य प्रणीत होकर प्रजाओं के उद्वेग का कारण न बन जाए।

भावार्थ—राजा विचार करके दण्ड को दण्ड्यों पर ही डाले, जिससे वह दण्ड सारी प्रजाओं के रञ्जन का कारण बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सहस्राणि सहस्रशः

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि॥५३॥

१. हे **भगवः**=समग्र ऐश्वर्य-सम्पन्न राजन्! **तव बाह्वोः**=आपकी भुजाओं में **सहस्राणि**= हज़ारों प्रकार के **सहस्रशः**=संख्या में हज़ारों **हेतयः**=हनन-साधन शस्त्र हैं। २. **तासाम् ईशानः**=उनके पूर्ण प्रभु होते हुए, अर्थात् उनके चलाने व रोकने में पूर्ण अभ्यस्त होते हुए आप **तासाम्**=उन शस्त्रों के **मुखा**=मुखों को **पराचीना**=हमसे दूसरी ओर गया हुआ, अर्थात् हमसे विपरीत दिशा में **कृधि**=कर दीजिए। अपनी तोपों का मुख हमसे दूर दूसरी ओर कर दीजिए। आपके ये अस्त्र आपकी प्रजा को ही न भूनने लगें। ३. (क) ये अस्त्र प्रकारों के दृष्टिकोण से सहस्रों हैं, और प्रत्येक संख्या में हज़ारों में है। (ख) राजा व राजपुरुष इन अस्त्रों के प्रयोग में पूर्ण निपुण हैं। (ग) इन अस्त्रों का प्रयोग वे शत्रुओं पर ही करते हैं, अपनी प्रजा पर नहीं।

भावार्थ—शतशः शस्त्रों के प्रयोग में निपुण राजा शत्रुओं पर ही शस्त्र-प्रयोग करता है, उसके शस्त्र प्रजापीड़न का कारण नहीं बनते।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अधि भूम्याम्

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम्।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५४॥

१. राष्ट्र में राजपुरुषों की नियुक्ति की कोई निश्चित संख्या नहीं है। राष्ट्र छोटा होगा

तो राजपुरुषों की संख्या भी थोड़ी होगी। राष्ट्र के बड़े होने पर यह संख्या भी बड़ी हो जाती है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ये रुद्राः**=(रुत् दुःखं द्रावयन्ति) जो प्रजा के कष्टों को दूर भगाने में नियुक्त राजपुरुष हैं, (क) **असंख्याता**=जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं है जो (ख) **सहस्राणि**=हज़ारों ही हैं तथा (स हस्) प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हैं, सड़ियल मिज़ाज़ के नहीं है, (ग) **अधि भूम्याम्**=(भूमि=पृथिवी शरीरम्) शरीर पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, जिन्होंने शारीरिक उन्नति अधिक की है। २. **तेषाम्**=उन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्र-योजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं। ३. अभिप्राय यह कि राष्ट्र-रक्षा में विनियुक्त राजपुरुषों को शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण होना चाहिए तथा वे शस्त्रास्त्र की विद्या में निपुण बनकर दूर-दूर तक अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—राजपुरुष १. स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से शरीर के पूर्ण प्रभु हों, तथा २. अस्त्र-चालन-विद्या में निपुण हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अधि अन्तरिक्षे

अस्मिन् मह॒त्य॑र्ण॒वे॒ऽन्तरि॑क्षे भ॒वाऽअधि॑।
तेषा॑ᳬसहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि॥५५॥

१. हे **भवाः**=(भवति अस्मिन्) जिनके रक्षाकार्य में ही राष्ट्र की स्थिति सम्भव है वे राजपुरुष, जो **अस्मिन्**=इस **महति**=विशाल **अर्णवे**=दया के जलवाले **अन्तरिक्षे अधि**=हृदयान्तरिक्ष पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, अर्थात् (क) जिनका हृदय विशाल है। (ख) दुःखियों को देखकर जिनका हृदय दयार्द्र हो उठता है। (ग) जिनके हृदय में वासनाओं के तूफ़ान नहीं उठते, जो सदा मध्यमार्ग में चलते हैं। २. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि** =अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. हृदय के दृष्टिकोण से सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाले हों। २. और अस्त्र-विद्या में पारङ्गत हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—बहुरुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिवं श्रिताः

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॒ दिव॑ᳬरु॒द्राऽउप॑श्रिताः।
तेषा॑ᳬसहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि॥५६॥

१. जो **रुद्राः**=दुःखद्रावक राजपुरुष **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाले हैं। २. **शितिकण्ठाः**=(शितिः श्वेत=शुद्ध) शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं। ३. **दिवं उपश्रिताः**=ज्ञान के प्रकाश को जिन्होंने समीपता से सेवन किया है, अर्थात् खूब ऊँचे ज्ञानी बने हैं। ४. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से विविध विद्याओं से सुभूषित, खूब ज्ञानी हों। इनका कण्ठस्वर भी बड़ा शुद्ध हो। २. अस्त्र-विद्या के पारङ्गत तो हों ही।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अधः क्षमाचराः

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५७॥

१. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित गर्दनवाले, २. **शितिकण्ठाः**=शुद्ध कण्ठस्वर-वाले, ३. **शर्वाः**=(शृणन्ति) शत्रुओं का संहार करनेवाले रुद्र, अर्थात् राजपुरुष, ४. **अधः**= सर्वदा अधोदृष्टिवाले, अर्थात् अपनी शक्ति आदि का गर्व न करनेवाले, सदा ५. **क्षमाचराः**= सहनशक्ति के साथ विचरनेवाले हैं, प्रजा से मूर्खतावश दी गई गालियों से उत्तेजना में नहीं आ जाते। ६. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. उद्धत न होकर विनीत हो। २. प्रजा की गालियों से तैश में न आनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शष्पिञ्जराः (उत्प्लुत बन्धनवाले)

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५८॥

१. **ये**=जो **वृक्षेषु**=(व्रश्चनीय छेदनीय) छेदन के योग्य काम, क्रोध व लोभ आदि शत्रुओं के विषय में **शष्पिञ्जराः**=(शड् उत्प्लुतं बन्धनं पिञ्जरं येन) बन्धन से ऊपर उठ गये हैं, अर्थात् कामादि के बन्धन से जो ऊपर उठ गये हैं २. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हैं। ३. **विलोहिताः**=विशिष्ट रूप से उन्नति को प्राप्त (रोहित) अथवा तेजस्वी हैं। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=सहस्रों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं। ५. रुद्रों=अर्थात् प्रजा के दुःखद्रावण में विनियुक्त पुरुषों को चाहिए कि वे (क) इन छेदनीय कामादि शत्रुओं के बन्धन से ऊपर उठे हुए हों, (ख) विद्या-विभूषित कण्ठवाले हों। (ग) तेजस्वी हों तथा (घ) दूर-दूर तक अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हों।

भावार्थ—राजपुरुष विषयों के बन्धनों को परे फेंक चुके हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विशिखासः (विशिष्ट ज्ञान की ज्वालावाले)

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषांꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५९॥

१. **ये**=जो **भूतानाम् अधिपतयः**=शरीर के अङ्गभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पाँचों भूतों के अधिपति हैं, अर्थात् इन्हें जिन्होंने पूर्णतया अपने अनुकूल बनाया है, अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ हैं २. **विशिखासः**=(शिखा=ज्वाला) विशिष्ट ज्ञान की ज्योतिवाले हैं ३. **कपर्दिनः**=प्रजाओं के लिए सुख की पूर्ति करनेवाले हैं, अर्थात् विशिष्ट व्यवस्थाओं के द्वारा प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन रुद्रों के—प्रजा के दुःखों का द्रावण करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को (क) पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए, (ख) ज्ञान की ज्योतिवाला होना चाहिए तथा (ग) उनका ध्येय प्रजा के जीवन को सुखी करना हो (कपर्दिनः)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पथिरक्षयः (मर्यादा-पालक)

ये पथां पथिरक्षयऽऐलबृदाऽआयुर्युधः ।
तेषाᳫंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६०॥

१. **ये**=जो **पथां पथिरक्षयः**=मार्गों के रक्षक हैं, लौकिक व वैदिक मार्गों का अपने जीवन में पालन करते हैं तथा सुशासन से प्रजाओं के जीवन में भी मर्यादाओं को लुप्त नहीं होने देते। राजा का मुख्य कार्य यही है कि 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत'=वह सब वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे। २. **ऐलबृदाः** =(ऐलभृतः—म०) (इलानां अन्नानां समूह ऐलम्)=अन्नसमूह का ये धारण करनेवाले हैं। (ऐले बिभ्रति) राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होने देते। घर में पति-पत्नी का पहला क़दम यही होता है कि 'अन्न की कमी न हो' (इषे एकपदी भव) इसी प्रकार राष्ट्र में राजा का सर्वप्रथम यह प्रयत्न होना चाहिए कि राष्ट्र में अन्न की कमी न हो जाए। लोग भूख से न कराह उठें। ३. **आयुर्युधः**=ये (आयुर्जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते) राष्ट्र की उन्नति के लिए विरोधी तत्त्वों व विघ्नों के साथ युद्ध में अपने प्राणों की बाज़ी लगा दें, अर्थात् प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे रहें। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मार्ग-रक्षक (मर्यादा-पालक) हों, २. अन्न के धारण करनेवाले—अन्न की कमी न होने देनेवाले हों ३. प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे हुए हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

तीर्थ-प्रचरण (आचार्योपासन)

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।
तेषाᳫंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६१॥

१. **ये**=जो **तीर्थानि**=अविद्यादि से तरानेवाले (तारयन्ति—द०) आचार्यों का **प्रचरन्ति**= उपासन करते हैं, आचार्य-चरणों में पहुँचकर सदा उत्तम उपदेश लेते रहते हैं। २. **सृकाहस्ता**= (सृका=आयुधम्) हाथों में आयुधों का ग्रहण करनेवाले, ३. **निषङ्गिणः**=प्रशस्त तलवारोंवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन प्रजा-दुःखद्रावक रुद्रों=राष्ट्रपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों कोसों की दूरी तक **अवतन्मसि** =विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के रक्षापुरुष (क) आचार्य-चरणों में उपस्थित होकर अपने कर्त्तव्य को सदा समझनेवाले हों, विद्या-वयोवृद्धों के ये उपासक हों। (ख) रक्षा के लिए अस्त्रों के धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

खान-पान के विषय में प्रेरणा (स्वास्थ्य विभाग)

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषाᳫंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६२॥

१. **ये**=जो **अन्नेषु**=अन्नों के विषयों में **विविध्यन्ति**=(विध्=To administer, govern)

विविध निर्देश देते हैं तथा २. **पात्रेषु**=पात्रों में **पिबतः**=दुग्ध, लस्सी आदि पीते हुए **जनान्**=लोगों को **विविध्यन्ति**=विशेषरूप से शासित करते हैं कि 'इस प्रकार के पेय के लिए इन पात्रों का प्रयोग करना है और इनका नहीं' (लस्सी के लिए बिना कलईवाले पात्र का प्रयोग नहीं करना)। ३. **तेषाम्**=उन रुद्रों के, प्रजा के रोगों को दूर करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्त्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को प्रजा के अन्दर 'खान-पान' के नियमों का भी विशेषरूप से अनुशासन करना है, जिससे सब प्रजाएँ नीरोग होकर सुखी हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

एतावन्तः—भूयांसः

यऽएतावन्तश्च भूयाꣳसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषाꣳसहस्त्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६३॥

१. **ये**=जो **एतावन्तः च**=इतने, जिनका कि ऊपर मन्त्रों में उल्लेख किया गया है, **च**=अथवा **भूयांसः**=और भी जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ—वे सबके सब **रुद्राः**=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुष जोकि **दिशः वितस्थिरे**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में अपने-अपने नियुक्ति स्थानों में स्थित हैं। २. **तेषाम्**=उन सबके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्त्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=हम सुदूर विस्तृत करते हैं, इनके दूर-दूर तक शत्रुओं का संहार करनेवाले अस्त्र प्रजा-रक्षण व प्रजा के सुख-वर्धन का साधन बनते हैं।

भावार्थ—सब राजपुरुषों का एक ही ध्येय होना चाहिए कि शस्त्र-प्रयोग के नैपुण्य से शत्रुओं का शातन (नाश) करके प्रजा के दुःखों को दूर करें और उसके सुख का वर्धन करें। इसी में 'रुद्र' नाम की सार्थकता है।

सूचना—'एतावन्तः भूयांसः' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि राजपुरुषों की संख्या कार्यानुसार बढ़ सकती है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृद्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये दिवि येषां वर्षम् इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥६४॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रुत्=ज्ञानं राति=ददति) ज्ञान देनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **दिवि**=(दिव=प्रकाश) प्रकाश फैलाने के कार्य में नियुक्त हैं, जिन्होंने **दिवि**=प्रकाश के क्षेत्र में द्युलोक व मस्तिष्क पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया है। २. **वर्षम्**=ज्ञान की वर्षा ही **येषाम्**=जिनके **इषवः**=बाण हैं, अर्थात् जो ज्ञान की वर्षा के द्वारा लोगों के दुःखों को दूर करने में लगे हैं। ३. **तेभ्यः**=इन ज्ञानवर्षणरूप बाणोंवाले रुद्रों के लिए **दश**=दस **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख, पूर्व की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=इसी प्रकार से दक्षिणाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=पश्चिमाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश उदीचीः**=उत्तराभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ **दश ऊर्ध्वाः**=और ऊपर की ओर दस अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन ज्ञानप्रसारक

रुद्रों के लिए सब दिशाओं में नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए अञ्जलिपूर्वक हमारा नमस्कार हो। 'दश वा अञ्जलेरंगुलयो, दिशि दिश्येवैभ्यः एतदञ्जलिं करोति'—श० ९।१।१।३९। **ते नः अवन्तु**=ये रुद्र ज्ञान देकर हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=इस ज्ञान-प्रदान द्वारा वे रुद्र हमारे जीवन को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यं द्विष्मः**=जिस ज्ञान में रुचि न रखनेवाले मूर्ख व्यक्ति को प्रीति के अयोग्य समझते हैं (द्विष अप्रीतौ) **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, अर्थात् सारे समाज का विरोध करता है और वस्तुतः उस विरोध के कारण ही द्वेष्य हो गया है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इन रुद्रों के ही **जम्भे दध्मः**=दंष्ट्राकराल मुख में स्थापित करते हैं, (जम्भे=विडाल के मुख में मूषक के समान पीड़ा में—द०) इसे न्यायोचित दण्ड देने के लिए व इसकी मनोवृत्ति को सुधारने के लिए उन्हें सौंपते हैं।

भावार्थ—वे राज्याधिकारी, जो प्रजा के मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिए, ज्ञानवर्षण के लिए नियुक्त हुए हैं, उन राज्याधिकारियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये अन्तरिक्षे येषां वात इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६५॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु का नाम लेकर वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने के लिए नियुक्त हुए हैं, 'अन्तरा क्षि'=जो लोगों को सदा मध्यमार्ग में चलने का उपदेश देते हैं, जो 'अति' की हानियों का उद्घोषण करते हुए लोगों के जीवनों को नीरोग व सुखी बनाने का यत्न करते हैं। २. **वातः इषवः**=निरन्तर क्रियाशीलता ही **येषाम्**=जिनके बाण हैं। ये लोगों के जीवन को क्रियाशील बनाकर उन्हें सुखी बनाने में लगे हुए हैं। इनका मुख्य प्रचार यही है कि सदा क्रिया में लगे रहो, जिससे तुम्हारे हृदयों में अशुभ वासनाएँ उत्पन्न ही न हों। हृदय की पवित्रता का मार्ग एक ही है, और वह यह कि वायु की भाँति सदा अपने जीवन को गतिमय बनाये रक्खो। ३. **तेभ्यः**=इन क्रियाशीलतारूप बाणवाले रुद्रों के लिए मैं **दश**=दस अंगुलियों को **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=दस अंगुलियों को दक्षिणाभिमुख करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=दश अंगुलियों को पश्चिमाभिमुख करता हूँ। **दश उदीचीः**=दस अंगुलियों को उत्तराभिमुख करता हूँ। **दश ऊर्ध्वाः**=और दस अंगुलियों को ऊर्ध्वाभिमुख करता हूँ, अर्थात् सब दिशाओं में इनके लिए मैं नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे रुद्र हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=क्रियाशीलता की प्रेरणा से हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर ये उन्हें मङ्गलमय बनाएँ। मङ्गल भी तो उन्हीं का होता है जो सदा गतिशील हों (मगि गतौ)। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यम्**=जिस अक्रियाशील, परन्तु खूब खानेवाले और अतएव राष्ट्र पर भारभूत व्यक्ति को **द्विष्मः**=प्रीति के अयोग्य समझते हैं, **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, **तम्**=उस अकर्मण्य बहुभुक् पुरुष को **ऐषाम्**=इन रुद्रों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े

में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। वे ही उचित दण्ड-व्यवस्था करके इनके जीवन को सुधारेंगे और इन्हें क्रियाशील बनाकर इनके हृदयों को निर्मल करेंगे।

भावार्थ—उन राजाधिकारियों को, जो प्रजा को वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश करके पवित्र-हृदय बनाने में लगे हैं, हम आदर देते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

ये पृथिव्याम् येषाम् अन्नमिषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥६६॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=उन राज्याधिकारियों के लिए हम नमस्कार करते हैं, **ये**=जो **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) लोगों के शरीरों के विषयों में नियुक्त हुए हैं, जिनका कार्य यह है कि वे आहारादि का उचित ज्ञान देकर (रुत्+र) लोगों को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्तियों के विस्तार के योग्य बनाएँ (प्रथ विस्तारे)। २. उन रुद्रों के लिए हम नमस्कार करते हैं **येषाम्**=जिनका **अन्नम् इषवः**=अन्न ही बाण है। वे सर्वत्र लोगों को यह स्पष्ट करने में लगे हैं कि यह अन्न शरीर-रक्षा के लिए खाया जाता है (अद्यते), परन्तु यही अन्न जब स्वादवश शरीर-रक्षा का ध्यान न करते हुए खाया जाता है तो यह हमारे शरीरों को ही खा जाता है, 'अत्ति च भूतानि'। इनका प्रचार यही होता है कि तुमने खाने के लिए जीवन को प्राप्त नहीं किया, जीवन धारण के लिए ही तुम्हें इस अन्न का ग्रहण करना है। तुम अन्न के लिए नहीं हो, अन्न तुम्हारे लिए है। ३. **तेभ्यः**=इन रुद्रों के लिए **दश प्राचीः**=दस पूर्वाभिमुख अंगुलियों को करता हूँ। **दश दक्षिणाः, दश प्रतीचीः, दश उदीचीः, दश ऊर्ध्वाः**=दस दक्षिणाभिमुख, दस पश्चिमाभिमुख, दस उत्तराभिमुख तथा दस ऊपर की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन्हें सब दिशाओं में बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये अन्न के उचित प्रबन्ध व ज्ञान देने से हमें रोगों से बचाएँ। हमारे शरीरों को विस्तृत शक्तिवाला बनाएँ। **ते नः मृडयन्तु**=नीरोग बनाकर वे हमारे जीवनों को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम **यं द्विष्मः**=अन्न के विषय में ठीक आचरण न करनेवाले पुरुष को अप्रीति के योग्य समझते हैं, **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबको द्वेष्य समझता है **तम्**=उस अन्न का अतियोग करनेवाले व विकृत अन्न को व्यापार की वस्तु बनानेवाले पुरुष को हम **एषाम्**=इन अन्न के विषय में नियुक्त राजपुरुषों के **जम्भे दध्मः**=न्याय की दंष्ट्रा में स्थापित करते हैं। वे ही इसका सुधार करेंगे।

भावार्थ—उन राज्याधिकारियों का हम आदर करें जो अन्न के विषय में उचित व्यवस्थाएँ करते हुए हमारे शरीरों को स्वस्थ व विस्तृत शक्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सूचना—इस रुद्राध्याय को 'अन्न के उचित सेवन' के उपदेश के साथ समाप्त किया गया है। इस अन्न-सेवन के विषय से सप्तदशाध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

॥ इति षोडशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

सप्तदशोऽध्यायः

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिगतिशक्करी। स्वरः—पञ्चमः।।

मेधातिथि का खान-पान

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पयः। तां नऽइषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअश्मँस्ते क्षुन् मयि तऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥१॥

१. हे **संरराणाः**=(संरममाणाः) आकाश में सम्यक् रमण करते हुए, अर्थात् ठीक समय पर गति करते हुए, अथवा सम्यक् रान्ति=सम्यक् वृष्टि करनेवाले **मरुतः**=वायुओ! (monsoon winds) **अश्मन्**=(अशनवति) सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले इस मेघ में तथा **पर्वते**=पर्वतों पर **शिश्रियाणाम्**=आश्रित—इन पर्वतों पर वृष्टि होकर विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वहाँ से नदियों के रूप में यह जल बहकर मैदानों में भी अन्न इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं, हमारा सारा अन्न इन मेघों एवं पर्वतों पर ही आश्रित है। इस मेघ व पर्वतों पर आश्रित **ऊर्जम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले अन्न को **नः**=हमारे लिए दो। २. हे मरुतो! आपसे कराई गई वृष्टि के इन **अद्भ्यः**=जलों से **ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः**=ओषधियों व वनस्पतियों से **पयः**=दूध **अधिसम्भृतम्**=गौ इत्यादि पशुओं में आधिक्येन संभृत होता है। जल पीकर ओषधि-वनस्पतियों का सेवन करके ये गौवें हमारे लिए उत्कृष्ट दूध का पोषण करती हैं। ३. हे **मरुतः**=वायुओ! **ताम्**=उस **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस का **नः**=हमारे लिए **धत्त**=धारण करो। ४. **अश्मन्**=हे भक्षक अग्ने (उ०)! **ते क्षुत् मयि**=तेरे—वैश्वानर अग्नि के रूप में जठर में स्थित होकर भोजन के ठीक पाचन से होनेवाली भूख मुझमें हो, अर्थात् मेरी जठराग्नि ठीक हो और मैं उचित भूख को अनुभव करूँ। हे **अश्मन्**=सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले (अशनवति) मेघ **ते ऊर्क्**=तेरा यह शक्तिप्रद अन्न मुझमें हो। ५. **ते शुक्**=तेरा शोक व सन्ताप, अन्न के अधिक खाजाने से होनेवाला कष्ट **तं ऋच्छतु**=उसी को प्राप्त हो जो सबके साथ द्वेष करता रहता है और परिणामतः हम सब भी **यं द्विष्मः**=जिसे अप्रीतिकर समझते हैं। इस वैर-रुचि पुरुष को ही अन्न सन्तापकारी हो।

भावार्थ—१. हम वृष्टि से उत्पन्न अन्न व रस को प्राप्त करें। २. हमें इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौवों का दूध प्राप्त हो। ३. हमें सदा उचित भूख लगे। ४. अन्न हमारे लिए सन्तापकारी न हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः।।

यज्ञ

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥२॥

१. गत मन्त्र में वृष्टि से होनेवाले 'अन्न-रस का' उल्लेख था। वस्तुतः 'पर्जन्यादन्नसम्भवः'

सब अन्न का सम्भव पर्जन्य से ही होता है, परन्तु यह पर्जन्य 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इस वाक्य के अनुसार यज्ञ से होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में इस यज्ञ के पालकत्व का प्रतिपादन करते हुए मेधातिथि के मुख से प्रार्थना कराते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञादि में विनियुक्त होकर बादलों को जन्म देनेवाले अग्ने! **इमाः**=ये **ये**=इस देह से किये जानेवाले **इष्टकाः**=यज्ञ (यज्+क्त=इष्ट, इष्ट+टाप्) **धेनवः सन्तु**=दुधारू गौवों के समान हमारा पालन करनेवाले हों। वस्तुतः यज्ञ बादलों की उत्पत्ति द्वारा अन्नादि का कारण बनकर सदा हमारा पालन करता है तथा रोगकृमियों के संहार के द्वारा भी यह यज्ञ हमारा रक्षक होता है। २. ये यज्ञ तो मेरे जीवन में निरन्तर चलें, मेरा जीवन ही यज्ञमय हो जाए। **एका च**=यह यज्ञ प्रत्येक प्रातःकाल में एक संख्यावाला होता हुआ भी **दश च**=प्रतिदिन होने से दस संख्यावाला हो, **दश च**=दस संख्यावाला ही क्या **शतं च**=यह सौ संख्यावाला हो। **शतं च**=सौ क्यों? **सहस्त्रं च**=मेरा जीवन हज़ारों यज्ञों से युक्त हो। **सहस्त्रं च**=सहस्त्र ही क्यों? **अयुतं च**=मेरा जीवन दस हज़ार यज्ञोंवाला हो। **अयुतं च नियुतं च**=दस हज़ार यज्ञोंवाला होता हुआ यह मेरा जीवन एक लाख यज्ञोंवाला हो। **नियुतं च प्रयुतं च**=एक लाख से भी अधिक दस लाख इन यज्ञों की संख्या हो। **अर्बुदं च**=ये यज्ञ एक करोड़ हो जाएँ। **न्यर्बुदं च**=दस करोड़ तक इनकी संख्या हो। प्रत्येक घर में होने पर इनकी संख्या दस करोड़ ही क्यों? **समुद्रश्च**=ये यज्ञ अरब संख्या तक पहुँचे, **मध्यं**=दस अरब, तथा **अन्तः च**=खरब तथा **परार्धश्च**=ये यज्ञ तो दस खरब हो जाएँ। ३. मैं तो यह चाहता हूँ कि **अग्ने**=सब यज्ञों के प्रवर्तक प्रभो! **एता मे इष्टकाः**=ये मेरे यज्ञ **अमुत्र**=परलोक में **अमुष्मिन् लोके**=उस दूर लोक में भी **धेनवः सन्तु**=मेरा पालन करनेवाले हों। इस लोक में तो ये यज्ञ कल्याण करते ही हैं, ये परलोक में भी कल्याणकारक हों।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाएँ। यज्ञ इस लोक में सात्त्विक अन्न व नीरोगता देनेवाला होकर कल्याण करता है तथा यज्ञ में निहित त्याग की भावना परलोक में कल्याण करनेवाली होती है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ऋतवः-ऋतुष्ठाः

ऋतवं स्थऽऋतावृधंऽऋतुष्ठा स्थंऽऋतावृधंः।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघाऽअक्षीयमाणाः॥३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञ का वर्णन था। उन यज्ञिय स्वभाववाले पुरुषों से कहते हैं कि **ऋतवः स्थ**=तुम अपने जीवन में बड़ी नियमित गतिवाले बनो (ऋ गतौ)। ऋतुएँ जैसे समय पर आती हैं उसी प्रकार तुम अपने सब कार्य समय पर करनेवाले बनो। २. **ऋतावृधः**=इस ऋत से प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से बढ़नेवाले बनो। 'ऋत' तुम्हारी वृद्धि का कारण बने। ३. **ऋतुष्ठाः स्थ**=तुम ऋतुओं में स्थित होओ, अर्थात् तुम्हारा आहार-विहार ऋतुओं के अनुकूल हो तथा **ऋतावृधः**=उस-उस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञों से अथवा समय-समय पर होनेवाले सत्यानुष्ठान से तुम्हारा वर्धन हो। ४. इस ऋतुचर्या के ठीक पालन से तुम **घृतश्च्युतः**=घृत के स्वामी बनो। तुम्हारे मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्ति हो। तुम्हारे चेहरे पर स्वाथ्य व ज्ञान की आभा टपकती हो तथा **मधुश्च्युतः**=तुम मधुस्त्रावी बनो। तुम्हारे व्यवहार में तुम्हारी वाणी से माधुर्य टपकता हो। 'अन्दर ज्ञानाग्नि, बाहर माधुर्यमयी वाणी की शीतलता' ये हो तुम्हारा जीवन। ५. **विराजो नाम**=(विशेषेण राजते, नाम इति प्रसिद्धौ) इस ज्ञान व माधुर्य के कारण तू 'विराज' नाम से प्रसिद्ध हो। अथवा इन्द्रियों को

विशेषरूप से शासित करनेवाले के रूप में तुम्हारी प्रसिद्धि हो। ६. **कामदुघाः**=इन्द्रियों को वश में करके काम्य=चाहने योग्य पदार्थों का ही अपने में प्रपूरण करनेवाले तुम बनो। ७. और इस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के सेवन से दूर रहकर तुम **अक्षीयमाणाः**=कभी क्षीणशक्ति न होवो। जीर्णता का मूल अनिष्ट वस्तुओं का स्वादवश सेवन ही है। स्वाद से ऊपर उठकर हम स्वनाश से भी ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—हमारी गति नियमित हो। यज्ञों से हम शक्तियों का वर्धन करें। अनिष्ट पदार्थों के सेवन से शक्तियों का क्षय न होने दें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

समुद्र की अवका (रक्षा-शक्ति)

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन-निर्माण से शरीर का स्वास्थ्य ही नहीं, मनःस्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। 'प्रसन्न मन' सर्वोत्तम रक्षण-साधन है। मन के प्रसन्न होने पर रोग भी शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते। 'मनःप्रसाद' मनुष्य को सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त कराता है, अतः प्रभु जीव से कहते हैं हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स+मुद्) सदा प्रसन्नता के साथ रहनेवाले मन की **अवकया**=रक्षाशक्ति से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। यह 'मनःप्रसाद' तुझे सब आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाएगा। २. **पावकः**=मनःप्रसाद के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। तू अपने जीवन से कभी किसी का अशुभ न कर।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन निम्न हैं—१. मनःप्रसाद के द्वारा अपने को आधि-व्याधियों से बचाना। २. ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र बनाना। ३. सभी का कल्याण करना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

हिम का जरायु

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव॥५॥

१. गत मन्त्र में 'मनःप्रसाद' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके कभी क्षुब्ध न होने का उल्लेख है। प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **हिमस्य**=शीतलता के **जरायुणा**=आवरण से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। थोड़े से मानापमान से तू क्षुब्ध नहीं हो उठता। तुझमें क्रोधाग्नि नहीं भड़क उठती। तू सदा शान्त रहता है। २. इस शीतलता के द्वारा **पावकः**=अपने हृदय को पवित्र करनेवाला तू ३. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर हो। तू मन, वाणी व कर्म से कभी किसी का अशुभ करनेवाला न हो। शिव बनकर ही तू 'शिव' को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—१. हम अपने व्यवहार में सदा शान्त रहें। २. पवित्र जीवनवाले हों। ३. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अपां पित्तम्

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्नेपित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधि॥६॥

१. गत मन्त्र की भावना, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के प्रकरण को ही आगे इस रूप में कहते हैं कि **उप**=उस परमेश्वर के समीप रहता हुआ तू **ज्मन्**=पृथिवी में **अवतर**=अवतीर्ण हो। 'ज्मा' पृथिवी को कहते हैं 'जमतेर्गतिकर्मणः'=गत्यर्थक 'जम' धातु से यह शब्द बना है, अतः अभिप्राय यह है कि जब तू इस पृथिवी पर शरीर धारण करे तो 'गतिशील' बनना। गतिशीलता तो तेरा अध्यात्म स्वभाव ही हो। २. **उप**=उपासना करता हुआ तू **वेतसे**=बेंत में **अवतर**=अवतीर्ण हो। वेतस की भाँति तुझमें नम्रता हो, अकड़ न हो। अथवा 'वयति तन्तून् सन्तनोति' यज्ञतन्तु का तू विस्तार करनेवाला हो। क्रियाशील बन, तेरे कर्म यज्ञात्मक हों। इन उत्तम कर्मों से ही तो तू अपनी शक्तियों का भी विस्तार करेगा। ३. **नदीषु**=(नदतेः स्तुतिकर्मणः) विविध नामों के उच्चारण द्वारा प्रभु की स्तवन क्रियाओं में तू **आ**=सर्वथा अवतर, अवतीर्ण हो। कर्मों को करते हुए तुझे प्रभु का विस्मरण न हो जाए। ४. हे **अग्ने**= प्रगतिशील जीव! तू **अपां पित्तम् असि**=कर्मों का तेज है। क्रियाशीलता ने तुझे तेजस्वी बनाया है। सदा कर्म करने से तेरे सब अङ्गों की शक्ति बढ़ी है। ५. अतः हे **मण्डूकि**=उत्तम गुणों से अपने को मण्डित करनेवाले व्यक्ति! **ताभिः**=उन कर्मों से **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**=अपने कर्मों से ही प्रभु की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। ६. **सः**=वह तू **इमम्**=इस **नः**=हमारे लिए **यज्ञम्**=वेद में प्रतिपादित यज्ञ को, जोकि **पावकवर्णम्**=अग्नि के समान तेजस्वी व **शिवम्**=कल्याणकर है, **कृधि**=कर। यह यज्ञ तुझे तेजस्वी व सुखी करेगा। यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुआ तू बुरे कामों से बचा रहेगा, विषय-वासनाओं में न फँसने से तू जहाँ तेजस्वी बनेगा वहाँ औरों का कल्याण सिद्ध करता हुआ अपना भी कल्याण सिद्ध करेगा।

भावार्थ—१. तू गतिशील, नम्र, यज्ञशील व स्तोता बन। २. कर्मों में लगा रहकर तेजस्वी बन। ३. अपने को सद्गुणों से सुभूषित करके कर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त हो। ४. ये यज्ञ तुझे पावकवर्ण व शिव बनाएँगे।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीबृहती:। **स्वरः**—मध्यमः॥

समुद्र-निवेशनम्

अपामिदं न्ययनꣳसमुद्रस्य निवेशनम्।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥७॥

१. 'गत मन्त्र की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति कैसा बनता है' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अपाम् इदं नि अयनम्**=कर्मों का यह निश्चय से निवास स्थान बना है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। २. **समुद्रस्य**=(स मुद्) आनन्दयुक्त मन का यह **निवेशनम्**= निश्चय से आयतन बना है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। ३. **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते हेतयः**=(हि to urge) तेरी ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु** =(तप् दीप्तौ) दीप्त व पवित्र करनेवाली हो, अर्थात् क्रियाशील व प्रसन्न मनवाला बनकर तू प्रभु से प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ४. **पावकः**=अपने जीवन को निःस्वार्थ वृत्ति व लोकहित की भावना के द्वारा पवित्र रखते हुए तू ५. **अस्मभ्यम्**=हमारी (प्रभु) प्राप्ति के लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=बन। तू कभी औरों की हिंसा का कारण न हो। तेरे प्रत्येक कर्म से औरों का भला ही हो।

भावार्थ—१. हम कर्मों के तो निवास-स्थान बन जाएँ। २. सदा प्रसन्न मन का हममें प्रवेश हो। ३. प्रभु-प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाले बनें। ४. पवित्र जीवनवाले

होकर। ५. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वसुयुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीगायत्रीः। **स्वरः**—षड्जः॥

मन्द्र-जिह्वा

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च॥८॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **देव**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले! तू २. **रोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति के साथ तथा ३. **मन्द्रया जिह्वया**=आनन्दित करनेवाली रस से परिपूर्ण जिह्वा के द्वारा ४. **देवान् आवक्षि**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला बन, **च**=और **यक्षि**=सब प्रजाओं के साथ सङ्गतीकरणवाला हो। ५. उल्लिखित अर्थ में ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) एक प्रचारक व नेता सबसे प्रथम अपने जीवन को 'प्रगतिशील' (अग्नि), पवित्र (पावक) व दिव्य (देव) बनाता है। (ख) इसने प्रचारकार्य में तभी प्रवृत्त होना है जब अपनी ज्ञान की दीप्ति को उज्ज्वल कर चुका हो (रोचिषा) तथा वाणी के माधुर्य का इसने सम्पादन किया हो (मन्द्रजिह्वा) प्रचारकार्य में वाणी का माधुर्य अत्यन्त आवश्यक है। (ग) इसने ज्ञानप्रचार के द्वारा प्रजाओं में दिव्य गुणों की वृद्धि का प्रयत्न करना है। (देवान् वक्षि) तथा प्रजाओं के साथ स्वयं मेल का प्रयत्न करना है (यक्षि)। प्रजाओं के पहुँचने की आशा-प्रतीक्षा में अपनी सुदूर कुटी व आश्रम में ही शान्तभाव से नहीं बैठे रहना। यह सभी के जीवनों को उत्तम बनाने की कामनावाला सचमुच 'वसुयु' (उत्तम निवास को चाहनेवाला) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो ज्ञान-दीप्त व मधुर वाणीवाला बनकर लोकहित में प्रवृत्त होता है और प्रभु के सन्देश को मधुर शब्दों में उन तक पहुँचाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञ+हविः

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ऽइहावह। उप यज्ञꣳहविश्च नः॥९॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही अधिक विस्तृत करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले तथा **दीदिवः**=ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान मेधातिथे! **नः**=हमारा बना हुआ तू, अर्थात् प्रकृति में न फँसा हुआ तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य गुणों को **आवह**=समन्तात् प्राप्त करनेवाला बन। २. **च**=और **नः**=हमारा बना हुआ तू **यज्ञं उप**=सदा यज्ञों के समीप होनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञों से कभी दूर न हो। ३. और इस प्रकार **हविः**=तू हविरूप बन जा। अधिक-से-अधिक त्याग करनेवाला बन। (हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' तो तेरा व्रत ही बन जाए। (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=त्यागपूर्वक उपभोग कर)—इस उपदेश को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। 'केवलाघो भवति केवलादी'='अकेला खानेवाला पाप ही खाता है' तेरा सिद्धान्त बन जाए।

भावार्थ—प्रभु का प्यारा दिव्य गुणों को अपनाता है, यज्ञशील होता है और अपने जीवन को हविरूप बना देता है, सदा दानपूर्वक यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

भारद्वाज

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचऽउषसो न भानुना।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रणऽआ यो घृणेन ततृषाणोऽअजरः॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भारद्वाज' बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में इस भारद्वाज का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि भारद्वाज वह है **यः**=जो **पावकया**=जीवन को पवित्र बनानेवाली **चितयन्त्या**=(चेतयन्त्या) संज्ञान से परिपूर्ण करनेवाली **कृपा**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्ति से **क्षामन्**=इस पृथिवी में, अर्थात् इस शरीर में (पृथिवी शरीरम्) **रुरुच**=इस प्रकार शोभायमान होता है **न**=जैसे **उषसः**=उषःकाल **भानुना**=सूर्य की प्रारम्भिक किरणों से। यह उषःकाल का प्रकाश मनों में पवित्र भावनाओं का सञ्चार करने से 'पावक' है, अन्धकार को दूर करने से 'चेतयन्' है, यह सबको जागने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार भारद्वाज की शक्ति भी पवित्रता व चेतना से युक्त है। २. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **नू**=निश्चय से **एतशस्य रणे**=इन इन्द्रियाश्वों के संग्राम में **यामन्**=जीवनयात्रा के मार्ग में **तूर्वन् न**=हिंसा न करता हुआ चलता है। इन्द्रियाँ विषयों में जाने लगती हैं, यह भारद्वाज उन इन्द्रियों को विषयों में जाने नहीं देता। यही इसका इन्द्रियाश्वों का संग्राम है। इस संग्राम में यह इनको मार लेता है, जीत लेता है। इन्द्रियों को निर्बल नहीं होने देता, परन्तु उनको अपने पर प्रबल भी नहीं होने देता। ३. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **आघृणेन**=समन्तात् ज्ञान की दीप्ति से **ततृषाणः**=अत्यन्त पिपासित होता है, अर्थात् जिसको प्रकृतिविद्या में व आत्मविद्या में सब ओर ही ज्ञान की प्यास है (अपराविद्या व पराविद्या) दोनों में ही अपने ज्ञान को यह बढ़ाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इन्द्रिय-संग्राम में विजय का रहस्य इस ज्ञान की पिपासा में ही है। ४. इस ज्ञान की प्यास से विषयों से बचकर यह **अजरः**=अजीर्णशक्ति बना रहता है और अपने 'भारद्वाज' नाम को सार्थक करता है।

भावार्थ—१. भारद्वाज पवित्र व ज्ञान-सम्पन्न शक्ति से चमकता है। २. यह इन्द्रिय-संग्राम में विजयी होता है। ३. इसकी ज्ञान की प्यास प्रबल होती है। ४. ज्ञान की प्यास इसे विषयों से बचाकर अजीर्णशक्ति बनाये रखती है।

सूचना—वेद के शब्दों में शक्ति वही प्रशंसनीय है, जिसके साथ पवित्रता व ज्ञान का समन्वय है। 'शरीर में शक्ति, मन में पवित्रता, मस्तिष्क में ज्ञान' ये ही मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरस्-शोचिस्-अर्चिस्

नम॑स्ते हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्तेऽअस्त्व॒र्चिषे॑।

अ॒न्याँस्ते॑ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑ः पाव॒कोऽअ॒स्मभ्य॑ꣳशि॒वो भ॑व॥११॥

१. पिछले मन्त्र का 'भारद्वाज' अपने जीवन को शक्तिसम्पन्न, पवित्र व ज्ञानमय बनाकर सब वासनाओं का विलोप करने लगता है, इन्द्रिय-संग्राम में जीतता है। वासनाओं का विलोप करने के कारण यह 'लोपा' कहलाता है और वासना-विनाश से ही सदा प्रसन्न रहने के कारण 'मुद्रा' नामवाला होता है, अतः इसका पूरा नाम 'लोपामुद्रा' हो जाता है। इसके जीवन के लिए प्रभु कहते हैं कि २. **ते हरसे**=तेरी इस बुराइयों के हरण की शक्ति के लिए **नमः**=तेरा आदर करते हैं। ३. **शोचिषे**=तेरी इस मानस शुचिता के लिए आदर करते हैं। ४. **ते अर्चिषे नमः अस्तु**=तेरी इस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला के लिए आदर हो। **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते**=तेरी ये **हेतयः**=प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों, अर्थात् तू मुझसे ज्ञान प्राप्त करके इस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ५. **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तू ६. **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए

शिवः भव=कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—'लोपा-मुद्रा' के जीवनवाला व्यक्ति अवश्य प्रभु को प्राप्त होता है। यह बुराइयों का हरण करता है, मन को शुचि बनाता है, मस्तिष्क को दीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला। औरों को ज्ञान प्राप्त कराता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र करता है, सभी का कल्याण करता है।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ब्रह्मचर्य से ब्रह्म

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट्॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'लोपामुद्रा' बनने के लिए मार्ग बताया है कि अपनी जीवन-यात्रा की प्रथम मंज़िल में **नृषदे**=(नृषु सीदति) नायकों में स्थित होनेवाले के लिए आगे ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों में स्थित होनेवाले के लिए, अर्थात् पूर्णरूप से उनकी आज्ञा में चलनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **अप्सुषदे**=अब गृहस्थ में आने पर निरन्तर कर्मों में आसीन होनेवाले के लिए, अर्थात् उस गृहस्थ के लिए जो कि कुटुम्ब-भरण का सतत पुरुषार्थ करता है, जिसको आलस्य छू भी नहीं गया उस गृहस्थ का **वेट्**=हम आदर करते हैं। ३. अब वानप्रस्थाश्रम में **बर्हिषदे**=वासना-शून्य हृदय में स्थित होनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। जिसमें वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है वही हृदय बर्हि कहलाता है। एक वानप्रस्थ का सतत प्रयत्न यही होता है कि वह अपने हृदय को वासनाओं से शून्य बना सके। ४. **वनसदे**=(वननं=वनः=संभजन) सदा सम्भजन में स्थित होनेवाले संन्यासी के लिए हम **वेट्**=आदर के शब्द कहते हैं। यह संन्यासी प्रतिक्षण परमेश्वर का स्मरण करता है। अपनी सब क्रियाओं को करते हुए इसके मुख में प्रभु का नाम ही उच्चरित होता रहता है। ५. यह संन्यासी **स्वर्विदे**=उस स्वयं देदीप्यान प्रभु को प्राप्त करनेवाला (विद् लाभे, स्वयं राजते इति स्वरः) होता है। इस प्रभु को प्राप्त करनेवाले संन्यासी के लिए **वेट्**=हम आदर के शब्द कहते हैं। ६. इस प्रकार जीवन-यात्रा को क्रमशः पूर्ण करता हुआ यह व्यक्ति अपनी छोटी उम्र में माता-पिता व आचार्य में स्थित होता है। आगे चलकर सदा क्रियाशील बनता है। फिर वासनाओं के उखाड़ने में लगकर यह सतत उस प्रभु का भजन करता है। यही व्यक्ति हम सबके आदर का पात्र होता है।

भावार्थ—हम 'नृषद्, अप्सुषद्, बर्हिषद्, वनसद् तथा स्वर्वित् का आदर करते हैं।'

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

'लोपा-मुद्रा' का जीवन

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳬसंवत्सरीणमुप भागमासते।
अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य॥१३॥

१. **ये**=जो **देवानां देवाः**=देवों में भी देव हैं, विद्वानों में भी विद्वान् हैं, अर्थात् उच्च कोटि के ज्ञानी हैं। २. **यज्ञियानां यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में भी यज्ञशील हैं, अधिक-से-अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हैं। ३. **संवत्सरीणम्**=संवत्सर में होनेवाले, अर्थात् वर्षभर के **भागम्**=अपने कर्त्तव्यभाग की **उपासते**=उपासना करते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष का अपना कार्यक्रम बनाकर उसे पूरा करने का ध्यान करते हैं। ४. **अहुतादः**=दान दिये हुए को (हु दान) नहीं खाते, अर्थात् कभी दानवृत्ति पर आश्रित नहीं होते, अपितु ५. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में

हविषः=सदा हविरूप बनने का प्रयत्न करते हैं, (जुहोति इति हविः=जो देता है) सदा देते हैं, प्रतिग्रह से नहीं जीते। ५. **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से **मधुनः**=मधु का व **घृतस्य**=घृत का **पिबन्तु**=पान करनेवाले बनते हैं, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर शहद व घृत आदि उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लक्षण ये हैं १. ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान। २. यज्ञिय वृत्ति। ३. जीवन को कार्यक्रम के साथ चलाना। ४. दान से जीविका न करना। ५. जीवन-यज्ञ में हविरूप बनना। ६. स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर घृत, शहद आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करना।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

न स्वर्ग में न पर्वत-शिखरों पर

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुरऽएतारोऽअस्य।
येभ्यो नऽऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्याऽअधि स्नुषु ॥१४॥

१. **ये**=जो **देवाः**=विद्वान् लोग **देवेषु**=विद्वानों में **अधिदेवत्वम्**=आधिक्येन विद्वत्ता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। जो ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस ज्ञान को प्राप्त करके २. **ये**=जो **अस्य ब्रह्मणः**=इस ज्ञान को **पुरः**=आगे **एतारः**=ले-जानेवाले होते हैं (एतार इति अन्तर्भावितण्यर्थः प्रापयितारः गमयितारः)। ये विद्वान् ज्ञान प्राप्त करके इसे दूसरों को प्राप्त करानेवाले होते हैं, उसी प्रकार जैसेकि 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' ने प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्य अज्येष्ठ, अकनिष्ठ भ्राताओं को ज्ञान दिया। चार सर्वोत्कृष्ट बुद्धिवालों ने हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुना और उस प्रेरणा को औरों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार ये उत्कृष्ट ज्ञानी सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करते हैं, जहाँ ये जाते हैं वहीं वातावरण को बड़ा पवित्र बना डालते हैं। इसी लिए मन्त्र में कहते हैं कि २. **येभ्यः ऋते**=जिनके बिना **किञ्चन धाम** =कोई भी स्थान **न पवते**=पवित्र नहीं होता। ये लोग ज्ञान की चर्चा के द्वारा पवित्रता का सञ्चार करनेवाले होते हैं। जहाँ इस प्रकार के ज्ञानी नहीं पहुँचते वहाँ अज्ञानान्धकार फैलकर वातावरण को बड़ा दूषित कर देता है। ४. ये विद्वान् प्रजा के हित के लिए प्रजाओं में ही विचरण करते हैं। ये संसार को मायाजाल व अशान्ति का स्थान मानकर इससे दूर नहीं भाग जाते। **ते**=वे विद्वान् **दिवः**=द्युलोक के अथवा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अधिस्नुषु**=पर्वत-शिखरों पर **नः**=नहीं भाग जाते, इसी प्रकार ये विद्वान् संन्यासी भी अशान्ति के भय से कहीं स्वर्गलोक में व पर्वत-शिखरों पर नहीं भागे फिरते। 'स्वर्गलोक में या पर्वत-शिखरों पर' यह मुहाविरा है, केवल इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कि ये विद्वान् यहीं लोगों में ही रहते हैं। दूर शान्त स्थानों को नहीं ढूँढते रहते। दूर भागनेवाले संन्यासी ने क्या लोकहित करना?

भावार्थ—हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें। ज्ञान को चारों ओर फैलाने का प्रयत्न करें। ज्ञान को फैलाकर वातावरण को पवित्र बनाएँ। अज्ञानावृत लोगों से घृणा करके सुदूर पर्वत-शिखरों पर न भागे फिरें।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्याख्यानों के विषय

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यᳪशिवो भव ॥१५॥

१. लोगों में रहकर तू **प्राणदाः**=उन्हें प्राणशक्ति का ज्ञान देनेवाला हो। तेरे व्याख्यान प्राणशक्ति की वृद्धि के साधनों पर हों। प्राणशक्ति के बढ़ाने के लिए समुचित आहार-विहार का तू प्रतिपादन करनेवाला बन। २. इसी प्रकार **अपानदाः**=तू उनको दोषों के दूर करनेवाली अपानशक्ति का ज्ञान दे। 'किन-किन वस्तुओं के सेवन करने से यह शक्ति ठीक बनी रहती है' इसका तू प्रतिपादन कर। 'कौन से भोजन किस रूप में किये गये इसके लिए हानिकर हैं' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ३. **व्यानदाः**=व्यानशक्ति के ज्ञान का तू उन्हें देनेवाला बन। 'वह सर्वशरीर-सञ्चारी-वायु सारे नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाला वायु कैसे ठीक रहता है' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ४. इन विषयों के प्रतिपादन के द्वारा तू लोगों के लिए **वर्चोदाः**=शक्ति को देनेवाला हो। 'शरीर में किस प्रकार वर्चस् का संयम किया जा सकता है' इस विषय को तू लोगों को समझानेवाला हो। ५. इन सब बातों के साथ **वरिवोदाः**=तू धन को भी देनेवाला बन (वरिवः=wealth)। 'धन-प्राप्ति के क्या उचित उपाय है' इसका प्रतिपादन करनेवाला बन। 'वरिवः' शब्द का अर्थ worshipping=पूजा भी है, अतः तू लोगों को प्रभु की पूजा का ठीक प्रकार समझानेवाला हो और इस प्रकार उनके जीवनों में (वरिवः=Happiness) आनन्द का सञ्चार करनेवाला बन। ६. प्रभु कहते हैं कि **अस्मत्**=हमसे **ते**=तुझे प्राप्त **हेतयः**=ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों। तू इन प्रेरणाओं को आगे पहुँचानेवाला बन। ७. **पावकः**=अपने जीवन को निरन्तर पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्** =हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=सबका कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासियों के व्याख्यान के विषय निम्न होने चाहिएँ। १. प्राण, अपान व व्यान की शक्तियों की वृद्धि। २. शरीर को कैसे वर्चस्वी बनाना? ३. 'धन-प्राप्ति के उचित उपाय क्या हैं?' ४. प्रभु-उपासना का प्रकार क्या है? ५. आनन्द-प्राप्ति का मार्ग क्या है? इस प्रकार विद्वान् लोग वैदिक प्रेरणाओं से औरों के जीवनों को दीप्त करें। प्रभु-प्राप्ति उन्हें तभी होगी जब वे पवित्र बनकर सभी के कल्याण में प्रवृत्त होंगे। 'लोपा-मुद्रा' बनने का यही मार्ग है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि' का लक्षण

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम्। अग्निर्नो वनते रयिम् ॥१६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' का लक्षण दिया है। 'अग्नि' वह पुरुष है जिसने अपने को अग्र स्थान पर प्राप्त कराया है तथा औरों को अग्र स्थान पर पहुँचाने में सहायक हो रहा है। इसी उद्देश्य से यह ज्ञान-प्रसार के कार्य में प्रवृत्त हुआ है। इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में लगने से पहले यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **तिग्मेन शोचिषा** =बड़ी तीव्र ज्ञान की ज्योति से **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों को **नियासत्**=नितरां क्षीण करता है (यास् उपक्षये) 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाने का प्रयत्न करता है। इन्हें वशीभूत करके ही यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **नः रयिम्**=हमारे धन को **वनते**=संविभागपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। (वनतिर्दानार्थः—उ०) यह धन को देकर बचे हुए को ही सदा खाता है। यह धन को प्रभु का ही समझता है। परिणामस्वरूप इसका जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—१. 'अग्नि' वह है जो तीव्र ज्ञान से कामादि वासनाओं को क्षीण कर देता

है। वासनाओं को क्षीण करके यह 'भारद्वाज' अपने में शक्ति भरनेवाला बनता है। २. यह धन कमाता है, परन्तु उसे प्रभु का समझता हुआ सदा संविभागपूर्वक सेवन करता है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रथमच्छद

यऽइ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत्पि॒ता नः॑।
सऽआ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छदव॑राँ२॥ऽआवि॑वेश॥१७॥

१. गत मन्त्र में अग्नि की 'तिग्मशोचिः'=तीव्र ज्ञान-ज्योति का उल्लेख है। यह ज्ञान-ज्योति क्या है? इसी का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्रों में है। 'यह सृष्टि कैसे बनी?' इसमें हमारा क्या स्थान व कर्त्तव्य है? इन विषयों को समझनेवाला (भुवनं पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला, वासनाओं से रक्षित करनेवाला तथा विश्वकर्मा=सदा कर्मों में व्यापृत रहनेवाला ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह उपासना करता हुआ इस प्रकार ध्यान करता है कि २. **यः**=जो **इमा**=इन **विश्वा भुवनानि**=सब दृश्यमान लोकों को **जुह्वत्**=प्रलय काल में अपने में आहुत करता हुआ **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **होता**=सृष्टिकाल में सब पदार्थों का देनेवाला **नः**=हम सबका **पिता**=रक्षक **न्यसीदत्**=निश्चय से विराजमान है, २. **सः**=वह हमारा पिता प्रभु **आशिषा** ='बहुः स्यां प्रजायेय'=मैं फिर बहुतों-से जाना जाऊँ, अतः इस सृष्टि को उत्पन्न करूँ, इस कामना से **द्रविणम्** =इसी गतिमय संसार को (द्रु गतौ से 'द्रविणं,' सृ गतौ से संसार) **इच्छमानः**=चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**=(प्रथ विस्तारे, छादयति) अपने विस्तार से सारे संसार को आच्छादित करनेवाला **अवरान् आविवेश**=इन अवर जीवों में प्रविष्ट हो रहा है। वह सबका अन्तर्यामी है। प्रभु पर (श्रेष्ठ) हैं, जीव अवर है, प्रभु जीवों में प्रविष्ट होकर उन्हें अन्तःप्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ३. प्रभु जीवों को आच्छादित भी किये हुए हैं (प्रथमच्छद्) और उनमें प्रविष्ट भी हो रहे हैं (आविवेश)। यह 'भुवन पुत्र विश्वकर्मा' अपने को प्रभु से आच्छादित अनुभव करके निर्भयता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रलयकाल में ये सब लोक-लोकान्तर प्रकृतिरूप होकर प्रभु के गर्भ में रहते हैं। सृष्टि बनने पर प्रभु सब लोकों को आच्छादित करके उनमें व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अधिष्ठान-आरम्भणम्

किᳬस्वि॑दासीदधि॒ष्ठान॑मा॒रम्भ॑णं कत॒मत् स्वि॑त्क॒थासी॑त्।
यतो॒ भूमिं॑ ज॒नय॑न्वि॒श्वक॑र्मा॒ वि द्यामौर्णो॑न्महि॒ना वि॒श्वच॑क्षाः॥१८॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि विश्वकर्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। संसार में अधिष्ठानरहित लोग किसी वस्तु को करते हुए नहीं देखे जाते, अतः प्रश्न करते हैं कि **अधिष्ठानं किं स्वित् आसीत्**=(अधितिष्ठत्यस्मिन् इति) अधिकरण क्या था? कहाँ स्थित होकर प्रभु ने इस सृष्टि का निर्माण किया। २. फिर जैसे घटादि के निर्माण के लिए मिट्टी उपादान होती है इसी प्रकार इस सृष्टि के निर्माण के लिए (आरभ्यते अस्मात् इति) **आरम्भणं कतमत् स्वित्**=उपादानकारण कौन-सा था? ३. जैसे चक्र, मृत्तिका, सलिल आदि से घट का निर्माण होता है, इसी प्रकार यहाँ सृष्टि-निर्माण में **कथा आसीत्**=(कथंभूता क्रिया आसीत्) क्रिया किस प्रकार हुई? ४. एवं अधिष्ठान, आरम्भण व क्रिया के विषय में प्रश्न करके कहते हैं कि **यतः**=जिनके होने पर, अर्थात् जिनसे विश्वकर्मा—उस संसार

के निर्माता प्रभु ने **भूमिं द्यां च जनयन्**=पृथिवी और द्युलोक का उत्पादन करते हुए **महिना**=अपनी महिमा से **वि और्णोत्**=इनको विशिष्ट रूप से आच्छादित किया, इस प्रकार जैसे माता बच्चे को गोद में लेकर सुरक्षित करती है, उसी प्रकार वे प्रभु **विश्वचक्षा:**=इस संसार का ध्यान कर रहे हैं (चक्ष् to look after)।

भावार्थ—प्रभु अपनी महिमा से प्रकृति को इस विकृति व विसृष्टि का रूप देते हैं। इस सृष्टि का धारण भी वे प्रभु ही कर रहे हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड का ध्यान करते हैं।

ऋषि:—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्द:**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

विश्वतश्चक्षु: पतत्रै

वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात्।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न्दे॒वऽएक॑:॥१९॥

१. गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह विश्वकर्मा **विश्वतश्चक्षु:**=सब ओर चक्षु-शक्तिवाला है, उत **विश्वतोमुख:**=और सब ओर वे प्रभु मुख की शक्तिवाले हैं। **विश्वतोबाहु:**=उनमें सब ओर बाहुओं की ग्रहणशक्ति है **उत**=और **विश्वतस्पात्**=सब ओर पाँवों की शक्ति है। वस्तुत: उस-उस इन्द्रिय से रहित होते हुए भी वे प्रभु उस-उस इन्द्रिय की शक्तिवाले हैं। वे सर्वव्यापक हैं। अव्यापक व एकदेशी को ही आधार की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापक प्रभु के लिए किसी ऐसे आधार की आवश्यकता नहीं है। २. ये प्रभु इस सृष्टि का निर्माण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का भी प्रसङ्ग-वश उत्तर देते हुए कहते हैं कि **बाहुभ्याम्**=(बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्याम्) जीवों के धर्माधर्म के कारण संधमति (धमतिर्गत्यर्थ:) इस सृष्टि-निर्माण की क्रिया को सम्यक्तया करते हैं। यदि जीव का धर्माधर्म न हो तो इस सृष्टि के बनाने का प्रयोजन ही न रह जाए। प्रभु कोई अपनी क्रीड़ा के लिए इस संसार को नहीं बना देते। ३. उपादान क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं वह **एक: देव:**=चक्र, सूत्र आदि उपकरणों से रहित अकेला देव ही **पतत्रै:**=(पतनशीलै: परमाण्वादिभि:—द०) निरन्तर गति में वर्त्तमान अथवा गति-स्वभाववाले परमाणुओं से **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **सं जनयन्**=सम्यक् आविर्भूत करता है। ४. एवं गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर यह हुआ कि (क) सर्वव्यापक होने के कारण उस प्रभु का कोई अधिष्ठान नहीं है। (ख) निरन्तर गतिशील परमाणु ही वे उपादान हैं जिनसे प्रभु सृष्टि को बनाते हैं। (ग) सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक होने के कारण प्रभु को चक्र, सूत्रादि उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। केवल जीवों के धर्माधर्म, इष्टानिष्ट प्रयत्न (बाहु=प्रयत्न) ही अपेक्षित हैं। इनके न होने पर तो यह सृष्टि प्रभु की एक वैषम्य व नैर्घृण्य (पक्षपात व क्रूरता) से भरी क्रूर-क्रीड़ा ही प्रतीत होने लगती।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु, अपने स्वरूप में ही स्थित हुए, जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा से निरन्तर क्रियाशील परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण कर देते हैं। उन्हें किन्हीं उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

ऋषि:—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्द:**—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

वनं-वृक्ष:

किꣳस्वि॒द्वनं॒ कऽउ॒ स वृ॒क्षऽआ॑स॒ यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षु:।
मनी॑षिणो॒ मन॑सा पृच्छ॒तेदु॒ तद्यद॒ध्यति॑ष्ठ॒द्भुव॑नानि धा॒रय॑न्॥२०॥

१. **वनम्**=वे संभजनीय प्रभु **किं स्वित्**=कैसे हैं व कौन हैं? २. **उ**=तथा **सः वृक्षः**=(वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः) वह छेदनयोग्य यह संसार क्या है? ३. उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**=गत मन्त्र में वर्णित पतत्रों (परमाणुओं) से घड़े गये हैं। ४. **मनीषिणः**=हे मन का शासन करनेवाले विद्वानो! **मनसा पृच्छत इत् उ**=मन से ही उसे जानने की इच्छा करो **तत्**=उसे **यत्**=जो **भुवनानि**=सब लोकों को **धारयन्**=धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृ रूपेण वर्त्तमान है। ५. 'वे संभजनीय प्रभु कैसे हैं?' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि (क) उनसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक घड़कर बनाये गये हैं। (ख) वे मन से ही जानने योग्य हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं (ग) सब भुवनों का धारण कर रहे हैं। (घ) और सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। ६. यह संसार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (क) यह छेदनीय (वृक्ष) है। दृढ़, असङ्ग (Non attachment) शस्त्र से ही इसका छेदन हो सकता है। (ख) इसका एक सिरा पृथिवी है तो दूसरा सिरा द्युलोक है। दूसरे शब्दों में यह सान्त है। विशाल होते हुए भी इसका अन्त तो है ही। (ग) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में कितने ही भुवन (लोक-लोकान्तर) हैं, अनगिनत लोकों से बना हुआ यह संसार है। (घ) परमेश्वर से यह अधिष्ठित है।

भावार्थ—वे प्रभु वन=उपास्य हैं, यह संसार वृक्ष=छेदनीय है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-अवम-मध्यम धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥२१॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सारे संसार के निर्माण करनेवाले! **स्वधावः**=अपनी धारण शक्तिवाले! और किसी से न धारण किये जानेवाले प्रभो! **ते**=आपके **या**=जो **परमाणि धामानि**=उत्कृष्ट धाम (property, wealth) ज्ञानरूप सम्पत्तियाँ हैं, **या**=जो **अवमा**=ये सबसे कनिष्ठ **धामानि**=लक्ष्मीरूप सम्पत्तियाँ हैं **उत**=और **या मध्यमा**='बल व शक्ति'रूप सम्पत्तियाँ हैं **इमा**=इन सबको **सखिभ्यः**=अपने इन सदा सयुज सखाओं=जीवों के लिए **हविषि**=हवि के निमित्त **शिक्ष**=दीजिए (शिक्ष=देहि—म०) आपसे ज्ञान, धन व बल को प्राप्त करके आपके सखा ये जीव इनका हविरूप में ही प्रयोग करें। इनसे वे औरों का कल्याण करनेवाले बनें। २. अपने सखा जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **तन्वम्**=अपने शरीरों की शक्तियों को **वृधानः**=बढ़ाते हुए स्वयं **यजस्व**=तू इन वस्तुओं से स्वयं सङ्गत हो। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, शान्त होकर रुक नहीं जाता तब वह अवश्य ही प्रभु को पानेवाला बनता है। जीव को चाहिए कि संयम से सबल होकर स्वयं ही प्रभु को प्राप्त करे और प्रभु के सब धामों को प्राप्त करने का अधिकारी बने।

भावार्थ—प्रभु के सब धाम=सम्पत्तियाँ=ज्ञान, धन व बल अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवालों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मघवा-सूरिः

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्येऽअभितः सपत्नाऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥२२॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों में प्रभु जीव से शक्तिधामों को स्वयं प्राप्त करने के लिए कह रहे थे। उसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत मन्त्र में चलाते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **विश्कर्मन्**=सब कालों में सदा कर्म करनेवाले मेरे मित्र! तू **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, अर्थात् स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **वावृधानः**=शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से खूब उन्नति करता हुआ **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से ही **पृथिवीम्**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर को **उत**=और **द्याम्**=प्रकाशमय मस्तिष्क को **यजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। (क) तेरा जीवन क्रियाशील हो (विश्वकर्मन्) (ख) दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हविषा) (ग) सब प्रकार से खूब उन्नति कर (वावृधानः) और इस प्रकार (घ) शरीर की शक्तियों को प्रथित कर (पृथिवीम्) तथा मस्तिष्क को प्रकाशमय बना (धाम्)। २. **अन्ये**=तुझसे भिन्न **अभितः सपत्नाः**=तेरे आन्तर व बाह्य शत्रु **मुह्यन्तु** =वैचित्य को प्राप्त करें। उनके तो होशो-हवास भी गुम हो जाएँ। तेरे शत्रु घबराकर तुझे दूर से छोड़ दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इह**=इस संसार में **मघवा**=(मघ=मख) यज्ञशील **सूरिः**=विद्वान् पुरुष **अस्माकम् अस्तु**=हमारा बनकर रहे। वह प्रकृति का दास न बन जाए। प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। यह प्रभु का प्यारा स्वयं यज्ञशील व ज्ञानी बनकर औरों को भी (षू प्रेरणे) सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो। (सूरिः=आत्मज्ञानोपदेशकः-म०)।

भावार्थ-१. हम क्रियाशील हों। २. दानपूर्वक अदन ही हमारा स्वभाव हो। ३. सदा उन्नति के मार्ग पर चलें। ४. शरीर की शक्तियों को बढ़ाएँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करें। ५. बाह्य व आन्तर शत्रुओं को जीतें। ६. यज्ञशील हों। ७. ज्ञानी बनकर औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः-भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**-विश्वकर्मा। **छन्दः**-भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

विश्वशम्भूः-साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥२३॥

१. **वाचस्पतिम्**=वाणी के पति, वेदज्ञान के स्वामी **विश्वकर्माणम्**=सब कर्मों को करानेवाले अथवा इस संसाररूप कर्मवाले, सृष्टि के निर्माता **मनोजुवम्**=सबके मनों में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए-आधि-व्याधियों से बचने के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **अद्या**=आज **हुवेम**=पुकारते हैं। (क) प्रभु वेदज्ञान के पति हैं, उस प्रभु से ही हम सब ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनेंगे। (ख) वे प्रभु विश्वकर्मा हैं, हमें भी कर्म करने की सब शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। (ग) **मनोजुवम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु मुझे सदा प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। (घ) यदि हम इस प्रेरणा को सुनेंगे तो अवश्य आधि-व्याधियों से बचेंगे और शक्ति को प्राप्त करेंगे (ऊतये, वाजे)। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **विश्वानि**=सब **हवनानि**=आह्वानों को **जोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् हमारी पुकार को सुनें। ३. **विश्वशम्भूः**=वह सारे संसार का कल्याण करनेवाले हैं। ४. **अवसे**=वे प्रभु अन्नादि प्रापण के द्वारा हमारी रक्षा करते हैं। ५. **साधुकर्मा**=वे प्रभु सदा उत्तम व सिद्ध कर्मोंवाले हैं। प्रभु का उपासक बनकर मैं भी 'साधुकर्मा' बन पाऊँ।

भावार्थ-प्रभु की उपासना से मेरा जीवन शान्त होगा, मेरा योगक्षेम ठीक चलेगा

(अवसे) मेरे कर्म सदा उत्तम व सफलतावाले होंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

उग्र-विहव्य=अधृष्य, अभिगम्य

विश्वकर्मन् हविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्॥२४॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सम्पूर्ण सृष्टिरूप कर्म करनेवाले प्रभो! आप **हविषा**=दानपूर्वक अदन—त्यागपूर्वक भोग की वृत्ति से तथा **वर्द्धनेन**=सब शक्तियों के वर्धन से (वर्धते) या काम-क्रोधादि शत्रुओं के छेदन से (वर्धयति=to cut, shear) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **त्रातारम्**=अपना रक्षक, शरीर व मन को व्याधि व आधियों से बचानेवाला तथा **अवध्यम्**=वृत्रादि शत्रुओं से वध के अयोग्य **अकृणोः**=बना दीजिए। २. उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) दानपूर्वक अदनवाले हों (हविषा)। (ख) काम-क्रोधादि का छेदन करें (वर्धनेन)। (ग) इन्द्रियों के अधिष्ठाता हों (इन्द्रम्)। (घ) अपने को रोगाक्रान्त न होने दें (त्रातारम्)। (ङ) वासनाओं से वध योग्य न हो जाएँ (अवध्यम्)। ३. **तस्मै**=उल्लिखित जीवनवाले व्यक्ति के लिए **पूर्वीः विशः**=उत्कृष्ट प्रजाएँ **समनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् उसका आदर करती हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यथा**=जिससे **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी तथा **विहव्यः**=विविध कार्यों में आह्वान के योग्य हो। यह सबका आदरणीय हो।

भावार्थ—हमारा जीवन तेजस्वी और विहव्य हो। हम तेजस्वी हों, परन्तु भयंकर न हों। लोगों की दृष्टि में हम आदरणीय हों। तेजस्विता के कारण हम 'अधृष्य' हों, परन्तु क्रोधादि से ऊपर उठे होने के कारण 'अभिगम्य' हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

अन्तों की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ताऽअददृहन्त पूर्वऽआदिद् द्यावापृथिवीऽअप्रथेताम्॥२५॥

१. गत मन्त्र का 'उग्र और विहव्य' व्यक्ति **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का पालक बनता है। यह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोकता है। २. **मनसा हि धीरः**=मन से यह अत्यन्त धैर्यवाला होता है (धैर्यवान्—द०)। ३. इसकी **घृतम्**=तेजस्विता व ज्ञान-दीप्ति **एने**=इसके पृथिवी व द्युलोक को—शरीर व मस्तिष्क को **नम्नमाने**=नम्रतावाला **अजनत्**=करते हैं। इसके शरीर में तेजस्विता के कारण अकड़ नहीं होती, अर्थात् इसके अङ्ग लोच=लचकवाले होते हैं और इसका मस्तिष्क ज्ञान के कारण अकड़ व घमण्ड से रहित होता है। ४. **यदा इत्**=ज्योंही **पूर्वे**=शरीर में प्रथमस्थान में स्थित, अर्थात् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अन्तः**=अन्त-प्रदेश, आशा-स्थान **अददृहन्त**=दृढ़ हो जाते हैं **आत् इत्**=त्योंही **द्यावापृथिवी अप्रथेताम्**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही विस्तृत शक्तियोंवाले हो जाते हैं। ५. यहाँ 'अन्तः' शब्द जिन अन्त-प्रदेशों व आशा-स्थानों (आशा=दिशा) का उल्लेख करता है उनका वर्णन अथर्व १।३१।२। में इस प्रकार हुआ है **'य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थन देवाः।ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः।'** अर्थात् हे देवो! जो तुम दिशाओं के चार दिशा-पालक हो वे तुम हम

सबको अवनति के पाशों से तथा हरेक पाप से छुड़ाओ। यहाँ पूर्वद्वार 'मुख' है और इसके सम्मुख पश्चिम द्वार 'गुदा' है। इन दोनों का अभिप्राय यह है कि मुख से कोई भी अपथ्य भोजन व अतिमात्र भोजन प्रवेश न कर सके तथा गुदा से प्रत्येक मलांश का बहिष्करण होता रहे। इसी प्रकार उत्तर द्वार 'विदृति'=ब्रह्मरन्ध्र है और इसके ठीक सुदूर नीचे की ओर दक्षिण द्वार 'शिश्न' है। शिश्न के दृढ़ होने का अभिप्राय यह है कि यह मूत्र का ही त्याग करनेवाला हो, रेतस् का रक्षक हो। ऐसा होने पर ही 'विदृति' द्वार हमारे लिए प्रकाशमय होकर हमारे बन्धन से मोक्ष का कारण बनेगा। ६. इन अन्तों का दृढ़ीकरण आवश्यक है। इनके दृढ़ीकरण के बिना शरीर स्वस्थ नहीं हो पाता और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझी रह जाती है।

भावार्थ—हम शरीर में चारों अन्तों को दृढ़ करके तेजस्वी व ज्ञान-दीप्त बनें।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा-विमनाः

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् परऽएकमाहुः॥२६॥

१. वे प्रभु **विश्वकर्मा**=(विश्वं कर्म यस्य) इस सृष्टिरूप कर्मवाले हैं, इस ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। २. **विमनाः**=(विविधं मनो विज्ञानं यस्य—द०) विविध व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। अपनी उत्कृष्ट ज्ञानमयता से ही प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रभु के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही यह सृष्टि पूर्ण है। ३. **आत्**=और (अपि च) **विहायाः**=वे प्रभु महान् हैं, सर्वव्यापाक हैं। सर्वत्र प्राप्त होने से ही वे सृष्टिरूप कार्य के करनेवाले हैं। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया सम्भव नहीं है। ४. **धाता**=वे प्रभु धर्त्ता व पोषक हैं। ५. **विधाता**=उत्पादक हैं, जीवों को कर्मानुसार शरीरों के देनेवाले हैं। ६. **परमः**=प्रकृति 'पर' है, जीव 'पर-तर' है और परमात्मा 'परतम' व 'परम' है, सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रकृति से पुरुष=जीव उत्कृष्ट है, परन्तु प्रभु जीवों से भी उत्तमपुरुष हैं, इसी से 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। ७. **उत**=और **सन्दृक्**=वे प्रभु सम्यग् द्रष्टा हैं। अपने उपासकों के योगक्षेम का ध्यान करनेवाले हैं। ८. **तेषाम्**=उन लोगों को ही **इष्टानि**=इष्टसुख प्राप्त होते हैं और वे ही **इषा**=प्रभु प्रेरणा से **संमदन्ति**=उत्तम आनन्द को अनुभव करते हैं। **यत्र**=जबकि **सप्तऋषीन्**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=कान, नासिका, आँखों व मुख—इन सप्त-ऋषियों को **पर**=उस परब्रह्म में **एकम्**=एकीभाव को प्राप्त हुआ-हुआ **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् जब ये सब इन्द्रियाँ उस उत्कृष्ट परब्रह्म में एकाग्र हो जाती हैं तब प्रभु-प्रेरणा के सुनने से ये ध्यानी लोग एक आनन्द-विशेष का अनुभव करते हैं और इन्हें सब इष्टसुख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस परमात्मा का चिन्तन करें जो 'विश्वकर्मा— विमना—विहाया—धाता—विधाता—परम व सन्दृक्' है, जो 'पर' हैं। ऐसा करने पर हम प्रेरणा के सुननेवाले होंगे और आनन्द का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संप्रश्न

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥२७॥

१. **यः**=जो परमात्मा **नः**=हम सबका **पिता**=पालक, रक्षक है २. **जनिता**=सबका

प्रादुर्भाव करनेवाला है। ३. **यः**=जो **विधाता**=कर्मानुसार विविध शरीरों का देनेवाला है। ४. जो **धामानि**=सब तेजों को तथा **विश्वा भुवनानि**=सब पदार्थों के अधिकरणभूत इन सब लोकों को **वेद**=जानता है अथवा (विद् लाभे) प्राप्त कराता है। ५. **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **नामधाः**=नाम का धारण करनेवाला है, परन्तु है **एकः एव**=एक ही। 'सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्' आदि सब देवों के नाम परमात्मा के भी हैं, इतना ही नहीं मुख्यरूप से ये नाम परमात्मा के ही हैं। वे प्रभु सरति=सारे संसार को गति देते हैं, अतः सूर्य हैं। चन्दति 'आह्लादयति' सबको प्रसन्न करने के कारण, सदा आनन्दमय रहने के कारण प्रभु चन्द्र नामवाले हैं। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले ये प्रभु वायु हैं और ज्ञान से विशिष्ट रूप में चमकनेवाले ये प्रभु विद्युत् हैं। ६. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(सम्यक् प्रश्नः यस्मिन्) जिज्ञास्य प्रभु को **विश्वा**=सब **अन्या** =दूसरे **भुवना**=लोक-लोकों में रहनेवाले प्राणी **यन्ति**=जाते हैं, सज्जन सर्वदा उसका स्मरण करते हैं, परन्तु दुर्जन भी मुसीबत आने पर उसी के नाम का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब तेजों व लोकों के देनेवाले हैं। वे प्रभु ही **संप्रश्न**=सम्यग् जिज्ञास्य हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मर्यादित धनसंग्रह

तऽआयजन्त द्रविणꣳसमस्माऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥२८॥

१. **ये**=जो **ऋषयः**=तत्त्वज्ञानी होते हैं **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले होते हैं **जरितारः**=प्रभु के स्तोता होते हैं तथा २. **असूर्ते**=(असुभिः ईरिते) प्राणों से प्रेरित, अर्थात् प्राण-साधना के द्वारा प्रभु की ओर लगाये गये **सूर्ते**=(सु ईरिते) उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **निषत्ते**=(निषत्ते जस एकारः-म०) निश्चय से स्थित होते हैं, अर्थात् जिन्होंने प्राण-साधना के द्वारा हृदय की वृत्ति को प्राकृतिक विषयों से हटाकर आत्मस्वरूप में अवस्थित करने का प्रयत्न किया है, अतएव जिनका हृदय प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनता है (सूर्त)। ३. **ये**=जो **इमानि भूतानि**=इन पृथिवी आदि शरीर के उपादानकारणभूत पञ्चभूतों को **समकृण्वन्**=उत्तम बनाते हैं, अर्थात् इनकी अनुकूलता से पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। ४. **ते**=वे **द्रविणम्**=धन को **अस्मै**=इस प्रभु के लिए—प्रभु-प्राप्ति के लिए **सम् आयजन्त**= सम्यक्तया अपने साथ सङ्गत करते हैं। शरीर के योगक्षेम के लिए वे धन का ग्रहण तो करते हैं, परन्तु **न भूना** (न भूम्ना)=बाहुल्येन नहीं। धन को बहुत अधिक नहीं जुटाते। ५. धन का संग्रह ये क्यों करते हैं? (क) (ऋषयः) तत्त्व ज्ञानी बनने के लिए, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए। ज्ञान-प्राप्ति के साधनों के जुटाने में यह धन सहायक होता है। (ख) (पूर्वे) अपना पूरण करने के लिए। यह शरीर भौतिक है, इसके पालन-पोषण के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता है। उनका जुटाना धन से ही सम्भव है, परन्तु ये धन को विलास की सामग्री जुटाकर अपनी शक्तियों की क्षीणता का कारण नहीं बनने देते। (ग) (जरितारः) प्रभु की स्तुति के लिए। धनाभाव में नमक, तेल, ईंधन की परेशानी ही मनुष्य को अशान्त किये रक्खेगी, वह प्रभु-भजन क्या कर पाएगा? (घ) ये धन को इसलिए जुटाते हैं कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चिन्त-से होकर ये (असूर्ते

सूर्ते रजसि निषत्तः) प्राण-साधना कर सकें। योग की ओर प्रवृत्त हो सकें। योगाभ्यास में अपना अधिक समय दे सकें। धनाभाव व परिवार का बोझ भी मनुष्य को उस मार्ग पर नहीं चलने देता। (ङ) धन को इसलिए जुटाते हैं कि ये (भूतानि समकृण्वन्) पाँच भौतिक शरीर की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से जुटा सकें और पूर्ण स्वस्थ बन सकें। ६. यह धन का संग्रह उनका नाश करनेवाला न हो जाए इसके लिए वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि 'न भूना' यह बाहुल्येन न जुट जाए। उस स्थिति में यह प्यास को और बढ़ाता है और मनुष्य इसी का गुलाम बन जाता है। सब बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति धरी रह जाती है। इसलिए धन को जुटाना है, परन्तु मर्यादा में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकि विलास की सामग्री जुटाने के लिए। आदर्श Simple living ही रहे 'सादा जीवन,' नकि Standard of living को ऊँचा करना', अर्थात् आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना।

भावार्थ—पूर्व श्रेष्ठ ऋषि भी प्रभु-प्राप्ति के लिए, योगादि में निश्चिन्ततापूर्वक प्रवृत्त होने के लिए मर्यादित धन-संग्रह करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परो दिवा—परःपृथिव्या

प॒रो दि॒वा प॒रऽए॒ना पृ॑थि॒व्या प॒रो दे॒वेभि॒रसु॑रै॒र्यदस्ति॑।
किꣳस्वि॒द् गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ऽआपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मप॑श्यन्त॒ पूर्वे॑ ॥२९॥

१. वह परमात्मा **दिवा परः**=द्युलोक से भी दूर है, **एना पृथिव्या**=इस पृथिवी से भी **परः**=दूर है। २. **देवेभिः**=देवों से भी **परः**=वह दूर है, देव भी उस तक नहीं पहुँच पाते 'नैनद् देवा आप्नुवन्' (यजुः० ४०।४) और **असुरैः परः**=असुरों से भी वह दूर है। देवों व असुरों से वह विलक्षण प्रभु दुर्ज्ञेय है। ३. **यद् अस्ति**=ऐसा जो प्रभु है वह द्युलोक से परे है, अध्यात्म में मस्तिष्क से परे है। मस्तिष्क के तर्क का वह विषय नहीं बनता। इसीलिए मस्तिष्क प्रधान देवों की पहुँच से भी वह बाहर है। पृथिवी से भी वह परे है, अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। इस शरीर के विकास में लगे हुए असुरों से भी वह प्रभु प्राप्य नहीं। ४. **किं स्वित्**=उस विलक्षण अनिर्वचनीय **गर्भम्**=(ग्रहीतुं योग्यं—द०) ग्रहण के योग्य **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत—सर्वव्यापक प्रभु को **आपः**=प्राण **दध्रे**=धारण करते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। चित्तवृत्ति का निरोध होनेपर द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है। इसी समय प्रभु का दर्शन होता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **यत्र** =प्राणों के स्वाधीन होने पर **पूर्वे देवाः**=(अधीतपूर्ण विद्याः—द०) पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होनेवाले विद्वान् **समपश्यन्त**=उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

भावार्थ—१. मस्तिष्क व मस्तिष्क की साधना करनेवाले देवों से वह प्रभु दूर है। २. शरीर व शरीर की साधना करनेवाले असुरों से तो वह निश्चित ही दूर है। ३. उस ग्रहणीय व्यापक प्रभु को प्राण ही धारण करते हैं। ४. इस प्राण-साधना के होने पर अधीतपूर्णविद्या देव उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

भूतभृन्न च भूतस्थः

तमिद् गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ऽआपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मग॑च्छन्त॒ विश्वे॑।
अ॒जस्य॒ नाभा॒वध्येक॒मर्पि॑तं॒ यस्मि॒न्विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि त॒स्थुः ॥३०॥

१. **तम् इत गर्भं प्रथमम्**=उस आश्चर्यभूत, निश्चय से ग्रहणीय, व्यापक परमात्मा को **आपः दध्रे**=प्राण धारण करते हैं, अर्थात् प्राण-साधना होने पर ही, चित्तवृत्ति के निरोध से हम स्वरूप में स्थित होते हैं और प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। २. **यत्र**=इस प्राण-साधन के होने पर **विश्वे**=(विशन्ति) उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले जैसे नदियाँ समुद्र में, **देवाः**=ज्ञान-ज्योति से द्योतित हृदयवाले विद्वान् **समगच्छन्त**=सम्यक्तया प्रभु से सङ्गत होते हैं। ३. **अजस्य**=उस अजन्मा (न जायते) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों का प्रक्षेपण=नाश करनेवाले (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु की **नाभौ**=(नह बन्धने) बन्धनशक्ति में **एकम्**=यह नाना पुष्परूप लोक-लोकान्तरों से बना हुआ सुव्यवस्थित ब्रह्माण्डरूप हार **अध्यर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। ये सब लोकलोकान्तर उस प्रभु में इस प्रकार प्रोत (पिराये हुए) हैं जैस सूत्र में मणियों के गण प्रोत होते हैं। वे प्रभु सूत्र हैं, सूत्रों के भी सूत्र हैं। सब लोक उसी प्रभु में बद्ध हैं। ४. इस प्रकार वे प्रभु वे हैं **यस्मिन्**=जिनमें **विश्वानि भुवनानि**=सब भूतजात **तस्थुः**=स्थित हैं। 'वे प्रभु किसी में स्थित हों' ऐसी बात नहीं। वे सर्वाश्रय हैं, उनका कोई अन्य आश्रय नहीं। वे प्रभु सचमुच 'भूतभृन्न च भूतस्थः' सब भूतों का भरण करनेवाले, पर उनपर अनाश्रित हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब भूतों का भरण करनेवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं में अर्पित हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नीहार-निराकरण

न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति॥३१॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **न विदाथ**=तू नहीं जान पाता। उस परमात्मा को **यः इमा जजान**=जिसने इन सब लोक-लोकान्तरों वा तुम्हारे शरीरों को भी जन्म दिया है। कितना आश्चर्य है कि अपने जनिता (उत्पादक) को भी हम नहीं जानते। २. **अन्यत्**=वे प्रभु तो अत्यन्त विलक्षण हैं। सामान्य वस्तु को जाना जाए या न जाना जाए, परन्तु जो अत्यन्त विलक्षण है, वह तो दिखनी ही चाहिए। ३. और वह कहीं दूर हो यह बात भी नहीं, **युष्माकं अन्तरं बभूव**=वह तो तुम्हारे अन्दर ही व्याप्त हो रहा है। ४. ऐसा होते हुए भी उसको न देख सकने का कारण यह है कि **नीहारेण प्रावृताः**=कुहरे के समान अज्ञान से आवृत होकर **चरन्ति**=लोग संसार-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। जब ज्ञानरूप सूर्य का उदय होगा और यह अज्ञान का कुहरा विलीन होगा तभी हम प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ५. **जल्प्या 'प्रावृताः'**=हम गप-शप में, प्रवृत्त रहते हैं, इससे भी प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते। थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले हम हो जाते हैं। यह **जल्पि**=वादानुवाद (Debates व Discussions) भी हमें प्रभु-दर्शन से दूर रखते हैं। हम शास्त्रार्थों में विजय की इच्छा से सरगर्मी से प्रवृत्त रहते हैं और तत्त्वज्ञान तक नहीं पहुँच पाते। व्यर्थ की बातें हमें प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाली होती हैं। ६. **च**=और इसलिए भी हम प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते कि हम **असुतृपः**=प्राणों के पोषण में ही लगे रह जाते हैं। हमारा सारा समय भोजन जुटाने, उसे तैयार करने व खाने में ही लग जाता है। चिन्तन का समय ही हमें नहीं होता। कुछ समय मिलता भी है तो वह आमोद-प्रमोद में व्यर्थ हो जाता है। हमारा उद्देश्य

सांसारिक सुख-साधनों का बढ़ाना ही लगता है। ७. कुछ अच्छी वृत्ति हुई तो हम सांसारिक सुख-साधनों से कुछ ऊपर उठकर परलोक-सुखों के सम्पादन के लिए **उक्थशासः**=यज्ञों में, उक्थों का शंसन करने में **चरन्ति**=लगे रहते हैं। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' 'ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं है' यह उपनिषद् वाक्य हमें भूल जाता है और हम प्राण-साधना व योगाभ्यास में प्रवृत्त नहीं होते। परिणामतः प्रभु के दर्शन से दूर ही रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि १. हम अज्ञान को दूर करें। २. गपशप न मारते रहें। ३. सांसारिक सुख-साधनों का ही संग्रह न करते रह जाएँ और ४. यज्ञों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति ही हमारा ध्येय न बन जाए।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

लोक-वेद-ओषधि-पर्जन्य

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद् गन्धर्वोऽअभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा॥३२॥

१. **विश्वकर्मा**=इस सारे ब्रह्माण्ड को व जीव-शरीरों को उत्पन्न करनेवाले **देवः**=प्रभु ने **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=सब लोक-लोकान्तरों व जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया, लोक-लोकान्तर बनाये और उनमें कर्मानुसार जीवों को शरीर धारण कराये। २. **आत् इत्**=जीवों को उस-उस लोक में शरीर देने के बाद विश्वकर्मा अब **द्वितीयः**=दूसरे स्थान को पूरण करनेवाला **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला **अभवत्**=हुआ, अर्थात् जीवों को जन्म देने के बाद प्रभु ने सबसे प्रथम उन्हें वेदज्ञान दिया। हृदयस्थरूपेण 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' को सम्पूर्ण वेदज्ञान देकर उनके द्वारा सभी को प्रकाशमय जीवनवाला किया। ३. **तृतीयः**=तीसरे स्थान को पूरण करनेवाला यह परमात्मा **पिता**=सबका रक्षक हुआ। रक्षण के उद्देश्य से ही **ओषधीनां जनिता**=ओषधियों को उत्पन्न करनेवाला हुआ। ४. इस तृतीय वाक्य की रचना व स्थिति से दो बातें स्पष्ट हैं—(क) स्वाध्याय का स्थान भोजन से भी प्रथम है तथा (ख) भोजन के लिए—भोजन के द्वारा शरीर-पालन के लिए प्रभु ने ओषधियों को जन्म दिया है। ये ही मनुष्य के मुख्य भोजन हैं। ५. इन ओषधियों के उत्पादन के लिए प्रभु ने **अपां गर्भम्**=जलों को अपने में धारण करनेवाले पर्जन्य=मेघ को उत्पन्न किया, जो मेघ **पुरुत्रा**=पुरुत् त्रायते=बहुतों की रक्षा करता है अथवा पालन व पूरण करता है (पुरु) और रक्षा करता है (त्रा)। इस प्रकार प्रभु की कितनी कृपा है? उसकी अनन्त कृपा का स्मरण करता हुआ 'भुवनपुत्र विश्वकर्मा' उस प्रभु का स्तवन करता है और तदनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह भी भुवनों को पवित्र करनेवाला तथा सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला बनता है। इस प्रभु-उपासन के परिणामरूप वह अनुपम शक्ति प्राप्त करके जीवन-संग्राम में विजयी होता है और अगले मन्त्रों का ऋषि 'अप्रतिरथ'=अद्वितीय योद्धा बन जाता है। इस अप्रतिरथ का चित्रण अगले मन्त्रों में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—१. प्रभु सारे लोक-लोकान्तरों को जन्म देते हैं। जीवों को कर्मानुसार शरीर देते हैं। २. शरीर देते ही जीवों को वेदज्ञान देते हैं, जिससे वे प्रकृति के प्रयोग में व परस्पर व्यवहार में ग़लती न करें। ३. उनके शरीरों के रक्षार्थ ओषधियों को जन्म देते हैं। ४. ओषधियों की उत्पत्ति के लिए बादलों की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शतसेना पराजय

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳसेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः॥३३॥

१. प्रभु के उपासक का प्रकरण चल रहा था। 'यह उपासक कैसा बन जाता है।' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशुः**=(अश्नुते व्याप्नोति) यह सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। 'विश्वकर्मा' की उपासना करके यह 'विश्वकर्मा' क्यों न बनेगा? 'आशु' शब्द में शीघ्रता की भी भावना है। यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसमें आलस्य नहीं होता। २. **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह अपनी बुद्धि को खूब ही तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो उसे प्रभु का दर्शन कराना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**= प्रभु सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देखे जाते हैं। ३. **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल से प्रभु की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ४. **न भीमः**=शक्तिशाली होते हुए भी यह भयंकर नहीं होता। अपितु शक्ति के साथ इसमें शान्ति व सौम्यता होती है। सौम्यता शक्ति को अलंकृत करनेवाली है। यह शक्ति से पर-पीड़न न करके पर-रक्षण ही करता है। ५. **घनाघनः**=यह काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का पूर्णरूपेण हनन करनेवाला होता है। ६. **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों को उत्तम प्रेरणा देकर उनमें अध्यात्म-संग्राम के लिए हलचल उत्पन्न कर देता है। वे कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। ७. **संक्रन्दनः**=यह सदा प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। प्रभु के नामों का उच्चारण इसे कामादि शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। ८. **अनिमिषः**=यह एक पलक भी नहीं मारता। सदा जागरित—सावधान रहता है। ज़रा-सा प्रमाद किया तो वासनाओं का शिकार हुआ। ९. **एकवीरः**=इन 'प्रद्युम्न' प्रकृष्ट बलवाली वासनाओं से संग्राम करनेवाला यह अद्वितीय वीर है। १०. **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर उनका सच्चा अधिपति बनता है। ११. **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=और अब वासनाओं की एक साथ आई हुई सैकड़ों सेनाओं भी को जीत लेता है। अथवा **साकम्**=उस प्रभु के साथ रहनेवाला यह 'अप्रतिरथ' **शतं सेनाः अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को भी जीत लेता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए इसको कामादि की सेनाएँ पराजित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित लक्षणों को अपने में विकसित करके हम सच्चे प्रभु-भक्त प्रमाणित हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

युधः-नरः

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥३४॥

१. वासनाओं को जीतना अत्यन्त कठिन है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य सचमुच 'युधः' है। यह निरन्तर आगे बढ़ने के कारण 'नरः' है। यह अपने को एक आदर्श उपासक बनाने का प्रयत्न करता है और इस 'उपासक आत्मा' से वासनाओं का पराभव

करता है। कैसी आत्मा से? २. **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के नामोच्चरण से यह अपने में शक्ति भरता है और वासनाओं को भयभीत करता है। ३. **अनिमिषेण**=कभी भी पलक न मारनेवाली, अर्थात् सदा सावधान रहनेवाली आत्मा से। प्रमाद मनुष्य को वासनाओं का शिकार बना देता है। ४. **जिष्णुना**=विजयशील आत्मा से। वस्तुतः प्रभु का आह्वान करनेवाली अप्रमत्त आत्मा कभी हार ही नहीं सकती। ५. **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाली आत्मा से। यह वासनाओं के साथ संग्राम को कभी निरुत्साह होकर छोड़ नहीं देता। ६. **दुश्च्यवनेन**=युद्ध के निश्चय से विचलित न की जानेवाली आत्मा से। अवान्तर पराजयों से भी यह युद्ध को समाप्त नहीं कर देता (Loses battles, but wins the war.) यह अन्त में अवश्य विजयी होता है। ७. **धृष्णुना**=दुश्च्यवन होने से ही धर्षण करनेवाली आत्मा से यह युद्ध में लगा ही रहता है और अन्त में शत्रुओं को कुचल डालता है। ८. **इषुहस्तेन** =प्रेरणा को हाथ में लेनेवाली आत्मा से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाला यह बनता है। ९. **वृष्णा**=शक्तिशाली आत्मा से। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला अपने में शक्ति का अनुभव करता ही है। १०. हे **युधः नरः**=युद्ध करनेवाले और आगे बढ़नेवाले वीरो! **तदिन्द्रेण**=(स चासौ इन्द्रः) ऐसी आत्मा से **जयत**=तुम विजयी बनो। और **तत्**=उस वासना-समूह को **सहध्वम्**=पराभूत कर डालो।

भावार्थ—हम अपनी आत्मा को 'संक्रन्दन-अनिमिष-जिष्णु-युत्कार-दुश्च्यवन-धृष्णु-इषुहस्त व वृषण' बनाएँगे तो इस आत्मा से शत्रुओं को अवश्य पराभूत करेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रत्याहार

सऽइषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युधऽइन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥३५॥

१. **सः**=वह 'अप्रतिरथ' अद्वितीय योद्धा **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=अनासक्ति-(नि-सङ्ग)-रूप अस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ २. **वशी**=अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला तथा ३. **गणेन संस्रष्टा**=(गण संख्याने) संख्यान व चिन्तन से सदा संसृष्ट रहनेवाला, अर्थात् सदा चिन्तनशील अथवा **गणेन संस्रष्टा**=सारी समाज के साथ मिलकर चलनेवाला ४. **सः युधः**=वह निरन्तर युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव ५. **संसृष्टजित्**= विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतनेवाला होता है। ६. विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतकर यह **'सोमपा'**=सोम का पान करनेवाला होता है। अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा करता है। ७. **बाहुशर्धी**=सोम-रक्षण से यह बाहुबल से युक्त होता है (शर्धः=बलम्) इसकी भुजाओं में शक्ति होती है। ८. और यह **उग्रधन्वा**=(उग्र=उदात्त) उत्कृष्ट प्रणव-ओम्-रूप धनुष को धारण करता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=ओ३म् का ही जप करता है, ओ३म् के ही अर्थ का भावन करता है। ९. और अब यह **प्रतिहिताभिः**=(प्रत्याहृतिभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने के द्वारा **अस्ता** =कामादि शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला होता है। इन्द्रियों को वापस लाता है, शत्रुओं को दूर फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'असङ्ग-शस्त्र' से संसार-वृक्ष का छेदन कर सकें। इन्द्रियों के प्रत्याहार से वासनाओं को दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

रथों का रक्षण

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ२॥ऽअप॒बाध॑मानः।
प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेद्ध्यवि॒ता रथा॑नाम्॥३६॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **परिदीया**=(दी to shine) चमकनेवाला बन, अर्थात् तेरा यह शरीर पूर्ण स्वस्थ हो। यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हो। इस स्वस्थ, चमकते हुए शरीररूप रथ से **परिदीया**=तू आकाश में उड़नेवाला बन (दी to soar), अर्थात् तेरी गति सदा उन्नति की दिशा में हो। उन्नति करते हुए तूने ऊर्ध्वा दिक् का, सर्वोच्च स्थिति का अधिपति बनना है। २. इस उन्नति को स्थिर रखने के लिए तू **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। इसी उद्देश्य से तू **'अमित्रान्'**=अस्नेह व द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=अपने से सदा दूर रखनेवाला हो। ईर्ष्या तो तेरे मन को मृत कर देगी फिर तू क्या उन्नति कर पाएगा? अतः इसे तो पास फटकने ही नहीं देना। ३. **सेनाः**=वासनाओं की सेनाओं को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ तू **प्रमृणः**=इनको कुचल डाल। ४. इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=इनको पराजित करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे (प्रभु से) दिये हुए इन **रथानाम्**=स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप रथों का **अविता**=रक्षा करनेवाला **एधि**=हो। यह ध्यान रखना कि लोभ तेरे आनन्दमयकोश व शरीर को विकृत कर देगा। क्रोध तेरे सूक्ष्मशरीर (बुद्धि, मन) का नाशक होता है और काम इस स्थूलशरीर को जीर्ण कर देता है। इन शत्रुओं के आक्रमण से तूने हमारे दिये हुए इन रथों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—हम अपने शरीररूप रथों से चमकें, उन्नति करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जैत्र रथाधिष्ठान=रथारोहण

ब॒लवि॒ज्ञायः॒ स्थवि॑रः॒ प्रवी॑रः॒ सह॑स्वान् वा॒जी सह॑मानऽउ॒ग्रः।
अ॒भिवी॑रोऽअ॒भिस॑त्वा सहो॒जा जैत्र॑मिन्द्र॒ रथ॒माति॑ष्ठ गो॒वित्॥३७॥

१. अप्रतिरथ वह है जो **बलविज्ञायः**=अपने बल के कारण प्रसिद्ध है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति=स्थितप्रज्ञ है, विषयों से डाँवाँडोल होनेवाला नहीं है। ३. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर है, यह वैषयिक वृत्तियों को विशेषरूपेण कम्पित करनेवाला है (विशेषेण ईरयति) ४. **सहस्वान्**=सहन-शक्तिवाला है। लोगों की अभिशस्तियों (गालियों) से तैश में आजानेवाला नहीं। ५. **वाजी**=बलवाला है अथवा त्याग-वृत्तिवाला है (वाज=Sacrifice) ६. **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है अथवा सर्दी-गर्मी आदि को सहने की शक्तिवाला है। ७. **उग्रः**=तेजस्वी है ८. **अभिवीरः**=वीरता की ओर चलनेवाला है और **अभिसत्वा**=सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला है। यह वीरता व ज्ञान (सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) का समन्वय करता है। ९. **सहोजाः** =यह प्रभु के साथ सम्पर्क के कारण ओजस्वी होता है। १०. हे **इन्द्र**= इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू ऐसा बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरोहण कर, अर्थात् तू कभी वासनाओं से पराजित न हो। इसी अपराजय के लिए तू ११. **गोवित्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला बन। जब तुझमें वीरता व ज्ञान का समन्वय होगा तभी तेरी

निश्चित विजय होगी। १२. यहाँ मन्त्र का प्रारम्भ 'बलविज्ञाय:' से है और समाप्ति 'गोवित्' पर है। वस्तुत: हमें 'बल वं ज्ञान' दोनों का ही सम्पादन करना है। यही भावना 'अभिवीर: व अभिसत्वा' शब्द भी दे रहे हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बल और ज्ञान का समन्वय करके विजयी बनें।

ऋषि:—अप्रतिरथ:। **देवता**—इन्द्र:। **छन्द:**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

लोभ का विदारण

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳसजाताऽअनु वीरयध्वमिन्द्रꣳसखायोऽअनु सꣳरभध्वम्॥३८॥

१. प्रभु कहते हैं—हे **सजाता:**=समान जन्मवाले जीवो! **इमम्**=इस इन्द्र के **अनुवीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। उस इन्द्र के अनुसार जो **गोत्रभिदम्**=(गोत्र= wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मयपात्र से डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है। 'वज गतौ' से वज्र शब्द बना है और 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु, अत: 'वज्रबाहु' शब्द की भावना यह है कि जो अपने प्रयत्नों में सदा गतिशील है, अपने प्रयत्नों को कभी ढीला नहीं करता, ४. इसलिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाला है। वासना-संग्राम क्रियाशीलता से ही जीता जाता है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=क्रियाशीलता से प्राप्त हुई ओजस्विता से यह शत्रुओं को कुचल डालता है। ६. वस्तुत: इन्द्र वही है जो उल्लिखित पाँच विशेषणों से युक्त है। जन्म लेनेवालों को चाहिए कि **अनुवीरयध्वम्**=वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें। ७. प्रभु कहते हैं कि **सखाया:**=इन्द्र के समान ख्यान, ज्ञान व नामवाले जीवो! **अनु**=इस इन्द्र के अनुसार ही तुम सब भी **संरभध्वम्**=बहादुर बनो। इन्द्र की भाँति तुम भी असुरों का संहार करनेवाले होओ। इन्द्र बनकर धन के लोभ से ऊपर उठो।

भावार्थ—इन्द्र बनकर हम धन के लोभ का विदारण करें। ज्ञानी बनकर इस अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषि:—अप्रतिरथ:। **देवता**—इन्द्र:। **छन्द:**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वर:**—धैवत:॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीर: शतमन्युरिन्द्र:।
दुश्च्यवन: पृतनाषाडयुध्योऽअस्माकꣳसेना अवतु प्र युत्सु॥३९॥

१. **इन्द्र:**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपनी शक्ति से, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **अभिगाहमान:**=सर्वत: अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सुपथों से कमाता हुआ **अदय:**=(देङ् रक्षणे) उनको अपने पास रखनेवाला नहीं होता। कमाता है पर जोड़ता नहीं, उन धनों को दे डालता है। अपने पुरुषार्थ से इतना कमाता है कि धन में लोटता है (rolls in wealth) पर अनासक्ति के कारण उनका दान कर देता है। यह इन्द्र धन को अपने पास न रखकर ही इन्द्र बना रहता है। यह अपनी शक्ति को खोता नहीं, धनासक्ति व्यक्ति को क्षीण-शक्ति कर देती है, 'कुबेर' बना देती है, कुत्सित शरीरवाला। २. **वीर:**=यह दानवीर इन्द्र धन के दान के कारण सचमुच वीर=शक्तिशाली बना रहता है।

३. **शतमन्युः**=अपने धनों से वह शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है। ३. **दुश्च्यवनः**=इसे यज्ञमार्ग से कोई भी बात गिरा नहीं पाती। वस्तुतः धन का लोभ ही इस यज्ञिय मार्ग से विचलित कर सकता था। उसे छोड़कर यह दृढ़ता से यज्ञिय मार्ग पर चल रहा है। ४. **पृतनाषाट्**=इस यज्ञ-मार्ग पर चलते हुए यह काम-क्रोध आदि को संग्राम में पराभूत करनेवाला होता है (पृतनां संग्रामं सहते) ५. **अयुध्यः**=काम-क्रोधादि इसके प्रतियोद्धा नहीं बन पाते। (नास्ति युध्यः अस्य) ६. यह अयुध्य इन्द्र **अस्माकम्**=हमारी दिव्य गुणों की **सेनाः**=सेनाओं को **प्रयुत्सु**=इन प्रकृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अवतु**=सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय होकर, प्रेम व मित्रता का विकास हो।

भावार्थ—हम धनों का अवगाहन करें, परन्तु उनमें ही आसक्त न हो जाएँ। हममें दिव्य गुणों का विकास हो। लोभ ही दिव्य गुणरूप पुरुषों के लिए तुहिनरूप होता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवसेना

इन्द्र॑ऽआसां ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒रऽए॑तु॒ सोमः॑ ।
दे॒व॒से॒नाना॑मभिभञ्जती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्त्वग्र॑म् ॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में देव-सेनाओं की रक्षा का उल्लेख हुआ है। **देवसेनानाम्**=इन देव-सेनाओं के **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर सेनाओं का विदारण कर रही हैं, **जयन्तीनाम्**=और असुरों पर विजय पाती चलती हैं, उन देव-सेनाओं के **अग्रम्**=आगे **मरुतः**=प्राण **यन्तु**=चलें। स्पष्ट है कि ये देव-सेनाएँ प्राणों के पीछे चलती हैं। प्राण-साधना ही इस देवसेना को जन्म देती है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषक्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और आसुर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि देवसेनाओं के आगे मरुत् चलते हैं। **इन्द्रः आसां नेता**=इन विजयशील देवसेनाओं का सेनापति इन्द्र है। **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, हृषीकेश है, हृषीक=इन्द्रियों का ईश। यह इन्द्र ही तो देवराट् है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया तब तो धीरे-धीरे हम इन इन्द्रियों के दास ही बन जाएँगे। हम इन्द्र बनकर देवसेनाओं के सेनापति बनें। ३. इस देवसेना के **पुरः**=आगे **एतु** =ये व्यक्ति चलें। कौन? (क) **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु—ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। ज्ञानाग्नि कामादि वासनाओं को भस्म कर देती है। (ख) **दक्षिणा** =दान। यह दान लोभ का नाश करता है। लोभ व्यसनवृक्ष का मूल है, अतः देव सदा देते हैं (देवो दानात्) (ग) **यज्ञः**=दिव्य गुणों में प्रथम स्थान ज्ञान का, दूसरा दान का तथा तीसरा स्थान यज्ञ का है। ये यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं। देव सदा 'हविर्भुक्' होते हुए यज्ञशील बनते हैं। (घ) **सोमः**=चौथा देव सोम है, सौम्यता। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो सब दिव्य गुण अदिव्य बन जाते हैं। दैवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष 'नातिमानिता' में ही तो है। सोम की भावना 'वीर्य-शक्ति' भी है। मनुष्य ने देव बनने के लिए इस वीर्य-शक्ति की रक्षा करके सोम का पुञ्ज बनना है। सोमशक्ति की रक्षा ही 'ब्रह्मचर्य' है, यही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का विकास हो। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम देवसेनाओं के सेनापति बनें। हमारे जीवन में 'ज्ञान-दान-यज्ञ-सौम्यता व सोमरक्षा' को महत्त्व प्राप्त हो।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जयघोष

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ऽआदि॒त्यानां॑ म॒रुता॒ꣳशर्द्ध॑ऽउ॒ग्रम्।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात्॥४१॥

१. गत मन्त्र की विजयशील देवसेनाओं के जयघोष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता इस इन्द्र का तथा २. **वरुणस्य राज्ञः**=अति नियमित जीवनवाले (well regulated) वरुण का, जिसने कि सब बुराइयों का वारण किया है ३. तथा, **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राणसाधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्द्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उत्कृष्ट व तीव्र होता है। ४. इन्द्र, वरुण व आदित्य ही देवताओं के महारथी हैं। 'जितेन्द्रिय बनना, बुराइयों को रोकना, तथा अच्छाइयों को अपने अन्दर लेते चलना' ये ही बातें हैं जो हममें दैवी सम्पत्ति का वर्धन करेंगी। ५. इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल व उदार मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अपने जीवन (भुवन) का भी त्याग कर सकनेवाले **जयताम्**=सदा विजयी बननेवाले **देवानाम्**=देवताओं का, दैवी सम्पत्ति के प्रार्जयिता पुरुषों का **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=हमारे जीवनों से सदा उठे। ६. यहाँ प्रसङ्गवश विशेषणों के रूप मे कही गई ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि देव 'विशाल मनवाले' तथा 'अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले' होते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, वरुण व आदित्य' बनने का प्रयत्न करें। विशाल हृदयवाले हों, अधिक-से-अधिक त्याग की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आयुध-दीपन

उद्ध॑र्षय मघव॒न्नायु॑धा॒न्युत्सत्व॑नां माम॒काना॒ं मना॑ꣳसि।
उद् वृ॑त्रहन्वा॒जिना॒ं वाजि॑ना॒न्युद्रथा॑ना॒ं जय॑तां यन्तु॒ घोषाः॑॥४२॥

१. विजय के लिए अस्त्रों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म संग्राम के अस्त्र—'शरीररूप रथ, इन्द्रिरूप घोड़े तथा बुद्धिरूपी सारथि जिसने कि मनरूप लगाम को पूर्णरूप से हाथ में ग्रहण किया हुआ है'—ही तो हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि २. हे **मघवन्**=उच्च ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले व (मा+अघ) पापरूप मैल को दूर रखनेवाले **वृत्रहन्**=सब प्रकार की वासनाओं का विनाश करनेवाले 'अप्रतिरथ'! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियादिक आयुधों को **उद्हर्षय**=खूब दीप्त करनेवाला बन। ३. प्रभु जीव से कहते हैं कि **मामकानाम्**=जो मेरे बने रहते हैं, अर्थात् प्रकृति के भोगों में नहीं फँस जाते उन **सत्वनाम्**=सत्त्वगुण प्रधान मेरे भक्तों के **मनांसि**='मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' **उत्**=उत्कृष्ट बनें। वस्तुतः मनों के उत्कर्ष का मार्ग प्रभु-भक्त बने रहना ही है। इसके उपासक का हृदय वासनाक्रान्त नहीं होता। ४. हे **वृत्रहन्**=वासना का हनन करनेवाले जीव! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग व बल **उत्**=उत्कृष्ट हों। वृत्र ही इन इन्द्रियरूप घोड़ों के वेग का विनाशक है। वासना इन्हें क्षीण-शक्ति कर देती है। ५. आगे बढ़ते हुए **जयताम्**=विजयशील बनते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष

उत्=ऊपर उठें। ये शरीररूप रथ पूर्ण स्वस्थ हों, जिससे जीवन-यात्रा अधूरी न रह जाए।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप सब आयुध ठीक हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आस्तिक मनोवृत्ति

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ऽउ देवाऽअवता हवेषु॥४३॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं के ठीकरूप से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का नियामक **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है जब हम एक लक्ष्य बनालें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य सदा प्रभु को अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक्य वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषःकाल हो गया, उठ बैठ क्या सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि 'कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई। दिन में अलसाते रहोगे, ज़रा सो ही लो।' सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा देती है और मनुष्य सोया रह जाता है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपकी प्रेरणाए ही विजयी हों, हमारी इच्छाएँ नहीं। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों में **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ, न कि कायरता की वृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों, प्रबल हों। दबकर कोई कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें। ४. **देवाः**=हे देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=(आहवेषु) संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। वस्तुतः (क) जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, (ख) सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, (ग) सदा वीरता के ही कार्य करेंगे तब देवताओं की रक्षा के पात्र क्यों न होंगे?

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। २. हमारे जीवन में हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा की विजय हो, न कि हमारी इच्छा की। ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य ही करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

लोभ का परिणाम

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥४४॥

१. लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है (क) यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। (ख) यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इससे धन के प्रति एक प्रेम-सा होता है जिसके कारण लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। २. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है। एवं, लोभ

ईर्ष्या का जनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक-और-अधिक प्राप्त करने की इच्छा ! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्** =चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले, इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसे धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। यह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है। यह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है, आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही इच्छा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जकड़े रखती है और वह है 'धन की इच्छा।' २. यह धन की इच्छा हमारा तो पीछा छोड़ दे। हे अप्वे ! **परा इहि**=तू हमसे परे जा। ३. जो **अमित्रा:**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनको **अभि प्र इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उनको तू प्राप्त कर। ४. उनको ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकै:**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी, ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हे अप्वे ! हमपर तो तू कृपा कर और हमें जलानेवाली न हो। ५. **अमित्र:**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा से **सचन्ताम्**=संयुक्त हों। लोभ के कारण आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा अन्धी तो है ही। यह साध्य व साधन का विचार न करती हुई साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामत: धन की ही उपासना करने लगती है। अर्थसक्त को मनु के शब्दों मे 'धर्मज्ञान' नहीं हो पाता, अत: हे अप्वे ! धनाहरणाभिलाष ! तू कृपा करके हमसे दूर रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषि:—अप्रतिरथ:। **देवता**—इषु:। **छन्द:**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वर:**—गान्धार:॥

लक्ष्य दृष्टि

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसꣳशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिष: ॥४५॥

१. संसार में न फँसने व निरन्तर आगे और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने सामने एक लक्ष्य (ध्येय) रखे। लक्ष्य ओझल हुआ और मनुष्य भटका। यह लक्ष्य ही 'शरव्या' है। २. यह लक्ष्य बड़ा सोच-समझकर बनाया जाना चाहिए। मन्त्र में कहते हैं कि यह 'ब्रह्मसंशित' हो, ज्ञान से तीव्र बनाया जाए। हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र बनाये गये **शरव्ये**=लक्ष्य ! तू **अवसृष्टा** (अवसृज् to make, create)=हमारे जीवनों से उत्पन्न होकर **परापत**=खूब दूर बढ़ चल। लक्ष्य के सदा सामने होने पर हमारी तीव्र गति व शीघ्र प्रगति क्यों न होगी? लक्ष्य का न होना अथवा लक्ष्य का भूला हुआ होने के कारण ही प्रगति रुकी रहती है। ३. लक्ष्य का संकेत उत्तरार्ध में इस प्रकार करते हैं कि **गच्छ**=तू जा **अमित्रान्**=स्नेह न करने की भावना को, ईर्ष्या-द्वेषादि की भावना को, औरों से जलने की भावना को **प्रद्यस्व**=विशेषरूप से आक्रान्त कर। **मामीषाम्** =इन द्वेषादि की निकृष्ट भावनाओं में से **कञ्चन**=किसी को **न उच्छिष:**=शेष मत छोड़। इन भावनाओं में से एक-एक को ढूँढकर तू समाप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—१. हमारा जीवन लक्ष्य-दृष्टि से शून्य न हो। २. हम द्वेषादि की भावना को समूल नष्ट कर दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—योद्धाः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रेत जयत=आगे बढ़ो, जीतो

प्रेता जय॑ता नरऽइन्द्रो॑ वः शर्म॑ यच्छतु।
उ॒ग्रा व॑: सन्तु बा॒हवो॑ऽनाधृ॒ष्या यथास॑थ॥४६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार हमारे जीवन का लक्ष्य बनता है 'वासनाओं का समूल उन्मूलन'। यह वासनाओं का उन्मूलन करनेवाला व्यक्ति 'न रम्' है, 'न रम्'=न फँस जानेवाला। प्रभु कहते हैं कि हे **नराः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **प्रेत**=आगे बढ़ो। वासनाएँ तुम्हारी उन्नति को विहत न कर दें। **जयत**=इन वासनाओं को जीतनेवाले बनो। इनको जीते बिना यात्रा की पूर्ति सम्भव नहीं। २. **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला वह प्रभु **वः**=तुम्हें इन वासनाओं के संहार के द्वारा **शर्म**=कल्याण **यच्छतु**=प्राप्त कराए। वासनाओं से होनेवाले विनाश से प्रभु ही तुम्हें बचाएँगे। ३. **वः बाहवः**=तुम्हारी भुजाएँ **उग्रः**=तेजस्वी हों। 'बाहृ प्रयत्ने'=तुम्हारे प्रयत्न भी बड़े उग्र होने चाहिएँ, क्योंकि इन वासनाओं का विनाश कोई सुगम कार्य नहीं है। प्रभु की सहायता के बिना इन्हें तुम जीत ही न सकोगे और 'उत्तम प्रयत्नों में लगे रहना' यह वासना-विजय के लिए आवश्यक है। ४. इसी से मन्त्र में कहते हैं कि सदा उत्तम प्रयत्नों में लगे रहो **यथा**=जिससे **अनाधृष्याः**=वासनाओं से न धर्षण के योग्य **असथ**=हो सको। काम में न लगे हुए व्यक्तियों को ही वासनाएँ सताती हैं। क्रियाशील का ये धर्षण नहीं कर पातीं।

भावार्थ—हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ें, विघ्नों को जीतें। प्रयत्न में लगे रहें, जिससे वासनाओं का शिकार न हों। प्रयत्न में लगे हुए को प्रभु भी कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वासना-विजय

अ॒सौ या सेना॑ मरुतः परे॑षाम॒भ्यैति॑ न॒ऽओज॑सा॒ स्पर्द्ध॑माना।
तां गू॑हत॒ तम॒साप॑व्रतेन॒ यथा॒मीऽअ॒न्योऽअ॒न्यन्न जा॒नन्॥४७॥

१. **असौ**=वह **या**=जो **परेषाम्**=पराये, अर्थात् शत्रुभूत कामादि की सेना **स्पर्द्धमाना**=परस्पर स्पर्द्धा-सी करती हुई **नः ओजसा अभ्येति**=हमारी ओर प्रबलता से आती है, हमपर आक्रमण कर देती है। **ताम्**=उस शत्रुसैन्य को **अपव्रतेन तमसा**=(अप=away) दूर फेंकने के व्रत की इच्छा से **गूहत**=संवृत कर दो, उसे अपने तक न आने दो। २. हम इन्हें अपने से इस प्रकार दूर भगा दें **यथा**=जिससे **अमी अन्यः**=इनमें से एक **अन्यम्**=दूसरे को **न जानन्**=न जान सकें। समान्यतः लोभ से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध और इस प्रकार ये 'काम, क्रोध, लोभ' एक-दूसरे को बढ़ाते हुए, परस्पर स्पर्द्धा-सी करते हुए अर्थात् एक-दूसरे से अधिक प्रबल आक्रमण की कामनावाले होकर हमें आक्रान्त करते हैं। ३. हमने 'अपव्रत तमस्' के द्वारा इन्हें अपने तक नहीं आने देना। हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि 'हम लोभ न करेंगे' काम के वश में न होंगे, क्रोध को प्रबल न होने देंगे।

भावार्थ—वासनाओं के त्याग के दृढ़ निश्चय से ही हम वासनाओं को जीत सकेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रबृहस्पत्यादयः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

बाणों का सम्पतन

यत्र॑ बा॒णाः स॒म्पत॑न्ति कुमा॒रा विशि॒खाऽइ॑व।
तन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒रदि॑ति॒ः शर्म॑ यच्छतु वि॒श्वाहा॒ शर्म॑ यच्छतु॥४८॥

१. **यत्र**=जहाँ, अर्थात् जिस स्थान से **बाणाः**=(शरो ह्यात्मा) प्रणवरूप धनुष के शर बने हुए आत्मा, निरन्तर प्रणव-जप में लगे आत्मा अथवा 'वण् to sound' प्रभु के नाम का निरन्तर जप करनेवाले आत्मा **सम्पतन्ति**=सम्यक् गतिशील होते हैं और अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं, इसीलिए २. **कुमाराः**=कामादि वासनाओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाले होते हैं ३. **विशिखा इव**=ये आत्मा प्रतिज्ञापूर्ति तक अपनी शिखा के न बाँधने का निश्चय किये हुए विशिख-से प्रतीत होते हैं, अथवा ये ज्ञानाग्नि की विशिष्ट ज्वालाओंवाले बनते हैं। ४. **तत्**=तब **नः**=हमें **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का स्वामी परमात्मा **अदितिः**=जिसकी उपासना से खण्डन का भय ही नहीं रहता वह प्रभु **शर्म यच्छतु**=कल्याण व सुख प्राप्त कराये। **विश्वाहा शर्म यच्छतु**=यह हमें सदा सुख प्राप्त कराए। ५. वस्तुतः सुख-प्राप्ति का साधन 'इन्द्र, बृहस्पति, व अदिति' शब्द से सूचित हुआ है। 'हम जितेन्द्रिय बनें, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें, तथा अपने मनों को वासनाओं से खण्डित न होने दें' तभी कल्याण होगा। जितेन्द्रियता से इन्द्रियों का शोधन करके, ज्ञान से बुद्धि को पवित्र करके तथा वासना-खण्डन से निर्मल मन होकर ही हम सदा कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं। ६. साथ ही हम (क) **बाणाः**=प्रभु-स्तवन में रत रहें। (ख) **सम्पतन्ति**=सम्यक् क्रियाशील हों। (ग) **कुमाराः**=वासनाओं को कुचलनेवाले बनें। (घ) **विशिखा इव**=वासना-विनाश के लिए बद्ध-प्रतिज्ञ हों तथा विशिष्ट ज्ञान-ज्वालाओं को अपने में दीप्त करें।

भावार्थ—हम बाण हों, प्रभु लक्ष्य हों। हम शर की भाँति ब्रह्मरूप लक्ष्य में तन्मय हो जाएँ। यही कल्याण-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—सोमवरुणदेवाः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वर्म (कवच) छादन

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒मृते॒नानु॑ वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा म॑दन्तु॥४९॥

१. इस वासना-संग्राम में **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच से **छादयामि**=आच्छादित करता हूँ। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इस मन्त्र में 'ब्रह्म' (ज्ञान) ही आन्तर कवच है। इस ज्ञानरूप कवच को पहन लेने पर वासनाओं के आक्रमण का भय जाता रहता है। इस ज्ञानरूप कवच पर टकरा कर वासना-शर टूट जाते हैं और हमारे हृदय-मर्म को विद्ध नहीं कर पाते। २. **त्वा**=तुझे **राजा**=स्वास्थ्य के द्वारा शरीर की दीप्ति देनेवाला **सोमः**=वीर्य **अमृतेन**=रोगों के अभाव से **अनु वस्ताम्**=अनुकूलता से आच्छादित करे। वासना-शरों से हृदय के विद्ध न होने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह सुरक्षित सोम हमारे शरीरों को रोगाक्रान्त नहीं होने देता। ३. अब **वरुणः**=शरीर से रोगों को निवारण करनेवाली तथा मनों से द्वेष का दूरीकरण करनेवाली देवता **ते**=तुझे व तेरे हृदय को **उरोर्वरीयः**=विशाल से भी विशाल **कृणोतु**=करे, तेरे हृदय को विशाल बनाए। ईर्ष्या-द्वेषादि की भावनाएँ मन को संकुचित करती हैं। साथ ही रोग भी मनुष्य को खिझनेवाला व असहिष्णु बना देते हैं। ४. इस प्रकार द्वेषादि का निवारण करनेवाले **जयन्तम्**=शत्रुओं को जीतनेवाले **त्वा**=तुझे **देवाः अनुमदन्तु**=सब देव हर्षित करें। तेरे अन्दर दिव्य गुणों का विकास हो और ये दिव्य गुण तेरे मनःप्रसाद का कारण बनें।

भावार्थ—१. हम ज्ञान के कवच को धारण कर वासना-शरों से अभेद्य हों। २.

वीर्य-रक्षा से शरीर को नीरोग बनाएँ। ३. द्वेष-निवारण से हमारा हृदय विशाल हो। ४. दिव्य गुण हमारे जीवन को आनन्द-मय बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सꣳसृज प्रजया च बहुं कृधि॥५०॥

१. **एनम्**=गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मरूप कवच के धारण करनेवाले और सोम-रक्षा से अपने को अमर बनानेवाले को **उत्**=इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) **उत्तराम्**=(अतिशयेन उत्=उत्तराम्) उत्कृष्टत्व को, उत्कृष्ट ऐश्वर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। २. **अग्ने**=सब उत्कर्षों के प्रापक हे प्रभो। **घृतेन**=मलों के क्षरण (घृ=क्षरण) व ज्ञान की दीप्ति से **आहुत** (हूयमान)=जिसके प्रति अपना अर्पण किया गया है, ऐसे प्रभो! आप इस 'ब्रह्म-कवची, सोम-रक्षक' को उत्कर्ष की ओर ले-चलिए। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का अभिप्राय है—'अपने जीवन में से मलों को दूर करना और ज्ञान को खूब दीप्त करना'। निर्मल व ज्ञानी बनकर हम प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक बनने पर वे प्रभु हमारा उद्धार करते हैं। हम प्रकृति के हीन भोगों से ऊपर उठकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप इस उपासक को **रायस्पोषेण संसृज**=संसार-यात्रा को चलाने के लिए आवश्यक धन के पोषण से संसृष्ट कीजिए। यह इतना धन अवश्य प्राप्त करे कि परिवार को, अपने को तथा आये-गये को उत्तमता से पाल सके और सामाजिक कार्यों में भी उचित सहयोग दे पाये ४. **च**=और हे प्रभो! आप इस आपकी शरण में आये हुए को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **बहुम्**=(बृंहते वर्धते) खूब वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ, समाज में बढ़े हुए नामवाला, अर्थात् यशस्वी **कृधि**=कीजिए। इसकी सन्तान ऐसी उत्तम हो कि इसका यश चारों ओर फैले। यह यशस्वी सन्तानवाला हो।

भावार्थ—१. प्रभु को अपना कवच बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं को जीतकर उत्कर्ष प्राप्त करता है। २. उत्तम धन का संचय करनेवाला होता है। ३. और अपनी सन्तान से यशस्वी बनता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वशित्व

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी।
समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदाऽअसत्॥५१॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस अपने उपासक को **प्रतरां नय**=(अतिप्रकर्षः प्रतराम्) प्रकृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। यह प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर ब्रह्मदर्शन का आनन्द प्राप्त करनेवाला हो। बाह्य समृद्धि के स्थान में यह आत्म-सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाला बने। २. **सजातानाम्**=अपने साथ ही उत्पन्न हुए-हुए काम, क्रोध, लोभ आदि भावों का यह **वशी**=वश में करनेवाला हो; अर्थात् कामादि की प्रबलता न होने देकर यह उनका उचित प्रयोग करनेवाला बने। इसका काम (चाह) इसके वेदाध्ययन का कारण बने। इसका क्रोध बुराई को दूर भगाने के लिए हो। इसका लोभ अधिक-से-अधिक यज्ञों के कर सकने का हो, इन यज्ञों के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए इसमें

प्रबल तृष्णा–पिपासा हो। ३. इस प्रकार **एनम्**=कामादि को वशीभूत करनेवाले इसे **वर्चसा**= वर्चस्=शक्ति से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। कामादि वासनाएँ ही इसकी शक्ति को क्षीण करनेवाली थीं। उनको वश में करके यह शक्ति को पूर्णरूप से सुरक्षित कर सका है। ४. शक्तिशाली बनकर यह **देवानाम्**=देवों का **भागदा**=अंश को देनेवाला **असत्**=हो। देवांश को अलग करके यह सदा यज्ञशेष को खानेवाला हो।

भावार्थ–१. हम उत्कृष्ट अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करें। २. काम, क्रोध आदि सहज भावों को वशीभूत करनेवाले हों। ३. 'अक्षीण वर्चस्' बनें। ४. यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः–अप्रतिरथः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

अतिथियज्ञ

यस्यं कुर्मो गृहे हुविस्तमंग्ने वर्द्धया त्वम्।
तस्मैं देवाऽअधिं ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥५२॥

१ गत मन्त्र की समाप्ति 'देवानां भागदा असत्' शब्दों पर हुई है। यह 'अप्रतिरथ' लोभादि में नहीं फँसता और देवांश को सदा अलग करनेवाला होता है। ये देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कुर्मः**=हम हवि का सेवन करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप से भोजनादि करते हैं **तम्**=उस यजमान को **त्वम् वर्द्धय**=आप बढ़ाइए। वह शरीर, मन व बुद्धि तीनों के दृष्टिकोण से उन्नति करनेवाला हो। २. **तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः** =समय-समय पर आनेवाले सब विद्वान् **अधि ब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें। देवता तो इसे उपदेश दें ही, **च** =और **अयं ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञान का पति परमात्मा हृदयस्थरूपेण इसे सदा प्रेरणा प्राप्त कराए। इस अतिथियज्ञ करनेवाले व्यक्ति को विद्वान् अतिथियों से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है और इसे प्रभु की प्रेरणा सुनने की शक्ति भी मिलती है।

भावार्थ–जिस घर में विद्वान् अतिथि आते रहते हैं, उसे सदा उत्तम उपदेश मिलता है और यह 'शुद्ध हृदय' होकर प्रभु की प्रेरणा को भी सुन पाता है।

ऋषिः–अप्रतिरथः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

सुप्रतीको विभावसुः

उदुं त्वा विश्वें देवाऽअग्ने भरंन्तु चित्तिंभिः।
स नों भव शिवस्त्वꣳसुप्रतींको विभावंसुः ॥५३॥

१. गत मन्त्र से '**तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः**=विद्वान् लोग **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें' ऐसा कहा था। उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **विश्वेदेवाः**=सब विद्वान् **चित्तिभिः**=ज्ञान के द्वारा **उ**=निश्चय से **उद् भरन्तु**=(ऊर्ध्वं धारयन्तु) ऊपर धारण करें। तुझे विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। वे विद्वान् तुझे ज्ञान देनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा तुझे वासनाओं से ऊपर उठाकर उत्कृष्ट अध्यात्म मार्ग में धारण करें। २. **सः त्वम्**=वह तू **नः**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। कम-से-कम तू किसी की हानि करनेवाला न हो। ३. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरे चेहरे पर क्रोध के कारण सदा त्योरियाँ न चढ़ी रहें। ४. **विभावसुः**=तू सदा (विविधासु भासु वसति–द०) नाना प्रकार के विज्ञानों

में निवास करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन ज्ञान-प्रधान हो।

भावार्थ—१. देवता तुझे ज्ञान के द्वारा विषय-वासनाओं से ऊपर उठाएँ। २. तू सबका कल्याण करनेवाला हो। ३. तेरा मुख मुस्कराहट से युक्त, अतएव सुन्दर हो। ४. विविध विज्ञानों में तू निवास करनेवाला बने।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—दिक्। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अमति-दुर्मतिबाधनम्

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽअस्थात्॥५४॥

१. वैदिक साहित्य में राष्ट्र को पाँच भागों में बाँटा है। 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची तथा ऊर्ध्व' इन पाँच दिशाओं के दृष्टिकोण से उनमें रहनेवाले लोगों को भी 'पञ्च दिशः' कहा गया है। इन पाँचों दिशाओं में रहनेवाले लोग **देवीः**=उस देव के उपासक हैं। ये प्रभु की उपासक प्रजाएँ **यज्ञम् अवन्तु**=यज्ञ की रक्षा करें। इनका जीवन यज्ञमय हो। २. **देवीः**=ये ज्ञान के प्रकाशवाली दिव्य गुणसम्पन्न प्रजाएँ **अमतिम्**=अमनन व अज्ञान को, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को, अयथार्थ ज्ञान के कारण पाप में प्रवृत्त होनेवाली राजस् बुद्धि को **अपबाधमानाः**=ये अपने से दूर रोकनेवाली हों। ३. ये प्रजाएँ **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति उस प्रभु की **आभजन्तीः**= उपासना करेनवाली हों। उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ये अनुभव करें। उन यज्ञों का इन्हें अहंकार न हो जाए और न ही धन कमाने का अहंकार हो। वे धन को प्रभु का ही समझें, अपने को ट्रस्टी मात्र। ४. और **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञः**=यज्ञ इनके घरों में **अधि अस्थात्**=आधिक्येन स्थित हो। धन की वृद्धि यज्ञियवृत्ति की कमी का कारण न बन जाए। प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि संसार के विलास का कारण बन जाती है। हममें तो यह श्रेष्ठतम कर्मों की वृद्धि का ही कारण बने।

भावार्थ—१. हमारे राष्ट्र के सब लोग परमेश्वर के उपासक हों। २. यज्ञ की रक्षा करें। ३. प्रकाशमय जीवनवाले होकर तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। ४. धन की वृद्धि होने पर यज्ञपति प्रभु की उपासना से दूर न हो जाएँ। ५. धनी होकर अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

तप्त घर्म

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः॥५५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर यज्ञों के खूब होने की बात कही है। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि अप्रतिरथ **समिद्धे अग्नौ**=खूब दीप्त अग्नि में, यज्ञों के द्वारा उस प्रभु की **अधि-मामहानः**=(उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजकः—उ०) अतिशयेन पूजा करता है। यज्ञों के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा ही वस्तुतः प्रभु की उपासना होती है। हम यज्ञों को अपनाकर प्रभु के निर्देश का पालन करते हैं। २. **उक्थपत्रः**=(उक्थानि पत्रं वाहनं यस्य) यह प्रभु के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही अपना वाहन बनाता है। उनपर आरूढ़ होकर यह अपनी जीवन-यात्रा को पूरा करता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और

जीवन-संग्राम को जारी रखता है। ३. **ईड्यः**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधु) स्तुति में उत्तम होता है? इसका प्रभु-स्तवन आडम्बरमात्र न होकर वास्तविक होता है। यह स्तुति से अपने सामने एक लक्ष्य-दृष्टि को उपस्थित करता है। ४. **गृभीतः**=(गृभीतं ग्रहणमस्यास्ति इति-द०) यह ज्ञान के ग्रहणवाला होता है अथवा मनरूप लगाम को सम्यक्तया पकड़े हुए होता है। ५. ये मन को वश में करनेवाले लोग **तप्तं घर्मम्**=(तप्=दीप्तौ) खूब दीप्त शक्ति को (घर्म=शक्ति की उष्णता) **परिगृह्य**=ग्रहण करके **अयजन्त**=सर्वथा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। इनका ज्ञान (तप्तं) व इनकी शक्ति (घर्म) दोनों यज्ञों का साधन बनते हैं। ६. **यत्**=जब-तब **देवाः**=ये ज्ञानदीप्त लोग **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के हेतु से **यज्ञम्**=उस यजनीय प्रभु को (यज्ञो वै विष्णुः) **अयजन्त**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। इस प्रभु-सङ्ग से ही ये अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले होते हैं।

भावार्थ-१. यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन होता है। २. प्रभु-स्तवन ही जीवन-यात्रा में वाहन बने। ३. हम उत्तम स्तुति करनेवाले बनें। ४. ज्ञान का ग्रहण करें। ५. ज्ञान-दीप्त शक्ति प्राप्त करके यज्ञशील हों। ६. प्रभु के मेल से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः-अप्रतिरथः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

देवश्रीः-श्रीमनाः-शतपयाः

दैव्या॑य ध॒र्त्रे जोष्ट्रे॑ देव॒श्रीः श्रीम॑नाः श॒तप॑याः।
प॒रि॒गृह्य॑ दे॒वा य॒ज्ञमा॑यन् दे॒वा दे॒वेभ्यो॑ऽअध्व॒र्यन्तो॑ऽअस्थुः ॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के साथ सङ्गतीकरण' पर थी। इसी बात से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **दैव्याय**=देवों का हित करनेवाले, **धर्त्रे**=सबका धारण करनेवाले तथा **जोष्ट्रे**=पिता के नाते जीवों की अपने पुत्रों की भाँति प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले प्रभु के लिए (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **देवश्रीः** =(देवान् श्रयति) दिव्य गुणों का सेवन करनेवाले बनो। प्रभु दैव्य हैं, देवों का हित करनेवाले हैं। हम भी दिव्य गुणों का धारण करनेवाले बनेंगे और प्रभु से किये जानेवाले हित के पात्र होंगे। २. प्रभु-अर्चन के लिए **श्रीमनाः** (श्रयषां श्रीः=सेवनम्)=सेवा की मनोवृत्तिवाला बनता है, प्रभु भी तो 'धर्त्रे' सबका धारण करनेवाले हैं, यह भी औरों के धारण का प्रयत्न करता है। ३. प्रभु **जोष्ट्रे**=सभी का प्रीतिपूर्वक सेवन कर रहे हैं, यह भी 'शतपयाः'=सैकड़ों आप्यायनों=वर्धनोंवाला बनता है। अपना आप्ययन करता हुआ यह औरों का भी आप्यायन करता है। ४. इस प्रकार दिव्य गुणों को **परिगृह्य**=ग्रहण करके **देवाः**=ये देववृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=यज्ञ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सदा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ५. ये **देवाः**=देव **देवेभ्यः**=देवों के लिए, अर्थात् अपने में निरन्तर दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए **अध्वर्यन्तः**=(अध्वरम्=हिंसा कर्तुमिच्छन्तः) अंहिसा को चाहते हुए **अस्थुः**=ठहरते हैं। 'अहिंसा' ही अन्य सब यम-नियमों के मूल में है। ये अहिंसा ही हमें 'देवश्रीः-श्रीमनाः-व शतपयाः' बनाएगी।

भावार्थ-१. हम दिव्य गुणों का आश्रय करके "दैव्य" प्रभु के हित के पात्र बनें। २. हम श्रीमनाः सेवावृत्तिवाले बनकर औरों का धारण करते हुए "धर्ता" प्रभु का अर्चन करें। ३. औरों की सेवा के लिए सैकड़ों आप्यायनोंवाले बनें और इस प्रकार प्रेम से सबका भला करते हुए 'जोष्ट्रे' प्रभु की पद-पद्धति पर चलें। ४. यज्ञशील हों। ५. दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए 'अहिंसा' को मौलिक आधार बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सात्त्विक अन्तः शान्ति

वीतꣳहविः शमितꣳशमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम्॥५७॥

१. **हविः वीतम्**=गत मन्त्र के 'अध्वर्यन्'=अहिंसा को चाहनेवाले से हवि का ही भक्षण किया गया है। इसने सदा 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक ही अदन किया है। सदा यज्ञशेष खानेवाला ही बना है, अथवा पवित्र पदार्थों का ही भक्षण किया है। २. **शमितम्**=सात्त्विक भोजन से इसने अपने मन को शान्त बनाया है। ३. **शमिता**=यह शम को धारण करनेवाला **यजध्यै** (यष्टुम्)=यज्ञों के लिए प्रवृत्त हुआ है। ४. **तुरीयः** =(तुरीयमस्यास्तीति) यह चौथे कदमवाला हुआ है, **यत्र**=जहाँ कि **यज्ञः**=वह पूजनीय, सङ्गति व समर्पण के योग्य प्रभु **हव्यम्**=इस अर्पण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **एति**=प्राप्त होता है। माण्डूक्य में 'सोयमात्मा चतुष्पात्'=यह आत्मा चतुष्पात् है, ऐसा कहा है। वेद में 'पृथिवी का विजय,' अन्तरिक्ष का विजय, द्युलोक का विजय व स्वयं देदीप्यमान ज्योति की प्राप्ति' इन चार कदमों का वर्णन हुआ है। चौथे कदम में उस 'स्वर्ज्योति' की प्राप्ति होती है। ५. **ततः**=इस ज्योति के प्राप्त होने पर **वाकाः**=(वचनानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि—द०) सब ज्ञान की वाणियाँ इसे प्राप्त होती हैं और **आशिषः**='अभीष्ट अर्थशंसन', अर्थात् उत्तम इच्छाएँ **नः**=हमें **जुषन्ताम्**=सेवन करती हैं, अर्थात् हमारी सब उत्तम कामनाएँ पूर्ण होती हैं। ब्रह्म के प्राप्त होने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और सब कामनाएँ सत्य हो जाती हैं।

भावार्थ—१. हम सात्त्विक भोजनवाले हों। २. शुभ गुणयुक्त, ३. यज्ञशील हों। ४. परमात्मा-प्राप्तिरूप चौथे कदम को रखनेवाले बनें। ५. जिससे हम ज्ञानी व सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सूर्यरश्मिः

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ऽअजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥५८॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि उसे वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। वहीं से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि यह अप्रतिरथ **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान की रश्मियोंवाला बनता है। **हरिकेशः**='हरि' दुःखहरण व 'क'=सुख का ईश होता है। यह यथासम्भव औरों के दुःखों को हरनेवाला तथा सुख प्राप्त करानेवाला होता है। ३. **पुरस्तात्**=यह निरन्तर आगे बढ़ता है। ४. **सविता**=(सु=अभिषव) यह उत्पादक होता है, सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है औरों को भी उत्तम कार्यों की प्रेरणा देता है। (षू प्रेरणे)। ५. इसके जीवन से **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=प्रकाश **उदयाम्**=(उद्गच्छति) उद्गत होता है। ६. यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का ठीक से पोषण करनेवाला **तस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **याति**=चलता है। सब कार्यों को प्रभु की प्रेरणा के अनुसार करता है। ७. **विद्वान्**=अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझता है। ८. **विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्**=सब प्राणियों को देखता है (look after), उनका ध्यान करता है। ९. **गोपाः**=इन्द्रियों का रक्षक होता है, उन्हें विषय-पंक में फँसने से बचाता है।

भावार्थ—'अप्रतिरथ' ऋषि वह है जो सूर्य के समान ज्ञान की किरणोंवाला है।

'दुःखहरण व सुखप्रापण' जिसका ध्येय है। वह निरन्तर आगे और आगे बढ़ रहा है, उत्पादन के कार्य में लगा है, निरन्तर ज्ञान की ज्योति को बढ़ाता हुआ, शक्तियों का पोषण करता हुआ प्रभु की अनुज्ञा में चल रहा है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझता हुआ, सभी का ध्यान करता हुआ, जितेन्द्रियता से जीवन यापन करता है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व व अपर केतु

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥५९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'अप्रतिरथ' सब वासनाओं को जीतकर 'सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है' और 'विश्वावसु' हो जाता है। यह 'विश्वावसु' **विमानः**='विशेषेण मिमीते' प्रत्येक क्रिया को बड़ा माप-तोल कर करता है। २. **एषः**=यह विश्वावसु **दिवो मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **आस्ते**=निवास करता है। ३. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष=हृदय को **आपप्रिवान्**=(प्रा पूरणे) न्यूनताओं से रहित करके शक्ति-सम्पन्न बनाता है। मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदयान्तरिक्ष को 'नैर्मल्य' व सत् (सत्य) से पूरण करता है। इसके मस्तिष्क में ज्योति है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसके शरीर में नीरोगता उभरती है 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'। इसके हृदय में सत्य है 'असतो मा सद्गमय'। ४. **सः**=वह विश्वावसु **विश्वाचीः**=(विश्वं अञ्चन्ति) सर्वव्यापक प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को ही करता है। **घृताचीः**=(घृ क्षरणदीप्तिः) यह उन क्रियाओं को करता है जो उसे शरीर के मल के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति की ओर ले-जाती हैं, और इस प्रकार यह ५. **अन्तरा**=अपने हृदयदेश में **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को पराविद्या व ब्रह्मविद्या को **च**=तथा **अपरं केतुम्**=अपराविद्या को, प्रकृति-ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह अपराविद्या से ऐहलौकिक वसु को प्राप्त करता है तो पराविद्या से 'पारलौकिक वसु' को। इस प्रकार दोनों वसुओं को प्राप्त कर यह सचमुच 'विश्वावसु' बन जाता है।

भावार्थ—'विश्वावसु' वह है १. जो सब क्रियाओं को माप-तोलकर करता है। २. सदा ज्ञान में निवास करता है। ३. शरीर-मन व मस्तिष्क का पूरण करता है। ४. उन क्रियाओं को करता है जो इसे प्रभु व ज्ञान की ओर ले-जाएँ। ५. अपने हृदय में 'परा व अपरा' विद्या को—ज्ञान-विज्ञान को स्थान देता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पितृगृह-प्रवेश (अन्तरक्षण)

उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥६०॥

१. गत मन्त्र के अन्त में विश्वावसु के ज्ञान-विज्ञान के धारण का उल्लेख है। उसे धारण करके यह **उक्षा** =उस ज्ञान का सेचन करनेवाला बनता है, उस ज्ञान को प्रजाओं में फैलाता है। २. **समुद्रः**=इस कार्य को करता हुआ यह सदा आनन्द में निवास करता है (स+मुद्)। हर्ष-शोक के वश में न होकर आनन्दमय बना रहता है। ३. **अरुणः**=अपनी तेजस्विता से 'आ-रक्त' वर्णवाला होता है। ४. **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला होता है। ऐसा बनकर ५. **पूर्वस्य पितुः**=उस सबके प्रथम पिता प्रभु के **योनिम्**= स्थान में

आविवेश=प्रवेश करता है, अर्थात् उस प्रभु की उपासना करता हुआ प्रभु से मेल करने का प्रयत्न करता है। ६. **मध्ये दिवः निहितः**=यह सदा ज्ञान के मध्य में निवास करता है। ७. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) सब ज्ञान-रश्मियों का सम्पर्क करनेवाला होता है अथवा 'अल्पतनु' होता है, शरीर को बड़ा मोटा-ताज़ा करने में नहीं लगा रहता, परन्तु ८. **अश्मा**=शरीर को पत्थर-जैसा दृढ़ बनाता है। ९. शरीर की दृढ़ता के लिए ही **विचक्रमे** =विशिष्ट पुरुषार्थ करनेवाला होता है और **रजसः**=इस शरीररूप लोक के **अन्तौ**=अन्तों को, मस्तिष्क व चरणों को **पाति**=बड़ा सुरक्षित रखता है। इसका ज्ञान उत्तम व पवित्र होता है और उस ज्ञान के अनुसार इसके आचरण भी पवित्र होते हैं। विचार और आचार दोनों पवित्र होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का प्रसार करनेवाला, सदा आनन्दमय, तेजस्वी, उत्तमता से अपना पूरण करनेवाला 'अप्रतिरथ' परमात्मा में पहुँचता है। सदा ज्ञान में स्थित (नित्य सत्यस्थ) ज्योतियों के स्पर्शवाला, दृढ़ शरीर यह निरन्तर पुरुषार्थ करता है और अपने विचार-आचार की बड़ी रक्षा करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा सुतजेताः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रथीनां रथीतम

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम् ॥६१॥

१. गत मन्त्र में 'पूर्व पिता के गृह में प्रवेश' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी पूर्व पिता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ उसी का **अवीवृधन्**=वर्धन करती हैं, अर्थात् सारी वाणियाँ प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'=सारे वेद उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'=सारी ऋचाएँ उस परम अविनाशी सर्वव्यापक प्रभु में ही स्थित हैं। उस प्रभु में २. जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ३. **समुद्रव्यचसम्**=(स-मुद्) सदा आनन्द में निवास करनेवाले तथा अत्यन्त विस्तारवाले हैं। वस्तुतः सर्वव्यापकता व विस्तार के कारण ही आनन्दमय हैं। ४. **रथीनां रथीतमम्**=रथों के सर्वोत्तम रथी हैं। सर्वोत्तम रथ-संचालक हैं, इसीलिए एक सच्चा भक्त अपने शरीररूप रथ की बागडोर भी उस प्रभु के हाथ में सौंप देता है। ५. **वाजानां पतिम्** =सब शक्तियों के वे स्वामी हैं। उनका भक्त बनकर मैं भी इन शक्तियों को क्यों न प्राप्त करूँगा? ६. **सत्पतिम्** =वे प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' को अपनाकर, सद्भाव से सत्कर्मों को करते हुए उस प्रभु से रक्षणीय बनें।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ उस प्रभु का वर्णन कर रही हैं जो प्रभु 'इन्द्र, समुद्रव्यचस, रथीनां रथीतम, वाजानां पति व सत्पति' है। हम भी 'वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले 'इन्द्र' बनें, मन को महान् बनाकर मनःप्रसाद का साधन करें। शरीररूप रथ की बागडोर प्रभु को सौंपकर शक्तियों के पति बनें। जीवन में 'सत्' के रक्षक हों। इन उत्तम इच्छाओं के द्वारा जन्म-मरण के विजेता हम इस मन्त्र के ऋषि 'जेता मधुच्छन्दा हों'।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवहूः सुम्नहूः

देवहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्।
यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च वक्षत् ॥६२॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवहूः**=(देवान् वक्षत्) देवों को पुकारनेवाला है, अर्थात् यज्ञ से हम

में दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। **च**=वह यज्ञ हमें दिव्य गुणों को **आवक्षत्**=(आवहतु—म०) प्राप्त कराए। २. **यज्ञः**=यह यज्ञ **सुम्नहूः**=(सुम्नं ह्वयति) सुख को घर में पुकारनेवाला है। **च**=और यह **आवक्षत्**=सुख को हमारे घरों में प्राप्त करानेवाला है। एवं, यज्ञों के दो परिणाम हैं—(क) दिव्य गुणों की वृद्धि तथा (ख) सुखों की प्राप्ति। ३. **अग्निः यक्षत्**=(यजतु) यह आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति यज्ञ करे **च**=और **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **देवान् आवक्षत्**=इसे दिव्य गुणों को प्राप्त कराए। इस वाक्य शैली से यह स्पष्ट है कि हम यज्ञ करते हैं और हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। 'यज्ञ' 'ऋतुओं की अनुकूलता, वायुशुद्धि व नीरोगता' आदि के द्वारा इस लोक के सुखों को देता है, साथ ही लोभ की वृत्ति पर कुठाराघात करता हुआ यह हमारी सब अशुभ-वृत्तियों को भी समाप्त करता है और हममें दिव्य गुणों का विकास करता है। दिव्य गुणों का प्रारम्भ 'धृति' से है, अतः मन्त्र का ऋषि 'विधृति' है, विशिष्ट धृतिवाला।

भावार्थ—१. यज्ञ हमारे लिए सुखमय स्थिति उत्पन्न करके इस लोक को अच्छा बनाते हैं। २. हमारी अशुभ-वृत्तियों को समाप्त करके, दिव्यता को जन्म देकर आमुष्मिक निःश्रेयस के साधक होते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उद्ग्राभ-निग्राभ

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ऽअकः॥६३॥

१. **वाजस्य प्रसवः**=सब शक्तियों का उत्पत्तिस्थान प्रभु **मा**=मुझे **उद्ग्राभेण**=उत्कृष्ट वसुओं के ग्रहण से **उदग्रभीत्**=ऊपर ग्रहण करे, अर्थात् विषय-वासनाओं से ऊपर उठाकर अपने समीप प्राप्त कराए। वस्तुतः शक्ति की उत्पत्ति व रक्षा से ही शरीर में नीरोगता उत्पन्न होती है। मन की पवित्रता के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति में ही सब गुणों का वास है और अन्त में यह विषय-वासनओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति प्रभु से ग्रहण के योग्य होता है, प्रभु इसको स्वीकार करते हैं। २. **अध**=अब **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **मे**=मेरे **सपत्नान्**=काम, क्रोधादि शत्रुओं को **निग्राभेण**=निग्रह, वशीकरण के द्वारा **अधरान् अकः**=पराजित करने का अनुग्रह करें। प्रभुकृपा से मैं इन शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ३. इन शत्रुओं के साथ संग्राम में बड़े धैर्य से चलता हुआ यह व्यक्ति सचमुच 'वि-धृति' है। इस विधृतित्व के कारण ही अन्त में यह विजयी बनता है।

भावार्थ—१. प्रभु मुझमें शक्ति उत्पन्न करें, जिससे उत्कृष्ट गुणों के ग्रहण से मैं प्रभु का प्रिय बन पाऊँ। २. प्रभु काम-क्रोधादि सपत्नों को मेरे वशीभूत करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ब्रह्म-वर्धन

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम्॥६४॥

१. **देवाः**=विद्वान् लोग **उद्ग्राभं च**=उत्कृष्ट वसुओं के बारम्बार ग्रहण से **च**=तथा **निग्राभम्**=वासनाओं के निग्रह से (आभीक्ष्ण्ये णवुल्) **ब्रह्म अवीवृधन्**=अपने अन्दर ज्ञान का व प्रभु का वर्धन करते हैं। ज्ञान व प्रभु-वर्धन का मुख्य उपाय यही है कि हम उत्कृष्ट

सत्य आदि गुणों का ग्रहण करते चलें और निकृष्ट कामादि का निग्रह करनेवाले बनें। 'सत्य को ग्रहण करें, असत्य को छोड़ें' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. **अध**=अब **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि=जितेन्द्रियता (इन्द्र) व आगे बढ़ने की वृत्ति व बुराइयों को भस्म करने की वृत्ति (अग्नि) **मे**=मेरे **विषूचीनान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में विचरनेवाले (विष्वग् अञ्चनान्) **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को **व्यस्यताम्**=विशेषरूप से दूर फेंक दें। वस्तुतः 'इन्द्र-शक्ति का विकास व आगे बढ़ने की प्रबल कामना' ये दो बातें ऐसी हैं जिनके होने पर वासनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं होता। मैं जितेन्द्रिय बनकर अपने अन्दर बने हुए असुरों के दुर्गों का दहन कर डालता हूँ। ब्रह्म का वर्धन करता हुआ मैं भी 'त्रिपुरारि' का छोटा रूप बन जाता हूँ।

भावार्थ—१. हम सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करके ब्रह्म वर्धन करनेवाले बनें। २. जितेन्द्रियता व अग्नित्व के द्वारा हम विरोधी वासनाओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मुक्ति में स्थिति

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳहस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठꣳस्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥६५॥

१. **अग्निना**=यज्ञ की अग्नि से, अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि के द्वारा **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग का आरोहण करनेवाले बनो। यह यज्ञाग्नी तुम्हारे जीवन को स्वर्ग का जीवन बनाये। यह तुम्हारे सब इष्ट-कामों का दोहन करता हुआ तुम्हें सुखी करे। २. **उख्यम्**=उखा से=स्थाली से संस्कृत किये हुए अन्न को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए, अर्थात् यह अन्न तुम्हारे हाथों की कमाई से प्राप्त किया गया हो। ३. **दिवःपृष्ठम्**=ज्ञान के पृष्ठ पर, अर्थात् सदा ज्ञानारूढ़ हुए-हुए **स्वर्गत्वा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करके **देवेभिः**=दिव्य गुणों से मिलकर **आध्वम्**=ठहरो। अथवा **देवेभिः**=ब्रह्म में ही रमनेवाले, परमात्मा के साथ विचरनेवाले मुक्तात्माओं के साथ **मिश्राः**=मिलकर **आध्वम्**=ब्रह्म में स्थित होओ। ४. एवं, प्रस्तुत मन्त्र में मुक्ति का निम्नक्रम प्रदर्शित हुआ है। (क) हम यहाँ यज्ञमय जीवन बनाकर स्वर्ग को पाने का प्रयत्न करें। (ख) अपने हाथों से कमाकर संस्कृत अन्नों का सेवन करनेवाले बनें (पहले यज्ञ, पीछे खाना) यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। (ग) ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करना। (घ) इस प्रकार उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप पहुँचना। (ङ) और उस ब्रह्म से ही अन्य मुक्तात्माओं के साथ मिलकर आसीन होना। जीवन्मुक्त पुरुष यहाँ भी प्रभु-निष्ठ होते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर ज्ञान-चर्चाएँ करते हैं। ऐसी ही ज्ञान-चर्चाओं के परिणामरूप 'उपनिषद्' आदि ग्रन्थ बनें।

भावार्थ—१. यज्ञाग्नि हमारे जीवनों को नीरोग व सुखी बनाये। २. हम पुरुषार्थ से अन्नों का अर्जन करें। ३. ज्ञानप्रधान जीवन बिताएँ। ४. उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप उपस्थित हों। ५. देवों से मिलकर उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ज्ञानचर्चाएँ करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व दिशा को लक्ष्य करके

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह।
विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥६६॥

१. पिछले मन्त्र के 'क्रमध्वम्' का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में है। **क्रमध्वम्**=पुरुषार्थ करो। क्या पुरुषार्थ करें? प्रभु कहते हैं कि **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि**=प्राची जोकि प्रकृष्ट दिशा है, उसका लक्ष्य करके आगे और आगे बढ़। पूर्व दिशा में सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्ड उदय होकर आगे और आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं, अतः यह आगे बढ़ने की दिशा है (प्र=अञ्च)। तू भी इस दिशा से यही प्रेरणा ले कि मुझे निरन्तर आगे बढ़ना है। २. सबसे पहला काम तो यह कर कि हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **विद्वान्**=तू ज्ञानी बन। अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ३. इन ज्ञान प्राप्त करनेवाले अग्नियों में तू **इह अग्नेः पुरः अग्निः भव**=यहाँ–इस जीवन में, प्रगतिशील साथियों के अग्रभाग में होनेवाला अग्निः अग्रेणी=अपने को प्रथम स्थान में प्राप्त करानेवाला बन। ४. तू अपने ज्ञान से **विश्वाः आशाः दीद्यानः**=सब दिशाओं को दीप्त करता हुआ **विभाहि** =विशेष रूप से दीप्तिवाला बन। ५. और **नः ऊर्जम्**=हमारे इस बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपाये व चौपायों के लिए **धेहि**=धारण कर। अन्न का सेवन तूने अकेले नहीं करना। 'अकेला खानेवाला पापी होता है', इस बात को भूलना नहीं।

भावार्थ–१. हम पूर्व दिशा को लक्ष्य बनाकर आगे और आगे बढ़ें। २. आगे बढ़नेवालों में भी आगे बढ़कर 'शिरोमणि' (topmost) बनने का प्रयत्न करें। ३. अपने ज्ञान से सब दिशाओं को दीप्त करें। ४. सभी के लिए अन्न का धारण करते हुए अन्न का सेवन करें।

ऋषिः–विधृतिः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–पिपीलिकामध्याबृहती। **स्वरः**–मध्यमः॥

ऊपर और ऊपर

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥६७॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूर्व दिशा का लक्ष्य करके आगे बढ़ने' का उल्लेख था। उसी आगे बढ़ने को स्पष्ट करके कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **उत्**=ऊपर उठकर **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक में **आरुहम्**=आरोहण करूँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर **दिवम् आरुहम्** =द्युलोक में आरोहण करूँ। ३. **दिवः**=द्युलोक का **नाकस्य**=जो सुखमय प्रदेश है, जिसमें दुःख नहीं है उस स्वर्गप्रदेश के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अहम्**=मैं **अगाम्** =प्राप्त होऊँ। ४. इस जीवन-यात्रा में हमें आगे और आगे बढ़ना है। 'आरोहणमाक्रमण'–'चढ़ना और आगे कदम रखना' यही तो जीवित पुरुष का मार्ग है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होते हैं उतना-उतना हमारा जन्म उत्कृष्ट लोकों में होता है–(क) सामान्यतः ५० पुण्य व ५० पाप होने पर हम इस पृथिवीलोक पर जन्म लेते हैं। (ख) पुण्य ८० व पाप २० रह जाने पर हमारा जन्म चन्द्रलोक में होता है, वहाँ सुख अधिक और दुःख बहुत कम हो जाता हैं। (ग) अब पुण्य ९९ तथा पाप एक-आध रह जाने पर हमारा जन्म द्युलोक में होता है जहाँ सुख-ही-सुख है। (घ) इस जीवन-यात्रा की पूर्ति उस दिन होती है जब हम १०० के १०० पुण्यकर्म करते हुए उनके अभिमान से ऊपर उठे हुए द्युलोक से भी ऊपर उठकर उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करने पर यह आने-जाने का चक्र समाप्त होता है। ५. पृथिवी आदि से ऊपर उठने का भाव इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है (क) 'हम पृथिवी पृष्ठ से उठकर अन्तरिक्ष में पहुँचें' अर्थात् 'पृथिवी शरीरम्'

शरीर की शक्तियों का विस्तार करें, परन्तु शरीर में ही न उलझे रह जाएँ। केवल शारीरिक उन्नति सम्भवतः हमें 'हाथी' की योनि में भेज देगी। (ख) अतः हम शरीर के साथ हृदयान्तरिक्ष का भी ध्यान करें। हम अपने हृदय को बड़ा निर्मल बनाने का यत्न करें, परन्तु हृदय की निर्दोषता पर ही रुक गये तो भी गौ का जीवन मिल जाएगा। (ग) हृदय से ऊपर उठकर हम द्युलोक का आरोहण करनेवाले बनें। यह द्युलोक 'मूर्धा' है। हम मस्तिष्क की उन्नति करनेवाले बनें। (घ) और अब मस्तिष्क को खूब विकसित करके हम अपनी इस अग्र्या बुद्धि से, तीक्ष्ण व सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से द्युलोक को, तथा द्युलोक से स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपायत्रयी

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याᳬरोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारᳬसुविद्वाᳬसो वितेनिरे॥६८॥

१. गत मन्त्र में स्वर्ज्योति की प्राप्ति का उल्लेख है। उसी के साधनों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **स्वर्यन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर जाते हुए योगवृत्तिवाले पुरुष **नापेक्षन्ते**=सांसारिक वस्तुओं की बहुत अपेक्षा नहीं करते, अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं को कम और कम करते चलते हैं। २. **रोदसी**=जरा-मृत्यु शोकादि का निरोध करनेवाले (रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन्—म०) **द्याम्**=प्रकाशमयलोक में **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। यह ज्ञान इनका **रोदसी**=रोध्री=जन्म-मरणचक्र का निरोध करनेवाला बनता है। ३. **ये सुविद्वांसः**=ज्ञान-वृद्धि करनेवाले उत्तम ज्ञानी **विश्वतोधारं यज्ञम्**=जगत् के धारणहेतु, यज्ञ को **वितेनिरे**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् ये विद्वान् लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर चलनेवाले लोग। १. भौतिक आवश्यकताओं को कम करते हैं। २. दुःख-शोक निरोधक ज्ञान का अपने में वर्धन करते हैं और ३. जगत् के धारणहेतुभूत यज्ञों को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवयतां प्रथमः 'भृगुभिः सजोषाः'

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥६९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—**अग्ने**=हे अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **प्रेहि**=आगे बढ़। २. **प्रथमः देवयताम्**=दिव्य गुणों की कामना करनेवालों में तू प्रथम बन। ३. इस संसार में तू **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देवों का **चक्षुः** (चष्टे)=देखनेवाला बन। इनका तत्त्वज्ञान प्राप्त कर। इनका तत्त्वज्ञान ही तुझे इनके ठीक उपयोग से स्वस्थ बनाएगा। ४. **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के भी **चक्षुः**=व्यवहार को तू सम्यक् देखनेवाला बन। उनकी मनोवृत्ति को समझने पर ही तू सबके साथ उत्तमता से वर्त्तता हुआ व्यर्थ के वैर-विरोध से बचा रहेगा। ५. **इयक्षमाणाः**=(यष्टुम् इच्छन्तः)

यज्ञों के करने की इच्छावाले होते हुए तथा **भृगुभिः सजोषाः**=(भ्रस्ज पाके) उत्तम परिपक्व विद्वानों के साथ प्रीतिपूर्वक ज्ञान-चर्चाओं का सेवन करते हुए **यजमानाः**=पूजा-सङ्गतीकरण व दान वृत्तिवाले लोग **स्वस्ति**=रोग व शोकादि से आहत न होते हुए **स्वःयन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करें।

भावार्थ—१. हम अग्नि बनें, आगे बढ़ें, दिव्य गुणों का वर्धन करनेवालों में प्रथम हों। २. प्राकृतिक देवों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके ठीक उपयोग से स्वस्थ हों। मनुष्यों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके स्वभाव को समझकर वर्त्तते हुए झगड़ों में न उलझ जाएँ। ३. यज्ञशील बनकर ज्ञानियों के साथ ज्ञानचर्चाओं का सेवन करते हुए स्वस्थ बनकर प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आदर्श पति-पत्नी

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥७०॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'विधृति'=विशिष्ट धैर्य के साथ आगे बढ़ता हुआ सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला बनता है और 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) कहलाता है। जो पति-पत्नी परस्पर सहायता करते हुए 'कुत्स' बनते हैं, उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि २. **नक्तोषासा**=(ओलस्जी व्रीडे, उष दाहे) पत्नी 'नक्त' है 'व्रीडा' उसका मुख्य गुण है, वह उचित लज्जा को कभी नहीं त्यागती। पति 'उषस्' है, यह सब बुराइयों को जलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये उचित लज्जाशील व दोष दहनवाले पति-पत्नी ३. **समनसा**=समान मनवाले होते हैं। इनके मनों में कभी विरोधी भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। ४. **विरूपे**=ये दोनों विशिष्ट रूपवाले होते हैं, अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। ५. **समीची**=(सम्यक् अञ्चतः) ये मिलकर उत्तम गतिवाले होते हैं। इनकी क्रियाओं में विरोध न होकर सामञ्जस्य होता है। ६. ये दोनों **एकं शिशुं धापयेते**=अद्वितीय सन्तान का पालन करते हैं। (यहाँ एक सन्तान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। महाभारत में कृष्ण और रुक्मिणी की भी एक सन्तान है, 'प्रद्युम्न'। रामायण में कौसल्या की भी एक ही सन्तान है, 'राम'। महाभारत में युधिष्ठिर की भी एक ही सन्तान है, 'श्रुतकीर्ति'।) ७. **द्यावाक्षामा**=पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त बनता है तो पत्नी पृथिवीलोक के समान सहनशील (क्षम्)। इन दोनों के **अन्तः**=मध्य में **रुक्मः**=चमकता हुआ वह सन्तान **विभाति**=शोभता है। ८. उत्तम गुणों को धारण करनेवाले **देवाः**=इस घर के सब व्यक्ति **अग्निं धारयन्**=उस अग्रेणी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं और ९. **द्रविणोदाः**=(द्रव्यप्रदातारः—द०) धनों का दान देनेवाले होते हैं। प्रभु को अपनानेवाला त्यागवृत्तिवाला होता है। धन व प्रभु दोनों की उपासना सम्भव नहीं। प्रभु की उपासना की पहचान ही यह है कि धनासक्ति कम हुई या नहीं। प्रभुसक्त धनासक्त नहीं होता।

भावार्थ—१. पति-पत्नी ने उचित व्रीडाशील व दोष-दहनवाला होना है। २. समान मनवाला ३. विशिष्ट रूपवाला। ४. ये दोनों (समीची) सङ्गतिवाले होकर एक सन्तान का सुन्दर पालन करते हैं। ५. इनके दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर के मध्य में निर्मल मन चमकता है। ६. ये देव बनकर प्रभु को अपने निर्मल मन में धारण करते हैं और ७. धनों का दान देनेवाले होते हैं। ये प्रभु की निम्न शब्दों से उपासना करते हैं—

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

उपासना व स्तवन

अग्ने॑ सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छ॒तं ते॑ प्रा॒णाः स॒हस्रं॑ व्या॒नाः।
त्वꣳ सा॑ह॒स्रस्य॑ रा॒यऽई॑शिषे॒ तस्मै॑ ते विधेम॒ वाजा॑य॒ स्वाहा॑॥७१॥

१. **अग्ने**=(पावक इव प्रकाशमय—द०) हे प्रभो! आप अग्नि के समान प्रकाशमय हो, मुझे भी अपनी इस ज्ञानाग्नि से दीप्त कीजिए। २. **सहस्राक्ष**=अनन्त आँखोंवाले आप हैं। ३. **शतमूर्द्धम्**=असंख्यात मस्तिष्कवाले आप हैं (सहस्रशीर्षा पुरुषः)। ४. **शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना**=अनन्त आपके प्राण हैं और अनन्त ही आपके व्यान हैं। (मैं भी आपकी कृपा से बहुद्रष्टा, दीप्त मस्तिष्क व प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न बनूँ)। ५. **त्वम्**=आप **साहस्रस्य**=अनन्त प्राणियों के धारण करनेवाले **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशिषे**=ईश हैं। वस्तुतः 'लक्ष्मी' तो आपकी पत्नी ही है, वह सभी का पालन कर रही है। आपकी कृपा से मेरा धन भी सभी का धारण करनेवाला बने, मैं कृपणता की वृत्ति से ऊपर उठूँ। ६. **तस्मै ते**=उस आपकी हम **विधेम**=पूजा करते हैं और **वाजाय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए तथा त्याग की भावना (वाज=sacrifice) की वृद्धि के लिए **स्वाहा**=(स्व, हा) हम अपने को आपके प्रति अर्पित करते हैं। आपके सम्पर्क से ही हममें शक्ति व सद्गुणों का सञ्चार होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अनन्त सिर, आँखों व प्राणोंवाले हैं। आपकी कृपा से हम भी अपनी शक्तियों को बढ़ानेवाले हों। आपका धन सभी का पालन करता है, हम भी कृपण न होकर औरों का पालन करनेवाले हों। आपके सम्पर्क से शक्तिलाभ करें और त्यागशील हों।

सूचना—आचार्य ने भावार्थ में लिखा है कि योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि के कार्यों को कर सकता है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सुपर्ण

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द।
भा॒सान्तरि॑क्षमापृ॒ण ज्योति॑षा दि॒वमुत्त॑भान॒ तेज॑सा दिश॒ऽउद् दृꣳह॥७२॥

१. गत मन्त्र के उपासक को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **सुपर्णः असि**=(शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य—द०) तू अच्छे-अच्छे पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त है। २. **गरुत्मान्**=(गुर्वात्मा—द०) बड़े मन व आत्मा के बल से युक्त है। ३. **पृथिव्याः पृष्ठे सीद**=इस शरीररूप पृथिवी के पृष्ठ पर तू आसीन हो, अर्थात् शरीर पर तेरा पूर्ण आधिपत्य हो, यह तेरे शासन में हो। ४. **भासा**=अपनी दीप्ति से **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **आपृण**=(आपूरय—द०) पूरित कर। तेरा हृदय निर्मल हो, चमकता हुआ हो, वहाँ प्रभु का व प्रेम का प्रकाश हो। उसमें ईर्ष्या-द्वेषादि की कुटिलता न हो। ५. **ज्योतिषा**=तू ज्ञान की ज्योति से **दिवम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत्तभान**=ऊपर थाम=उन्नति को पहुँचा। तेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से अधिकाधिक उन्नत होता चले। ६. **तेजसा**=तेजस्विता से **दिशः**=तू चारों दिशाओं को ('य आशानां आशापालाः' अर्थव०, आशाः=दिशा) अपने शरीर के चारों द्वारों को **उद् दृंह**=उत्कृष्टता से दृढ़ कर। तेरा (क) मुखद्वार अनिष्ट भोजन

को अन्दर न जाने दे और तेरा (ख) मलद्वार मल को बाहर फेंकता हुआ सचमुच 'पायु'=रक्षक हो। (ग) तेरा 'शिश्न' (मूत्रद्वार) मूत्र को ही बाहर फेंकनेवाला हो, रेतस् को नहीं और इस प्रकार (घ) तेरा 'विदृतिद्वार' अन्त में तुझे इस ब्रह्म की ओर ले-जानेवाला बने। यह 'ब्रह्मरन्ध्र' इस नाम को सार्थक करे।

भावार्थ—हम सुपर्ण बनें। गरुत्मान् बनकर शरीर पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करें। हृदय को दीप्त करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। हमारे इस शरीर-दुर्ग के चारों द्वार दृढ़ हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

आजुह्वान-सुप्रतीक

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥७३॥

१. गत मन्त्र की ही प्रेरणा इस मन्त्र में इन शब्दों से दी जा रही है—**आजुह्वानः**=तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हु दान-अदन)। आचार्य के शब्दों में 'सत्कारेण आहूतः'=तू इस प्रकार से शोभन आचरणवाला हो कि तुझे सब सत्कार से बुलाएँ। २. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरा चेहरा तेजस्वी हो। ३. **पुरस्तात्**=तू निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन। **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **स्वं योनिम्**=अपने घर में **साधुया**=श्रेष्ठ कर्मों से **आसीद**=आसीन हो। गृहप्रवेश के समय तूने व्रत लिया था कि 'शिवं प्रपद्ये' में कल्याणकर कर्मों को ही करूँगा, अतः तूने घर में कभी अशुभ व्यवहार नहीं करना। ५. **अस्मिन् सधस्थे** =यह घर तुम्हारा मिलकर (सह) रहने का स्थान हो, यहाँ कभी कलह न हों **अधि उत्तरस्मिन्**=इस उत्कृष्ट गृह में **विश्वे देवाः**=घर के सब लोग देव=विद्वान् व उत्तम गुणोंवाले बनकर **सीदत**=बैठो **च**=तथा **यजमानः**=प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ के शीलवाला होकर यहाँ निवास करे। 'यजमानः' यह एकवचन इस बात का सूचक है कि सभी अपने-अपने को यज्ञशील बनाने का प्रयत्न करें—दूसरों के सुधार में ही न लगे रहें।

भावार्थ—हम आजुह्वान व सुप्रतीक बनकर उन्नति करते हुए घरों में उत्तम कर्मों में आसीन हों। मिलकर चलें, देव बनें, यज्ञशील हों। यज्ञ ही तो हमें बुराइयों से बचाकर 'कुत्स' बनाएगा। यज्ञ से हम बुराइयों को भी भस्म कर देंगें।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—सविताः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुमति-वरण

ताꣳ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाꣳ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्॥७४॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'कुत्स' बुराइयों के संहार के लिए प्रस्तुत मन्त्र में सुमति का वरण करता है। सुमति-वरण के कारण ही इसका नाम 'कण्व'=मेधावी हो जाता है। यह कहता है कि **सवितुः**=सब ऐश्वर्यों के दाता—सबके उत्पादक सविता की, **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य प्रभु की, प्रकृति और प्रभु में प्रभु ही तो वरने योग्य हैं, **ताम्**=उस **चित्राम्**=अद्भुत अथवा चेतना देनेवाली **विश्वजन्याम्** =सब जनों का हित करनेवाली **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **अहम्**=मैं **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। २. **अस्य** =इस प्रभु की **याम्**=जिस **प्रपीनाम्**=प्रकृष्ट आप्यायन, वर्धनवाली, **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियोंवाली (धारा =वाक्) अथवा

सहस्रों का धारण करनेवाली, **पयसा महीम्**=आप्यायन के कारण महनीय **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री-ज्ञापिका सुमति को **कण्वः**=मेधावी पुरुष **अदुहत्**=अपने में दोहन करता है, अपने में भरता है। ३. प्रभु के 'सवितुः तथा वरेण्यस्य' ये दो नाम यह सूचना दे रहे हैं कि यह सुमति तुम्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कराएगी, तथा सचमुच यह वरणीय है, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाली है। ४. इस सुमति के विशेषण पद इसके निम्न लाभों का संकेत कर रहे हैं (क) **चित्राम्**=यह अद्भुत योगैश्वर्यों को देनेवाली है तथा हमें उत्कृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाली है (चित्+रा)। (ख) **विश्वजन्याम्**=यह सब लोकों का हित करनेवाली है। (ग) **प्रपीनाम्**=यह प्रकृष्ट आप्यायन व वर्धनवाली है। (घ) **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियों में इसका प्रतिपादन हुआ है। (ङ) **पयसा महीम्**=अपनी आप्यायन-शक्ति से यह महनीय है, पूजनीय है। (च) **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री है, वास्तविकता का ज्ञान देनेवाली है।

भावार्थ—हम प्रभु की सुमति का ही वरण करें और सचमुच 'कण्व'=मेधावी बनें। मेधावी बनकर निम्न शब्दों से प्रभु स्तवन करें—

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-जन्म

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे॥७५॥

१. हे **अग्ने**=(योग-संस्कारों से अथवा) सुमति से दुष्ट कर्मों को दहन करनेवाले प्रभो! हम **परमे जन्मन्**=सर्वोत्कृष्ट जन्म के होने पर **ते विधेम**=आपकी पूजा (उपासना) करें। सुमति की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट जन्म है। इस सुमति का विकास करता हुआ पुरुष प्रभु की सर्वोत्तम पूजा करता है। २. हे अग्ने! हम **अवरे**=इस सबसे अवर स्थान में स्थित शरीर से जोकि **सधस्थे**=सब कोशों के एक स्थान में स्थित होने की जगह है अथवा जहाँ इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी एकचित्त हैं, उस शरीर में **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **ते विधेम**=तेरी पूजा करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन व हमारी बुद्धि ये सब-के-सब इस शरीर में स्थित होकर तेरा ही स्तवन करते हैं। ३. **यस्मात् योने**=जिस भी कारण से **उदारिथाः**=आप उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तम्**=उसको **यजे**=अपने साथ सङ्गत करता हूँ। मैं आपकी प्राप्ति के लिए (क) बुद्धि का विकास करता हूँ, यही 'परम जन्म'='उत्कृष्ट विकास' है। (ख) शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का यत्न करता हूँ। इस स्वस्थ शरीर में ही सह स्थित होकर बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ आपका स्तवन करेंगी। (ग) आपकी प्राप्ति के जो और भी साधन हैं उन्हें मैं अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **त्वे समिद्धे**=आपके समिद्ध होने पर ये स्तुति करनेवाले 'गृत्स' लोग **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियों को अपने में आहुत करते हैं। हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हैं। सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर सदा आपका स्तवन करते हुए कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

भावार्थ—१. हम प्रभु की उपासना ज्ञान के विकास के द्वारा करें, यही परम उपासना है। २. मन, बुद्धि व इन्द्रियों से प्रभु का स्मरण करें यही मध्यम उपासना है। तथा ३. प्रभु-प्राप्ति के उपायों को अपनाएँ, यही उपासना का प्रारम्भ है। इस सबके लिए मैं हवियों का ग्रहण करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शश्वन्तः वाजाः

प्रेद्धोऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वाᳬं शश्वन्तऽउपयन्ति वाजाः॥७६॥

१. प्रभु-स्तवन करनेवाला (गृत्स) वासनाओं को वश में करके 'वशिष्ठ' बनता है और प्रभु से कहता है कि **प्रेद्धः**=मेरे हृदय में दीप्त हुए-हुए **अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **दीदिहि**=आप मुझे खूब ही दीप्त कर दीजिए। प्रभु का प्रकाश होते ही हृदय जगमगा उठता है। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **अजस्रया सूर्म्या**=अनुपक्षीण प्रकाश से (सूर्मि=Radiance, lustre) प्रस्तुत होओ। आपका अनुगामी बनकर मैं निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ। हे प्रभो! आप **यविष्ठ**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का मेरे साथ सम्पर्क करानेवाले हैं। इसी प्रकार तो आपके प्रकाश में मैं उन्नत और उन्नत होता चलता हूँ। ३. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **शश्वन्तः**=द्रुतगतिवाले, अर्थात् निरन्तर अनालस्य से कर्म में लगे हुए लोग **वाजाः**=(वाज=power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं तथा (वाज=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाले हैं, वे **उपयन्ति**=समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय यही है कि (क) मनुष्य अपने नियत कर्म में लगा रहे। (ख) शक्तिशाली बने। (ग) त्याग की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनेंगे तभी हमारी बुराइयाँ समाप्त होंगी और हम अच्छाइयों को प्राप्त होंगे। हम क्रियाशील बनें, शक्तिशाली हों, त्याग की वृत्ति को अपनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठीः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ऋतु + भद्र

अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रᳬं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा तऽओहैः॥७७॥

१. गत मन्त्र का वसिष्ठ प्रभु के नेतृत्व में, उसी की प्रेरणा के प्रकाश में चलता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और 'परमे-ष्ठी' नामवाला होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हे प्रभो! **ते ओहैः**=तेरे प्राप्त करानेवाली (वह प्रापणे) **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अद्य**=आज **अश्वं न क्रतुम्**=अश्व के समान शक्ति को **ऋध्याम**=अपने में बढ़ाएँ। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, हम प्रभु के उपासन से शक्ति का लाभ करें। वस्तुतः प्रभु का उपासन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, वासना न रहने से हम शक्तिशाली बनेंगे ही। २. **क्रतुम्**=शक्ति के अनुसार **भद्रम्**=कल्याण को **ऋध्यामा**=अपने में बढ़ाएँ, अर्थात् शक्तिशाली हों और शक्ति को लोगों के कल्याण में विनियुक्त करें। उस कल्याण में जोकि **हृदिस्पृशम्**=लोगों के हृदयों को स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् हमारी भद्रता लोगों के हृदयों को प्रभावित करे। ३. वस्तुतः परमेष्ठिता=उच्च स्थान में स्थिति यही है कि मनुष्य (क) घोड़े के समान शक्तिशाली बने। घोड़ा 'अश्नुते अध्वानम्' मार्ग का व्यापन करनेवाला है, इसी लिए शक्तिशाली है। मैं भी सदा कर्मों में व्याप्त जीवन बिताऊँ और शक्तिशाली बनूँ। (ख) शक्तिशाली बनकर भद्र=कल्याण करनेवाला बनूँ और इस प्रकार कल्याण करनेवाला बनूँ कि सबके हृदयों में अपना स्थान बना लूँ।

भावार्थ—१. कर्मों में लगे रहकर हम घोड़े की भाँति शक्तिशाली बनें। २. शक्ति प्राप्त करके सभी का कल्याण करें। सभी के हृदयों में हमारे लिए स्थान हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वकर्माः। **छन्दः**—विराडतिजगती। **स्वरः**—निषादः॥

वीतिहोत्र-ऋतावृध्

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवाऽइहागमन्वीतिहोत्राऽऋतावृधः।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳहविः ॥७८॥

१. वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि मैं **मनसा**=मननशक्ति के साथ तथा **घृतेन**=शरीर के मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्ति के साथ **चित्तिम्**=विज्ञान को **जुहोमि**=ग्रहण करता हूँ, अपने अन्दर आहुत करता हूँ, अर्थात् (क) मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करता हूँ। (ख) मन को मनन से व चिन्तन से युक्त करता हूँ, तथा (ग) शरीर को मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्तिवाला करता हूँ। २.ऐसा इसलिए करता हूँ **यथा** =जिससे कि **इह**=इस—मेरे जीवन में **देवाः**=दिव्य गुण **आगमन्**=आएँ। दिव्य गुणों की वृद्धि हो, जिन दिव्य गुणों के कारण **वीतिहोत्रा**='वीतिः सर्वतः प्रकाशिता होत्रा वाग् येषाम्' मैं प्रकाशमय वाणी को प्राप्त करता हूँ तथा **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत का वर्धन होता है। ये देव 'वीतिहोत्र व ऋतावृध' हैं। ३. **भूमनो विश्वस्य पत्ये**=इस महान् संसार के पति के लिए **विश्वकर्मणे**=सारे विश्व के निर्माण करनेवाले के लिए **जुहोमि**=मैं अपने को अर्पित करता हूँ। उस प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करके मैं और भी अधिक प्रकाशमय व ऋतमय जीवनवाला होता हूँ। ४. मेरे जीवन से **विश्वाहा**=सदा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **अदाभ्यम्**=अहिंसित होता है, अर्थात् मेरी दानपूर्वक अदन की वृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश को मैं भूलता नहीं। अपने पर पूर्ण प्रभुत्व पानेवाला ही ऐसा कर सकता है, अतः यह आत्मवशी व्यक्ति 'वसिष्ठ' कहलाता है, यह इस वशित्व के कारण ही उत्तम निवासवाला होता है।

भावार्थ—१. मैं ज्ञान—मननशक्ति व स्वास्थ्य को धारण करता हूँ। २. मैं अपने जीवन में दिव्य गुणों को अपनाकर प्रकाशमय ज्ञानवाणी को प्राप्त करता हूँ व अपने में ऋत का वर्धन करता हूँ। ३. उस विश्वकर्मा विश्वपति के लिए अपना अर्पण करता हूँ। ४. मेरा जीवन सदा हवि को ग्रहण करनेवाला होता है। मैं केवलादी नहीं बनता।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सप्त

सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ॥७९॥

१. पिछले मन्त्र में 'चित्तिं जुहोमि' शब्दों से अपने में ज्ञान की आहुति देने का उल्लेख है। इस ज्ञानयज्ञ के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को ज्ञान से प्रकाशित करनेवाले जीव! अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **सप्त समिधः**=सात प्राण ही समिधाएँ हैं। अग्नि को समिधाएँ समिद्ध करती हैं, तेरे ज्ञानाग्नि को सात प्राण (प्राणा वाव इन्द्रियाणि, कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) समिद्ध करते हैं, अतः ये प्राण ही उस अग्नि की समिधाएँ हैं (प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येते समिन्धते श० ९।२।३।४४)। २. **सप्त जिह्वाः**=सात ही इस ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ हैं। 'महत्तत्व' का ज्ञान एक ज्वाला है तो 'अहंकार' का ज्ञान दूसरी ज्वाला है और 'पंचतन्मात्राओं' का ज्ञान अगली पाँच ज्वालाएँ हैं। ये सात ही प्रकृति-विकृतियाँ हैं, इनका ज्ञान ज्ञानाग्नि की सप्त ज्वाला के रूप से यहाँ कहा गया है। ३. **सप्त ऋषयः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि ये सात ऋषि इस ज्ञानयज्ञ

को चलानेवाले हैं। ४. **सप्त धाम प्रियाणि**=सात तेरे प्रियधाम हैं। यह ज्ञान वेद के सात गायत्र्यादि छन्दों में रक्खा गया है, अत: ये सात छन्द उस ज्ञान के प्रिय निवास-स्थान हैं। (छन्दांसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि श० ९।२।३।४४।) ५. **सप्त होत्रा:**=ये वेद की गायत्र्यादि सात छन्दों में विभक्त सात वाणियाँ **सप्तधा**=सात प्रकार से **त्वा यजन्ति**=तेरे साथ सङ्गत होती हैं। ६. तू इन **सप्त योनी:**=ज्ञान की उत्पत्ति की कारणभूत सात वाणियों को **घृतेन**=मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा **आपृणस्व**=(आपूरयस्व- उ०) अपने में पूरित कर। ७. **स्वाहा**=इस अपने में आपूरणरूप क्रिया के लिए तू (स्व) अपना (हा) त्याग करनेवाला बन। जितनी-जितनी त्यागवृत्ति बढ़ेगी उतना-उतना ही तू ज्ञान को अपने में आपूरित करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—प्राण ज्ञानाग्नि को समिद्ध करते हैं, क्योंकि इन प्राणों के द्वारा इन्द्रियों के मल दग्ध होकर इन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ को करने में अधिक समर्थ हो जाती हैं।

ऋषि:—सप्त ऋषय:। **देवता**—मरुत:। **छन्द:**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वर:**—ऋषभ:॥

प्राणसाधना से ज्ञान+क्रिया की शुद्धि

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यंहाः ॥८०॥

१. गत मन्त्र में प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का उल्लेख हुआ है। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं, 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि' चमक उठते हैं। ये ही सात ऋषि बन जाते हैं जो इस साधक के ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। इनसे समुचित कार्य लेनेवाले ये साधक भी 'सप्त ऋषय:' बन जाते हैं। उनका वर्णन इन मन्त्रों में दिया गया है। उन प्राणों के साधन से साधक जैसा बनता है उसी आधार पर प्राणों का भी नाम रक्खा गया है। इस मन्त्र में सात मरुतों=प्राणों का वर्णन है। इनकी साधना से साधक (क) **शुक्रज्योति: च**=(शुक्रं ज्योतिर्यस्य) दीप्त ज्ञान की ज्योतिवाला बनता है। (ख) **चित्रज्योति: च**=(चित्रं ज्योतिर्यस्य) यह अद्भुत=असाधारण ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। (ग) **सत्यज्योति: च**=(सत्यं ज्योतिर्यस्य) इसका ज्ञान सत्य होता है। योगदर्शन में इसी ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है। (घ) **ज्योतिष्मान् च**=यह सदा प्रकाशमय अन्त:करणवाला होता है। इसके मस्तिष्क में किसी प्रकार की उलझन व अन्धकार नहीं होता। ३. ज्ञान को प्राप्त करके यह क्रियाओं को समाप्त नहीं कर देता। यह (क) **शुक्रश्च** (शुक् गतौ) खूब क्रियाशील बनता है (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:)। (ख) यह अपनी क्रियाओं से **ऋतपा: च**=ऋत का पालन करता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति बड़ी नियमित, ठीक (right) इसकी गति होती है। (ग) और इस गतिशीलता व नियमितता से यह **अत्यंहा:**=पाप को लाँघ जाता है। (अंह: अतिक्रान्त:)। एवं, इस प्राणसाधना करनेवाले का जीवन ज्योतिर्मय व क्रियामय होता है। इसका ज्ञान उज्ज्वल होता है और क्रियाएँ निष्पाप।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारी ज्योति व क्रिया का वर्धन करनेवाली हो।

ऋषि:—सप्त ऋषय:। **देवता**—मरुत:। **छन्द:**—आर्षीगायत्री। **स्वर:**—षड्ज:॥

प्राणसाधना से युक्ताहारविहार

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च। मितश्च सम्मितश्च सभराः॥८१॥

१. गत मन्त्र का प्राणसाधक संसार के स्वरूप को भी ठीक-ठीक समझता है। वह यह जान लेता है कि यह संसार (क) **ईदृङ् च**=(अनेन तुल्यः) ऐसा ही है। संसार के अन्दर मुझे कृतघ्नता व पिशुनता लगती है। कई बार मैं इस संसार से घृणा करने लगता हूँ, परन्तु प्राणसाधना करने पर मुझे ये सब-कुछ स्वाभाविक-सी दिखती हैं और मैं संसार को उसके ठीक रूप में देखने लगता हूँ और कह उठता हूँ कि **ईदृङ् च**=यह तो ऐसा है ही (ख) **अन्यादृङ् च**=(अन्येन समानः) दूसरे-जैसा भी तो है ही। इसमें कुछ 'दुर्हृद्' हैं तो 'सुहृद्' भी हैं ही। दुर्जन हैं तो सज्जन भी हैं। (ग) **सदृङ् च**=(समानं पश्यति) बहुत-से व्यक्ति ठीक मेरे-जैसे भी यहाँ दिखते हैं। (घ) और **प्रतिसदृङ् च**=(तं तं प्रतिसदृशं पश्यति) ऐसे भी लोग हैं जोकि उस-उस व्यक्ति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं। संसार में मेधावी पुरुष अपने सम्पर्क में आनेवाले पुरुषों के साथ अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता ही है। २. इस प्रकार संसार के स्वरूप को ठीक-ठीक देखता हुआ, लोगों की मनोवृत्तियों को समझता हुआ यह अपने निजू व्यवहार में **मितः च**=(मितं अस्य अस्ति) प्रत्येक वस्तु को मितरूप से, अर्थात् माप-तोलकर करनेवाला होता है। **संमितश्च**=खान-पान में तो पूर्णतया मित होता है। सम्यक्तया मित आहार-विहार के कारण यह पूर्ण स्वस्थ रहता है। ३. सब कर्मों में युक्त चेष्ट तथा मित आहार-विहारवाला होने के साथ यह **सभराः**=(सह बिभर्ति) मिलकर भरण-पोषण करनेवाला होता है, कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता।

भावार्थ—प्राणसाधना से १. यह संसार को ठीक रूप में देखता है। २. मपी-तुली क्रियाओंवाला होता है। ३. सबके साथ मिलकर खाता है, 'केवलादी' नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यज्ञशेष खानेवाला होता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋत+सत्य

ऋतश्च॑ सत्यश्च॑ ध्रुवश्च॑ धरुण॑श्च। धर्त्ता च॑ विधर्त्ता च॑ विधारयः॥८२॥

१. यह प्राणसाधना करनेवाला **ऋतश्च**=अपनी भौतिक क्रियाओं में ऋत का पालन करनेवाला होता है। इन क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करता हुआ यह शारीरिक स्वास्थ्य को सिद्ध करता है। २. **सत्यश्च** =अन्य प्राणियों के साथ अपने व्यवहार में यह सत्य का पालन करता है। नैतिक नियमों का पालन करता हुआ यह अपने सामाजिक आचरण को सत्य व शुद्ध रखता है। इसी से यह सभी का प्रिय होता है। ३. **ध्रुवश्च**=यह अपने 'ऋत व सत्य' से ध्रुव होता है। किसी प्रकार के आलस्य व आराम की वृत्ति इसे विचलित नहीं कर पाती। यह राग-द्वेष से प्रेरित होकर सत्य को नहीं छोड़ देता। ४. **धरुणश्च**=यह अच्छाइयों को अपने अन्दर धारण करनेवाला बनता है। अच्छाइयों का आधार होता है। ५. **धर्त्ता च**=सब उत्तमताओं का धरुण बनता हुआ यह औरों का भी धारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में लोकहित की भावना कभी नष्ट नहीं हो जाती। ६. **विधर्त्ता च**=(विधृ=to catch; to restrain) अपने जीवन से धर्तृत्व की भावना को नष्ट न होने देने के लिए यह अपनी इन्द्रियों व मन को वश में करता है, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकता है। ७. **विधारयः**=इन्द्रियों व मन को विषयों से रोकने के लिए यह उन्हें विशिष्ट कर्त्तव्यों में धारण किये रखता है। इन्द्रियों व मन के दमन व शमन का सरल व प्रभावशाली प्रकार यही है कि उन्हें सदा विविध यज्ञादि क्रियाओं में व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋत व सत्यमय होता है। वह नीति-मार्ग में ध्रुवता से चलता है। अच्छाइयों का धरुण बनता है। सभी का धारण करता है। इन्द्रियों व मन को वशीभूत करता है और इन्हें विविध उत्तम क्रियाओं में लगाये रखता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सेनजित्-सुषेण

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः ॥८३॥

१. यह प्राणसाधक **ऋतजित् च**=(ऋतेन जयति) ऋत के द्वारा, भौतिक क्रियाओं में अत्यन्त नियमितता के द्वारा रोगों का पराजय करनेवाला तथा स्वास्थ्य का विजय करनेवाला होता है। २. **सत्यजित् च**=(सत्येन जयति) इसी प्रकार अपने सत्य व्यवहार से यह सबके हृदयों को जीतनेवाला होता है। ३. **सेनजित् च**=(सेनां जयति) यह काम, क्रोधादि की सेना को जीतनेवाला होता है (शतसेना अजयत् साकमिन्द्रः) शतशः वासनाओं के बल को यह पराजित करनेवाला होता है और स्वयं ४. **सुषेणः च**='धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध' आदि उत्तम गुणों की सेनावाला होता है। ५. **अन्तिमित्रश्च** =(मिद्-स्नेहने) सबके साथ स्नेह की भावना इसके हृदय में अन्तिकतम होती है (अन्तौ=समीपे मित्रा यस्य-द०) अथवा 'प्रमीतेः त्रायते'=अपने को पाप से बचाने की भावना इसके समीप होती है, इस भावना को यह विस्मृत नहीं होने देता। ६. **दूरे अमित्रश्च**=अमित्रता व शत्रुता की भावना को यह अपने से दूर रखता है। किसी के प्रति राग-द्वेष को यह अपने में नहीं आने देता। साथ ही पाप की भावना को अपने से परे रखता है। ७. इस प्रकार 'अच्छाई को लेते हुए और बुराई को दूर करते हुए यह **गणः**='गण्यते' प्रभु-भक्तों में गिना जाता है। प्रभु महादेव है, तो यह उनका 'गण' होता है।

भावार्थ—हम ऋत से स्वास्थ्य का विजय करें। सत्य से हृदय की वासना-सैन्य को जीतनेवाले बनें। धृति आदि उत्तम गुणों की सेनावाले हों। स्नेह की भावना हमारे समीप हो और द्वेष की भावना दूर हो। इस प्रकार हम सच्चे प्रभु-भक्तों में परिगणित हों।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ईदृक्ष-एतादृक्ष

ईदृक्षासऽएतादृक्षासऽऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासऽएतन मितासश्च सम्मितासो नोऽअद्य सभरसो मरुतो यज्ञेऽअस्मिन् ॥८४॥

१. ये प्राणसाधक **ईदृक्षासः**=(इदं पश्यन्ति)=इस संसार को देखते हैं। इस संसार को ठीक रूप में देखने के कारण वे संसार को घृणा से देखनेवाले व हर समय घबराये हुए-से नहीं होते। २. **एतादृक्षासः**=(एतान् पश्यन्ति) ये प्राणसाधक इन जीवों को भी ठीक रूप में देखते हैं और उनकी मनोवृत्ति को समझने के कारण इनका व्यवहार सदा ठीक होता है, ये शुष्क वाद-विवादों में नहीं फँस जाते। ३. **सदृक्षासः**=(समानं पश्यन्ति) ये सबको समानरूप में देखते हैं। इनका बर्ताव पक्षपातशून्य होता है, और ४. **प्रतिसदृक्षासः**= उस-उस व्यक्ति के प्रति अनुकूलता से देखनेवाले होते हैं, अर्थात् सबके साथ अनुकूलता-सम्पादन में समर्थ होते हैं। ५. **मितासश्च**=प्रत्येक कार्य में बड़े मपे-तुले कार्योंवाले होते

हैं। ६. **सम्मितासो**:=सम्यक्तया मपे-तुले आहार-विहारवाले होते हैं तथा ७. **सभरसो**=सबके साथ मिलकर खानेवाले होते हैं। ऐसे ये **मरुतः**=मितराविणः=कम बोलनेवाले प्राणसाधक **अद्य**=आज **नः अस्मिन् यज्ञे**=हमारे इस यज्ञ में **उ**=निश्चय में **सु**=उत्तमता में **एतन**=आएँ, प्राप्त हों।

भावार्थ—इस जीवनयज्ञ में हमारा सम्पर्क 'ईदृक्षास, एतादृक्षास, प्रतिसदृक्षास, मित, सम्मित व सभरस्' मरुतों से होगा तो हम भी इस प्रकार के जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—चातुर्मास्या मरुतः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्वतवान्-प्रधासी

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी॥८५॥

१. यह प्राणसाधक **स्वतवाँश्च**=(यः स्वं तौति वर्धयति) आत्मशक्ति को बढ़ाता है और (स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य) अपने बलवाला होता है, यह आत्मरक्षा के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। २. **प्रघासी च**=इस शक्ति-सम्पादन के लिए (प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य) उत्तम सात्त्विक शाक, वनस्पति भोजनों को ही खानेवाला बनता है। ३. **सान्तपनश्च**=(सम्यक् शत्रून् तापयति) शक्तिसम्पन्न होकर यह शत्रुओं को तप्त करता है। अथवा उत्तम तप करनेवाला होता है। ४. इस प्रकार तपस्वी बनकर यह **गृहमेधी**=(गृहे मेधः सङ्गमो यस्य) गृह में उत्तम सङ्गमवाला होता है, अर्थात् घर को बड़ा उत्तम बना पाता है। ५. **क्रीडी च** =यह संसार में होनेवाले ऊँच-नीच को क्रीड़ा के स्वभाव में लेनेवाला होता है, उनसे घबराता नहीं। ६. वस्तुतः इसी कारण **शाकी च**=ये कर्म उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ७. शक्तिशाली बनकर यह **उज्जेषी च**=सदा उत्कृष्ट विजय पानेवाला होता है। यह विजय उसके सदाचार का प्रमाण है, और यह विजय ही उसे परमात्मा को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा बल बढ़ेगा और अन्त में हम विजयी बनेंगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अनुकूलता

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु॥८६॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्र के, **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली विद्वान् प्रजाएँ तथा **मरुतः**=रणाङ्गण में देश के लिए प्राण दे देनेवाले (म्रियन्ते) सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले **अभवन्**=होते हैं। अथर्व के शब्दों में 'तं सभा च समितिश्च सेना च' जो राजा प्रजा का अनुरञ्जन करता है, सभा-समिति के सदस्य तथा सैनिक उसके अनुकूल होते हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में सभा-समिति के सदस्यों को 'दैवीर्विशः' शब्द से स्मरण किया है और सैनिकों को 'मरुतः' शब्द से। राजा के लिए यहाँ 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग है। राजा ने जितेन्द्रिय—इन्द्रियों का अधिष्ठाता होना है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'=यह जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में स्थापित कर सकता है। ३. इस **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय राजा को **यथा**=जैसे **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ तथा **मरुतः**=सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले

अभवन्=होते हैं, **एवम्**=इसी प्रकार **इमं यजमानम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को **दैवीः च विशः**=दिव्य गुणोंवाले विद्वान् पुरुष तथा **मानुषीः च**=सामान्य व्यवहारी पुरुष भी **अनुवर्त्मानो भवन्तु**=अनुकूल मार्गवाले हों, अर्थात् इसके प्रति सभी का प्रेम होता है, चाहे विद्वान् हों, चाहे सामान्य व्यक्ति।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा यज्ञिय वृत्ति का विकास करें। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी उतनी-उतनी हमें लोकानुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

समुद्रिय सदन प्रवेश

इमꣳस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳसदनमाविशस्व ॥८७॥

१. सब प्रकार की वासनाओं को समाप्त करके तथा यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके 'सप्त ऋषयः' को चाहिए कि वे प्रभु की इस वेदवाणी का श्रवण करें। वेदवाणी 'गौ' है। उसका स्तन-पान करना ही ज्ञान प्राप्त करना है। **इमम्**=इस **ऊर्जस्वन्तम्**=उत्तम बल व प्राणशक्ति को देनेवाले **स्तनम्**=स्तन को तू **धय**=पी। 'स्तन-पान करने' का अभिप्राय वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करना है। २. यह वेदज्ञान **अपां प्रपीनम्**=कर्मों का वर्धन करनेवाला है। (प्रपीनं=पूर्णम्) इसमें विविध कर्मों का उपदेश दिया गया है। ३. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सरिरस्य मध्ये**=(इमे वै लोकाः सरिरम्) इन लोकों में अथवा (सरिर=गति) इस सारी सांसारिक क्रिया के बीच में, यज्ञादि कार्यों के मध्य में—**उत्सम्**=इस वेदवाणीरूप ज्ञान के चश्मे का **जुषस्व**=सेवन कर। ४. यह ज्ञान का उत्स=(स्रोत) **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला है। वेद माधुर्य के उपदेश से पूर्ण है। वेद के अनुसार जीव की प्रार्थना है कि **'भूयासं मधुसन्दृशः'**=मैं मिठास-ही-मिठास हो जाऊँ, 'वाचा वदामि मधुमत्'=वाणी से मधुपूर्ण शब्दों को ही बोलूँ। इस प्रकार माधुर्य से परिपूर्ण होकर ५. **अर्वन्**=घोड़े की भाँति अपने कर्त्तव्य-मार्ग को मापनेवाले जीव! अथवा अपने को ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन के लिए प्रणवरूप धनुष का तीर (arrow=अर्वन्) बनानेवाले जीव! तू **समुद्रियम्**=सदा आनन्दमय (समुद्र) प्रभु-सम्बन्धी **सदनम्**=गृह में **आविशस्व**=प्रविष्ट हो। प्रभु तेरा गृह हैं। तूने अन्ततः अपने घर में ही तो पहुँचना है, इस यात्रा में भटक नहीं जाना।

भावार्थ—१. हम वेदवाणीरूप गौ का दूध पीएँ। यह हमें शक्ति देगा। यह हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध देगा। २. माधुर्यमय ज्ञान के स्रोत का सेवन करते हुए हम उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनें, वे प्रभु तो हमारे 'आनन्दमय सदन' है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

घृतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रभुरूप सदन' में प्रवेश का उल्लेख है। उसी प्रवेश के लिए प्रयत्न करता हुआ 'गृत्समद' ऋषि कहता है कि **घृतं मिमिक्षे**=मैं घृत का सेचन करना चाहता हूँ (मेढुमिच्छति, मिह सेचने)। घृत की दो भावनाएँ हैं (क) **क्षरण**=मल को दूर

करना। (ख) तथा **दीप्ति**=ज्ञान को दीप्त करना। मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए शारीरिक मल के क्षरण के द्वारा शरीर के स्वास्थ्य का साधन करता हूँ और अपने मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता हूँ। २. **घृतम् अस्य योनिः**=यह मलक्षरण-जनित स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्ति ही इस प्रभु के प्रकाश का उत्पत्ति स्थान है। स्वास्थ्य व ज्ञान ही हममें प्रभु के प्रकाश को प्रकट करते हैं। ३. **घृते श्रितः**=वे प्रभु इस स्वास्थ्य व ज्ञान-दीप्ति में ही आश्रित हैं। अथवा स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति होने पर ही प्रभु सेवित (श्रि सेवायाम्) होते हैं। ४. **उ**=और **घृतम्**=यह स्वास्थ्य दीप्ति व ज्ञान-दीप्ति ही **अस्य**=इस प्रभु का **धाम**=धाम है, निवास है। ५. अतः हे जीव! तू **अनुष्वधम्**=अन्न की अनुकूलता में **आवह**=इस स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति को धारण कर। 'स्वधा' वह अन्न है, जिसका मूलतत्त्व 'स्व' का धारण है, जिसमें स्वाद आदि को मापक नहीं बनाया गया। उस अन्न का सेवन हमें स्वस्थ भी बनाएगा और ज्ञानदीप्त भी। ६. इस प्रकार यह अन्न हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर ले-चलेगा, अतः इस अन्न से स्वास्थ्य व ज्ञान का वहन करके **मादयस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। ७. हे **वृषभ**=अपने अन्दर स्वास्थ्य व ज्ञान का सेचन करनेवाले, अतएव शक्तिशाली जीव! तू **स्वाहाकृतम्**=स्वाहाकार के द्वारा आहुति दिये गये **हव्यम्**=अदन करने योग्य सात्त्विक पदार्थों को ही **वक्षि**=वहन करता है व चाहता है, अर्थात् तेरा भोजन अत्यन्त सात्त्विक है। इस सात्त्विक भोजन से ही तूने उस स्वास्थ व ज्ञान को सिद्ध किया है जो 'घृत' कहलाता है और प्रभु के प्रकाश का कारण है।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपने स्वास्थ्य व ज्ञान को बढ़ाएँ और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करके हम 'गृणाति माद्यति'=स्तुति करें, प्रसन्न हों और इस मन्त्र के ऋषि 'गृत्समद' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुमान् ऊर्मिः

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२॥ऽउदारदुपाꣳशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥८९॥

१. प्रभु को प्राप्त करके हम सब देवों को प्राप्त कर लेते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाले होते हैं। **समुद्रात्**=आनन्दमय प्रभु से **मधुमान्**=माधुर्यवाली **ऊर्मिः**=लहर **उदारत्**=(ऊर्ध्वं आप्नोति) उत्कृष्टता से हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमारा जीवन तरंगित हृदयवाला होता है। हमारे जीवन में उल्लास-ही-उल्लास होता है। २. **उप अंशुना**=उस समीपस्थ प्रभु की ज्ञान-किरणों से यह उपासक **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=(सम् आनट्) सम्यक्तया प्राप्त करनेवाला होता है। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह भौतिक वस्तुओं के पीछे भागता नहीं फिरता, उनके प्रलोभन से यह ऊपर उठ जाता है। यही वस्तुतः 'अमृतत्व' है। ३. **घृतस्य**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु का **यत्**=जो **गुह्यम्**=गुह्यं भवम्=हृदयरूप गुहा में होनेवाला, अर्थात् हृदय को प्रिय **नाम**=नाम **अस्ति**=है, वह **देवानाम् जिह्वा**=इन देवों की जिह्वा पर सदा निहित होता है। ये अपनी जिह्वा से सदा प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। प्रभु का स्मरण करते हुए सब कर्मों को करते हैं ४. इसीलिए **अमृतस्य नाभिः**=अमृत=मोक्ष का अपने में बन्धन करनेवाले होते हैं (नह बन्धने)। प्रभु का स्मरण व जीवन-संग्राम को जारी रखना, इसे जीवन-सूत्र बनाकर ये मोक्ष को सिद्ध करते

हैं। इनकी जिह्वा पर प्रभु-नाम होता है, हाथों में कर्म। इस समन्वय के कारण इनके कर्म पवित्र होते हैं और इनकी मोक्ष-प्राप्ति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रकाश में हृदय उल्लासमय होता है। २. प्रभु की समीपता के परिणामस्वरूप ज्ञान की किरणों से द्योतित हृदयवाले असङ्गशस्त्र से इस संसार-वृक्ष को काट पाते हैं। ३. प्रभु का नाम हमारी जिह्वा पर हो, हाथों से कर्म करें, तभी हम मोक्ष प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

चतुःशृङ्गः=गौरः

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौरऽएतत्॥९०॥

१. वामदेव कहता है कि **वयम्**=हम सब **घृतस्य**=उस ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम**=(प्रिय, गुह्य) नाम का **प्रब्रवाम**=प्रकर्षेण उच्चारण करें। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, नम्रता-धारण के द्वारा, **धारयामा**=उस प्रभु को धारण करें। नम्रता हमें प्रभु के अधिक समीप ले-जानेवाली हो। ३. **उप ब्रह्मा**=सदा हमारे समीप रहनेवाला हृदयस्थ प्रजापति, चारों वेदों का निधानभूत, ज्ञानपुञ्ज प्रभु **शस्यमानम्**=शंसन किये जाते हुए उस नाम को **शृणवत्**=सुने, अर्थात् प्रभु हमारी जिह्वा से उच्चरित होते हुए अपने नाम को ही सुने। इस जिह्वा से व्यर्थ के शब्दों व अपशब्दों का कभी उच्चारण न हो। ४. **चतुःशृङ्गः**=चारों वेद जिसके सीङ्गों के समान हैं। सीङ्ग जैसे शत्रुओं को दूर करने के साधन बनते हैं, उसी प्रकार ये वेद भी ज्ञान के द्वारा इसकी वासनाओं को दूर करनेवाले होते हैं। अतएव यह **गौरः**=(वेदविद्यावाचि रमते—द०, गौरवर्णः—उ०) वेदविद्या में रमण करनेवाला शुद्ध हृदय पुरुष **एतत्**=उसके नाम का **अवमीद्**=उद्गिरण करता है, श्वास-प्रश्वास के साथ वायुमण्डल में इस नाम की ध्वनि को ही प्रसारित करता है।

भावार्थ—१. हम निरन्तर प्रभु-नाम स्मरण करें। हमारी वाणी सदा प्रभु के नाम का उच्चारण करे, वह प्रभु हमसे नाम को ही उच्चारण किया जाता हुआ सुने। २. हम 'चतुःशृङ्ग-गौर' बनें। हमारे श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के नाम का जप हो।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

महादेवः

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२॥ऽआविवेश॥९१॥

१. इस मन्त्र के ऋषि वामदेव के **चत्वारि शृङ्गाः**=चारों वेद शृङ्गस्थानीय होते हैं, उस वेदज्ञान से यह अपने शत्रुओं को दूर करनेवाला होता है। २. शत्रुओं को दूर करनेवाले **अस्य**=इसके **त्रयः पादाः**=तीन विक्रम, क़दम होते हैं। यह पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में तथा द्युलोक से स्वर्ज्योति में पहुँचनेवाला होता है। अथवा यह स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, 'भूः, भुवः, स्वः' ये ही इसके तीन क़दम हो जाते हैं। ३. **द्वे शीर्षे**=इसके दो मस्तिष्क होते हैं, अर्थात् यह दो बातों को सदा सोचता है (क) प्रकृति का प्रयोग कैसे करना है। (ख) और जीव के साथ कैसे वर्त्तना है। प्रकृति के प्रयोग में यह 'मित' बनता है, जीवों के साथ व्यवहार में यह 'मधुर'

होता है। ४. **सप्त हस्तासः अस्य** =इसके गायत्र्यादि सात छन्द ही हाथ बन जाते हैं, अर्थात् उन छन्दों में प्रतिपादित कर्मों को ही यह हाथों से सदा करनेवाला बनता है। ५. **त्रिधा बद्धः**=यह 'काय, वाणी व मन' तीन स्थानों पर बँधा होता है। शरीर, वाणी तथा मन का संयम करता है। इन तीनों का दमन करनेवाला ही यह 'त्रिदण्डी' कहलाता है। ६. इस दमन व संयम के परिणामरूप यह **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ७. 'शक्ति का गर्व न हो जाए' इसी लिए **रोरवीति** =निरन्तर प्रभु के नाम का उच्चारण करता है। ८. पवित्र बनता हुआ यह **महोदेवः** =महनीय देव बन जाता है। ९. परन्तु ऐसा बनकर यह मनुष्यों से दूर नहीं भाग खड़ा होता। **मर्त्यान् आविवेश**=मनुष्यसमाज में ही प्रवेश करता है, मनुष्यों में ही रहता है। उनके अज्ञान व दु:खों के दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम मन्त्र वर्णित साधना करते हुए 'महोदेव' बनें, लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

इन्द्र-सूर्य और वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्रऽएकुꣳसूर्यऽएकञ्जजान वेनादेकꣳस्वधया निष्टतक्षुः ॥९२॥

१. प्रभु **त्रिधा हितम्**=तीन प्रकार से हमारे हृदयों में निहित होते हैं। जिस समय हम 'शारीरिक स्वास्थ्य, मानस-नैर्मल्य व बौद्धिक ज्ञान-दीप्ति' को धारण करते हैं तब अपने में प्रभु को स्थापित करनेवाले होते हैं। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' का समन्वय होने पर वे प्रभु हममें निवास करते हैं। उस त्रिधा हित प्रभु को, २. तथा **पणिभिः**=(पण् स्तुतौ) स्तुति करनेवाले उपासकों से **गुह्यमानम्**=(गुह्=to hug, to embrace) आलिङ्गन किये जाते हुए प्रभु को, ३. **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग, मानस में दैवी सम्पत्ति का विकास करनेवाले लोग **गवि**=वेदवाणी में **घृतम्**=ज्ञान के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभु को **अन्वविन्दन्**=आत्मस्वरूप के दर्शन के साथ देखते व प्राप्त करते हैं। ४. मन्त्र के प्रारम्भ में 'त्रिधा हितम्' शब्दों से प्रभु को 'त्रिधा हित'=ज्ञान-कर्म व भक्ति से प्राप्य कहा है। इनमें में **एकम्**=एक अर्थात् ज्ञान को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **जजान**=उत्पन्न करता है। जितेन्द्रिय ही ज्ञानी बन पाता है। ५. **एकम्**=एक को अर्थात् कर्म को **सूर्यः**=सूर्य **जजान**=उत्पन्न करता है। सूर्य निरन्तर चल रहा है 'सरति इति सूर्यः'। निरन्तर चलने से ही वह चमकता भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील होता है वह भी सूर्य के व्रत में चलता हुआ सूर्य की भाँति ही चमकता है। इस क्रियाशील में किसी प्रकार की मलिनताएँ उत्पन्न नहीं होतीं। यह प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है। ६. **वेनात्**=(वेनतिः कान्तिकर्मा, कान्तिः=इच्छा) उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना करनेवाले में **एकम्**=एक को, अर्थात् भक्ति की भावना को **स्वधया**=उस अन्न के सेवन से जोकि यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में सेवन किया जा रहा है **निष्टतक्षुः**=नितरां निर्मित करते हैं। अभिप्राय यह है कि भक्ति की भावना तब विकसित होती है। (क) जब हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और (ख) स्वधा का सेवन हो। उस अन्न का ही प्रयोग किया जाए जो यज्ञों में विनियुक्त होकर अब यज्ञशेष के रूप में हमारे पास है। यही यज्ञशेष अमृत है। इस अमृत के सेवन करनेवाले देव ही प्रभु को पाया करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनकर ज्ञान का सम्पादन करें, सूर्य-शिष्य बनकर कर्मठ बनें

तथा वेन बनकर स्वधा का सेवन करते हुए भक्ति की भावना को जागरित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। इसपर चलते हुए ही हम प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

हिरण्यय वेतस

एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्यऽआसाम्॥९३॥

१. **एताः**=ये ज्ञान की धाराएँ **हृद्यात्**=हृदयदेश में निवास करनेवाले **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से **अर्षन्ति**=(उद् गच्छन्ति, rush out) उद्गत होती हैं। जिस समय गत मन्त्र की भावना के अनुसार हम प्रभु का आलिङ्गन कर पाते हैं उस समय इस हृदय में आविर्भूत आनन्दमय प्रभु से हमारे अन्दर ज्ञान का प्रकाश होता है। २. यह ज्ञान का प्रकाश **शतव्रजा**=(शतेन व्रजति) सैकड़ों मार्गों से जानेवाले, अर्थात् सैकड़ों शक्लों में हममें प्रकट होनेवाले **रिपुणा**=काम-क्रोधरूप शत्रु से **नावचक्षे**=(न अपवदितुं शक्यः) नष्ट नहीं किया जा सकता। जब तक ज्ञान क्षीण-सा होता है तब तक काम उसे समाप्त कर देता है, परन्तु ज्योंही ज्ञान प्रबल हुआ, तब यह काम, क्रोधरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालता है। ज्ञानबिन्दु कामाग्नि में भस्मीभूत कर दिया जाता है और ज्ञान-जलधारा कामाग्नि को बुझा देती है। ३.इस कामाग्नि के बुझ जाने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने सब ओर देखता हूँ— मेरे हृदय में ज्ञान-ही-ज्ञान होता है। ४. **आसाम् मध्ये**=इन ज्ञान की धाराओं के बीच में वह **हिरण्ययः**=ज्योर्तिमय **वेतसः**=(कमनीयः—द०) अति सुन्दर प्रभु हैं। इन ज्ञान-वाणियों में प्रभु का प्रतिपादन है, जिसे कामाग्नि को शान्त करनेवाला ज्ञानी ही समझ पाता है। ५. प्रभु को 'हिरण्यय वेतस्' के रूप में देखनेवाला यह ऋषि स्वयं 'वामदेव' बनता है। प्रभु 'वाम' हैं.'देव' हैं दिव्य गुण-सम्पन्न हैं। उनका उपासक भी वैसा ही होकर 'वामदेव' हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की धाराएँ उद्गत होती हैं। २. ये कामाग्नि से बुझाई नहीं जा सकतीं। ३. कामाग्नि की शान्ति से ज्ञान की धाराएँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं। ४. इन ज्ञान-धाराओं के मध्य में वह कान्त, ज्योर्तिमय रह रहा है, इनसे उस प्रभु का ज्ञान हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।।

ज्ञान व वासना विनाश

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एतेऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाऽइव क्षिपणोरीषमाणाः॥९४॥

१. **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्दर से **मनसा पूयमानाः**=मन से पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक् स्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। जब हृदय निर्मल होता है तब प्रभु के प्रकाश में यह जगमगा उठता है। विचार के द्वारा ये वाणियाँ हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। २. **एते**=ये **घृतस्य**=ज्ञान की **ऊर्मयः**=तरंगे **अर्षन्ति**=उद्गत होती हैं और **क्षिपणोः**=व्याध से **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईषमाणाः**=सब बुराइयाँ इस ज्ञानी से दूर भागनेवाली होती हैं। ज्ञान का परिणाम

वासनादहन ही तो है। ज्ञान हुआ और वासना गई।

भावार्थ—हमारे हृदय में ज्ञान की वाणियाँ नदियों के समान प्रवाहित हों। ये मनन द्वारा हमें पवित्र बनानेवाली हों। व्याध से मृगों के समान वासनाएँ हमसे भयभीत होकर दूर भाग जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अरुषो न वाजी

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धाराऽअरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः॥९५॥

१. **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ इस प्रकार मेरे हृदय में **पतयन्ति**=गति करती हैं **इव**=जैसे **सिन्धोः**=समुद्र की **वातप्रमियः**=(वातेन प्रमीयन्ते कश्यन्ति) वायु से छिन्न-भिन्न की जानेवाली **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाली (शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां, हन्=गति) लहरें **प्राध्वने**=(प्रगतोऽध्वनः=प्राध्वनो विषमप्रदेशः) विषम-प्रदेश में गिरती हैं। ज्ञान की धाराएँ मेरे हृदय-समुद्र को निरन्तर तरंगित करनेवाली होती हैं। २. **अरुषः न**=यह ज्ञानी पुरुष (न रुषः अरोषणः) जाति आदि से उत्कृष्ट अरोषण घोड़े की भाँति होता है। उस घोड़े की भाँति यह भी **वाजी**=शक्तिशाली होता है। ३. **काष्ठाः भिन्दन्**=(काष्ठा=आज्यन्त) संग्राम-प्रदेशों का यह विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं का विदारण करके यह अवश्य विजयशील बनता है। ४. इस प्रकार अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके यह **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=ज्ञान की लहरों से प्रजाओं को सींचता हुआ गति करता है। इसकी जीवन-यात्रा का क्रम यह होता है— यह (क) हृदय-शोधन से ज्ञान प्राप्त करता है। (ख) अरोषण-क्रोधशून्य व शक्तिशाली होता है। (ग) इन्द्रिय-संग्राम में इन्द्रियों को विषयों से बचाता है। (घ) और अपने ज्ञान-जल से औरों को भी सींचता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करें, दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञानी-क्रियाशील

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासोऽअग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥९६॥

१. **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ (क) **समनेव योषाः**=समान मनवाली स्त्रियों के समान हैं। जैसे पत्नी यज्ञार्थ पुरुष के साथ सङ्गत होकर उसे अशुभ से निवृत्त करती और शुभ में लगाती है, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणी भी 'अग्नि' के लिए योषा बनती है। यह उसका अशुभ से अमिश्रण करती तथा शुभ के साथ मिश्रण करती है। (ख) **कल्याण्यः**=पाप से पृथक् व पुण्य से सङ्गत करके ये कल्याण करनेवाली हैं। (ग) **स्मयमानासः**=ये हमें सदा विकसित पुण्य की भाँति प्रसन्न करनेवाली हैं। (घ) **समिधः**=ये अग्नि=जीव को ज्ञान-दीप्त करनेवाली है। (इन्ध्=दीप्तौ) २. **नसन्त**=(नस हरणे) ये ज्ञान की धाराएँ सब मलिनताओं का हरण करती हैं और इस अग्नि के जीवन को दीप्त कर देती हैं। ३. **ताः जुषाणः**=इन ज्ञान-वाणियों का प्रेमपूर्वक सेवन करता हुआ यह **जातवेदाः**=उत्पन्न विज्ञानवाला अग्नि **हर्यति**=(हर्य गतौ) गतिशील होता है। ज्ञानी बनकर कर्मनिष्ठ होता है।

उपनिषद् के शब्दों में **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष क्रियावाला बनता है। ज्ञान उसे अधिक क्रियाशील बनानेवाला होता है।

भावार्थ—अग्नि को वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जो उसका हित चाहती हुई उसे अशुभ से पृथक् और शुभ से संयुक्त करती हैं। उसका कल्याण करती हुई उसके मनःप्रसाद का कारण बनती हैं। उसे ज्ञान-दीप्त करके क्रियाशील बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सोमाभिषव-व यज्ञ (ज्ञानोत्पादन व रक्षण)

कन्याऽइव वहतुमेतवाऽउऽअञ्ज्यञ्जानाऽअभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धाराऽअभि तत्पवन्ते॥९७॥

१. जैसे **कन्याः**=कुमारियाँ **अञ्जि**=अपने कमनीय रूप को **अञ्जानाः**=प्रकट करती हुई **वहतुम्**=पति को **उ एतवै**=निश्चय से प्राप्त होने के लिए होती हैं, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणियाँ भी अपने प्रकाशमय रूप को प्रकट करती हुई मेरी ओर आती हैं और **अभिचाकशीमि**=मैं इन्हें अपने चारों ओर देखता हूँ। मैं सदा इन ज्ञान की वाणियों से ही घिरा होता हूँ। २. ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ **तत् अभि**=उस व्यक्ति की ओर **पवन्ते**=गतिवाली होती हैं **यत्र**=जिस व्यक्ति के जीवन में **सोमः सूयते**=सोम का=वीर्य शक्ति का अभिषव किया जाता है, अर्थात् जो सात्त्विक आहार के सेवन से अपने में सोम का उत्पादन करता है और **यत्र यज्ञः**=जिसके जीवन में यज्ञात्मक कर्मों का प्रचलन होता है। एवं, ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति के लिए सोम का उत्पादन व यज्ञमय-जीवन का होना आवश्यक है। सोम की सुरक्षा न होने पर बुद्धिमान्द्य से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है और यज्ञों के अभाव में लोभ की वृद्धि होकर उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—१. मैं अपने चारों ओर उस ज्ञान को देखूँ जो मुझमें विद्यमान सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। २. इस ज्ञान के उत्पादन के लिए मैं सोम की रक्षा करूँ, और ३. उत्पन्न ज्ञान की रक्षा के लिए यज्ञात्मक जीवनवाला होऊँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गव्य आजि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥९८॥

१. **सुष्टुतिं अभि अर्षत**=तुम उत्तम स्तुति को प्राप्त करनेवाले बनो। प्रभु की उत्तम स्तुति वही है जो श्रव्य न होकर दृश्य है, जिसमें मनुष्य प्राणियों के हित में तत्पर रहता है। २. **गव्यम् आजिम्**=गो-सम्बन्धी संग्राम को प्राप्त होओ। 'गाव इन्द्रियाणि' इन्द्रियों के संग्राम से अभिप्राय यह है कि ये प्रमाथी इन्द्रियाँ सहसा हमारे मनों का हरण करनेवाली होती हैं। हम इन्हें जीतकर मन को स्वायत्त कर सकें। 'मन को इन्द्रियाँ हर ले-जाती हैं' तो हमारा पराजय हो जाता है। हम मन को स्वाधीन कर पाते हैं, तो इन्द्रियों का पराजय व हमारा विजय होता है। ३. **अस्मासु**=हममें स्थित हुए-हुए तुम **भद्रा द्रविणानि**=शुभ धनों को, सुपथ से कमाये गये द्रविण को धारण करो। प्रभु को भूल जाने पर हम अन्याय मार्गों से धनार्जन प्रारम्भ करते हैं। ४. **देवताः**=हे विद्वानो! **नः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे जन्म के

साथ ही उत्पन्न किये गये इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **नयत**=सारे जीवन में प्रणीत करनेवाले बनो। यह यज्ञ तुम्हारे जीवन में से कभी विच्छिन्न न हो जाए। ५. ऐसा करने पर **घृतस्य धाराः**=ये ज्ञान की वाणियाँ, जो **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्यवाली हैं, वे **पवन्ते**=तुम्हें प्राप्त होती हैं। संक्षेप में तुम्हें ज्ञान प्राप्त होता है और तुम्हारा जीवन माधुर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम स्तुति करें, इन्द्रिय-संग्राम को जीतें, सुपथ से धनार्जन करें, यज्ञशील हों, माधुर्यमयी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के धाम में

धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॒न्तरायु॑षि।
अ॒पामनी॑के समि॒थे यऽआभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं तऽऊ॒र्मिम्॥९९॥

१. हे प्रभो! **ते धामन्**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड **अधि श्रितम्**=अधिश्रित है। वस्तुतः प्रभु ही सर्वाधार हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **आभृतः**=धारण किये जाते हैं। कहाँ? (क) **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स+मुद्) प्रसन्नतापूर्ण हृदय के अन्दर। (ख) **आयुषि अन्तः**=(एति इति आयुः) क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति के अन्दर। (ग) **अपाम्**=कर्मों के **अनीके**=बल में। क्रियाशीलता के द्वारा उत्पन्न होनेवाली शक्ति से युक्त पुरुष में। जो भी क्रियाशील होगा वह शक्तिशाली बनेगा और शक्ति-सम्पादन करके वह प्रभु का प्रिय बनेगा। (घ) **समिथे**=संग्राम में। वे प्रभु के अन्दर निवास करते हैं जो इन्द्रियों के साथ संग्राम करके जितेन्द्रिय बनते हैं। एवं, प्रभु की प्राप्ति के लिए 'मानस-प्रसाद, क्रियाशीलता, शक्ति-सम्पादन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं। ३. **तम्**=उस प्रभु को हम **अश्याम**=प्राप्त करें। वस्तुतः मानव-जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिए। मनुष्य योनि के अतिरिक्त किसी और योनि में हम प्रभु को प्राप्त कर ही नहीं सकते। ४. इस प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। यह 'यज्ञ-पुरुष' भी कहलाता है, क्योंकि यह वह पुरुष बना है, जिसने प्रभु के साथ यज=सङ्गतीकरण किया है। ५. उस प्रभु के साथ मेल करके वामदेव कहता है कि मैं **ते**=तेरी **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यपूर्ण **ऊर्मिम्**=ज्ञान तरङ्ग को प्राप्त करूँ। प्रभु को प्राप्त करने पर प्रभु का प्रकाश तो अन्दर प्रवाहित होगा ही।

भावार्थ—१. सारे ब्रह्माण्ड का आधार जो प्रभु है वह प्रसन्न हृदय में, क्रियाशील जीवन में, कर्मों की शक्ति में तथा वासनाओं से किये जानेवाले संग्राम में विजेता में निवास करता है। २. उस प्रभु का निवास-स्थान बनकर मैं ज्ञान की माधुर्यमयी तरङ्गोंवाला बन पाऊँ।

एवं, यह सत्रहवाँ अध्याय 'प्रभु को धारण करने की भावना' पर समाप्त होता है। इस प्रभु को धारण कर लेने पर मैं सब अच्छी बातों को धारण करनेवाला बनता हूँ। क्या सांसारिक उत्तम वस्तुएँ क्या अन्न, फल, धन आदि, क्या भौतिक शरीर से सम्बद्ध शक्ति आदि, मानस सम्बद्ध संकल्पादि और बुद्धि के ज्ञानादि इन सबको मैं प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। 'प्रभु को प्राप्त कर लेने पर मैं सारे ब्रह्माण्ड को ही पा लेता हूँ', बस, यही वर्णन अठारहवें अध्याय में विस्तार से प्रारम्भ होता है—

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

अष्टादशोऽध्यायः

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वाजः-स्वः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का देवता 'यज्ञपुरुष'—यज्ञशील पुरुष था। यह प्रस्तुत मन्त्रों में यज्ञ के द्वारा पदार्थ की सम्पन्नता के लिए प्रार्थना करता है और कहता है कि **वाजश्च मे**=शक्ति मुझे यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो। शक्ति के साथ **प्रसवश्च मे**=(सु= ऐश्वर्य) ऐश्वर्य भी मुझे प्राप्त हो। केवल ऐश्वर्य कुबेर के पास है और शक्ति 'यमराज' के पास है। मैं अपने में शक्ति व ऐश्वर्य का समन्वय कर पाऊँ। २. (क) इस ऐश्वर्य को कमाने के लिए **प्रयतिश्च मे**=मुझमें प्रकृष्ट पुरुषार्थ हो, यह पुरुषार्थ मुझे शक्ति-सम्पन्न करेगा। मैं पुरुषार्थ से ही धन कमाऊँ, जुए की ओर मेरा झुकाव न हो। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**='पासों से न खेल, खेती कर'। 'प्रबन्ध' सातत्यवाला हो, यह वेद का उपदेश मुझे स्मरण रहे। **प्रसितिश्च मे**=(षिञ् बन्धने) मेरा यह प्रयत्न निरन्तर चलता जाए। मैं प्रयत्न में शैथिल्य न आने दूँ। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ यह भी कर सकते हैं कि ऐश्वर्य व शक्ति होने पर मैं कहीं विलास व आराम के मार्ग पर न चला जाऊँ। मेरा जीवन **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमवाला हो और उस संयम में **प्रसितिः**=मैं अपने को उत्तम व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलूँ। ३. इन्हीं नियमों में न फँस जाने के उद्देश्य से ही **धीतिश्च मे**=मुझमें प्रभु-सम्पर्क द्वारा (यज्ञ द्वारा) ध्यान की वृद्धि हो तथा **क्रतुश्च मे**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि हो। मेरा जीवन ध्यानमय और ज्ञानमय हो। ४. ध्यान व ज्ञान के द्वारा **स्वरश्च मे**=(स्वयं राजते इति स्वरः, स्व+राज्+ड) मुझमें स्वयं राजमानता हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीवन न बिताऊँ, और **श्लोकश्च मे**=मुझे यश-ही-यश प्राप्त हो, इन्द्रियों का दास बनकर ही मैं अपयश का भागी होता हूँ। ५. **श्रवश्च मे**=मुझमें श्रवण का सामर्थ्य हो और उस श्रवण-सामर्थ्य से ज्ञान को बढ़ाते हुए **श्रुतिश्च मे**=मैं वेद को अपना बना पाऊँ। यह ज्ञान ही तो मेरे 'स्वर' बनने में व स्वर बनकर यशस्वी बनाने में सहायक होगा। ६. इस वेदज्ञान को अपनाने से **ज्योतिश्च मे**=मुझे प्रकाश प्राप्त होगा और उस प्रकाश में मार्ग-भ्रष्ट न होने से **स्वश्च मे**=मुझे सुख प्राप्त हो अथवा मैं उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को पानेवाला बनूँगा।

भावार्थ—यज्ञेन=प्रभु-सम्पर्क द्वारा यज्ञ **मे**=मेरे लिए **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्राणः—बलम्

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्व:'=सुख पर हुई है। उस सुख के लिए सब इन्द्रियों व शरीर का ठीक होना आवश्यक है। सुख का अर्थ ही सु+ख=इन्द्रियों का उत्तम होना है, अत: इन्द्रियों की उत्तमता व स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **प्राणश्च मे**=मेरी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **अपान:च मे**=मेरी अपानशक्ति भी यज्ञ द्वारा सामर्थ्ययुक्त हो। प्राण मुझे सबल बनाएगा तो अपान मेरे दोषों को दूर करेगा। २. **व्यानश्च मे**=मेरा सर्वशरीरचारी व्यानवायु यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और मुझे सारे नाड़ी-संस्थान का स्वास्थ्य देनेवाला हो। **असु:च मे**=मेरे 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' आदि विविध प्रवृत्तियों के कारणभूत मरुत् भी शक्तिसम्पन्न हों। इनके ठीक होने से मेरी सब चेष्टाएँ मपी-तुली हों। ३. **चित्तं च मे**=मेरा मानससंकल्प यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और उसके ठीक होने से **आधीतं च मे**=मेरा बाह्यविषयज्ञान भी ठीक हो, अर्थात् असु के ठीक होने से मेरी अन्तर व बाह्य सभी क्रियाएँ ठीक होंगी। ४. **वाक् च मे**=मेरी वाणी की शक्ति ठीक हो और **मनश्च मे**=मेरी मानसशक्ति बिलकुल ठीक हो। वाणी यहाँ सभी कर्मेन्द्रियों की प्रतीक है। मेरी सारी कर्मेन्द्रियाँ ठीक से कार्य करें। ५. कर्मेन्द्रियों के साथ **चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे**=मेरी देखने तथा सुनने की शक्ति ठीक हो। मेरी सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम करें। मैं इस जीवन में 'बहुद्रष्ट व बहुश्रुत' बन पाऊँ। ६. इस दर्शन व श्रवण से **दक्षश्च मे**=मुझे कार्य करने में दक्षता व चतुरता प्राप्त हो। मैं सब कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनूँ **बलम् च मे**=मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। यह दक्षता व बल मुझे विजयी बनाएँ। ७. मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्ययुक्त हों।

भावार्थ—मैं प्राण से लेकर बल तक सब वस्तुओं को यज्ञ से सम्पन्न करनेवाला बनूँ।

ऋषि:—**देवा:**। देवता—**प्रजापति:**। छन्द:—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वर:—**धैवत:**॥

ओज:—जरा

ओजश्च मे सहश्च मऽआत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूᳬषि च मे शरीराणि च मऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३॥

१. पिछला मन्त्र 'बल' पर समाप्त किया था। उसी बल का विस्तार प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। **ओज: च मे**=मेरा ओज=(ओज to increase) सब प्रकार की वृद्धि की कारणभूत शक्ति यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **सहश्च मे**=मुझमें सहनशक्ति हो। प्रकृति का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। ओजस्वी बनकर भौतिक व्याधियों को जीत पाऊँ तथा जीवों के साथ बर्ताव के लिए मुझमें सहनशक्ति हो। २. **आत्मा च मे तनू: च मे**=मैं आत्मा की शक्ति का वर्धन करूँ तथा शरीर की शक्ति का भी विकास करूँ। ऐहिक व आमुष्मिक सुख के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। ३. **शर्म च मे वर्म च मे**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होनेवाला तथा वासनाओं की क्षीणता से प्राप्त होनेवाला सुख मुझे प्राप्त हो, जिससे मैं रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से बच पाऊँ। शर्मा बनूँ—वर्मा बनूँ= ब्राह्मशक्ति का विस्तार करूँ और क्षात्रशक्ति को बढ़ानेवाला बनूँ। इन शक्तियों के बढ़ाने पर **अङ्गानि च मे, अस्थीनि च मे**=मेरे हाथ आदि अवयव तथा सब अस्थियाँ यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न बनें। ५. **परूँषि च मे**=मेरी अंगुलियाँ आदि सब पर्व यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा **शरीराणि च मे**=मेरे स्थूल, सूक्ष्म व कारण—सभी शरीर ठीक हों, ६. **आयु: च मे**= मेरा सारा जीवन यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने और **जरा च मे**=मेरी वृद्धावस्था भी यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने,

अर्थात् वृद्धावस्था में भी मैं युवक की भाँति शक्तिसम्पन्न होकर कार्य करता रहूँ।

भावार्थ—मैं ओजस्वी बनूँ वृद्धावस्था तक युवक के समान शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्यैष्ठ्य+वृद्धि

ज्यैष्ठ्यं च मऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को सशक्त बनाकर **ज्यैष्ठयं च मे**=मैं ज्येष्ठत्व का सम्पादन करनेवाला बनूँ और इसी ज्येष्ठता-सम्पादन के लिए **आधिपत्यं च मे**=मेरा आधिपत्य सम्पन्न हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिपति बनूँ। २. इस आधिपत्य से **मन्युः च मे**=मेरा ज्ञान सशक्त हो तथा **भामः च मे**=तेजस्विता (Brightness, Lustre, Splendour) मुझे प्राप्त हो। ३. **अमः च मे**=मेरी प्राणशक्ति बल-सम्पन्न हो और **अम्भः च मे**=(तुष्टिः) मुझमें आत्मसन्तोष विकसित हो, अथवा सफलता (Fruitfulness) मेरी संगिनी बने। ४. **जेमा च मे**=मैं सदा विजयी बनूँ, जय-सामर्थ्य-सम्पन्न बनूँ और **महिमा च मे**=महत्त्व को प्राप्त करूँ। ५. **वरिमा च मे**=(उरोर्भावः)=प्रजादि से मैं विशाल बनूँ। **प्रथिमा च मे**=(पृथोर्भावः) मेरे गृह-क्षेत्रादि का भी विस्तार हो। ६. **वर्षिमा च मे**=(वृद्धस्य भावः) मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और **द्राघिमा च मे**=(दीर्घस्य भावः) मैं अविच्छिन्न वंशवाला, प्रजाओं से दीर्घकाल तक चलनेवाला होऊँ। ७. **वृद्धं च मे**=मुझे प्रभूत अन्न-धनादि प्राप्त हो और **वृद्धिः च मे कल्पन्ताम्**=विद्यादि गुणों से मेरा उत्कर्ष **यज्ञेन**= यज्ञ से, प्रभु के साथ मेल करने से सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं जीवन में ज्येष्ठता का सम्पादन करूँ। ज्ञानी व तेजस्वी बनूँ। प्राणशक्ति-सम्पन्न व आत्मसन्तोषवाला होऊँ। विजय व महत्त्व को प्राप्त करूँ, परिवार व सम्पत्ति से बढ़ूँ, दीर्घ जीवन व वंश-विस्तारवाला होऊँ। धन, विद्यादि गुणों से उत्कृष्ट बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सत्य+सुकृत

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥

१. गतमन्त्र की ज्येष्ठता के लिए आवश्यक है कि **सत्यं च मे**=मुझमें यथार्थ भाषण हो, **श्रद्धा च मे**=मेरा परलोक व प्रभु में विश्वास हो। २. इनके साथ भौतिक ज्येष्ठता के लिए **जगत् च मे**=जंगम गवादि धन मुझे प्राप्त हो, **धनं च मे**=और सुवर्णादि धातुएँ मुझे प्राप्त हों। ३. **विश्वं च मे**=वह सबमें प्रविष्ट प्रभु मेरा हो और **महः च मे**=प्रभु-सम्पर्क से प्राप्त होनेवाली तेजस्विता (महः=दीप्ति) मेरी हो। ४. महस्वाला बनकर मैं **क्रीडा च मे**=संसार के सब घटनाचक्र को क्रीडा के रूप में देखनेवाला बनूँ। **मोदः च मे**=और क्रीडा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को सदा प्राप्त करूँ। ५. **जातं च मे**=मेरा भूतकाल में भी विकास हुआ हो और **जनिष्यमाणं च मे**=भविष्यत् में भी मेरा विकास हो। ६. **सूक्तं च मे**=मेरे मुख से सदा **सु-उक्त**=मधुर शब्द उच्चरित हों और **सुकृतं च मे**=मेरा पुण्य **यज्ञेन**=

प्रभु के संग से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं सत्य व श्रद्धादि से अपने को परिपूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋत+सुदिन

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'सुकृतम्' पर थी। 'सुकृतम्' की ही व्याख्या प्रस्तुत मन्त्र में 'ऋत' शब्द से हुई है। **ऋतं च मे**=मेरे जीवन में 'ऋत' हो। ऋत वही है जो ठीक=right है। ठीक वही है जो ठीक स्थान व समय के अनुकूल है। इस ऋत के पालन से ही **अमृतं च मे**=मुझे अमृत की प्राप्ति हो। स्वाभाविक मृत्यु को छोड़कर जो रोगरूप मृत्यु हैं, उनसे मैं बचा रहूँ। मैं केवल 'जरा मृत्युवाला होऊँ। पूर्ण आयुष्य में होनेवाली जीर्णता से ही मेरा यह शरीर जाए। २. **अयक्ष्मं च मे**=ऋत के पालन से मुझमें धातुक्षयजनित रोग उत्पन्न न हों। **अनामयत् च मे**=सामान्य व्याधियों से राहित्य भी मुझे प्राप्त हो। ३. **जीवातुः च मे**=(येन जीवयति) जिससे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है वह पथ्य भोजन मुझे प्राप्त हो। **दीर्घायुत्वं च मे**=उस पथ्य भोजन के सेवन से मैं दीर्घ जीवन को प्राप्त करूँ। ४. इस दीर्घ जीवन के लिए ही **अनमित्रं च मे**=मेरी किसी से शत्रुता न हो और **अभयं च मे**=मैं अभय को प्राप्त होऊँ। मन में होनेवाली शत्रुता व भय की भावना शरीर पर भी घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। ५. **सुखं च मे**=मैं शत्रुओं से भयरहित होकर सुखी जीवनवाला होऊँ। **शयनं च मे**=मैं सुख की नींद सो सकूँ। ६. रात्रि में सुखपूर्वक सोने के बाद मैं प्रातः तरोताज़ा होकर उठूँ और **सूषाः च मे**=मेरा प्रातःकाल बड़ा उत्तम हो। मैं अपने प्रातःकृत्यों को उत्तमता से सम्पादित कर सकूँ, तथा **सुदिनं च मे**=मेरा सारा दिन यज्ञदानाध्ययनादि युक्त होकर सुन्दरता से बीते। ऋत से प्रारम्भ होकर सुदिन तक मेरा सब-कुछ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं ऋत के द्वारा अमृतत्व-अयक्ष्मत्व व अनामयत्व को सिद्ध करूँ। मेरा जीवन पथ्य-सेवन से दीर्घायु तक चले। शत्रुता व भय से रहित होकर मैं सुखी बनूँ एवं सुख की नींद सो सकूँ। मेरा प्रातःकाल उत्तम हो तथा सारा दिन सुन्दरता से व्यतीत हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

यन्ता—लयः

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥७॥

१. पिछले मन्त्र में 'सुदिन' पर समाप्ति हुई थी कि मेरा सारा दिन उत्तमता से बीते। यह उत्तमता से बीत तभी सकता है यदि मैं इन इन्द्रियाश्वों को आत्मवश्य करके विचरण करूँ, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **यन्ता च मे**=(यन्ता=यन्तृत्व) मेरा आत्मा इस शरीर—रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला हो और **धर्ता च मे**=इनको धारण करनेवाला बने। इन वाणी आदि इन्द्रियों को मन में धारण करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में धारण करने का अभ्यास करे। २. इस धारण से **क्षेमश्च मे**=मेरा कल्याण हो अथवा विद्यमान धन की रक्षणशक्ति मुझमें

हो। **धृतिः च मे**=आपत्तियों में भी मैं धीर व स्थिर चित्तवाला बनूँ। ३. **विश्वं च मे**=धैर्य के द्वारा मैं सम्पूर्ण संसार में प्रविष्ट परमात्मा को भी प्राप्त करूँ और **महः च मे**=मुझमें प्रभुपूजा की प्रवृत्ति हो। ४. **संवित् च मे**=प्रभु-पूजा से वेदशास्त्र-ज्ञान हमारा हो और, **ज्ञात्रं च मे**=मेरा विज्ञान-सामर्थ्य यज्ञ के द्वारा चमके। ५. **सूः च मे**=मुझमें प्रेरणाशक्ति हो। मैं अपने पुत्रादि को उत्तम प्रेरणा दे सकूँ और **प्रसूः च मे**=मुझमें उत्पादन-सामर्थ्य हो। ६. धनादि के उत्पादन के लिए **सीरं च मे**=हल मेरा हो। हल से भूमि को जोतकर मैं उत्तम धान्यों को प्राप्त करूँ और अन्त में **लयः च मे**=कृषि आदि के प्रतिबन्धों को विलीन कर कृषि को उन्नत करूँ। हमारी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा सम्पन्न हों।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों का नियमन करके उनको मन में धारण करें, जिससे अपने क्षेम का साधन कर सकें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शम्+यशः

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥८॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार कृषि करते हुए तथा कृषि में आनेवाले प्रतिबन्धों को निवृत्त करते हुए **शं च मे**=मुझे ऐहिक सुख प्राप्त हो और साथ ही **मयः च मे**=आमुष्मिक सुख भी मैं प्राप्त कर सकूँ। कृषि से मेरा जीवन इस प्रकार पुरुषार्थ का हो कि मैं व्यसनों से ऊपर उठा रहूँ। २. **प्रियं च मे**=मुझे सब प्रीत्युत्पादक वस्तुएँ प्राप्त हों। **अनुकामः च मे**=सब धर्मानुकूल काम मुझे प्राप्त हों। ३. **कामः च मे**=संसार के उचित आनन्द मुझे मिलें और **सौमनसः च मे**=मेरा मन सदा प्रसन्न रहे। ४. **भगः च मे**=मुझे सदा सौभाग्य प्राप्त हो। **द्रविणं च मे**=और कार्य-सञ्चालन के लिए आवश्यक धन भी मुझे प्राप्त हो। ५. **भद्रं च मे**=मुझे कल्याण व सुख प्राप्त हो तथा **श्रेयः च मे**=मैं मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **वसीयः च मे**=मुझे (अतिशयेन वस्तृ) निवास के योग्य वसुमान् गृह प्राप्त हो तथा **यशः च मे**=मुझे उत्तम कर्मों से होनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=यज्ञ से सम्पन्न हों।

भावार्थ—मुझे इस लोक व परलोक का कल्याण प्राप्त हो। मुझे आवश्यक धन की कमी न हो और मुझे प्रसन्न मन व यश का लाभ हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्क् औद्भिद्यम्

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥९॥

१. **ऊर्क् च मे**=मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो तथा **सूनृता च मे**=(सु ऊन् ऋत) मेरी वाणी उत्तम, दुःख के परिहाणवाली तथा सत्य हो। २. इस शक्ति व मधुरवाणी की प्राप्ति के लिए **पयः च मे**=मैं दूध का प्रयोग करूँ और **रसः च मे**=फलों के रस का सेवन करूँ। ३. इसी उद्देश्य से **घृतं च मे**=मैं घृत का प्रयोग करूँ और **मधु च मे**=मैं शहद का सेवन करूँ। ४. इन वस्तुओं को मैं अकेला न खा लूँ, अपितु **सग्धिः च मे**=मेरा औरों के साथ मिलकर भोजन हो तथा **सपीतिश्च मे**=बन्धुओं के साथ मिलकर पीना हो। ५. इन

भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए **कृषिः च मे**=मैं कृषि को अपनाऊँ तथा **वृष्टिः च मे**=कृषि की सफलता के लिए मुझे इष्ट वृष्टि प्राप्त हो। ६. **जैत्रं च मे**=(जेतुर्भावः) इस वृष्टिजनित कृषि से उत्पन्न पदार्थों का सेवन मुझे विजय-सामर्थ्यवाला बनाये और **औद्भिद्यं च मे**=इस विजय-सामर्थ्य के लिए आम्रादि वृक्षों की उत्पत्ति मुझे प्राप्त हो। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होऊँ और सूनृतवाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

रयि—अक्षुत्

र॒यिश्च॑ मे॒ राय॑श्च मे पु॒ष्टं च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे वि॒भु च॑ मे प्र॒भु च॑ मे पू॒र्णं च॑ मे पू॒र्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च॒ मेऽक्षि॑तं च॒ मेऽन्नं॑ च॒ मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१०॥

१. गतमन्त्र का प्रारम्भ 'ऊर्क्'=प्राणशक्ति की प्रार्थना से हुआ था, प्रस्तुत मन्त्र 'रयि' की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। **'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में प्राण और रयि का सम्बन्ध सुव्यक्त है। इन देवों के मेल से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। **'रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु'** इस वाक्य से रयि का सोम से सम्बन्ध है। मुझमें जहाँ ऊर्क्=प्राण हो वहाँ **रयिः**=सोमशक्ति भी हो। इस रयि के साथ **रायश्च मे**=मुझे वे धन भी प्राप्त हों, जिन्हें मैं उदारतापूर्वक दान कर सकूँ (राति दानकर्मणः)। २. **पुष्टं च मे**=मुझे धन का पोषण प्राप्त हो। जहाँ मैं आर्थिक दृष्टि से निर्बल न होऊँ वहाँ **पुष्टिश्च मे**=मुझे शरीर का पोषण भी प्राप्त हो। धन विलास द्वारा मेरी शारीरिक निर्बलता का कारण न बन जाए। ३. धन व शारीरिक बल प्राप्त करके **विभु च मे**=मुझे व्याप्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो। मेरा हृदय विशाल हो और साथ ही **प्रभु च मे**=मुझे प्रभावशक्ति भी प्राप्त हो। मैं प्रभुत्व करने में समर्थ होऊँ। ४. **पूर्णं च मे**=इस प्रकार मैं धन व पुत्रादि की पूर्णतावाला होऊँ और **पूर्णतरं च मे**=गवादि पशुओं की पूर्णता भी मुझे प्राप्त हो। ५. **कुयवं च मे**=यह (कु) पृथिवी-सम्बन्धी **यव**=जौ मेरे हों तथा **अक्षितं च मे**=जिनसे नाश नहीं होता ऐसे धान्य मुझे प्राप्त हों। ६. **अन्नं च मे**=मुझे सब आवश्यक अन्न प्राप्त हों तथा **अक्षुत् च मे**=मैं भूखा न रह जाऊँ, मैं अन्न से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—मुझमें रयिशक्ति हो तथा दान देने योग्य धन हो, मुझे धन व शरीर का पोषण प्राप्त हो। मैं अन्न का सेवन करूँ और भूखा न रह जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**श्रीमदात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वित्त+सुमति

वि॒त्तं च॑ मे॒ वेद्यं॑ च मे भू॒तं च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सु॒गं च॑ मे सु॒प॒थ्यं॒ च मऽऋ॒द्धं॒ऽच॑ म॒ऽऋद्धि॑श्च मे क्लृ॒प्तं च॑ मे॒ क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सु॒म॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥११॥

१. **वित्तं च मे**=ज्ञात वस्तु मेरी हो, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान मैंने प्राप्त किया है मेरा वह वस्तु-ज्ञान नष्ट न हो और **वेद्यं च मे**=जो जानने योग्य है उसे भी मैं जानने के लिए यत्नशील होऊँ। २. **भूतं च मे**=उस पूर्व ज्ञान द्वारा सिद्ध वस्तु तो मेरी हो ही **भविष्यत् च मे**=मैं आगे भी अन्य सफलताओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. ज्ञान के ही कारण **सुगं च मे**=मैं शोभन गमनवाला होऊँ और **सुपथ्यम् च मे**=शोभन हितकर भोजन ही खानेवाला

बनूँ। मेरा आहार-विहार दोनों उत्तम हों। ४. इस उत्तम आहार-विहार से **ऋद्धं च मे**=(ऋद्ध वृद्धौ) मैं सदा वर्धनवाला होऊँ **ऋद्धिश्च मे**=और धन की समृद्धिवाला बनूँ। ५. इस निरन्तर वर्धन व समृद्धि के द्वारा **क्लृप्तं च मे**=मुझमें उस-उस कार्य के लिए सामर्थ्य हो तथा **क्लृप्तिश्च मे**=कार्यक्षम साधन मुझे प्राप्त हों। अपने कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक साधनों को मैं जुटा पाऊँ। ६. **मतिश्च मे**=इस सबके लिए मेरी मति ठीक हो—मैं पदार्थमात्र का ठीक निश्चय कर सकूँ। **सुमतिः च मे**=दुर्घट कार्यों में भी निश्चय कर सकने की मेरी शक्ति हो—मैं सब उलझनों को सुलझा सकूँ। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरा प्राप्त ज्ञान सुरक्षित हो और ज्ञातव्य को मैं जाननेवाला बनूँ। मैं इस जीवन में मति व सुमति का सम्पादन कर सकूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धान्यदात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

व्रीहि—मसूर

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'मति व सुमति' पर हुई थी। उस 'मति व सुमति' का सम्पादन करने के लिए मैं व्रीहि और यव आदि उत्तम ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा भोजन वानस्पतिक ही हो। वनस्पति का अर्थ ही 'वन' ज्ञानरश्मियों का 'पति' रक्षा करनेवाला है। मांसाहार मनुष्य-स्वभाव को कुछ क्रूर बनानेवाला है। यह मनुष्य को स्वार्थी-सा बना देता है, अतः कहते हैं कि—

व्रीहयः च मे=मेरा भोजन चावल हों। **यवाः च मे**=मेरा भोजन जौ हों। २. **माषाः च मे**=मैं माषों=उड़द का प्रयोग करूँ और **तिलाः च मे**=तिलों को अपनाऊँ। ३. **मुद्गाः च मे**=मूँग मेरे भोजन का अङ्ग हों और **खल्वाः च मे**=चणों को मैं भोजन बनाऊँ। ४. **प्रियङ्गवः च मे**=कङ्गु मेरा भोजन हो और **अणवश्च मे**=चीनक मेरा भोजनाङ्ग बने। ५. **श्यामाकाः च मे**=ग्राम्य तृणधानों (कोदों) को मैं अपनाऊँ, **नीवाराश्च मे**=मैं आरण्य तृणधानों का सेवन करूँ। ६. **गोधूमाः च मे**=मैं गेहूँ को अपनाऊँ तथा **मसूराः च मे**=मसूर का सेवन करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से मेरे ये सब वानस्पतिक भोजन **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनानेवाले हों। मैं सदा शाकाहारी बना रहकर सशक्त बनूँ। अपनी ज्ञानरश्मियों को बढ़ाऊँ तथा प्रभु के समीप पहुँचनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा भोजन वनस्पति ही हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रत्नवान्धनवानात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अश्मा+त्रपु

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहञ्च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१३॥

१. गतमन्त्र में विविध सेवनीय वनस्पतियों का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन वनस्पतियों की उत्पत्ति-भूमियों का उल्लेख करते हुए विविध उपयोगी धातुओं का वर्णन करते हैं। **अश्मा च मे**=पथरीली भूमि मेरे **कल्पन्ताम्**=कार्यसिद्धि के लिए हो तथा **मृत्तिका च मे**=मैदानों की मिट्टी मेरे लिए उत्तम अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हो। २. **गिरयः च मे**=क्षुद्र पर्वत मेरे लिए हों तथा **पर्वताः च मे**=महान् पर्वत भी मेरे लिए विविध सेवनीय द्रव्यों के देनेवाले हों। ३. **सिकताः च मे**=शर्करा व बालुकामय प्रदेश मेरे हों तथा इन सब स्थानों में उत्पन्न होनेवाली **वनस्पतयः च मे**=वनस्पतियाँ मेरी हों। ४. इन वनस्पतियों के अतिरिक्त **हिरण्यं च मे**=इस भूगर्भ से प्राप्त होनेवाला सोना मेरा हो **अयश्च मे**=लोहा मुझे प्राप्त हो। ५. **श्यामं च मे**=ताम्रलोह (steel) मुझे प्राप्त हो तथा **लोहं च मे**=कालायस (ढलवाँ लोहा) मुझे उस-उस कार्य में सम्पन्न करे। ६. **सीसं च मे, त्रपु च मे**=मैं सीसे व रांगे को प्राप्त करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=ये सब वस्तुएँ मेरे कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना मुझे 'सब भूमियों, वनस्पतियों व धातुओं' का सदुपयोग करनेवाला बनाये।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-भूति

अग्निश्च मऽआपश्च मे वीरुधश्च मऽओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशवऽआरण्याश्च मे वित्तञ्च मे वित्तिश्च मे भूतञ्च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१४॥

१. गतमन्त्र में विविध भूप्रदेशों व धातुओं का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि आदि अन्य जीवनोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **अग्निः च मे**=अग्नितत्त्व मेरे लिए हो और **आपश्च मे**=मैं जलतत्त्व को अपनानेवाला बनूँ। ये दोनों तत्त्व मेरे विविध कार्यों को सिद्ध करें। मेरे स्वभाव में भी 'अग्नि व जल' का समन्वय हो, मुझमें उत्साह व शान्ति हो। मैं शक्ति व शान्ति का मेल करनेवाला बनूँ। २. **वीरुधः च मे, ओषधयः च मे**=मैं वीरुधः=फैलनेवाली बेलों पर होनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करूँ तथा फलपाकान्त व्रीहि-यवादि ओषधियों को अपनाऊँ। ३. **कृष्टपच्याः च मे**=भूमि-कर्षण तथा बीज-वपन (हल चलाना, बीज बोना) आदि कर्मों से निष्पन्न ओषधियाँ मेरी हों, तथा **अकृष्टपच्याः च मे**=स्वयमेव उत्पद्यमान नीवार आदि वनस्पतियों को मैं उपजाऊँ। ४. इनके अतिरिक्त **ग्राम्याः च मे**=गौ, घोड़ा भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट आदि ग्राम्य पशु मेरे कार्य-साधक हों तथा **आरण्याः च मे**=अरण्य (वन) में होनेवाले हाथी, मृग, गव्य, बन्दर आदि भी मेरे उस-उस कार्य को सिद्ध करनेवाले हों। ५. इन सबके द्वारा **वित्तं च मे वित्तिः च मे**=प्राप्त धन मेरा हो तथा प्राप्तव्य धन को मैं प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **भूतं च मे भूतिः च मे**=माता-पितादि से प्राप्त धन मेरा हो तथा स्वार्जित भूति (ऐश्वर्य) का मैं मालिक होऊँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—इस पृथिवी पर होनेवाले अग्नि, जलादि तत्त्व, बेलें, ओषधियाँ, ग्राम्य व आरण्यभोजन तथा सब पशु व धन मेरे लिए उपयोगी व सहायक हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धनादियुक्तात्मा**। छन्दः—**निचृदार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वसु+गति

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च मऽएमश्च मऽइत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१५॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर माता-पिता से प्राप्त धन व अपने कमाये हुए धन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी धन के ठीक विनियोग के द्वारा उत्तम गृह व उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वसु च मे**=निवास के लिए गौ इत्यादि सब आवश्यक वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों। **वसतिः च मे**=मेरा सुन्दर निवास स्थान हो। 'यहाँ वसति शब्द छोटी-सी कुटिया' की भावना को लिये हुए है, अतः स्पष्ट है कि वेद बहुत बड़ी-बड़ी कोठियों के पक्ष में नहीं है। २. उस घर में रहता हुआ मैं **कर्म च मे**=अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाला बनूँ। **शक्तिः च मे**=इन कर्मों में लगे रहने से मेरी शक्ति बनी रहे, अथवा कर्मों को करने की मेरी शक्ति स्थिर रहे। **अर्थः च मे**=मेरा प्रयोजन हो, अर्थात् मैं प्रत्येक कर्म को किसी प्रयोजन को सामने रखकर करूँ, मेरी कोई चेष्टा व्यर्थ न हो। **एमः च मे**=(ईयते=जाना जाता है) मेरे जीवन का एक उद्देश्य (Aim) हो। निरुद्देश्य जीवन में मनुष्य कभी उन्नत्ति नहीं कर सकता। ४. **इत्या च मे**=उस उद्देश्य की ओर मेरा निरन्तर चलना हो। **गतिः च मे**=(गति=to get) और निरन्तर चलते हुए मुझे उद्देश्य की प्राप्ति हो। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझे वसु व वसति की प्राप्ति हो। कर्मों द्वारा मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। मेरे कार्य निष्प्रयोजन न हों—जीवन निरुद्देश्य न हो। मैं उद्देश्य की ओर चलूँ और उसे प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यन्नादिविद्याविदात्मा**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि+इन्द्र लक्ष्य (संख्या-१)

अग्निश्च मऽइन्द्रश्च मे सोमश्च मऽइन्द्रश्च मे सविता च मऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च मऽइन्द्रश्च मे पूषा च मऽइन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर लक्ष्य की ओर चलने व लक्ष्य को प्राप्त करने का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्रों में लक्ष्य का वर्णन करते हैं—**अग्निः च मे**=मुझमें अग्नितत्त्व हो। अपने को आगे और आगे बढ़ाने की वृत्ति हो। २. **सोमः च मे**=मैं सौम्य बनूँ। जितना-जितना आगे बढ़ता जाऊँ उतना-उतना विनीत होता चलूँ। वस्तुतः इस विनीतता से ही तो मैं आगे बढ़ूँगा। ३. **सविता च मे**=मैं प्रशस्त ऐश्वर्यवाला बनूँ। निर्माण (Production) के कार्यों के द्वारा मैं धन का सम्पादन करनेवाला बनूँ और साथ ही ४. **सरस्वती च मे**=प्रशस्त बोध व शिक्षायुक्त वाणीवाला मैं होऊँ। ५. **पूषा च मे**=शरीर का मैं सभी दृष्टिकोणों से पोषण करूँ और ६. **बृहस्पतिः च मे**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी, ज्ञानियों का भी ज्ञानी—मैं देवगुरु बन सकूँ। ७. उल्लिखित प्रार्थनाओं में प्रत्येक प्रार्थना के साथ 'इन्द्रश्च मे' ये शब्द जोड़े गये हैं। उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि मैं 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बनूँ। जितेन्द्रियता से ही जीवन का मन्त्र-वर्णित लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जितेन्द्रिय बनकर ही मैं 'अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा व बृहस्पति' बन सकूँगा। जितेन्द्रियता वह केन्द्र

है जिसके चारों ओर सभी सद्गुण परिधि के रूप में होते हैं। ये सब गुण **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे समर्थ बनाएँ।

भावार्थ—मेरा जीवन-लक्ष्य 'आगे बढ़ना, सौम्य बनना, उत्पादनात्मक कार्यों से ऐश्वर्य प्राप्त करना, प्रशस्त बोधवाला होना, शरीर का ठीक पोषण करना व ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनना हो।'

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**मित्रैश्वर्यसहितात्मा**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

मित्र+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-२)

मित्रश्च मऽइन्द्रश्च मे वरुणश्च मऽइन्द्रश्च मे धाता च मऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च मऽइन्द्रश्च मे मरुतश्च मऽइन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवाऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१७॥

१. **मित्रः च मे**=मुझमें स्नेह की भावना हो। प्रेम के मैं पास होऊँ। २. **वरुणः च मे**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँ। द्वेष से सदा दूर रहूँ। ३. **धाता च मे**=मैं सदा धारण करनेवाला बनूँ। मेरे कर्म धारणात्मक हों। ४. **त्वष्टा च मे**=मैं देवशिल्पी बनूँ। निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहकर मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करूँ। ५. इन दिव्य गुणों के निर्माण के लिए **मरुतः च मे**=ये मरुत् मेरे हों। मरुतः प्राणाः=प्राणों की साधना करनेवाला मैं बनूँ। ६. इस प्राण-साधना से **विश्वे च देवाः मे**=सब देव मेरे हों। प्राण-साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर दिव्यता का सञ्चार होता है। मेरी ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरे जीवन का लक्ष्य 'स्नेह, द्वेष-निवारण, धारण, निर्माण तथा प्राण-साधना द्वारा दैवी सम्पत्ति का अर्जन' हो, परन्तु यह सब होगा तो तभी जब कि **इन्द्रः च मे**=मुझ में इन्द्रत्व होगा, अर्थात् मैं जितेन्द्रिय बनूँगा।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राजैश्वर्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

पृथिवी+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-३)

पृथिवी च मऽइन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च मऽइन्द्रश्च मे द्यौश्च मऽइन्द्रश्च मे समाश्च मऽइन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च मऽइन्द्रश्च मे दिशश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१८॥

१. **पृथिवी च मे**=पृथिवी मेरी हो। (प्रथ विस्तारे) मेरा शरीर विस्तृत शक्तियोंवाला हो (पृथिवी शरीरम्) २. इसके लिए **अन्तरिक्षं च मे**=अन्तरिक्ष मेरा हो, मैं सदा मध्यमार्ग में चलूँ। (अन्तरा क्षि) अति को छोड़कर मैं शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला बनूँ। ३. मध्यमार्ग में चलने की वृत्ति के विकास के लिए **द्यौः च मे**=यह द्युलोक मेरा हो। मेरा मस्तिष्करूप गगन विज्ञान के नक्षत्रों से व ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो। यह ज्ञान ही मेरी भावनाओं को पवित्र करेगा। ४. **समाः च मे**=(संयान्ति=सह भवन्ति ऋतवो अमासु) मेरा जीवन 'समाः' को अपनाये। **समाः**=वर्ष में जिस प्रकार सब ऋतुओं का निवास है उसी प्रकार मेरे जीवन में ऋतुओं की भाँति नियमित गति का निवास हो और छह ऋतुओं की भाँति मेरा जीवन 'शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान' इस षट्कसम्पत्तिवाला हो। वर्ष में छह ऋतुएँ, मुझमें ये छह सम्पत्तियाँ। ५. **नक्षत्राणि च मे**=ये सब नक्षत्र मेरे हों। ये (नक्ष गतौ) निरन्तर गतिशील हैं, मेरा जीवन भी सदा गतिशील हो। (न क्षीयन्ते) गतिशीलता ही मेरी अक्षीणता का कारण बने और अन्त में ६. **दिशः च मे**=ये सब दिशाएँ

मेरी हों। मैं इनसे क्रमशः आगे बढ़ने (प्राची–प्र अञ्च), दाक्षिण्य प्राप्त करने (दक्षिणा), अथवा नम्र बने रहने (अवाची अव् अञ्च), प्रत्याहार (प्रतीची प्रति अञ्च) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने तथा ऊर्ध्वगतिवाला होने (उदीची उद् अञ्च) का उपदेश ग्रहण करूँ। मेरी ये सब भावनाएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों और मैं इन सब बातों को पूर्ण रूप देने के लिए 'इन्द्रः च मे' मैं जितेन्द्रिय बना रहूँ।

भावार्थ—मैं शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, मध्यमार्ग में चलूँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करूँ, षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, निरन्तर क्रियाशील होऊँ और दिशाओं के उपदेश को ग्रहण कर 'आगे बढ़ूँ, नम्र बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पदार्थविदात्मा**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशु-मन्थी (सोम ग्रहविशेषाः)

अ॒ꣳशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॒ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑पतिश्च मऽ उपा॒ꣳशुश्च॑ मेऽन्तर्या॒मश्च॑ मऽऐन्द्रवाय॒वश्च॑ मे मैत्रावरु॒णश्च॑ मऽआश्वि॒नश्च॑ मे प्रतिप्र॒स्थान॑श्च मे शु॒क्रश्च॑ मे म॒न्थी च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१९॥

१. **अंशुः च मे**=मेरा जीवन चन्द्र-किरणोंवाला हो। चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव-वाला मैं बनूँ। **रश्मिः च मे**=मेरे जीवन में सूर्यरश्मियों का स्थान हो। मेरा मस्तिष्करूपी द्युलोक ज्ञान के सूर्य से जगमगाता हो। वहाँ विज्ञान के नक्षत्रों की किरणें अन्धकार का विनाश करनेवाली हों। २. **अदाभ्यः च मे**=मेरा जीवन उपक्षयरहित हो। मैं अपने जीवन में दबकर कार्य करनेवाला न होऊँ और **अधिपतिः च मे**=वह सबका अधिपति प्रभु मेरा हो। अथवा 'अधिपतित्व' मुझे प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपनी सब इन्द्रियों का अधिपति होऊँ। ३. **उपांशुः च मे**=उस प्रभु की उपासना द्वारा प्राप्त होनेवाली ज्ञान की किरणें मेरी हों तथा **अन्तर्यामः च मे**=सब इन्द्रियों का अन्तर मन में नियमन करनेवाला मैं बनूँ। ४. **ऐन्द्रवायवश्च मे**=इन्द्र तथा वायु सम्बन्धी विकास मुझे प्राप्त हो। मैं इन्द्रशक्ति का विकास करूँ तथा इन्द्रशक्ति के विकास के लिए प्राणों का विकास करनेवाला बनूँ। इस प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सब मलों का नाश होकर **मैत्रावरुणश्च मे**=मुझे मित्र व वरुणशक्ति प्राप्त हो, अर्थात् मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ और द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। ५. इस मित्र व वरुणशक्ति से **आश्विनश्च मे**=मेरी अदीर्घसूत्रता हो, **'न श्वः श्वमुपासीत'** इस याज्ञवल्क्य के निर्देश के अनुसार मैं कल-कल की उपासना न करूँ। **प्रतिप्रस्थानः च मे**=मेरा मन प्रत्येक प्राप्त कर्त्तव्य के प्रति प्रस्थानवाला हो, अर्थात् मैं सदा अपने कर्त्तव्य को करने के लिए उद्यत होऊँ। ६. **शुक्रः च मे**=मुझमें (शुक् गतौ) गतिशीलता हो, परन्तु साथ ही **मन्थी च मे**=मेरी वृत्ति मन्थन करने की हो—मैं प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करनेवाला बनूँ। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में सूर्य व चन्द्रतत्त्व का समन्वय करनेवाल बनूँ। दबूँ नहीं, अधिपति बनूँ। प्रभु की उपासना से ज्ञानवाला बनूँ और मन में इन्द्रियों का नियमन करूँ। इन्द्र व प्राणशक्ति का विकास करके प्रेम के पास व द्वेष से दूर होने का प्रयत्न करूँ। साथ ही कार्यों को कल-कल पर न टालता हुआ प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए सदा उद्यत रहूँ। गतिशीलता के साथ विचारशील बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

आग्रयण-हारियोजन (यज्ञविशेषाः)

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्कैवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२०॥

१. **आग्रयणः च मे**=(अग्रे अयनं येन) मेरे अन्दर आगे चलने की वृत्ति हो और इसी वृत्ति के परिणामरूप **वैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन सब दिव्य गुणोंवाला हो। २. **ध्रुवः च मे**=मुझमें ध्रुवता—न्यायमार्ग से विचलित न होने की भावना हो तथा **वैश्वानरः च मे**=मेरा जीवन विश्वनरहित की भावना से ओत-प्रोत हो। मैं सब लोगों का भला करनेवाला बनूँ। ३. **ऐन्द्राग्नः च मे**=मेरा जीवन-यज्ञ इन्द्र व अग्नि देवतावाला हो। मैं जितेन्द्रिय बनूँ और आगे बढ़ूँ। जितेन्द्रिय बनने व आगे बढ़ने के परिणामस्वरूप **महावैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन महनीय विश्वदेवोंवाला हो, अथवा महनीय विश्वदेवों के पुञ्ज प्रभुवाला हो। ४. **मरुत्वतीयाः च मे**=उस प्रभुवाला बनने के लिए मरुत्वतीय यज्ञ मुझमें चलें। मरुत् अर्थात् मैं नियमितरूप से प्राणायाम-यज्ञ को करनेवाला बनूँ। इस प्राणायाम यज्ञ के द्वारा इन्द्रियों के दोषों का दहन करके **निष्केवल्यः च मे**=(नितरां केवलं सुखं यस्मिन् तस्मिन् भवः—द०) नितरां सुखमय स्थिति में होनेवाला ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हो। ५. **सावित्रः च मे सारस्वतः च मे**=इस संसार में जीवन्मुक्त बनने पर मेरा जीवन सविता के यज्ञवाला तथा सरस्वती के यज्ञवाला हो, अर्थात् मैं सदा निर्माण व उत्पत्ति के यज्ञ में प्रवृत्त रहूँ तथा सरस्वती का उपासक, अर्थात् ज्ञान-साधना करनेवाला होऊँ। इस प्रकार मेरा निजू जीवन हो। इसके अतिरिक्त मैं अपने गृहस्थ जीवन में **पात्नीवतः च मे**=प्रशस्तता से पत्नी के प्रति धर्म का पालन करनेवाला बनूँ और **हारियोजनः च मे**=मेरा हारियोजनयज्ञ चले, अर्थात् मैं अपने इन्द्रियरूप अश्वों को उत्तमता से शरीररूप रथ में जोतनेवाला बनूँ, (हरीणां अश्वानां योजयिता) और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ चलूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन मन्त्रवर्णित आग्रयण आदि यज्ञोंवाला हो। मैं आगे बढ़ूँ। आगे बढ़ने के लिए ही इन्द्रियाश्वों को सदा शरीर-रथ में जोते रक्खूँ, अर्थात् निरन्तर क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञाङ्गवानात्मा**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स्रुचः+स्वगाकारः (यज्ञपात्र)

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२१॥

१. **मे**=मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ करने के हेतु निम्न सब साधन **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों, अर्थात् प्राप्त हों।

(क) **स्रुचः च मे**=जुहू आदि स्रुक् पात्र। (ख) **चमसाः च मे**=चमस् आदि पात्र। (ग) **वायव्यानि च मे**=पवन में उत्तम साधनभूत पदार्थ। (घ) **द्रोणकलशः च मे**=सोमरस का आधारभूत कलश। (ङ) **ग्रावाणः च मे**=सिल-बट्टा आदि यज्ञिय पदार्थ। (च) **अधिषवणे च मे**=सोमवल्ली कूटने-पीसने के साधनभूत काष्ठफलक। (छ) **पूतभृत् च**

मे=पवित्रताकारक/सूप/छलनी आदि पात्र। (ज) **आधवनीयः च मे**=अच्छी प्रकार धोने आदि का पात्र। (झ) **वेदिः च मे**=होम करने की वेदि। (ञ) **बर्हिः च मे**=कुशासमूह। (ट) **अवभृथः च मे**=यज्ञ-समाप्ति समय का स्नान। (ठ) **स्वगाकारः च मे**=स्वस्तिवाचन।

भावार्थ : मेरे ये सब पदार्थ होम की क्रिया करने से समर्थ हों। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में इन पदार्थों की नियुक्ति से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए समर्थ बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञवानात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्निः-दिशः

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२२॥

१. **अग्निः च मे**=मेरे जीवन के अन्दर अग्नि हो, **घर्मः च मे**=मैं शक्ति की उष्णता-(गरमी)-वाला होऊँ। मैं निरन्तर गतिशील और अग्रगतिशील बनूँ। इस गतिशीलता से मेरी शक्ति बनी रहे। २. इस क्रिया और उससे होनेवाली शक्ति के साथ **अर्कः च मे**=मुझमें उपासना हो और **सूर्यः च मे**=इस उपासना से मेरे अन्दर ज्ञान के सूर्य का उदय हो। ३. इस ज्ञान-सूर्य के उदय के साथ प्रभु-उपासन से **प्राणश्च मे**=मुझे प्राणशक्ति प्राप्त हो। **अश्वमेधः च मे**=(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) मैं अपने प्राणों से राष्ट्र की सेवा करनेवाला बनूँ। ४. राष्ट्र की सेवा के लिए **पृथिवी च मे**=(प्रथ विस्तारे) मुझे विस्तृतशक्तियोंवाला शरीर प्राप्त हो। **अदितिः च मे**=मेरे इस शरीर में अखण्डन हो, मेरे स्वास्थ्य की किसी प्रकार से हानि न हो। ५. **दितिः च मे**=मुझमें वासना-विनाश के लिए खण्डनशक्ति हो और **द्यौः च मे**=वासना-विनाश से मेरे जीवन में प्रकाश की ज्योति हो (दिव्=प्रकाश) ६. इस प्रकार की ज्योति से मेरी **अङ्गुलयः**=(अगि गतौ) कर्मों में सदा व्याप्त रहनेवाली अंगुलियाँ सचमुच **शक्वरयः**=शक्तिशाली हों। मेरी इन अंगुलियों के कर्मों का निर्देश करनेवाली **दिशः च मे**=दिशाएँ मेरी हों, अर्थात् इन प्राच्यादि दिशाओं से बोध लेनेवाला मैं बनूँ। 'प्राची' दिशा मुझे यह बोध दे कि मैं भी 'आगे बढ़ूँ' (प्र अञ्च्)। 'अवाची' दिशा का मुझे यह बोध हो कि मैं आगे बढ़कर भी विनीत बना रहूँ (अव अञ्च)। 'प्रतीची' दिशा मुझे प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने का पाठ पढ़ाए और अन्त में 'उदीची' से मैं उन्नत होने का पाठ पढ़ूँ (उद् अञ्च्)। इन दिशाओं के निर्देशों के अनुसार ही मेरी अंगुलियाँ निरन्तर कार्यों को करनेवाली बनें। ये सबकी सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझमें आगे बढ़ने का उत्साह हो, उससे मैं शक्तिसम्पन्न बना रहूँ। मुझमें प्रभु-उपासन हो, उससे मुझमें ज्ञान के सूर्य का उदय हो। मुझमें प्राणशक्ति हो और वह राष्ट्र-सेवा में लगे। मेरे शरीर की शक्तियों का विस्तार हो और वहाँ रोगजनित खण्डन न हों। वासनाओं का खण्डन करके मैं ज्ञान के प्रकाशवाला बनूँ। उस ज्ञान के अनुसार क्रिया में व्यापृत होऊँ। मेरी अंगुलियाँ शक्तिशाली बनें और वे अपने कार्यों का निर्देश प्राची आदि दिशाओं से लें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**कालविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

व्रत+रथन्तर

व्रतं च मऽऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रेऽऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२३॥

१. **व्रतं च मे**=मेरा जीवन व्रतवाला हो। वस्तुतः अव्रती जीवन तो कोई जीवन ही नहीं है। **ऋतवः च मे**=मेरे जीवन में वसन्त आदि ऋतुएँ हों। उन ऋतुओं की भाँति मेरे जीवन में सब कार्य ठीक समय पर होनेवाले हों। २. सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाला बनने के लिए ही **तपः च मे**=मेरे जीवन में तप हो। मैं आराम-पसन्दगी में न चला जाऊँ। इस तपस्या के द्वारा **संवत्सरः च मे**=संवत्सर मेरा हो। (संवसन्ति यस्मिन्), अर्थात् मेरा सम्पूर्ण वर्ष उत्तम क्रियाओं में ही निवासवाला हो। ३. **अहोरात्रे**=मेरे दिन और रात **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न हों। मेरा 'अहः (दिन)' सचमुच 'अ+हन्' हो, मेरा नाश करनेवाला न हो तथा रात्रि मेरे लिए सचमुच 'रमयित्री' हो। ४. **ऊर्वष्ठीवे**=(ऊरू च अष्ठीवन्तौ च) मेरे ऊरू और ऊरूपर्व अर्थात् अष्ठीवन्तौ (घुटने) प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बनें। (अर्यते आभ्याम् अह गतौ) मेरे ऊरू सदा गतिवाले हों। 'ऊर्वोरोजः' इस वैदिक प्रार्थना के अनुसार मेरे ऊरुओं में ओज हो और उस ओज के कारण मेरे ऊरू मुझे शक्तिशाली व क्रियाशील बनाये रक्खें। साथ ही मेरे घुटने 'अष्ठीवन्तौ'= **अतिशयितामस्थि यस्य**=उत्तम अस्थिवाले हों। उनमें सार हो। वे कार्य-बोझ को उठा सकनेवाले हों। ५. इस प्रकार के ऊरू व अष्ठीवन्तों के द्वारा **बृहद्रथन्तरे च मे**=मेरे जीवन में निरन्तर (बृहि वृद्धौ) वृद्धि हो तथा मैं **रथन्तरे**=शरीररूप रथ से इस जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं व्रती, ऋतुओं के अनुसार नियमित जीवनवाला, तपस्वी, सम्पूर्ण वर्ष उत्तम निवासवाला, उत्तम दिन-रात्रिवाला, उत्तम जंघाओं व घुटनोंवाला, वृद्धिशील तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विषमाङ्कगणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**संकृतिः**[क], **विराट्संकृतिः**[र]। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेतीस देवता

[क]एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ [र]एकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳशच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२४॥

१. **एका च मे तिस्रः च मे**=एक देवता को मैं अपनानेवाला बनूँ और एक देवता को अपनाने के द्वारा तीनों देवताओं को मैं अपनानेवाला बनूँ। वस्तुतः गुणों का यह स्वभाव है कि एक गुण को अपने अन्दर धारण करने से अन्य गुणों को मैं अपने में धारण करनेवाला

बनता हूँ। गुणों की एक शृंखला है। उस शृंखला की एक कड़ी को पकड़कर अपनी ओर आकृष्ट करेंगे तो शृंखला-की-शृंखला हमारी ओर खिंची चली आएगी। २. **तिस्रः च मे पञ्च च मे**=तीन देवताओं को मैं धारण करता हूँ और इससे पाँच देवताओं का धारण करनेवाला बनता हूँ। ३. **पञ्च च मे सप्त च मे**=पाँच दिव्य गुणों को धारण करता हुआ मैं सात दिव्य गुणों को अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **सप्त च मे नव च मे**=सात के धारण से नौ का धारण होता है। ५. **नव च म एकादश च मे**=नौ मेरे होते हैं, और इससे ग्यारह-के-ग्यारह पृथिवीस्थ देव मेरे हो जाते हैं। अध्यात्म में पृथिवी यह शरीर है। इस शरीर के 'पुरमेकादश द्वारम्' इन उपनिषत् शब्दों में वर्णित सभी ग्यारह द्वारों के अधिष्ठातृ देव मुझमें अपना-अपना स्थान ठीक रूप में ग्रहण करते हैं।

६. **एकादश च मे त्रयोदश च मे**=मेरे शरीर के ग्यारह देवों के ठीक स्थान ग्रहण करने पर हृदयान्तरिक्ष के बारहवें व तेरहवें देव भी मेरे होते हैं। ७. **त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे**=तेरह देव मेरे होते हैं और पन्द्रह देवों को मैं ग्रहण करता हूँ। ८. **पञ्चदश च मे सप्तदश च मे**=पन्द्रह मेरे होते हैं और उससे मैं सतरह को अपनाता हूँ। ९. **सप्तदश च मे नवदश च मे**=सतरह देवों को मैं अपनाता हूँ और उससे उन्नीस देव मेरे होते हैं। १०. **नवदश च मे एकविंशतिः च मे**=उन्नीस देव मेरे होते हैं, और उससे इक्कीस देवों को मैं अपनानेवाला होता हूँ। ११. **एकविंशतिः च मे त्रयोविंशतिः च मे**=इक्कीस देव मेरे होते हैं और उससे तेईस देवों को मैं अपनाता हूँ। १२. हृदयान्तरिक्ष के देवों के साथ मस्तिष्करूप द्युलोक के देव भी मेरे होते हैं **त्रयोविंशतिः च मे पञ्चविंशतिः च मे**=तेईस को अपनाकर पच्चीस को मैं अपनाता हूँ। १३. **पञ्चविंशतिः च मे सप्तविंशः च मे**=पच्चीस तो मेरे होते ही हैं मैं अपने में सताईस का धारण करता हूँ। १४. **सप्तविंशतिः च मे नव विंशतिः च मे**=सताईस मेरे होते हैं और उनसे उन्तीस भी मेरे हो जाते हैं। १५. **नवविंशतिः च मे एकत्रिंशत् च मे**=उन्तीस मेरे होते हैं और इकतीस को मैं अपना लेता हूँ और अन्त में १६. **एकत्रिंशत् च मे त्रयस्त्रिशत् च मे**=इकतीस देव तो मेरे होते ही हैं, मैं तेंतीस-के-तेंतीस देवों को अपनानेवाला बनता हूँ। ये सब देव **यज्ञेन**=प्रभु के उपासन से **कल्पन्ताम्**=मुझे प्राप्त हों। अथवा प्रभु से सम्पर्क के निमित्त मुझे समर्थ करें।

भावार्थ—तेतीस देवों का अपनाना ही मेरा प्रभु-स्तवन होता है। ये ही मेरे स्तोम हो जाते हैं और शतपथ ९।३।३।२ के '**एतद्यजमाना सर्वान् कामानाप्त्वा युग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति**' इन शब्दों के अनुसार मैं इन 'एक, तीन, पाँच व सात' आदि के क्रम से विषम संख्याओं में चलनेवाले स्तोमों से इस लोक में सब वाञ्छनीय पदार्थों को प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**समाङ्कगणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**[क], **आकृतिः**[र]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदित्य ब्रह्मचारी (अड़तालीस वर्ष)

[क]चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे [र]चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ २५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तेतीस-के-तेतीस देवों को अपनाकर मैं **अदितिः**=अदीना देवमाता का सच्चा पुत्र 'आदित्य' बनूँ। इस आदित्य ब्रह्मचारी की प्रार्थना है कि **चतस्रः च मे अष्टौ च मे**=मेरे चार वर्ष व चार के साथ आठ वर्ष **यज्ञेन**=देवपूजा के हेतु से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों। ये मुझमें अधिकाधिक दिव्यता व शक्ति भरनेवाले हों। २. **अष्टौ च मे द्वादश च मे**=मेरे आठ वर्ष सुन्दर हों और बारह वर्ष भी देवगुणों के निर्माण से सुन्दर बनें। ३. **द्वादश च मे षोडश च मे**=मेरे बारह वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और सोलह वर्ष भी यज्ञों से सम्पन्न हों। ४. इसी प्रकार **षोडश च मे विंशतिः च मे**=मेरे सोलह वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बीस वर्ष भी इसी प्रकार उत्तम हों। ५. **विंशतिः च मे चतुर्विंशतिः च मे**=मेरे बीस वर्ष तो गुणों का आदान करनेवाले हों ही, २४ वर्ष भी गुणों का ग्रहण करते हुए मुझे **वसु**=उत्तम वसुओंवाला बनाएँ। ६. **चतुर्विंशतिः च मे अष्टाविंशतिः च मे**=मेरे चौबीस वर्ष तो यज्ञ से सम्पन्न हों ही, अट्ठाईस वर्ष भी यज्ञ से शक्तिशाली बनें ७. **अष्टाविंशतिः च मे द्वात्रिंशत् च मे**=मेरे अट्ठाईस वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बत्तीस वर्ष भी शक्तिसम्पन्न हों। ८. **द्वात्रिंशत् च मे षट्त्रिंशत् च मे**=मेरे बत्तीस वर्ष यज्ञ के द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा छत्तीस वर्ष भी यज्ञ से सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ९. **षट्त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे**=जहाँ मेरे छत्तीस वर्ष यज्ञ से समर्थ बनें और मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन पाऊँ, वहाँ मेरे चालीस वर्ष भी यज्ञ से मुझे सम्पन्न करें। १०. **चत्वारिंशत् च मे चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चालीस वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और चवालीस वर्षों को मैं यज्ञों से शक्तिसम्पन्न कर पाऊँ और ११. अन्त में **चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चवालीस वर्ष बड़े उत्तम हों तथा **अष्टाचत्वारिंशत् च मे**=मेरे अड़तालीस वर्ष **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=प्रभु के सामर्थ्य से सम्पन्न हों और इस प्रकार मैं आदित्य ब्रह्मचारी बनूँ।

भावार्थ—२४ वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं 'वसु' बनूँ। छत्तीस वर्षों को यज्ञ से क्लृप्त करके मैं 'रुद्र' बनूँ और अड़तालीस वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं आदित्य बन जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुविद्याविदात्मा**। छन्दः—**ब्राह्मीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

त्र्यवि+तुर्यौही (गौ)

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२६॥

१. मन्त्र संख्या २४ तथा २५ में ३३ देवों के धारण व अड़तालीस वर्षों तक गुणों व शक्ति का आदान करते हुए 'आदित्य' बनने का उल्लेख था। यह सब तभी सम्भव है जब हमारी वृत्ति सात्त्विक बने। सात्त्विक वृत्ति बनने का सम्भव 'आहार की शुद्धि' पर है और यह सर्वोत्तम सात्त्विक व पूर्ण भोजन 'गोदुग्ध' ही है, अतः उस गोदुग्ध का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**त्र्यविः च मे**=(अविः=षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य) डेढ़ साल का वृष-बैल मेरा हो **त्र्यवी च मे**=डेढ़ साल की गौ मुझे प्राप्त हो। २. **दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे**=द्विसंवत्सर (दो साल का) बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार दो साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाएँ। ३. **पञ्चाविः च मे पञ्चावी च मे**=ढाई साल का बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार ढाई साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु से समर्थ करे। ४. **त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे**=(वत्सः=वत्सरः) तीन साल का बैल मेरा हो और तीन साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ५. **तुर्यवाट् च मे**

तुर्यौही च मे=(तुर्यं वर्षं वहति इति) साढ़े तीन साल का बैल मुझे प्राप्त हो और साढ़े तीन साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित्त **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हमारे पास डेढ़ साल की उमर से साढ़े तीन साल तक की उमर के बैल व गाएँ हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुपालनविद्याविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पष्ठवाट्-धेनु

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मऽउक्षा च मे वशा च मऽऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२७॥

१. (पष्ठं=वर्षचतुष्कं वहति इति) **पष्ठवाट् च मे**=चार साल का बैल मेरा हो **पष्ठौही च मे**=और इसी प्रकार चार साला गौ मुझे प्राप्त हो। २. **उक्षा च मे**=वीर्य-सेचन में समर्थ बैल मुझे प्राप्त हो **वशा च म**=वन्ध्या गौ भी मेरे पास रहे। ३. **ऋषभः च मे**=अति युवा वृषभ मेरे पास हो और **वेहत् च मे**=गर्भधारिनी गौ भी मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ४. **अनड्वान् च मे**=शकट—वहनक्षम बैल मुझे प्राप्त हो और **धेनुः च मे**=नवप्रसूता गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न बनाये। ५. वस्तुतः गौ के सम्पर्क के बिना मनुष्य अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। ऋषियों के आश्रम गौवों पर आधारित थे। कन्यादान से पहले गोदान का होना इस बात का संकेत करता है कि घर के उत्तम निर्माण का सम्भव गौ पर ही स्थित है। इन गौओं के साथ बैलों का होना आवश्यक है। गौ के बिना बैल नहीं, बैल के बिना गौ नहीं। सब प्रकार के गौ-बैलों का सम्भव कृषिप्रधान जीवन में ही सम्भव है, अतः वेद में कृषि को उत्तम स्थान दिया गया है—'**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**'=कृषि-अतिरिक्त कार्यों को जुआ ही कहा गया है। इस कृषि में ही गाएँ हैं 'तत्र गावः'। यहीं उत्तम घर का निर्माण होता है। मैं इन गौ-बैलोंवाला होऊँ और उन गौवें के द्वारा यज्ञनामक प्रभु का वर्णन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—गोरक्षा द्वारा गोदुग्ध को अपना मुख्य भोजन बनाकर मैं सात्त्विक बनूँ, दिव्य गुणोंवाला बनूँ। आदित्य बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**संग्रामादिविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**[क], **आर्चीबृहती**[र]।
स्वरः—**पञ्चमः**[क], **मध्यमः**[र]॥

नामग्राह होम

[क]वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। [र]इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय ॥२८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में वाजादि शब्दों से चैत्रादि मासों का उल्लेख करके कहते हैं कि उस-उस मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं—(क) **वाजाय**=चैत्र मास के लिए (वाजः अन्नम्) अन्न के प्राचुर्य के कारण चैत्र मास अन्नरूप है, उसके लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ख) **प्रसवाय**=प्रकृष्ट 'सव' अर्थात् स्नानवाले इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं, अर्थात् इस मास को यज्ञों में बिताते हैं। (ग) **अपिजाय**=(अप्सु जायते जलक्रीडारतत्वात् ज्येष्ठः) जो मास जल-क्रीड़ादि में ही बीतता है उस ज्येष्ठ मास

के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (घ) **क्रतवे स्वाहा**=चातुर्मास्यादि यागों के प्राचुर्य के कारण आषाढ़ मास 'क्रतु' है, उस क्रतु के लिए हम उत्तम आहुति देते हैं। (ङ) चातुर्मास्य में यात्रादि निषेद्य के कारण श्रावण 'वसु' है, घर में ही निवास करानेवाला है। इस **वसवे स्वाहा**=श्रावण मास के लिए हम आहुति देते हैं। (च) (तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम्) **अहर्पतयेऽस्वाहा**=मैं भाद्रपद मास के लिए आहुति देता हूँ। (छ) (तुषारादिना मोहरूपत्वं आश्विनः) **अह्ने मुग्धाय स्वाहा**=ओस आदि के कारण जिसमें स्पष्ट नहीं दीखता उस मुग्ध दिनोंवाले आश्विन मास के लिए मैं आहुति देता हूँ। (ज) **अमुग्धाय**=जिसमें अब ओस आदि न गिरने के कारण दिङ्मोह नहीं होता ऐसे **वैनंशिनाय**=थोड़ी घड़ियाँ होने से विनाशशील दिनोंवाले कार्तिक मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं (झ) **अविनंशिने**= विनाश न होने देनेवाले **आन्त्यायनाय**=उस प्रभु के समीप पहुँचानेवाले (अन्तेभवः आन्त्यः च अयनं च) जो सबके अन्त में रहनेवाले तथा सबके अयन हैं, उस मार्गशीर्ष मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** इस वाक्य में मार्गशीर्ष मास को प्रभु की विभूति माना गया है। (ञ) **आन्त्याय**=जिसमें छोटे दिनों का अन्त आ जाता है उस **भौवनाय**=जाठराग्नि की वृद्धि से प्राणियों के हितकर पौष मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ट) **भुवनस्य पतये स्वाहा**=प्राणियों के पालक माघ मास के लिए आहुति देता हूँ। (ठ) अन्त में **अधिपतये स्वाहा**=आधिक्येन रक्षक इस फाल्गुन मास के लिए आहुति देता हूँ और इस प्रकार **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापतिरूप इस संवत्सर के लिए आहुति देता हूँ, अर्थात् मेरा वर्ष यज्ञमय बीतता है। २. इस प्रकार जहाँ सारा वर्ष यज्ञ चलता है वहाँ **इयं ते राट्**=यह तेरा ही राज्य है। प्रभु के साम्राज्य में यज्ञ चलते हैं अथवा जहाँ यज्ञ हैं, वहाँ प्रभु का राज्य है। ३. **मित्राय यन्तासि**=मुझ यज्ञशील अपने मित्र के लिए तू इस शरीर-रूप रथ का सारथि है। मेरे जीवन-रथ को चलानेवाला है। ४. **यमनः**=तू अन्तर्यामिरूपेण सबका नियमन करनेवाला है। ५. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**= बल और प्राणशक्ति की प्राप्ति के लिए उपासित करता हूँ। **वृष्टयै त्वा**=मैं इसलिए आपकी उपासना करता हूँ कि आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ। **त्वा**=आपका उपासक इसलिए बनता हूँ कि **प्रजानां आधिपत्याय**=प्रजाओं का मैं आधिक्येन रक्षण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा सम्पूर्ण वर्ष यज्ञमय बीते। मैं प्रभु का उपासक बनकर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करूँ, आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ तथा प्रजाओं का अधिपति बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वाराड्विकृतिः**[क] **ब्राह्म्युष्णिक्**[र]।
स्वरः—**मध्यमः**[क], **ऋषभः**[र]॥

यज्ञेन कल्पताम्

[क]आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳪं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳪं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। [र]स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥२९॥

१. गतमन्त्र में संवत्सर के बारह-के-बारह मासों को यज्ञमय बनाने का वर्णन था उसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **आयुः**=मेरा सारा जीवन **यज्ञेन**=(यज्ञनिमित्तेन) यज्ञ के

हेतु **कल्पताम्**=सिद्ध हो। (कल्पताम् साध्यताम् प्राप्यताम्—म०)। इसी प्रकार २. **प्राणः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो। मैं अपनी सम्पूर्ण प्राणशक्ति का प्रयोग यज्ञ के लिए करूँ। ३. जीवन और प्राण को यज्ञ के लिए सिद्ध करनेवाला मैं यही चाहता हूँ कि **चक्षुः श्रोत्रं वाग्यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी आँख, मेरे कान तथा मेरी वाणी—ये सब यज्ञ के लिए सिद्ध हों। सवितादेव की कृपा से मेरी ये सब इन्द्रियाँ यज्ञात्मक शुभ कर्मों में लगी रहें। ४. **मनो यज्ञेन कल्पताम्**=सब इन्द्रियाश्वों के लिए लगामरूप यह मन भी यज्ञ के लिए अर्पित हो। मन की कृपा से **आत्मा यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह देही (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः) यज्ञिय बन जाए। ५. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्**=चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' मैं अपने को यज्ञ के निमित्त सिद्ध करूँ। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनकर भी मैं यज्ञ-निवृत्त न हो जाऊँ। अपितु ज्ञानी बनकर मैं और अधिक लोकहितात्मक कर्मों में प्रवृत्त होऊँ। **ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह अन्तःप्रकाश यज्ञों के लिए सिद्ध हो। मैं अपने अन्दर उस प्रभु के प्रकाश को देखकर पूर्णरूप से ही 'यज्ञ' बन जाऊँ, इस यज्ञ से ही मैं उस यज्ञ (प्रभु) को उपासित करूँगा। ६. **स्वर्यज्ञेन कल्पताम्**=(स्वरिति व्यानः, व्यानः सर्वशरीरगः) मेरा सर्वशरीर व्यापी व्यानवायु यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो, अर्थात् मेरी एक-एक चेष्टा यज्ञ के लिए हो। ७. **पृष्ठं** (पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्) मेरा सारा प्रभु-स्तवन या सुखमय स्थिति यज्ञ के लिए हो। यज्ञ को ही मैं प्रभु-स्तवन समझूँ और यज्ञ को ही स्वर्ग जानूँ—यज्ञ में आनन्द लूँ। ८. लोकहित के लिए स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर किये गये कर्म 'यज्ञ' हैं। **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरे यज्ञ भी यज्ञ के लिए सिद्ध हों। यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए मुझे किसी प्रकार की फलेच्छा न हो। ९. **स्तोमश्च**=(स्तुवन्ति यस्मिन् सोऽथर्ववेदः—द०) **यजुः च**=(यजति येन स यजुर्वेदः—द०) **ऋक् च साम च**=मेरे ये अथर्व, यजुः, ऋक् व साम नामक सब वेद यज्ञ के निमित्त सिद्ध हों। इस प्रकार **बृहत् च**=मेरा वर्धन-ही-वर्धन हो। **रथन्तरं च**=मैं इस शरीररूप रथ से इस भव-सागर को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ११. हे **देवाः**=सब देवो! आपकी कृपा से, वस्तुतः आपको अपने अन्दर धारण करने से **स्वः अगन्म**=हम उस 'स्वयं राजमान' (स्व-र) ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें। **अमृताः अभूम**=मृत्युरूप रोगों से कभी आक्रान्त न हों। १२. इस प्रकार **प्रजापतेः प्रजाः अभूम**=प्रभु की प्रजा बनें। प्रभु की प्रजा बनकर **वेट्** (सत् क्रियया—द०) सत् क्रिया के द्वारा **स्वाहा**=हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। वस्तुतः अपने सत्कर्मों से ही हम प्रभु का अर्चन करनेवाले होगें।

भावार्थ—यहाँ २९वें मन्त्र पर ११५ कर्म (वाज मेरा हो? प्रसव मेरा हो आदि) समाप्त होते हैं। जिस वाज से इन वाक्यों का प्रारम्भ हुआ था उसी वाज का उपयोग अगले मन्त्र में कहते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राज्यवानात्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

शक्ति के ऐश्वर्य में

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥३०॥

१. **वाजस्य नु प्रसवे**=शक्ति के ऐश्वर्य में, अर्थात् शक्तिसम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा शक्ति व ऐश्वर्य का सम्पादन करते हुए **मातरं महीम्**=इस अपनी भूमिमाता को **वचसा**=वचन के द्वारा, अर्थात् प्रतिज्ञा करके **अदितिम्**=अखण्डित, शत्रुओं से अपराभूत **नाम**=सार्थक

नामवाला **करामहे**=करते हैं। वस्तुतः वैदिक संस्कृति में अब भी विवाह-संस्कार के समय युवक व युवति व्रत लेते हैं कि हम अपने राष्ट्र को हारने नहीं देगें। व्रत का नाम ही 'जयाहोम' है। हम राष्ट्र की विजय के लिए आहुति देते हैं। २. यह हमारी मातृभूमि वह है **यस्याम्**=जिसमें **इदं विश्वं भुवनम्**=ये सब लोक **आविवेश**=समन्तात् प्रवेश करता है, यहाँ किसी का आना निषिद्ध नहीं। जो भी यहाँ आकर रहना चाहे सभी के लिए यहाँ स्थान है। ३. हमारी तो यही इच्छा है कि **तस्याम्**=उस मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका उत्पादक देव **नः**=हममें **धर्म**=धर्म को **साविषत्**=उत्पन्न करे। हमारी मनोवृत्ति अधर्म की ओर न झुके। हमारे हृदयक्षेत्र में सद् गुणों के बीज का प्रभुकृपा से वपन हो।

भावार्थ—१. हम शक्तिसम्पन्न बनें, उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले बनें। शक्ति के द्वारा यदि हम मातृभूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करें तो ऐश्वर्यवृद्धि द्वारा इसे आर्थिक पराधीनता से भी मुक्त करें। हम मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए वचनबद्ध हों। २. हमारी मातृभूमि सभी का स्वागत करनेवाली हो। ३. इसमें रहते हुए प्रभुकृपा से हम धर्म की प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्रविणं-वाजः

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे॥३१॥

१. पिछले मन्त्र के व्रत को पूरा करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **अवसागमन्तु**=हमें प्राप्त हों। प्राण-साधना के द्वारा हम अपनी शक्ति व ऐश्वर्य-प्राप्ति-क्षमता की साधना करें। २. **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=रक्षण के हेतु **आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। ३. हमारे जीवन में **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**=दीप्त हों। हमारे शरीर में जाठराग्नि के द्वारा शक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो, हमारे हृदय में स्नेह की अग्नि का तथा हमारे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव हो। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **आगमन्तु**=प्राप्त हों और ५. उन देवों की कृपा से **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन तथा **वाजः**=शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—देवों की कृपा व रक्षण से हमें शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्त हो। इस शक्ति व ऐश्वर्य के द्वारा हम अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का साधन करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नवान् विद्वान्**। छन्दः—**निचृदार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजः

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु॥३२॥

१. **नः**=हमारा **वाजः**=बल **सप्त प्रदिशः**=सात प्रकृष्ट दिशाओं को 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व भूः-भुवः-स्वः' इन सात लोकों में रहनेवाले प्राणियों को **वा**=तथा **चतस्रः**=चार **परावतः**=दूरस्थ लोकों 'महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामवाले लोकों में रहने वालों को **अवतु**=रक्षित करनेवाला हो। मेरी शक्ति सदा सभी की रक्षा में विनियुक्त हो। २. 'वाजः' का अर्थ 'अन्न' भी होता है। मेरा अन्न केवल मेरा ही पोषण करनेवाला न हो। मैं 'केवलादी' 'बनकर' 'केवलाघ' न हो जाऊँ। अग्निहोत्र द्वारा मैं इस आहुति को सूर्य तक पहुँचाकर सभी लोकों में रहनेवाले प्राणियों को उसमें भागी करूँ। ३. **नः**=हमारी **वाजः**=यह

शक्ति व अन्न **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **धनसातौ**=धन की प्राप्ति होने पर **इह**=इस मानव–जीवन में **अवतु**=सभी को प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी शक्ति व धन 'सातों लोकों व चारों दिशाओं को तृप्तकरनेवाले हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दान-दिव्यता-वीरता-विजय

वाजो॑ नोऽअ॒द्य प्रसु॑वाति॒ दान॒ं वाजो॑ दे॒वाँ२॥ऽऋ॒तुभि॑: कल्पयाति।
वाजो॒ हि मा॒ सर्व॑वीरं ज॒जान॒ विश्वा॒ऽआशा॒ वाज॑पतिर्जयेयम्॥३३॥

१. **वाजः**=शक्ति **नः**=हममें **अद्य**=आज **दानम्**=दान को **प्रसुवाति**=(प्रेरयेत्) प्रेरित करे। शक्तिशाली व्यक्ति कृपणता को कायरता समझता है, इसलिए वह देता है, लेने से वह मरना अच्छा समझता है। २. **वाजः**=यह शक्ति **ऋतुभिः**=नियमित–व्यवस्थित गति द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **कल्पयाति**=सिद्ध करती है। शक्ति के कारण हममें दिव्य गुणों का विकास होता है। वर्च (Virtue) वीरत्व ही तो है और अवीरता ही ईवल (evil) है। ३. **वाजः**=यह शक्ति **हि**=निश्चय से **मा**=मुझे **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर–ही–वीर बनाती हैं। मैं दान देने में वीर बनता हूँ, इन्द्रियों के संयम में वीर बनता हूँ, माता–पिता, आचार्य की सेवा में वीर बनता हूँ तथा स्वाध्याय में भी शूर बनता हूँ। ४. **वाजपतिः**=इस शक्ति का पति बनकर **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **जयेयम्**=मैं जीतनेवाला बनूँ। मैं कहीं पराजित न होऊँ। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है' इन आचार्य दयानन्द के शब्दों के अनुसार इस वाज के द्वारा मैं सर्वत्र विजयी बनूँ।

भावार्थ—वाज के द्वारा शक्ति के परिणामस्वरूप मुझमें दान की वृत्ति हो, सब दिव्य गुणों का मुझमें विकास हो। मैं वीर बनूँ और विजयी होऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सर्व-दिग्विजय

वाज॑: पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नो॒ वाजो॑ दे॒वान् ह॒विषा॑ वर्द्धयाति।
वाजो॒ हि मा॒ सर्व॑वीरं च॒कार॒ सर्वा॒ऽआशा॒ वाज॑पतिर्भवेयम्॥३४॥

१. **वाजः**=यह शक्ति **नः पुरस्तात्**=हमें आगे ले–चलनेवाली हो। शक्ति के कारण मैं निरन्तर उन्नति करता चलूँ। **उत**=और यह शक्ति **नः**=हमें **मध्यतः**=मध्य मार्ग से ले–चलनेवाली हो। अशक्त पुरुष ही अति में चलता है। क्षीण व्यक्ति शीघ्र क्रुद्ध हो उठता है। २. **वाजः**=शक्ति **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति के द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **वर्द्धयाति**=बढ़ाती है। सारे आसुर दुर्गुण अयज्ञिय भावना व लोभ के ही परिणाम हैं। यज्ञशेष खाने से मुझमें लोभ की वृत्ति समाप्त होकर अच्छे गुणों का निरन्तर विकास होगा। ३. **वाजः**=यह शक्ति **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर–ही–वीर **चकार**=कर देती है। मुझमें कायरता का किसी भी रूप में निवास नहीं होता। ४. **वाजपतिः**=शक्ति का पति बनकर मैं **सर्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **भवेयम्**=प्राप्त करूँ (भू प्राप्तौ)—वशीभूत करूँ। मेरी सर्वत्र विजय–ही–विजय हो।

भावार्थ—मैं शक्ति से आगे बढ़ूँ, मध्य मार्ग में चलूँ। मुझमें त्याग के कारण सब दिव्य गुणों का विकास हो। मैं वीर बन जाऊँ और सर्वदिग्विजय करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अप् ओषधि

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाजꣳसनेयमग्ने ॥३५॥

१. मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के—पृथिवीरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के **पयसा**=आप्यायन (ओप्यायी वृद्धौ) से अथवा (पयः=रस) रस से **मा**=मुझे **सं सृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, युक्त करता हूँ। मैं अपने सब अङ्गों को शक्तिशाली बनाता हूँ। २. इसी उद्देश्य से मैं **मा**=मुझे, अर्थात् अपने को **अद्भिः**=जलों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सं सृजामि**=संयुक्त करता हूँ, अर्थात् जलों व ओषधियों का प्रयोग करता हूँ। जल और ओषधियों के प्रयोग से सात्त्विक सोमशक्ति को प्राप्त करता हुआ मैं अपने सब अङ्गों का आप्यापन करनेवाला बनता हूँ। ३. **सः अहम्**=वह मैं **अग्ने**=उन्नति-साधक प्रभो! **वाजम्**=शक्ति को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। मैं शक्ति से सना हुआ हो जाऊँ। मेरे सब अङ्गों में शक्ति का सञ्चार हो जाए।

भावार्थ—हम सम्पूर्ण शरीर का आप्यायन करें। जलों व ओषधियों का प्रयोग करें और एक-एक अङ्ग को शक्ति से युक्त बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आप्यायन

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥३६॥

१. मेरे लिए **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पयः**=आप्यायन हो। **ओषधीषु**=पृथिवी से उत्पन्न इन ओषधियों में आप्यायनकारी रस हो। २. **पयः दिवि**=इस द्युलोक में भी सूर्यरश्मियों के द्वारा मेरे लिए आप्यायन व वर्धन हो। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **अन्तरिक्षे**=मेघों के आधारभूत अन्तरिक्ष में भी **पयः धाः**=आप्यायन का धारण कीजिए। यह अन्तरिक्षलोक भी मेरे लिए आप्यायन करनेवाला हो। वृष्टि के द्वारा यह उत्तम ओषधियों को प्राप्त कराके मेरे सब अङ्गों में रस का सञ्चार करे। ४. इस प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट दिशाएँ **पयस्वतीः सन्तु**=आप्यायनवाली हों। मेरा सारा वातावरण ही आप्यायन से परिपूर्ण हो। यह सब विश्व मेरे साथ शान्ति में हो और इस प्रकार मेरे वर्धन का कारण बने।

भावार्थ—पृथिवी, ओषधियाँ, द्युलोक, अन्तरिक्ष व सब प्रकृष्ट दिशाएँ मेरा आप्यायन करनेवाली हों। अब इस आप्यायन ही आप्यायनवाले व्यक्ति का राज्याभिषेक करते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सम्राड् राजा**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

साम्राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥३७॥

१. **देवस्य सवितुः**=सब-कुछ देनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के इस **प्रसवे**=उत्पन्न जगत् में अथवा प्रभु की प्रेरणा में **त्वा**=तुझे **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तेरा राज्याभिषेक करता हूँ, अथवा गतमन्त्र में वर्णित आप्यायनकारी रस से तुझे सिक्त करता हूँ और निम्न बातों से तुझे युक्त करता हूँ—२. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से तू

सदा प्रयत्नशील होता है, तेरे प्राणापान तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाते हैं, अथवा **अश्विनोः**=सूर्य-चन्द्रमा के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति तू सदा क्रियाशील होता है। **स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**=वेद का यही तो उपदेश है कि हम सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से कल्याण के मार्ग का आक्रमण करें। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से। 'पूषा' पोषण की देवता है, हाथों का काम ग्रहण करना है। तू सदा पोषण के लिए ही उस-उस वस्तु का ग्रहण करता है। तेरे आहार का मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद'। ४. **सरस्वत्यै (सरस्वत्याः) वाचः**=सरस्वती की वाणी से, तेरी वाणी 'विद्या की अधिदेवता' की वाणी होती है। तू वाणी से विद्या का ग्रहण करनेवाला व ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। ५. **यन्तुः यन्त्रेणा**=नियन्ता के नियन्त्रण से। तू बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला बनता है। ६. और अन्त में **अग्नेः साम्राज्येन**=अग्नि के साम्राज्य से। आगे बढ़नेवाले, उन्नति करनेवाले पुरुष के साम्राज्य से—पूर्ण इन्द्रिय-विजय से, तू जितेन्द्रिय बनता है। वस्तुतः इस जितेन्द्रियता में ही सारी उन्नतियों का रहस्य निहित है। इसी से तू आगे बढ़ता है और अपना सम्राट् बनकर प्रजाओं का भी सम्राट् बन पाता है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापपितुं प्रजाः'**, जितेन्द्रिय पुरुष ही सब प्रजाओं को वश में स्थापित करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु-प्रेरणा में चलें (प्रसवे), प्राणापान के प्रयत्न से आवश्यक सामग्री का अर्जन करें, पोषण के लिए ही वस्तुओं का ग्रहण करें। हमारी वाणी विद्या के लिए हो। इन्द्रियादि के हम नियन्ता बनें और यह नियन्त्रित्व, जितेन्द्रियता, आधिपत्य, साम्राज्य हमें अग्नि बनाये, हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**ऋतुविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऋताषाट् ऋतधामा

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३८॥

१. गतमन्त्र में 'अभिषिक्त करने' का उल्लेख है। यह अभिषिक्त—सिंहासनारूढ़ हुआ व्यक्ति **ऋताषाट्**=(ऋतं सत्यं सहते, असत्ये कुपितो भवतीत्यर्थः) अपने राष्ट्र में सत्य व्यवहार को ही सहन करता है, असत्य को नहीं। राष्ट्र में से असत्य के उन्मूलन के लिए ही उसका राज्याभिषेक हुआ है। २. इस असत्य के उन्मूलन के लिए यह पहले अपने जीवन में से असत्य का उन्मूलन करता है। असत्य का उन्मूलन करके यह **ऋतधामा**=स्वयं ऋत का धाम बनता है। अपने जीवन में से अनृत को दूर करता है तभी ३. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रेणी बन पाता है। स्वयं अवनत राजा प्रजा को उन्नत नहीं कर सकता। स्वयं ऋत का धाम बनकर अग्नि की भाँति यह राष्ट्र के सब मलों को भस्म करनेवाला होता है। ४. और **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है अथवा (गां भूमिम्) राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस 'ऋताषाड्' के **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग **ओषधयः**=(उष दाहे) प्रजाओं में से दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोषों का दहन करके ही वे **मुदः नाम**=मुद् नामवाले होते हैं (मोदन्ते जना याभिः) सारी प्रजा का अनुरञ्जन—मोद करनेवाले होते हैं। ६. **सः**=ऐसा—इस प्रकार के अप्सरोंवाला यह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व शक्ति को **पातु**=रक्षित करे। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजा को मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला बनाए तथा

शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ व सबल बनाए। आदर्श मनुष्य वे ही हैं जिनके मस्तिष्क व शरीर दोनों उन्नत हैं। ७. इस राजा के लिए **स्वाहा**=(स्व+हा) हम धन का त्याग करते हैं, अर्थात् उचित कर आदि देते हैं, परन्तु उस कर-प्राप्त धन को यह राजा **वाट्** (वहति प्रजां प्रापयति)=प्रजाओं के लिए ही फिर से प्राप्त करानेवाला होता है। ८. **ताभ्यः स्वाहा**=उन प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्षों के लिए भी हम (स्वाहा=स्व-हा) अपने सुख आदि का त्याग करते हैं, अर्थात् जब वे राष्ट्रीय कार्य से हमारे बीच में उपस्थित होते हैं तब हम उन्हें अधिक-से-अधिक सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—राजा 'ऋताषाट्, ऋतधामा, अग्नि व गन्धर्व' हो। उसके अध्यक्ष 'ओषधि व मुद्' हों। ये प्रजा के ब्रह्म व क्षत्र की रक्षा करें। प्रजाएँ राजा को कर दें। राजा उस कर का प्रजाहित में ही विनियोग करे। प्रजाएँ अप्सरों को कार्य में सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

संहितः विश्वसामा

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३९॥

१. **संहितः**=(सन्दधाति) यह सम्राट् अपनी प्रजाओं में अधिक-से-अधिक मेल पैदा करता है। इसके राष्ट्र में वर्ण, जाति व धर्म के नाम पर लोग परस्पर लड़ते नहीं रहते। २. **विश्वसामा**=(विश्वानि सर्वाणि सामानि यस्य) यह सम्राट् सम्पूर्ण सामोंवाला होता है, प्रजा-सान्त्वन के उपायोंवाला होता है। ३. **सूर्यः**=इसी उद्देश्य से निरन्तर गतिवाला (सरति) तथा सूर्य के समान अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला होता है। प्रजाओं के अन्धकार को दूर करके ही यह उनमें मेल व शान्ति की स्थापना करता है। ४. इस प्रकाश के फैलाने के लिए यह 'गन्धर्वः' वेदवाणी का धारण करनेवाला होता है और वेदवाणी के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष (अप्सर) भी **मरीचयः**=सूर्य-किरणों के समान ही (म्रियते तमो यैः) अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं, प्रजा में शिक्षा का विस्तार करते हैं और इस प्रकार **आयुवः नाम**='आयुवः' नामवाले होते हैं (आसमन्तात् युवन्ति) सारी प्रजाओं में गुणों का सम्पर्क व अवगुणों का पार्थक्य करनेवाले होते हैं ६. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमारे **ब्रह्म क्षत्रम्**=ज्ञान व बल की **पातु**=रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=उस कर को वह प्रजाहित के लिए ही प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=हम उन अध्यक्षों के लिए भी अपने सुख को छोड़कर उन्हें कार्य में सुविधा प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा प्रजा में मेल पैदा करे। सम्पूर्ण शान्ति के साधनों का प्रयोग करे। सूर्य की भाँति गतिशील व अन्धकार-विनाशक हो। राष्ट्र का धारण करे। इसके अध्यक्ष भी तेज के ही त्रसरेणु हों—प्रजा में से अवगुणों को दूर करके गुणों का स्थापन करनेवाले हों। यह राजा हमारे ज्ञान व बल की रक्षा करे। इसे हम कर दें। यह कर का विनियोग प्रजाहित के लिए करे। हम अध्यक्षों के लिए अपने आराम को छोड़नेवाले होकर उन्हें सहायता दें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**चन्द्रमाः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४०॥

१. यह सम्राट् **सुषुम्णः**=(शोभनं सुम्णं यस्य) उत्तम स्तोमोंवाला तथा प्रजा को उत्तम सुख पहुँचानेवाला होता है। वस्तुतः प्रजारञ्जनात्मक स्वधर्म से ही यह प्रभु का स्तवन करता है २. **सूर्यरश्मिः**=प्रभु के उपासन से यह सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है ३. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे, चन्दति चन्दयति वा) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता है और सारी प्रजा को आनन्दित करने का प्रयत्न करता है ५. **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है और उस वेद के अनुसार राष्ट्र का भी धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग (अप्सु सरन्ति) **नक्षत्राणि**=(नक्षन्ते त्रायन्ते) सदा गतिशील होते हैं और प्रजा का रक्षण करते हैं। इस प्रजा के रक्षणात्मक कार्य के लिए ही **भेकुरयः नाम**=(भाकुरयः) प्रजा के अन्दर प्रकाश फैलानेवाले होते हैं, अतः इनका नाम ही 'भेकुरि' हो जाता है। सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाले होकर ये प्रजा के अज्ञानान्धकार को क्यों न दूर करेंगे? ६. **सः**=वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदम्**=इस **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **क्षत्रम्**=बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=कररूप धन **हा**=देनेवाले हों। ८. **वाट्**=राजा उस कर को प्रजाहित में विनियुक्त करता हुआ उसे फिर से प्रजा को प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उस राजा के अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम का त्याग करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा को उत्तम राज्य-व्यवस्था के द्वारा आनन्दित करता हुआ सच्चा प्रभु-स्तवन करता है। सूर्य के समान ज्ञानरश्मियों को चारों ओर फैलाता है। स्वयं आनन्दमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ प्रजा को आनन्दित करता है। वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करता है। उसके अध्यक्ष लोग भी गतिशील, प्रजा-रक्षक व प्रकाश को चारों ओर फैलानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**स्वराड्विकृतिः**[क], **ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

इषिरो विश्वव्यचाः

इ॒षि॒रो वि॒श्वव्य॑चा॒ वातो॑ गन्ध॒र्वस्तस्यापो॑ऽअप्स॒रस॒ऽऊर्जो॒ नाम॑।
स न॑ऽइ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑॥४१॥

१. यह सम्राट् **इषिरः**=(क्षिप्रः इष गतौ) शीघ्रता से गतिवाला होता है। अपने सब कार्यों को निरालस्यता से करनेवाला होता है। २. **विश्वव्यचा**=(विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्य) सारे राष्ट्र में निरीक्षण के लिए जानेवाला होता है। ३. **वातः**=वायु के समान निरन्तर गतिवाला होता है। गति के द्वारा सारी बुराइयों का उच्छेदन करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=इस गतिशीलता से वेदज्ञान का धारण करनेवाला बनता है और उस वेदज्ञान के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग भी **आपः**=(आप् व्याप्तौ) जलों की भाँति व्यापक व शान्त गतिवाले होते हैं **ऊर्जः नाम**=ये प्रजा के बल व प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ६. **सः**= वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=ज्ञान व बल को बढ़ाए। ७. **तस्मै स्वाहा**=उसके लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=राजा उस कर को फिर से प्रजाओं का पालन करने के लिए प्राप्त कराता है। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक बनें।

भावार्थ—राजा गतिशील, क्रियाशील हो। अध्यक्ष क्रियाशील हों। प्रजा को भी क्रियाशील बनाकर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुज्युः सुपर्णः

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरस स्तावा नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४२॥

१. सम्राट् का पहला कर्त्तव्य **भुज्युः** शब्द से सूचित हो रहा है। 'भोजयते' यह सबके भोजन की व्यवस्था करनेवाला होता है। आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये क्षुधाया अवसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूख से अवसन्न न हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में कभी अकाल की स्थिति न हो। २. यह **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला है। यह सम्राट् राष्ट्र का रक्षण करता है और न्यूनताओं को दूर करता है। ३. **यज्ञः**=(यज् संगतिकरण) यह प्रजाओं के साथ मेल करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=यह राजा वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष **दक्षिणा**=अपने कार्यों में बड़े चतुर (Dexterous) होते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति को समझते हुए बड़ी कुशलता से, प्रजा-कार्यों के साधक होते हैं, अतएव **स्तावा नाम** (स्तूयन्ते)=प्रजाओं से प्रशंसित होकर 'स्तावा' नामवाले होते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=इस ज्ञान व बल की रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। ८. वह राजा **वाट्**=प्रजाहित के लिए ही इस धन का विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने स्वार्थ को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई भूखा न मरे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजा के जीवन में न्यूनताएँ उत्पन्न न हों। अध्यक्ष कुशलता से कार्य करें। इतनी कुशलता से कि वे प्रजा में प्रशंसित हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वकर्मा**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापतिः विश्वकर्मा

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४३॥

१. सम्राट् का कर्त्तव्य एक शब्द में यह है कि वह **प्रजापतिः**=प्रजा का पालक हो। प्रजा-रक्षा के उद्देश्य से ही राजा ने उस-उस कार्य को करना है। २. **विश्वकर्मा**=यह राजा सब कार्यों को करनेवाला हो। यह किसी कार्य को छोटा न समझे। ३. **मनः**=यह राजा अत्यन्त मननशील हो और सदा विचारपूर्वक ही कार्यों को करनेवाला हो। विशेषकर 'कानून बनाना व दण्ड देना' ये दो कार्य तो अत्यधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं। ४. यह विचारशील राजा **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और उसके अनुसार इस राष्ट्रभूमि का धारण करे। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग **ऋक्सामानि**=विज्ञान (ऋक्) व उपासना-(साम)-वाले हों। 'ऋक्' शब्द उनके ज्ञान व क्रिया का संकेत करता है और 'साम' श्रद्धा का सूचक है। इस विद्या व श्रद्धा के द्वारा **एष्टयः नाम**=(आ समन्तात् इष्टयो येषाम्) ये सदा यज्ञोंवाले होते हैं, उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अध्यक्ष लोगों के जीवन में ज्ञान, श्रद्धा व कर्म का सुन्दर समन्वय होता है। ये मस्तिष्क, हृदय व हाथों—सबकी शक्ति का विकास करते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के

लिए हम **स्वः**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। वह राजा **वाट्**=इस धन को फिर प्रजा को ही प्राप्त करानेवाला हो, प्रजाहित के लिए ही उसका विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए हम स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राजा अपना मूल कर्म 'प्रजा-रक्षण' समझे। वह स्वयं सब कर्मों को करता हुआ प्रजा में श्रम के आदर को बढ़ाए।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुवनपति-प्रजापति

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य तऽउपरि गृहा यस्य वेह।

अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा ॥४४॥

१. **भुवनस्य पते**=घरों के स्वामिन् तथा **प्रजापते**=उन घरों में रहनेवाली प्रजाओं के रक्षक ! (क) यहाँ 'भुवनस्य पते' यह सम्बोधन स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सब घरों का स्वामी सम्राट् ही है। राजा ने सारी प्रजा को रहने के लिए उचित घर प्राप्त कराना है। राजा इस बात का ध्यान करे कि किसी को भी सड़क के किनारे न सोना पड़े। (ख) राजा घर देता है, घर में रहनेवालों की चोर आदि से रक्षा करता है। राष्ट्र में चोर-डाकुओं के भय से प्रजा की नींद नष्ट नहीं हो जाती है। २. **सः**=वह तू **यस्य ते**=जिस तेरे **उपरि गृहाः**=ऊपर भी घर हैं और **यस्य वा इह**=जिसके यहाँ भी घर हैं, अर्थात् जिस तूने पर्वतों पर भी घरों का निर्माण किया है और यहाँ मैदानों में भी घरों का निर्माण किया है, ऐसा तू **नः**=हमारे लिए **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा **अस्मै क्षत्राय**=इस बल के संवर्धन के लिए **महि**=महनीय, प्रशंसनीय **शर्म**=घर (शर्म=House) **यच्छ**=दे। राजा प्रजा को इस प्रकार के घर प्राप्त कराए, जो घर स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर होकर बल की वृद्धि का कारण बनें। उन घरों के अन्दर स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हों। जिन घरों में सूर्य-किरणों का पर्याप्त प्रवेश नहीं होता वे न स्वास्थ्य के लिए उत्तम होते हैं, न ही ज्ञानवर्धक कार्यों के लिए अनुकूल होते हैं। ३. हे राजन्! ऐसे तेरे लिए **स्वाहा**=हम सब प्रजाएँ कर देनेवाली हों और तू भी **स्वाहा**=प्रजाओं के हित के लिए अपने सब स्वार्थों व सुखों की आहुति दे देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा प्रत्येक प्रजावर्ग को स्वास्थ्य व वृद्धि के दृष्टिकोण से उत्तम घर प्राप्त करानेवाला हो।

सूचना—**'यस्य ते उपरि गृहा वेह'** इस मन्त्रभाग की यह भी भावना है कि जिस तेरा परलोक व इहलोक दोनों ही स्थानों में घर है। प्रजा का हित करनेवाला राजा इहलोक में भी प्रशंसित होता है और परलोक में भी स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला होता है। ऐसे राजा के राज्य में रहते हुए लोग 'सुख का निर्माण' करते हैं, अतः 'शुनःशेप' नामवाले होते हैं। इनके विषय में ही अगले नौ मन्त्रों में (४५ से ५३) हम अध्ययन करेंगे—

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की ओर

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥४५॥

१. गतमन्त्रों की भावना के अनुसार अपने ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला व्यक्ति अपने जीवन को कैसा बनाता है? प्रभु प्रेरणा करते हैं कि **समुद्रः असि**=(स-मुद्) तू सदा प्रसन्नता के साथ रहता है। तेरा जीवन आनन्दमय होता है। सांसारिक सुख-दु:खों में, ज्ञान के कारण समवृत्तिवाला होकर तू अपने मन:प्रसाद को नष्ट नहीं होने देता। २. **नभस्वान्**=(क) (नभस्वान्=Both the worlds, Heaven and Earth) इस मानस प्रसाद व शारीरिक स्वास्थ्य के कारण ही जीवन को सुन्दर बनाकर तू उभय लोककल्याण को सिद्ध करता है। इस लोक के अभ्युदय व परलोक के नि:श्रेयसवाला होता है। (ख) नभस्वान् (नभ्=to kill) तू नभस्वाला होता है, अर्थात् तू बुराई को मूल में ही समाप्त करनेवाला होता है (Nip the evil in the bud) ३. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके तू अपने जीवन में अच्छाइयों को पनपानेवाला **आर्द्रदानुः**=(आर्द्रं ददाति इति) सदा औरों के प्रति दयार्द्र हृदय को प्राप्त करानेवाला होता है। तेरे जीवन में 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' रूप अत्यन्त कोमल गुणों का विकास व प्रकाश हो उठता है। अब तू ४. **शम्भूः**=ऐहिक सुख की भावना करनेवाला (शम्भू ऐहिकं सुखं भावयति प्रापयति) होता है तथा साथ ही **मयोभूः**=(पारलौकिकं सुखं भावयति) परलोक के सुख का भी साधन करता है। ५. ऐसा तू **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ। इसके लिए **स्वाहा**=तुझे स्व का त्याग करना होगा, अर्थात् प्रभु को वही प्राप्त करता है जो (क) प्रसन्न मनवाला (ख) अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला तथा बुराइयों को समाप्त करके (ग) मैत्री, करुणा, मुदिता, व उपेक्षा आदि आर्द्र (प्रीतिपूर्ण) गुणों को समाज में प्राप्त करानेवाला होता है तथा जो (घ) शान्ति व कल्याण के भावन के लिए प्रयत्नशील होता है। ६. **मारुतः असि**=(मरुतः=मनुष्याः) तू सदा मनुष्यों का हित करनेवाला है, तेरा कोई भी कार्य प्रजा-पीड़न के लिए नहीं होता और **मरुतां गणः**=(मरुतः=प्राणाः) प्राणों का तू गण=पुञ्ज बनता है। प्राणपुञ्ज बनकर ही तो लोकहित-साधन सम्भव होता है। प्राणपुञ्ज बनकर तू ७. **शम्भूः मयोभूः**=ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण को सिद्ध करता है, ऐसा तू **मा अभि वाहि**=मेरी ओर आ। **स्वाहा**=स्वार्थ को समाप्त कर और मुझे पा। प्रभु को वही पाता है जो मानवहित के लिए अपने को खपा देता है। इस हित के लिए ही प्राण-साधना करके सशक्त बना रहता है। ८. **अवस्यूः असि**=(अवः सीव्यति इति अवस्यूः) तू अपने जीवन में रक्षण-तन्तु का सन्तान करनेवाला है। तू कभी अपने को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ९. **दुवस्वान्**=वासनाओं से रक्षण के लिए ही तू (दुवः=परिचरण) प्रभु की परिचर्यावाला होता है। प्रभु का उत्तमता से उपासन करता हुआ तू वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। १०. ऐसा तू **शम्भूः मयोभूः**=शान्ति व कल्याण को उत्पन्न करता हुआ **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ और इसके लिए **स्वाहा**=स्व को समाप्त कर दे। अपने को मेरे प्रति अर्पण कर दे।

भावार्थ—सुख प्रभु-प्राप्ति में है। प्रभु-प्राप्ति 'समुद्र-नभस्वान्-आर्द्रदान्-मारुत-मरुतां गण-अवस्यू-दुवस्वान् व शम्भू तथा मयोभू को ही होती है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

रुचे जनाय

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥४६॥

१. शुन:शेप प्रभु की गतमन्त्र की प्रेरणा को सुनकर प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हम

सबको उन्नत करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, जो दीप्तियाँ **दिवमातन्वन्ति**=प्रकाश को चारों ओर विस्तृत करती हैं, **ताभिः सर्वाभीः रश्मिभिः**=उन सब प्रकाश की किरणों से **नः**=हमें **रुचे**=दीप्ति व प्रीति के लिए तथा **जनाय**=(जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास के लिए **कृधि**=कीजिए। २. (क) हमारा ज्ञान सूर्य की दीप्तियों के समान हो। (ख) यह ज्ञान हममें परस्पर प्रीति पैदा करनेवाला हो। वेद के शब्दों में ज्ञान तो है ही वह जो परस्पर संज्ञान व ऐकमत्य को पैदा करता है तथा हमारी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। जिसको प्राप्त करके हम परस्पर लड़ने लगते हैं, वह ज्ञान न होकर 'अज्ञान' है।

भावार्थ—(क) सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्त हो। (ख) हम इस ज्ञान से परस्पर प्रीतिवाले हों और (ग) यह ज्ञान हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्राग्नी+बृहस्पति

या वो॑ देवा॒ः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुच॑ः।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भी॒ रुच॑ नो धत्त बृहस्पते॥४७॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों से द्योतमान देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) हे सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभो! आपकी कृपा से ये सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे जीवन में इस प्रकार समन्वित हों कि हम दीप्त ज्ञानवाले बनें। सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्तिवाला हो। २. हे **देवाः**=देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **गोषु**=गौवों में व ज्ञानेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **अग्ने**=हे अग्नि के समान प्रकाशमान प्रभो! सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से सब देव हमें इन गौओं के सात्त्विक दुग्ध से सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनाइए। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाली हों। ३. हे **देवाः**=हे देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **अश्वेषु**=घोड़ों में-कर्मेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ है, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण कीजिए। हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो ! आपकी कृपा से मैं अश्वादि वाहनों का भ्रमण में यथोचित प्रयोग करता हुआ अपने में इस प्रकार शक्ति का वर्धन करूँ कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ सदा दीप्तिमय कर्मों को करनेवाली हों। निरन्तर क्रियाशीलता से मेरी कर्मेन्द्रियाँ दीप्त रहें।

भावार्थ—(क) बृहस्पति मुझे सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त करे। (ख) अग्नि की कृपा से मैं उत्तम गौवों के सात्त्विक दुग्ध-प्रयोग से ज्ञान-ग्रहण-पटु ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। (ग) इन्द्र के अनुग्रह से मैं अश्वों द्वारा उचित व्यायाम करता हुआ अपनी कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाऊँ। मेरे सब कार्य शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ब्रह्म+क्षत्रिय+विट्+शूद्र

रुच॑ नो धेहि ब्राह्म॒णेषु॒ रुच॒ꣳराज॑सु नस्कृधि।
रुचं॒ विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के 'देवाः' पद को ही यहाँ अनुवृत्त करके प्रार्थना इस रूप में है कि हे **देवाः**=सब देवो ! आप **नः**=हमारे राष्ट्र के **ब्राह्मणेषु**=ब्रह्मज्ञान के देनेवाले सब विद्वानों में **रुचम्**=ज्ञान की दीप्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। एक-एक देव हमारे ब्राह्मणों को ज्ञान से दीप्त करनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **राजसु**=रक्षणात्मक कर्मों से प्रजा का रञ्जन करनेवाले क्षत्रियों में **रुचम्**=बल की दीप्ति को **कृधि**=कीजिए। आपकी कृपा से हमारे क्षत्रिय दीप्त बलवाले होकर प्रजा रक्षणात्मक कार्यों से प्रजा का अनुरञ्जन करते हुए सचमुच 'राजा' इस अन्वर्थक नामवाले हों। ३. हे सब देवो! आप **विश्येषु**=हमारे सब वैश्यों में **रुचम्**=धन की दीप्ति को धारण कीजिए। ये सदा सुपथ से 'स्व' (धन) का संचय करते हुए स्वराष्ट्र को सम्पन्न व सुखी बनानेवाले हों। ४. हे देवो! आप **शूद्रेषु**=(शू द्रवति) शीघ्रता से कार्यों में द्रुत होनेवाले हमारे इन शूद्रों में **रुचम्**=श्रमजनित दीप्ति को धारण कीजिए। आपकी कृपा से ये सदा अनसूया (प्रसन्नता) से श्रम करनेवाले हों। अपने श्रम से ये ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के कार्यों की पूर्ति में सहायक हों। ५. हे प्रभो! आप कृपया **मयि**=मुझमें **रुचा**=इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' की दीप्तियों से **रुचम्**=दीप्ति **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हममें ब्राह्मणों की ज्ञान दीप्ति हो। हम क्षत्रियों के बल को धारण करें, वैश्यों की सुसम्पत्तिवाले हों। शूद्रों के श्रम को हम मान देनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आयु का अप्रमोषण

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।

अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा नऽआयुः प्रमोषीः॥४९॥

१. शुनःशेप प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ब्रह्मणा वन्दमानः**=ज्ञान से स्तुति करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=नष्ट होने दीजिए। २. **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाला—स्वभावतः यज्ञ करनेवाला **हविर्भिः**=आहुतियों के द्वारा सदा दानपूर्वक अदन करते हुए—यज्ञशेष का सेवन करते हुए **तत् आशास्ते**=यही चाहता है कि हे **वरुण**=हमारी सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (**वारयति इति वरुणः, वरुणः**=श्रेष्ठ) **उरुशंस**=महान् स्तुतिवाले प्रभो ! **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए **इह**=इस मानव-जीवन में **बोधि**=हमें (बुध्यस्व) बोधयुक्त कीजिए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो और आप **नः आयुः मा प्रमोषीः**=हमारे आयुष्य को व्यर्थ न होने दीजिए। ३. वस्तुतः आयुष्य की सार्थकता इसी में है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें (ब्राह्मण) (ख) प्रभु का वन्दन करनेवाले हों तथा (ग) यज्ञशील बनें (यजमानः) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का समन्वय ही जीवन को सुन्दर बनाता है। 'मस्तिष्क, हाथ व हृदय' तीनों का विकास जीवन को अव्यर्थ करता है।

भावार्थ—जो अपने में ज्ञान, उपासना व कर्म का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता वह अपने जीवन को व्यर्थ में ही नष्ट करता है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

जीवन की सार्थकता

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा॥५०॥

१. गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी कि हे प्रभो! हमारे जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव से जीवन को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें कहते हैं— **स्वः न घर्मः**=सूर्य की भाँति तू गरमीवाला हो (स्वः=स्वयं राजमानज्योति, अर्थात् सूर्य) तुझमें प्राणों की उष्णता हो। प्राणशक्ति की वृद्धि से तेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। **स्वाहा**=इस शक्ति की उष्णता प्राप्त करने के लिए तू 'स्व' का **हा**=त्याग करनेवाला बन। सुख व आराम को छोड़कर तप की अग्नि में अपने को आहुत कर। २. **स्वः न**=सूर्य की भाँति। जैसे सूर्य निरन्तर अपने कार्य में लगा हुआ है उसी प्रकार तू भी अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ-हुआ **अर्कः**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला बन। तेरे इस प्राणमयकोश में सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य सुन्दरता से करती हुई उस प्रभु की पूजा करनेवाली हों। **स्वाहा**=तू अपने इन इन्द्रियों को **स्व**=अपने-अपने कार्य में **हा**=आहुत करनेवाला बन। ये अपने-अपने कार्य में लगी रहें, आराम न करने लग जाएँ। ३. **स्वः न**=सूर्य की भाँति ही **शुक्रः**=(शुच दीप्तौ) तू अपने मनोमयकोष में अत्यन्त निर्मल बन। सब मैलों को दूर भगाकर पवित्र हो जा। **स्वाहा**=तू अपने सब मलों को भस्म कर दे। ४. अब अपने विज्ञानमयकोष में **स्वः न**=इस चमकते हुए सूर्य की भाँति **ज्योतिः**=तू ज्योतिर्मय हो। ज्ञान को बढ़ाकर सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। **स्वाहा**=इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सब सुखों को त्यागनेवाला हो। सुखों को त्यागकर ही तू ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ५. अन्त में **स्वः न**=इस देदीप्यमान सूर्य की भाँति **सूर्यः**=तू भी सूर्य बन। 'सू प्रसवैश्वर्ययोः' सूर्य उत्पादन व ऐश्वर्य की देवता है। तू भी उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य का वर्धन करता हुआ आनन्द को प्राप्त कर। आनन्द का रहस्य निर्माण द्वारा ऐश्वर्य-वृद्धि में ही है। जीवन की सफलता की यही चरमसीमा है।

भावार्थ—(१) प्राणशक्ति की सफलता, (२) इन्द्रियों की रचनाकार्यवृत्ति, (३) मन की शुचिता, (४) मस्तिष्क की ज्योति तथा (५) उत्पादन द्वारा ऐश्वर्य वृद्धि—जीवन की सार्थकता इन्हीं पाँच बातों में है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'ब्रध्न विष्टपगमन'

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳसुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥५१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ शुनःशेप निश्चय करता है कि मैं **अग्निम्**=सारे ब्रह्माण्ड के अग्रेणी प्रभु को **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु की उपासना करनेवाला बनता हूँ। २. प्रभु की उपासना मैं **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिः गतिकर्मा) उत्पन्न बल से (शवः=बलम्) करता हूँ। मैं क्रियाशील बनता हूँ, क्रियाशीलता से मुझमें शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्ति से मैं प्रभु की पूजा कर पाता हूँ। ३. **घृतेन**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) सब प्रकार के मलों के क्षरण से उत्पन्न हुई-हुई दीप्ति से

मैं उस प्रभु को अपने साथ जोड़ता हूँ। वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति के मूलसाधन यही हैं कि हम (क) तेजस्वी बनें तथा (ख) निर्मल व दीप्त मनवाले हों। ४. इस नैर्मल्य व दीप्ति से मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो **दिव्यम्**=(दिवि भवः) सदा प्रकाश में स्थित हैं। (द्युषु शुद्धेषु भवः) शुद्ध अन्तःकरणवालों में ही जिनका प्रकाश दीखता है। ५. जो प्रभु **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु ने हमारे पालन की कितनी सुन्दर व्यवस्था की है! वे प्रभु सदा उत्तम प्रेरणा देते हुए हमारी न्यूनताओं को दूर कर रहे हैं। ६. **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस जगत्-तन्तु के विस्तार से **बृहन्तम्**=बढ़े हुए हैं, अर्थात् इस अनन्त-से प्रतीयमान संसार का विस्तार करके वे प्रभु अपनी महिमा को बढ़ानेवाले हैं। ७. **तेन**=इस प्रभु के उपासन से **वयम्**=हम **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=महान् सूर्य के (विगतः तापो यत्र) तापशून्य सुखमय लोक को, स्वर्गलोक को **गमेम**=प्राप्त हों। ८. अब **स्वः रुहाणा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म की ओर आरोहण करते हुए **उत्तमम्**=सर्वोत्तम जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं उस **नाकम्**=(न अकं यत्र) दुःख के लवलेश से भी शून्य, आनन्दमय ज्योति, ब्रह्म को **अधिगमेम**=प्राप्त हों, अर्थात् उस ब्रह्म में विचरते हुए मोक्ष के आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—१. हम क्रियाशीलता से शक्तिसम्पन्न बनें और ईर्ष्यादि मलों को त्यागकर मन को दीप्त करें। २. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त करें और ३. (अधि) उससे भी ऊपर उठकर मोक्षसुख का अनुभव करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अजर—पक्ष

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳬं रक्षाᳬंस्यपहᳬंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५२॥

१. प्रभु शुनःशेप से कहते हैं कि **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित ज्ञान की दीप्ति और बल (घृत+शवस्), ब्रह्म और क्षत्र **ते**=तेरे **अजरौ**=कभी जीर्ण न होनेवाले **पक्षौ**=पंख है, अथवा (पक्ष परिग्रहे) ये दो तेरे अविनश्वर परिग्रह हैं। २. **पतत्रिणौ**=ये तेरे उत्पतन=ऊर्ध्वगमन, उत्थान व उन्नति के कारणभूत हैं। ३. वस्तुतः हे **अग्ने**=उन्नति व अग्रगति के साधक जीव! ये तेरे वे पंख हैं, परिग्रह हैं **याभ्याम्**=जिनसे **रक्षांसि**=सब राक्षसी वृत्तियों को **अपहंसि**=तू दूर विनष्ट कर देता है। ज्ञान और बल के साथ बुराइयों का निवास नहीं है। सब मल अन्धकार व अज्ञान में पनपते हैं और सब विकार निर्बल को ही सतानेवाले हैं। ४. **ताभ्याम्**=इन ज्ञान और बल से हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **लोकम्**=लोक को **पतेम**=जाएँ। ५. उन लोकों में जाएँ **यत्र**=जहाँ **जग्मुः**=जाते हैं, कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, जिनके मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हैं। (ख) **प्रथमजाः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत प्रादुर्भाववाले। जिनके हृदय अत्यन्त विस्तार व विकासयुक्त हैं। तंगदिली ने जिनकी सब उन्नतियों को समाप्त नहीं कर दिया है। (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) जो शरीर में बहुत पहले से होते हुए भी, अर्थात् बड़े दीर्घायुष्य को प्राप्त हुए भी, ९० व १०० साल में पहुँचकर भी नवीन से ही प्रतीत होते हैं, जिनमें बुढ़ापे के निशान प्रकट नहीं होते, इस प्रकार के सनत्कुमार लोग ही पुण्यशालियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में बल को धारण करके राक्षसीवृत्तियों से दूर

होते हुए ऊपर उठते हुए उन लोकों को प्राप्त करें, जिनको पुण्यशील, तत्त्वज्ञानी ऋषि, विशाल-हृदय मुनि तथा पूर्ण स्वस्थ दीर्घजीवी पुण्यात्मा प्राप्त किया करते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीपंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोने के पंखवाला पक्षी='हिरण्यपक्ष शकुन'

इन्दुर्दक्षः श्येनऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुवऽआ निषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥५३॥

१. छियालीसवें मन्त्र से प्रारम्भ करके प्रस्तुत मन्त्र में शुनःशेप के जीवन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह शुनःशेप **इन्दुः**=(इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यवाला होता है। पिछले मन्त्र के अनुसार ज्ञान और बल—ये इसके अक्षयकोष होते हैं और इन्हीं कोषों से वस्तुतः ये **इन्दुः**=चन्द्रमा की भाँति सभी को आह्लादित करनेवाला होता है। **२. दक्षः**=अपने जीवन में सदा उत्साहवाला—दक्षता से कार्यों को करनेवाला होता है। ३. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) श्येन की भाँति यह अत्यन्त प्रशंसनीय गतिवाला होता है। ४. क्रियाशीलता के द्वारा ही यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का अवन=रक्षण करता है। अनृत इसके जीवन में नहीं पनप पाता है। ५. **हिरण्यपक्षः**=हितरमणीय ज्योति का यह परिग्रह करनेवाला होता है। (पक्ष परिग्रहम्) अथवा ज्ञान ही इसके पंख होते हैं उनसे यह आकाश में ऊपर उठता है, उन्नति करनेवाला होता है। ६. **शकुनः**=(शक्नोति) यह शक्तिशाली होता है। ज्ञान के साथ शक्ति की साधना करता है। ७. अपनी इस शक्ति से यह **भुरण्युः**=(बिभर्ति) सबका भरण करता है। शक्ति की साधना करता है। शक्ति का विनियोग कभी भी उत्पीड़न में नहीं करता। ८. **महान्**= हृदय में यह विशाल होता है। ९. विशाल हृदय बनकर **सधस्थे**=परमेश्वर के साथ एक स्थान में स्थित होने के स्थान हृदय में **ध्रुवः**=स्थिर होकर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध करके **आ निषत्तः**=सर्वथा स्थित होता है। १०. **नमस्ते अस्तु**=मेरे हृदय में स्थित तेरे लिए नमस्कार हो **मा मा हिंसीः**=हे प्रभो! आप मुझे हिंसित मत होने दीजिए। आपकी कृपा से मेरा जीवन अहिंसित हो। व्यर्थ जीवनवाला न होकर मैं अपने जीवन में उन्नति करता हुआ आप तक पहुँचनेवाला बनूँ और इस प्रकार सुखमय लोक का निर्माण करूँ।

भावार्थ—मैं 'इन्दु, दक्ष, श्येन, ऋतावा, हिरण्यपक्षः, शकुन, भुरण्युः व महान्' बनकर चित्तवृत्ति को ध्रुव करता हुआ हृदय में प्रभु के साथ स्थित होऊँ। प्रभु का दर्शन करता हुआ प्रभु के प्रति नतमस्तक होऊँ और इस प्रकार अपने जीवन को चरितार्थ करूँ। अव्यर्थ जीवनवाला मैं वास्तविक सुख का निर्माण करूँ।

सूचना—प्रभु के साथ स्थित होनेवाला यह शुनःशेप निरन्तर प्रभु की ओर चलता है। प्रभु की ओर चलने से यह 'गच्छति इति गाः', 'गाः' कहलाता है। निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ यह प्रभु का ही छोटा रूप बनता है, अतः 'लवः' होता है। इस प्रकार यह 'गालव' बनता है। गालव का जीवन निम्न मन्त्र में वर्णित हुआ है—

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

'गालव' का जीवन

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम्।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे॥५४॥

१. हे प्रभु की ओर चलनेवाले और प्रभु का ही छोटा रूप बननेवाले 'गालव'! तू

दिवः मूर्द्धा असि=प्रकाश का शिखर है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे स्थान में पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. **पृथिव्याः नाभिः**=तू इस शरीर का (पृथिवी शरीरम्) बाँधनेवाला है (नह बन्धने), अर्थात् शरीर को पूर्णरूप से नियन्त्रित करता है। शरीर को वशीभूत रखता हुआ ही तो तू स्वस्थ बनता है और ज्ञान-प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त करता है। ३. **अपाम्**=जलों के तथा **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **ऊर्क्**=बल व प्राणशक्तिवाला तू होता है। जलों व ओषधियों के प्रयोग से तू अपने अन्दर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला होता है। १०० वर्ष के दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है तथा 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करके पूर्ण जीवनवाला होता है। ५. जीवन को पूर्ण बनाकर **शर्म**=तू शरण बनता है। दुःखी पुरुषों के दुःख का हरण करने के कारण उस दुःखी नरसमूह (नार) का अयन=शरण बनता हुआ तू (नारायण) हो जाता है। ६. **सप्रथाः**=तू सदा विस्तार के साथ होता है। अपने मन को कभी तंग नहीं होने देता। ७. इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू औरों के जीवन के लिए मार्गदर्शक बनता है। **पथे**=इस मार्ग बने हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो, तुझे आदर प्राप्त हो। अथवा इस प्रकार मार्ग बने हुए तेरे लिए नम्रता हो। कहीं लोगों से प्राप्त आदर के कारण तुझमें 'गर्व' न आ जाए।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति १. ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. शरीर को व्रतों के बन्धन में बाँधता है। ३. जलों व ओषधियों के प्रयोग से शक्तिशाली बनता है। ४. पूर्ण जीवनवाला बनता है। ५. दुःखी पुरुषों का शरण होता है। ६. हृदय को विशाल बनाता है। ७. लोगों के लिए आदर्श बनकर विनीत बना रहता है।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का प्रीणन

विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव॥५५॥

१. **विश्वस्य**=सबके **मूर्द्धन्**=मूर्धास्थान में, अर्थात् सबसे आगे **अधितिष्ठसि**=तू स्थित होता है, अर्थात् गुणों को ग्रहण करते हुए व्यक्तियों में तू सबसे आगे बढ़ जाता है। **'मूर्द्धनि वा सर्वलोकस्य**=सब लोकों के मस्तक पर' यही तेरे जीवन का आदर्श वाक्य होता है। २. **श्रितः**=(श्रित् सेवायाम्, श्रितमस्य अस्तीति श्रितः) तू प्रभु की उपासना को अपनानेवाला होता है। इस प्रभु-उपासन से ही तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। ३. **ते हृदयम् समुद्रे**=तेरा हृदय सदा आनन्दमय प्रभु में होता है, अर्थात् तू जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी अपने हृदय को प्रभु में ही रखता है। ४. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **अप्सु**=कर्मों में स्थापित करता है। ५. कर्मों को करता हुआ तू **अपः दत्त**=(ददासि—द०) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणशक्ति देता है (आपः=रेतः=प्राणाः) इन कर्मों से तेरे अङ्ग शक्तिशाली बनते हैं और इस प्रकार तू उन अङ्गों को प्राणशक्ति दे रहा होता है। ६. एक-एक अङ्ग को सप्राण करता हुआ तू **उदधिं भिन्त**=(भिनत्सि—द०) ज्ञान-समुद्र का विदारण करता है। विश्लेषणात्मक (analytic) विधि से अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। ७. **ततः**=अब ज्ञान को बढ़ाने के बाद (क) **दिवः**=अपने इस प्रकाशमय मस्तिष्क से (ख) **पर्जन्यात् अन्तरिक्षात्**=(परां तृप्तिं जनयति) सद्भावना व सद् व्यवहार से दूसरों की प्रकृष्ट तृप्ति को पैदा करनेवाले हृदयान्तरिक्ष से, तथा (ग) **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृतशक्तिवाले शरीर से **वृष्ट्याव**=लोगों

पर सुखों की वर्षा के द्वारा **नः**=हमें प्रीणित कर। प्रभु गालव से कहते हैं कि तू ज्ञान-सद्भावना व सत्कर्मों से लोकों के कष्टों के निवारण के द्वारा उनके जीवन को सुखी करेगा तो अपने इस व्यवहार से मुझे प्रसन्न कर रहा होगा।

भावार्थ—हम संसार में गुणों की दृष्टि से अपना स्थान प्रमुख बनाएँ। प्रभु का उपासन करें। हमारा हृदय प्रभु में हो, जीवन कर्मों में। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को हम शक्ति प्राप्त कराएँ। ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करें। दीप्त मस्तिष्क, तृप्तिप्रद हृदय व सशक्त शरीर से सभी को सुखी करते हुए हम प्रभु को आराधित करें।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

आशीर्दा यज्ञः

इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः। तस्य नऽइष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहागमेः॥५६॥

१. **भृगुभिः**=(भ्रस्ज पाके) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करके जो व्यक्ति अपने ज्ञान को परिपक्व करते हैं, उन ज्ञान-विदग्ध भृगुओं के द्वारा तथा **वसुभिः**=ज्ञान के द्वारा ही अपना उत्तम निवास बनानेवाले वसुओं के द्वारा **अशीर्दा**=हमारे सब मनोरथों को देनेवाला **यज्ञः इष्टः**=यज्ञ किया जाता है। २. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति 'भृगु' है, वही शरीर के दृष्टिकोण से 'वसु' है। यह 'भृगु-वसु' इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि इस मानव-जीवन को उत्तम बनाने का सर्वप्रमुख साधन 'यज्ञ' है। यही इस लोक व परलोक में कल्याण करनेवाला है। यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। वेद ने इसे 'आशीः-दा' शब्द से कहा है—इच्छा को देनेवाला। ३. हमारा धन इन यज्ञों में ही विनियुक्त हो। इस बुद्धि से 'गालव' प्रार्थना करता है कि हे **द्रविण**=धन! तू **तस्य**=उस **प्रीतस्य**=कमनीय, चाहने योग्य **इष्टस्य**=यज्ञ का होकर **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **नः**=हमें **आगमेः**=प्राप्त हो, अर्थात् हम धन प्राप्त करें और इस धन का विनियोग उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में करें। यह यज्ञ हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी व स्वस्थ बनकर सदा यज्ञों को करनेवाले बनें। हमारा धन यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियुक्त हो। ऐसा करने पर ही हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

हम यज्ञशील बनें

इष्टोऽअग्निराहुतः पिपर्त्तु नऽइष्टꣳहविः। स्वगेदं देवेभ्यो नमः॥५७॥

१. गालव प्रार्थना कहता है कि हमसे **अग्निः इष्टः**=यह अग्नि सदा किया जाए (यज्=संगतिकरण)। हम अग्नि को उत्तम घृत-हवि आदि पदार्थों से प्रीणित करनेवाले हों। २. **आहुतः**=हमारे द्वारा घृत-हवि आदि को प्राप्त कराया हुआ यह अग्नि **नः**=हमारा **पिपर्त्तु**=पालन व पूरण करनेवाला हो। यह आहुत अग्नि (क) वायुमण्डल की शुद्धि का साधन बनता है। (ख) यह रोगकृमियों का संहार करता है और इस प्रकार हमारे स्वास्थ्य का पालन करता है। (ग) यह अग्नि हमें सौमनस्य को देनेवाला होता है (घ) और वृष्टि के द्वारा उत्तम अन्न देकर हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता है, अतः ३. हमारे अन्दर यज्ञ की वृत्ति बनी ही रहे और **नः**=हमें **हविः**=(हु दानादनयोः) यज्ञों में धन का विनियोग करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति ही **इष्टम्**=प्रिय हो। हम सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

५. इस प्रकार **इदं स्वगा**=यह हमारा जीवन **स्व**=आत्मा की ओर **गा**=जानेवाला है। हम भौतिकता की वृत्तिवाले न बन जाएँ। हम अपने जीवन में यज्ञिय वृत्ति को अपनाकर प्रभु की ओर चलें और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के धारण के लिए **नमः**=सदा नम्रता का धारण करनेवाले हों, देवों के प्रति नतमस्तक हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर 'स्व-गा' आत्मा की ओर चलनेवाले बनें। इस आत्मा की ओर चलते हुए हम उसी के छोटे रूप बनें। 'गा' और 'लव' बनें। गालव बनकर हम दिव्य गुणों के धारण के लिए नम्र बनें। नम्रता ही दिव्य गुणों की जननी है। इन दिव्य गुणों को पैदा करके ही हम महादेव को पाएँगे।

सूचना:=महादेव की प्राप्ति के लिए देवों का अपने में निर्माण करता हुआ यह 'गालव' 'विश्वकर्मा' बन जाता है, 'विश्वकर्मा' देवशिल्पी है। अब इस विश्वकर्मा ऋषि के मन्त्र आते हैं—

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आकूत-हृत्-मनस्-चक्षु

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५८॥

यत्=जो **आकूतात्**=(मनः प्रवर्तक आत्मनो धर्म आकूतम्) मनः प्रवर्तक आत्मधर्म से—आत्मा के संकल्प से, अपने दृढ़ निश्चय से **समसुस्रोत्**=(स्रु गतौ—गति=प्राप्ति) प्राप्त होता है। **वा**=अथवा **हृदः**=हृदयस्थ श्रद्धा से **संभृतम्**=सम्यक्तया धारण किया जाता है **वा**=या **मनसः**=मनन के द्वारा पुष्ट होता है, **वा**=तथा **चक्षुषः**=प्रकृति में रचना-सौन्दर्यादि के दर्शन से संभृत होता है, अर्थात् 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, श्रद्धा-मनन व प्रकृति में प्रभु-महिमा का दर्शन'-ये सब वस्तुएँ मिलकर हमें उस प्रभु का दर्शन कराती हैं। २. **तत् अनु**=उसके अनुसार ही **प्रेत**=इस संसार में सब गति को करो, अर्थात् प्रभु की महिमा का दर्शन करते हुए ही और इस प्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए हम सब कर्मों को करनेवाले बनें। ३. ऐसा करने पर ही, अर्थात् जब हमारी सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ होंगी तब हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशीलों के **लोकम्**=लोक को प्राप्त होंगे। ४. उन लोकों को **यत्र**=जिनमें **जग्मुः**=जाते हैं। कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, ज्ञानी लोग। (ख) **प्रथमजाः**=गुणों की दृष्टि से आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले लोग, तथा (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) अत्यन्त पुराने, बड़ी उम्र के होते हुए भी जो नवीन हैं, अर्थात् जो युक्ताहार-विहारवाले तथा सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हुए कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनके मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयस्थ विशालता (प्रथमता) तथा शरीर की अजीर्णशक्तिता ही उन्हें उन उत्तम लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बनाती हैं। हम भी उन लोकों को प्राप्त करेंगे यदि प्रभुदर्शन करते हुए सब क्रियाओं को करनेवाले होंगे। इस प्रभु-दर्शन के लिए 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, हृदय की श्रद्धा, मन द्वारा मनन व चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन' ये साधन हैं। तभी हम 'विश्वकर्मा' बनते हैं—'विश्व'=सर्वव्यापक प्रभु को देखते हुए कर्म करनेवाले।

भावार्थ—'आकूत, हृदय, मन व चक्षु' हममें प्रभु के भाव का सम्भरण करें। तदनुसार हम कर्म करें और 'प्रथमजा, पुराणा, सुकृत् ऋषियों के पुण्यलोकों को प्राप्त हों।

ऋषिः—**विश्वकर्मा।** देवता—**प्रजापतिः।** छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्।** स्वरः—**धैवतः॥**

सुख का निधि 'यज्ञ'

एतꣳसंधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳस्म जानीत परमे व्योमन्॥५९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतम्**=इस यज्ञ को **सधस्थ**=मिलकर बैठने के स्थान में प्रातः-सायं उपस्थित होनेवाले **ते**=तेरे लिए **परि ददामि**=देता हूँ। वेद के अनुसार प्रत्येक घर में मुख्य कमरा 'हविर्धानम्'=अग्नि में हविर्द्रव्यों के डालने का, अर्थात् यज्ञ करने का होना चाहिए। इस 'अग्निहोत्र' का प्रातः-सायं घर में होना आवश्यक है। इस यज्ञवेदि में घर के सभी व्यक्तियों का उपस्थित होना आवश्यक है, अतः इस यज्ञवेदि को 'सधस्थ' कहा जाता है। इसमें आकर नियम से बैठनेवाले व्यक्तियों को भी यहाँ 'सधस्थ' शब्द से सम्बोधन किया गया है। प्रभु कहते हैं कि हे सधस्थ! इस यज्ञ को मैं तुझे देता हूँ। २. वस्तुतः यह यज्ञ क्या है? यह एक सर्वोत्तम निधि है **यम् शेवधिम्**=जिस सुख के कोश को **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु [मैं]-ने **आवहात्**=तेरे लिए प्राप्त कराया है। अपनी अल्पदृष्टि के कारण तू सम्भवतः यज्ञ के लाभ को न देख सके, परन्तु प्रभु जानते हैं कि यह तेरे लिए 'इष्टकामधुक्' है। तू इस यज्ञ के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण सिद्ध कर पाएगा। ३. इस यज्ञ को जीवन का अङ्ग बनाने पर तू अपने पिता प्रभु की उपासना कर रहा होता है। प्रभु-आदेश के पालन से उसका पूजन होता है। इसी बात को यहाँ मन्त्र के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ इस यज्ञशील जीवन में **यज्ञपतिः**=यज्ञों की रक्षा करनेवाला प्रभु **अन्वागन्ता**=यज्ञों के सिद्ध होने पर प्राप्त होगा। यज्ञपति प्रभु की वस्तुतः यज्ञों से ही उपासना होती है, **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. **तम्**=उस प्रभु को **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयदेश में स्थित तथा इस विस्तृत आकाश में व्याप्त हुआ-हुआ **जानीत स्म**=निश्चय से जानो। यज्ञ के द्वारा जहाँ 'वायु-शुद्धि, नीरोगता व उत्तम अन्न की प्राप्ति' होती है, वहाँ 'सौमनस्य' का भी लाभ होता है और इस उत्तम निर्मल मन में ही प्रभु का दर्शन होता है। उस निर्मल मन में प्रभु का आभास मिलने पर उसकी महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, कण-कण में प्रभु का दर्शन होने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को सृष्टि के प्रारम्भ में ही यज्ञ को प्राप्त कराया है। यह यज्ञ जीव के लिए सुख की निधि है। इसके अपनाने पर ही वह उस प्रभु को प्राप्त कर पाता है जो प्रभु सर्वत्र होते हुए प्रसाद-युक्त मन में ही देखे जाते हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा।** देवताः—**प्रजापतिः।** छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्।** स्वरः—**धैवतः॥**

देवयान-मार्गों से

एतं जानाथ परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै॥६०॥

१. हे यज्ञशील व्यक्तियो! **एतम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयदेश में तथा इस निरवधिक आकाश में सर्वत्र व्याप्त **जानाथ**=जानो। २. हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले **देवाः**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले विद्वान् पुरुषो! **अस्य**=इस सर्वत्र व्याप्त प्रभु के रूप को **विद**=जानो। यज्ञों से ही प्रभु का उपासन व दर्शन होता है। ३. **यत्**=जब मनुष्य **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों से **आगच्छात्**=चलता है और

इष्टापूर्त्ते=इष्ट और आपूर्त को **कृणवाथ**=करता है तब **अस्मै**=(क) देवयान-मार्ग पर चलनेवाले (ख) इष्ट और आपूर्त को करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **आविः**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन देवयान-मार्ग पर चलनेवाले और इष्ट तथा आपूर्त को करनेवाले व्यक्ति को ही होता है। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न निर्देश हैं-(क) प्रभु का दर्शन परम व्योमन्, अर्थात् उत्कृष्ट हृदयदेश में होगा, अतः हृदय को पवित्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है। (ख) यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव ही प्रभु को जान पाते हैं, अर्थात् यज्ञादि पवित्र कर्मों में लगे रहना प्रभु-प्राप्ति का द्वितीय उपाय है। (ग) देवयान-मार्गों से चलना, अर्थात् देवताओं के योग्य कर्म ही करना प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है और (घ) इष्ट और आपूर्त में जीवन का यापन करनेवाले के लिए प्रभु प्रकट होते हैं। हम यज्ञ करें, दान दें, लोकहित के कार्यों में धन का विनियोग करें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम हृदयाकाश को पवित्र बनाएँ, यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव बनें, देवयानमार्ग से चलें और हमारा जीवन इष्टापूर्तमय हो।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सधस्थ में स्थिति

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥६१॥

१. पिछले मन्त्र के 'इष्टापूर्त' का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=अग्नि के उद्बोधन के बिना उसमें घृत व हवि का समर्पण 'भस्मनि हुतम्' इस वाक्यांश के अनुसार व्यर्थ ही है। **प्रतिजागृहि**=तू इस कुण्ड के कोने-कोने में जाग, अर्थात् अच्छी प्रकार प्रबुद्ध हो जा। यह सम्यक् उद्बुद्ध अग्नि ही अपने में डाले गये घृत और हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैलाएगा। अप्रचण्ड अग्नि में छेदन-भेदन की शक्ति उतनी प्रबल नहीं हो सकती। २. अब अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर **त्वम्**=हे अग्ने! तू **अयं च**=और यह यजमान मिलकर **इष्टापूर्त्ते**=इष्ट और आपूर्त के कर्मों को **सं सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले बनो। यजमान घृत व हवि को अग्नि के साथ मिलाने (यज् संगतिकरण) के 'इष्ट' रूप कार्य को करे, अग्नि में इन पदार्थों की आहुति दे तथा अग्नि उन आहुत पदार्थों को अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त करके आदित्यमण्डल तक—सारे वायुमण्डल में **आ**=चारों ओर **पूर्त**=भर दे। 'इष्ट' यजमान का कार्य है, तो 'आपूर्त' अग्नि का। ३. घर के अन्दर जो 'हविर्धान'=अग्निहोत्र का कमरा है **अस्मिन् सधस्थे**=उस सधस्थ में—मिलकर बैठने के स्थान में **अधि उत्तरस्मिन्**=इस वेदिरूप सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब देव **यजमानश्च**=और स्वभावतः यज्ञशील घर का मुखिया सब मिलकर **सीदत**=बैठें। घर में अग्निहोत्र को एक सामूहिक कार्य का रूप दिया जाए। उसमें घर के सभी सभ्य उपस्थित हों। ४. यह यज्ञवेदि 'सधस्थ है सबके मिलकर बैठने की जगह है। (क) इस स्थान पर घर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर धर्मसूत्र में बद्ध होते हैं। उन सबको यह यज्ञ परस्पर स्नेह व प्रेम में बाँधनेवाला बनता है। (ख) इसलिए भी सधस्थ होना चाहिए कि प्रभु के उपासन के समय घर में केवल उपासन का ही कार्य हो, अन्य कोई कार्य न हो। ५. यह उत्तर-सर्वोत्कृष्ट स्थान है, चूँकि इस स्थान पर (क) प्रभु उपासन होता है, (ख) वायु अत्यन्त शुद्ध होती है (ग) श्वास के साथ अन्दर गये हुए सूक्ष्म औषध द्रव्य रोगों का दहन करते हुए हमें नीरोग बनाते हैं। ६. इस प्रकार यह यज्ञ हमें उन्नत करता हुआ

प्रभु की ओर ले-चलता है और क्रमशः उन्नत होते हुए हम प्रभु का ही छोटा रूप बनते हैं और मन्त्र के ऋषि 'गालव' होते हैं, प्रभु की ओर जानेवाले, उसी के छोटे रूप।

भावार्थ—उद्बुद्ध अग्नि में हम सब मिलकर यज्ञिय पदार्थों की आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**विश्वकर्माग्निर्वा**। छन्दः—**निचृदार्ष्युनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सहस्र-वहन

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववे॒दसम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में यह स्पष्ट है कि यजमान 'इष्ट' को करता है, तो अग्नि 'आपूर्त' को। अपने में पड़े हुए पदार्थों को अग्नि छोटे-छोटे कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैला देता है। श्वासवायु के साथ उन कणों को सभी व्यक्ति अपने अन्दर लेते हैं और स्वास्थ्य आदि का लाभ करते हैं। दूसरे शब्दों में अग्नि हमारा ही भरण न करके हज़ारों का भरण करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! **येन**=क्योंकि **सहस्रं वहसि**=तू हज़ारों का ही धारण करता है, इतना ही नहीं, **येन**=चूँकि यज्ञ से पर्जन्य (बादल) के द्वारा वृष्टि करके तू अन्नादि की उत्पत्ति से **सर्ववेदसम्**=सब धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है, **तेन**=इसलिए **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः**=हमें **नय**=प्राप्त करा। २. यज्ञ के दो लाभ बड़े स्पष्ट हैं (क) एक तो यज्ञ के द्वारा उस वस्तु को अकेला न खाकर मैं सहस्रों के साथ मिलकर खाता हूँ तथा (ख) यह यज्ञ उत्तम अन्नादि की उत्पत्ति से हमारी सम्पत्ति का संवर्धन करता है। ३. इन दो लाभों के अतिरिक्त वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार से नीरोगता होकर हमारा जीवन बड़ा सुखी हो जाता है। मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि इन यज्ञों के द्वारा **स्वः नय**=हमें सुख व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला हो और **देवेषु गन्तवे**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल। इस यज्ञ से हमारी स्वार्थ की वृत्ति समाप्त होती है और हम आसुरवृत्तियों से ऊपर उठकर दैवीवृत्तियों में विचरणवाले होते हैं। इन दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनकर हम 'देवश्रव' बनते हैं और दिव्य गुणों में गमन के कारण 'देववात' कहलाते हैं। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—(१) अग्निहोत्र द्वारा हम अकेले न खाकर सहस्रों का भरण करते हैं। (२) इस अग्निहोत्र से अन्नादि की उत्पत्ति के द्वारा हमें सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है। (३) वायुशुद्धि व नीरोगता से हमारा जीवन सुखी होता है, हमारा गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है। (४) स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ के उपकरण

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥६३॥

१. **इमं यज्ञं नः नय**=इस यज्ञ को हमें प्राप्त कराइए, जो यज्ञ (क) **प्रस्तरेण**=प्रस्तर से उपलक्षित है (युक्त है), स्रुक् की आधारभूत दर्भमुष्टि से युक्त है अथवा आसन से युक्त है (ख) **परिधिना**=जो परिधि से युक्त है, तीन बाहु परिमाण काष्ठों से युक्त है। सम्भवतः ये काष्ठ वेदि की बाड़ के रूप में हैं। चौथी ओर से आगमन-निर्गमनमार्ग होने से इनकी आवश्यकता नहीं है। (ग) **स्रुचा**=यह यज्ञ 'जुहू' आदि यज्ञपात्रों से युक्त है। (घ) **वेद्या**=वेदि से युक्त है। वेदि पर स्थित होकर ही इस यज्ञ का प्रणयन होता है। (ङ)

बर्हिषा=वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ के पूलकों से यह युक्त है और अन्त में (च) **ऋचा**=ऋगादि मन्त्रों से यह उपलक्षित है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही आहुतियाँ दी जाती हैं। २. **अग्ने**=हे प्रभो! **स्वः नय**=इस यज्ञ के द्वारा हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल, हमारी स्थिति दिव्य गुणों में हो। ४. प्रस्तरादि सब उपकरणों को जुटाकर यज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठकर सभी का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञ के सब उपकरणों को ठीक-ठाक करके यज्ञशील बनें और दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले बनकर घर को स्वर्ग बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दान व स्वर्ग

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्त्तं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६४॥

१. दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला 'विश्वकर्मा' प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। यह देवशिल्पी अपने में दिव्य गुणों का निर्माण करता है। यह प्रार्थना करता है कि **यत् दत्तम्**=जब हममें भार्या, पुत्र, माता, भगिनी व भगिनीपति आदि बन्धुओं के लिए उदारता-पूर्वक देने की वृत्ति होती है २. **यत् परादानम्**=और जब परोपकार के लिए दया से दीन, अन्धे आदि के लिए हम आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। (३) **यत्पूर्त्तम्**=जब हम लोकहित के लिए वापी, कूप तड़ागादि का निर्माण करते हैं ४. **याश्च दक्षिणाः**=और जब हम ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए यज्ञसम्बन्धिनी दक्षिणाओं को प्राप्त कराते हैं ५. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा का हितकारी **अग्निः**=वह सब उन्नतियों का साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=सुख में स्थापित करे तथा हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों में स्थापित करे, अर्थात् दान की वृत्ति के परिणामरूप हमारे जीवन स्वर्गतुल्य सुखी व दिव्य गुणोंवाले हों।

भावार्थ—हम 'दत्त, परादान, पूर्त्त व दक्षिणा' के रूप में दान देनेवाले हों और अपने जीवनों को सुखी व दिव्य गुणसम्पन्न बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ व स्वर्ग

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६५॥

१. **यत्र**=जब **मधोः**=मधुरादि गुणयुक्त सुगन्धित द्रव्यों की **घृतस्य च**=और घृत की **याः**=जो **धाराः**=धाराएँ हैं, वे **अनपेताः**=(न अप इताः) दूर नहीं होती, अर्थात् जहाँ यज्ञों में मधुर हविर्द्रव्यों व घृत की आहुतियाँ निरन्तर पड़ती रहती हैं २. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा—यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले देवशिल्पियों का हितकारी **अग्निः**=वह उन्नति-साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=स्वर्ग में स्थापित करे तथा **देवेषु दधत्**=दिव्य गुणों में स्थापित करे।

भावार्थ—जिस घर में निरन्तर मधुर हविर्द्रव्यों तथा घृत से यज्ञ चलते हैं, वहाँ स्वर्ग होता है, दिव्य गुणों की स्थापना होती है।

सूचना—घृत की धाराएँ अनेपत हों, अर्थात् यज्ञ निरन्तर चले। इसमें अवकाश न आ जाए। इसे जरामर्य सत्र समझा जाए। इससे तो तभी छुटकारा होगा जब हम अत्यन्त वृद्ध हो जाएँगे अथवा देह को ही त्याग देंगे।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नि-हविः

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मऽआसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥६६॥

१. पिछले दो मन्त्रों के अनुसार दान व यज्ञों से देवों को (दिव्य गुणों को) अपने में धारण करनेवाला यह 'देवश्रव' बनता है, दिव्य गुणों के कारण यज्ञवाला। दिव्य गुणों के प्रति जाने के कारण यह 'देववात' है। यह निश्चय करता है कि मैं **अग्निः अस्मि**=निरन्तर आगे ही बढ़नेवाला होता हूँ। २. **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही उत्पन्न ज्ञानवाला बनता हूँ, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही ज्ञानरुचि होने के कारण निरन्तर अध्ययन करता हुआ ज्ञानी बनता हूँ। ३. **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'घृत' होती हैं, अर्थात् 'घृ क्षरण' मलों के क्षरण से (घृ=दीप्ति) अत्यन्त दीप्तिवाली होती हैं। ४. **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है। मेरे मुख से अमृतमय मधुर वचन ही निकलें। ५. इस प्रकार ज्ञानी व मिष्टभाषी बनकर मैं **अर्कः**=उस प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। ६. **त्रिधातू**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। मेरा शरीर 'कर्मकाण्ड' को अपनाता है तो मन 'उपासना' को तथा मस्तिष्क 'ज्ञान' को। ७. मैं **रजसः विमानः**=(रजः=कर्म) कर्म का विशिष्ट मानपूर्वक करनेवाला होता हूँ। मेरी आहार-विहार व जागरण-स्वप्न आदि सभी क्रियाएँ युक्त (मपी-तुली) होती हैं। ८. **अजस्रः घर्मः**=इस युक्तचेष्टता के कारण मैं सतत अनुपक्षीण प्राणशक्ति की उष्णतावाला होता हूँ। मुझमें संयम से शक्ति की उष्णता सदा बनी रहती है। ९. **हविः नाम अस्मि**=और अन्त में मैं हवि होता हूँ, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ, (हु दानादनयोः) यज्ञशेष को खाता हूँ, प्रभु के 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश का पालन करता हूँ। वस्तुतः यह हविः मेरी सब उन्नतियों का मूल होती है।

भावार्थ—मैं 'अग्नि' बनूँ और अग्नि बनने के लिए 'हविः' होऊँ।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ऋग्यजुःसाम

ऋचो नामास्मि यजूꣳषि नामास्मि सामानि नामास्मि। येऽअग्नयः पाञ्चजन्याऽअस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥६७॥

१. **ऋचः नाम अस्मि**=विज्ञान का अध्ययन करके 'ऋचः' नामवाला मैं हूँ। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के कारण 'ऋच' अर्थात् विज्ञान ही मेरा नाम हो गया है। २. इस विज्ञान के अनुसार विविध यज्ञात्मक कर्मों में जीवन का यापन करने से मैं **यजूंषि नाम अस्मि**='यजूंषि' नामवाला हो गया हूँ। ३. ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करके प्रभु का उपासन करनेवाला मैं **सामानि नाम अस्मि**='सामानि' नामवाला हूँ। सामवेद 'उपासनावेद' है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों ने मुझे मूर्त्तिमती उपासना ही बना दिया है। ४. इस प्रकार 'ज्ञान-कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करके यह सचमुच **अग्नि**=जीवन में आगे बढ़नेवाला बना है। यह उन्नत जीवनवाला व्यक्ति सब मनुष्यों का हित करने से 'पाञ्चजन्य' है। इससे अन्य मनुष्य निवेदन करते हैं कि **अस्यां पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **ये**=जो भी **पाञ्चजन्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नयः**=प्रगतिशील व कार्य करने में उत्साहवाले व्यक्ति हैं **तेषाम्**=उनमें

त्वम्=तू **उत्तमः असि**=उत्तम है—प्रमुख है। वह तू **नः**=हमें **जीवातवे**=चिरजीवन के लिए **प्रसुव**=प्रेरणा प्राप्त करा। हमें ऐसी प्रेरणा दे कि हम उसके अनुसार जीवन को 'स्वस्थ, सत्यमय व ज्ञानदीप्त' बनाकर दीर्घकाल तक चलनेवाला बना पाएँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'ज्ञान-कर्म-उपासना' का समन्वय हो। मैं लोकहित करनेवालों में प्रमुख बनूँ। लोगों को उत्तम प्रेरणा देकर उनके सुन्दर व दीर्घ जीवन का कारण बनूँ।

सूचना—मनुष्य के लिए यहाँ 'पाञ्चजन्य' शब्द का प्रयोग है। पाँचों 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' इन सब कोशों का (जन) विकास करने के कारण वह 'पाञ्चजन्य' कहलाता है। जीवन को उत्तम बनाने के लिए पाँचों को क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सहस्' से सुभूषित करना है। मन्त्र का ऋषि 'देवश्रवदेववात' लोगों के भले के लिए तेजस्विता आदि के सम्पादन के साधनों का उपदेश देता है। स्वयं तेज आदि का धारण करता हुआ लोगों के लिए क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित करता है।

ऋषिः—**इन्द्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का आवर्तन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वावर्तयामसि॥६८॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार जब व्यक्ति लोकहित के लिए उत्तम प्रेरणा देता है तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं अपने को पूर्ण जितेन्द्रिय बनाए। इन्द्र बनकर ही वह औरों को इन्द्र बनने के लिए कह सकता है। साथ ही इन्द्र बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह सब असुरों का संहार करनेवाले महान् इन्द्र (प्रभु) का स्मरण करे। प्रस्तुत मन्त्र में उसी प्रभु-स्मरण (प्रभुनाम-जपन) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **त्वावर्तयामसि**=हम आपका आवर्तन करते हैं, आपके नाम का जप व अर्थभावन करते हैं। आपके निजनाम 'ओम्' का जप व चिन्तन करते हुए हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हैं। २. **वार्त्रहत्याय**=(वृत्रं हन्यते येन) जिससे कि हम वृत्र का हनन कर सकें। हमारे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासना ही 'वृत्र' है। आपके नाम-स्मरण से हम इस वृत्र का विनाश करनेवाले बनते हैं। ३. **शवसे**=(शव गतौ, शवस्=बल) क्रियाशीलता व क्रियाशीलता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के लिए हम आपका स्मरण करते हैं। प्रभु-स्मरण हमें प्रभु के समान ही स्वाभाविकी क्रिया करनेवाला बनने की प्रेरणा प्राप्त कराता है, उस क्रिया को अपनाकर हम बल का सम्पादन करते हैं, **च**=और ४. **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सेनाओं के पराभव के लिए हम जप करते हैं। प्रभु को हृदयस्थ करके हम हृदयक्षेत्र से वासनासमूह को दूर भगा देते हैं। इन वासनाओं के पराभव के लिए हम समर्थ होते हैं। इन आसुरी वृत्तियों का संहार करके हम सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'इन्द्र' बनते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के नाम का आवर्तन करें। इन्द्र के आवर्तन से इन्द्र बनें, जिससे कि (क) हम वृत्र का विनाश कर सकें। (ख) क्रियाशीलता के द्वारा बल का सम्पादन करनेवाले हों तथा (ग) शत्रु-सेनाओं का पराभव कर पाएँ।

ऋषिः—**इन्द्रविश्वामित्रौ।** देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्।** स्वरः—**धैवतः॥**

वृत्र

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्द्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ॥६९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीव प्रभु के नाम का आवर्तन करते हुए कहता है कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की विजय करानेवाले प्रभो! **सहदानुम्**=(दाप् लवने) बल का लवन (छेदन) करनेवाले, **क्षियन्तम्**=बल के नाश से हमारा नाश करनेवाले **कुणारुम्**=(कणयति=रोदयति) दुर्गति के द्वारा रोदन करानेवाले और अन्त में **पियारुम्**=(पियतिर्हिंसाकर्मा) सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले **वर्द्धमानम्**=निरन्तर बढ़ते हुए **वृत्रम्**=इस ज्ञान के आवरक कामरूप वृत्र का हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली पुकारवाले प्रभो! आप **अहस्तम्**=हस्तरहित करके—हननशक्तिशून्य करके **संपिणक्**=पीस डालते हैं तथा **अपादम्**=पादों व गति से शून्य करके **तवसा**=बल के द्वारा **अभिजघन्थ**=सम्यक् समाप्त कर देते हैं। २. यह वासना ज्ञान पर परदा डालनेवाली होने से 'वृत्र' है। यह हमारे बल का छेदन कर देने से 'सहदानु' है! क्षयकारिणी होने से 'क्षियन्' है। अन्त में बुरी भाँति रुलानेवाली होने से 'कुणारुम्' है। सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देने से यह 'पियारु' है। सदा बढ़ने व फैलनेवाली होने से 'वर्धमान' है। ३. प्रभु के नाम का स्मरण हममें बल उत्पन्न करता है, और उस **तवस्**=बल से इस वृत्र की हननशक्ति को समाप्त कर देता है, इस वृत्र को 'अहस्त' कर देता है। (हन् से हस्त=Hand)। प्रभु के नाम-स्मरण से यह वासना 'अपाद'-गतिशून्य हो जाती है, मानो इसके पाँव ही नहीं रहते। ४. इस प्रकार वे प्रभु सचमुच 'इन्द्र' हैं, हमारे इन कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। वे प्रभु 'पुरुहूत' हैं, उनको पुकारना हमारा पालन व पूरण करता है।

भावार्थ—प्रभु नाम-स्मरण से हमारी वासना हाथ-पाँव से रहित होकर विनष्ट हो जाए। वासना हमारा हनन करनेवाली न हो, हमारे हृदयक्षेत्र से उसकी चहल-पहल दूर चली जाए।

ऋषिः—**शासः।** देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**निचृदनुष्टुप्।** स्वरः—**गान्धारः॥**

कुचलना Trampling upon

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः॥७०॥

१. गतमन्त्र का ऋषि इन्द्र काम-क्रोधादि आसुरवृत्तियों का संहार करके सब पापों से अपने को बचानेवाला (विश्व-मित्र) विश्वामित्र बना था। यह अपने पर पूर्णरूप से शासन करनेवाला होने से 'शास' कहलाता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करके ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले प्रभो ! **नः**=हमारी **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले इन शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखाइए। इन्हें हमारे पाँव तले रौंद दीजिए। ३. इन वासनारूप शत्रुओं में **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इहलोक व परलोक दोनों ओर से (अभि) नष्ट करना चाहता है (दस् उपक्षये) उसे आप **अधरम् तमः**=पातालोक के अन्धकार को **गमय**=प्राप्त कराइए। ये वासनाएँ पाताल में ही कैद-सी

रहें। इनका निवास तो असुर्यलोकों में ही ठीक है। हमारे साथ इनका क्या सम्बन्ध? इनमें फँसकर तो हम भी उन असुर्यलोकों में ही घसीटे जाएँगें, अतः हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं इन वासनाओं से अभिभूत होकर नष्ट न हो जाऊँ।

भावार्थ—हम वासनाओं को नष्ट करके उन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके अपने 'शास' नाम को यथार्थ करें।

ऋषिः—**जयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जय

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावतऽआजगन्था परस्याः।
सृकꣳसꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥७१॥

१. गतमन्त्र का 'शास'=अपने पर शासन करनेवाला शत्रुओं पर विजय पाता है और 'जय' नामवाला होता है। यह जय **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है। इस आत्मालोचन से यह 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' में छिपकर ठहरे हुए कामादि को ढूँढकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है। २. **न भीमः**=अपनी कमियों को जानने के कारण ही यह भयंकर नहीं होता, इसे अभिमान व क्रूरता आदि दोष आक्रान्त नहीं करते। ३. **कुचरः**=यह सदा पृथिवी पर विचरनेवाला होता है, घमण्ड के कारण आकाश में नहीं उड़ता, डींगें नहीं मारता (Does not build castles in the air)। ४. **गिरिष्ठाः**=सदा वेदवाणी में स्थित होता है—वेदोपदिष्ट मार्ग से चलता है। ५. **परावतः परस्याः**=दूर-से-दूर देश से भी **आजगन्थ**=लौट आता है। इसका जो मन सुदूर देशों में भटका होता है, उस मन को यह वहाँ से वापस ले-आता है, 'प्रत्याहार' की साधना करता है। ६. **सृकम्**=(सृ-कं) गति में आनन्द को **संशाय**=(तीक्ष्णीकृत्य) बढ़ाकर, अर्थात् गति में, क्रियाशीलता में अधिक-से-अधिक आनन्द लेता हुआ **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! ७. **पविम्**=अपने को पवित्र बनाने की भावना को **तिग्मम्**=तीव्र व ज्ञान से दीप्त करके, अर्थात् पवित्रता व ज्ञान को मिलाकर तू **शत्रून्**=इन कामादि शत्रुओं को **विताढि**=हिंसित कर तथा **मृधः**=इन हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=अपने से सुदूर धकेल दे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतने के लिए आवश्यक है कि हम (क) आत्मालोचन करें (मृगः), (ख) कल्पनाओं में न उड़ते रहकर पृथिवी पर विचरनेवाले बनें (कुचरः), (ग) 'गिरिष्ठा' बनें—वेदवाणी के अनुकूल चलें, (घ) क्रियाशीलता में आनन्द लें (सृकम्), (ङ) पवित्रता को ज्ञानदीप्त करें (पविं तिग्मम्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वैश्वानरः, विश्वामित्रः

वैश्वानरो नऽ ऊतयऽआ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'जय'=विजेता बनकर 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **परावतः**=दूर देश से **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **आ प्रयातु**=सर्वथा समीप देश में प्राप्त हो। अज्ञानवश जब हम प्रभु से दूर होते हैं, तब हमें भय आदि प्राप्त होते हैं तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं के हम वशीभूत हो जाते हैं। ज्ञान होने पर हम उस प्रभु

को अपने हृदय में अनुभव करते हैं, उससे हमें जहाँ अभय प्राप्त होता है, वहाँ हम काम-क्रोधादि के शिकार नहीं होते। २. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों का साधक वह प्रभु **सुष्टुतीरुप**=हमसे की गई शोभन स्तुतियों के द्वारा (सुष्टुतिभिः) **नः**=हमारे **उप**=समीप उपस्थित हों। वे प्रभु हमारे रक्षक हों। यदि थोड़ा-सा विचार किया जाए तो इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह होगा तभी जब (क) हम भी उस प्रभु की भाँति ही 'वैश्वानर' बनें। सभी का हित करनेवाले हों इस भावना को अपनाकर ही हम मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' होंगे। प्रभु की रक्षा का पात्र बनने का (ख) दूसरा साधन 'अग्नि' बनना है। हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना हो। (ग) इस आगे बढ़ने के उद्देश्य से हम प्रभु की उत्तम स्तुति करनेवाले बनें (सुष्टुती)। इन स्तुतियों से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होगी। यह लक्ष्य आँख से ओझल न होगा तो हम निरन्तर आगे बढ़ते चलेंगे।

भावार्थ—(क) हम सब प्राणियों के हित की भावना से कार्यों में प्रवृत्त हों। (ख) हममें आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हो। (ग) प्रभु के उत्तम स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जिज्ञासु भक्त

पृष्टो दिवि पृष्टोऽअग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वाऽओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टोऽअग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्॥७३॥

१. गतमन्त्र में कहा गया था कि 'प्रभु हमें रक्षा के लिए समीपता से प्राप्त हों'। प्रस्तुत मन्त्र में उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **सः**=वे प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसा से **पातु**=बचाएँ। वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करें। २. ये प्रभु वे हैं जो **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर (प्रच्छ जिज्ञासायां) **दिवि**=द्युलोक में, दीप्त होनेवाले सूर्य में दिखते हैं। ३. वे **अग्निः**=सारे संसार के अग्रेणी प्रभु **पृष्टः**= जिज्ञासित होने पर **पृथिव्याम्**=(प्रथ विस्तारे) अन्तरिक्षलोक में अन्तरिक्षस्थ चन्द्र व मेघ आदि में दृष्टिगोचर होते हैं। ४. **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर वे प्रभु **विश्वा ओषधीः आविवेश**=सब ओषधियों में प्रविष्ट दिखते हैं। इन विविध ओषधियों में उस सवितादेव की महिमा प्रकट होती है। ५. वे **वैश्वानरः अग्निः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक (विश्वान् नरान् नयति) प्रभु **सहसा**=सहस् के द्वारा, बल के द्वारा **पृष्टः**=जिज्ञासित होते हैं। प्रभु का दर्शन निर्बलों को नहीं होता **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। ६. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के जिज्ञासु भक्त का वर्णन है। सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाला यह व्यक्ति विलास से बचकर शक्ति का सञ्चय कर पाता है, इसमें सहनशीलता होती है। अपने इस 'सहस्' से ही यह प्रभु का प्रिय होता है। 'तेज' से 'शरीर की शोभा' प्राप्त होती है, 'वीर्य' से 'नीरोगता व दीर्घजीवन' का लाभ होता है, 'बल व ओज' से सफलता प्राप्त होती है, ज्ञान (मन्यु) से पवित्रता तथा प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अन्त में 'सहस्' से 'प्रभु की प्राप्ति' होती है। इसकी रक्षा में हम सब बुराइयों का संहार करनेवाले 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं, इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के जिज्ञासु भक्त बनेंगे तो धीमे-धीमे सर्वत्र हमें उस प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु-रक्षण के चार लाभ

अश्याम तं काममग्ने तवोतीऽअश्याम रयिꣳरयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥७४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि उस रक्षण से क्या होता है? सबसे प्रथम बात तो यह है कि हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण से हम अपनी **तं कामम्**=उस-उस कामना को **अश्याम**=प्राप्त करें, जिस कामनावाले कि हम आपसे प्रार्थना करें '**यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु**'। एवं, प्रभु-रक्षण का प्रथम लाभ यह है कि हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। २. हे **रयिवः**=सब धनों के स्वामिन्! हम **सुवीरम् रयिम्**=उत्तम वीरता को प्राप्त करानेवाले धन को **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु के स्तवन से अलग होकर प्राप्त किया गया धन हमें विलास की ओर ले-जाकर वीरता से रहित करता है। प्रभु-स्मरण के साथ धन हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. हे प्रभो! आपके रक्षण में **वाजयन्तः**=(संग्रामयन्तः) कामादि वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **अभि अश्याम**=समन्तात् प्राप्त करें। वासनाओं को जीतने से शरीर में बल आएगा तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि भी दीप्त होगी। इस प्रकार **अभि**=दोनों क्षेत्रों में—शरीर व आत्मा के क्षेत्र में हम बलवान् होंगे। प्रभु की रक्षा में ही हम इस वासना-संग्राम में विजयी बन पाएँगे। ४. हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपकी **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होनेवाली **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति को **अश्याम**=प्राप्त करें, '**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**'। ५. इस प्रकार मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु रक्षण से सब इच्छाओं की पूर्ति तथा धन-प्राप्ति के साथ मनुष्य वीर बनता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर को ही सबल नहीं बनाता अपितु अपने मस्तिष्क को भी सशक्त करके प्रभु की अजर ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करता है। 'वाज' शब्द बल व ज्ञान' दोनों अर्थ रखता है, अतः यह अपने में बल व ज्ञान को भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाता है। यह 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम १. अपनी इष्ट कामनाओं को सिद्ध करनेवाले बनें। २. वीरतायुक्त धन के स्वामी हों, ३. वासनाओं के साथ संग्राम करके उनके विजय से शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान को भरनेवाले हों, ४. हम उस अजर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपनी इच्छा को प्रभु-इच्छा में

वयं तेऽअद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्त्रेधता मन्मना विप्रोऽअग्ने॥७५॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि प्रभु-रक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभुभक्त अपनी कामना को प्रभु की कामना में मग्न (merge) कर देता है, उसकी वही इच्छा होती है जो प्रभु की इच्छा हो। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा को समाप्त कर देता है। आज यह अपने को उस उत्=उत्कृष्ट प्रभु के साथ कील=बाँधनेवाला बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बनता है और कहता है कि **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान

करनेवाले हम (वञ्=तन्तुसन्ताते) **अद्य**=आज **कामम्**=अपनी इच्छा को **ते ररिमा**=तेरे प्रति दे डालते हैं, हमारी इच्छा आज से वही है जो आपकी। २. आपके प्रति अपना अर्पण करके हम उद्यम को नहीं छोड़ देते, **उत्तानहस्ता**=हम कर्मों में उत्कृष्टता से हाथों का विस्तार करनेवाले होते हैं (उत्+तन्), अर्थात् हमारे हाथ सदा उत्कृष्ट कर्मों में व्याप्त रहते हैं ३. इन कर्मों को हम **नमसा उपसद्य**=नम्रता से आपकी उपासना करते हुए करते हैं। हम कर्म करते हैं, परन्तु इस बात को भूलते नहीं कि यह सब आपकी ही शक्ति है और हम उस शक्ति से होनेवाले कार्यों के माध्यममात्र हैं, अतः हम कर्मों को करते हैं, परन्तु उन कर्मों का गर्व नहीं करते। ४. उल्लिखित संकल्पवाले 'उत्कील' को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **यजिष्ठेन मनसा**=अधिक-से-अधिक देवपूजा की वृत्तिवाले, सबके साथ स्नेह व मेल की भावनावाले तथा दान की वृत्तिवाले **यज्**=(क) देवपूजा (ख) संगतिकरण (ग) दानवाले मन से **देवान्**=दिव्य गुणों को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर। यजिष्ठ मन से हममें दिव्य गुणों का वर्धन होता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील उत्कील! तू **अस्त्रेधता**=(इतस्ततो गमनरहितेन स्थिरेण—द०) सुपथगामी **मन्मना**=मनन से **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। प्रभु के अनन्य चिन्तन से मनुष्य का जीवन शुद्ध व शक्तिशाली बनता है। हमारी सब कमियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—(क) हम अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में मिला दें। (ख) नम्रता से प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट कर्मों में हाथों को व्यापृत रक्खें। (ग) यजिष्ठ मन से अपने जीवन को देवों से सङ्गत करें, दिव्य गुणों से पूर्ण करें। (घ) प्रभु का अनन्य चिन्तन करते हुए अपनी सब न्यूनताओं को दूर करके अपना उत्तम पूरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेजस्विता का रक्षण

धा॒म॒च्छद॒ग्निरिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा दे॒वो बृह॒स्पतिः॑।
सचे॑तसो॒ विश्वे॑ दे॒वा य॒ज्ञं प्राव॑न्तु नः शु॒भे॥७६॥

१. गतमन्त्र का 'उत्कील' ऋषि ही प्रार्थना करता है कि **अग्निः**=दोषदहन व प्रकाश की देवता अग्नि, **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला प्रभु, **ब्रह्मा**=सारे ब्रह्माण्ड का निर्माण व वर्धन करनेवाला प्रभु, **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु तथा **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति वह प्रभु **धामच्छत्**=हमारे तेज का छादन व रक्षण करनेवाला हो। प्रभु की कृपा से मेरा जीवन हीनाकर्षण से दूर होकर उत्कृष्ट बन्धनवाला हो। मैं विलास से सदा बचा रहूँ और अपने तेज को विनष्ट न होने दूँ। २. इस तेजस्विता की रक्षा के लिए मैं 'अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, देव व बृहस्पति' का उपासक बनूँ। अग्नि का उपासक बनकर (अगि गतौ) क्रियाशील बनूँ और अपने दोषों का दहन करूँ। 'इन्द्र' का उपासक बनकर जितेन्द्रिय बनूँ और असुरों का संहार करनेवाला होऊँ। 'ब्रह्मा' का उपासक बनकर हृदय को (बृहि वृद्धौ) विशाल बनाऊँ और निर्माणात्मक कार्यों में लगाये रक्खूँ। 'देव' का उपासक बनकर मैं दान की वृत्तिवाला बनूँ, ज्ञान से चमकूँ तथा औरों के लिए ज्ञान की दीप्ति देनेवाला बनूँ। 'बृहस्पति' का उपासक मैं सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति बनने का प्रयत्न करूँ। ये उपासनाएँ ही मेरे तेज की रक्षा करेंगी। मुझे निम्न मार्ग से हटाकर सचमुच 'उत्कील'=उत्कृष्ट बन्धनवाला बनाएँगी। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सचेतसः**=(चेतसा सह) उत्तम संज्ञान से युक्त अथवा (समानं चेतो येषाम्) समान ज्ञानवाले, एक ही विचारवाले

विश्वेदेवाः=सब देव **नः**=हमारे **शुभे**=शुभ के निमित्त (शुभ्+क्विप्=शुभ) जीवन में हमें शुभ-ही-शुभ प्राप्त हो, इसके लिए **यज्ञं प्रावन्तुः**=हममें यज्ञिय भावना की प्रकर्षेण रक्षा करें। हम यज्ञशील हों और यज्ञ से हम समृद्ध जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि' आदि के उपासक बनकर अपनी तेजस्विता का रक्षण करें। ज्ञानियों से यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त करके हम शुभ का साधन करें।

ऋषिः—**उशनाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उशना की प्रार्थना

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥७७॥

१. गतमन्त्र का उत्कील 'तेजस्विता की रक्षा' व यज्ञिय वृत्ति' के द्वारा प्रभु-प्राप्ति की कामना करनेवाला होने से 'उशनाः' नामवाला होता है। यह प्रभु की आराधना करता है कि **यविष्ठ**=हमारे दुर्गुणों को अधिक-से-अधिक पृथक् करनेवाले तथा सद्गुणों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! (यु=मिश्रण व अमिश्रण) **त्वम्**=आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले, अपना अर्पण करनेवाले **नॄँः**=हम लोगों को **पाहि**=रक्षित कीजिए। हमें दुर्गुणों से दूर व सद्गुणों के समीप करके हीनावस्था से बचाइए। २. **गिरः शृणुधी**=हमसे आप स्तुति-वाणियों को ही सुनिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम ज्ञान से परिपूर्ण इन स्तुति-वाणियों को ही बोलनेवाले हों। हमारे मुख से कभी कोई अशुभ शब्द न निकले। ३. **उत**=और हे प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=आपका पुत्र जो मैं हूँ उसकी **रक्ष**=रक्षा कीजिए। मैं आपका भजन करूँ आप मेरी रक्षा करें। आपकी कृपा से ही मैं आपका सुपुत्र बन पाऊँगा और आपका रक्षणीय होऊँगा। मेरी कामना है कि मैं आपको प्राप्त कर पाऊँ। ४. आपकी प्राप्ति के लिए (क) अधिक-से-अधिक अवगुणों को दूर करके सद्गुणों को प्राप्त करूँ (यविष्ठ) (ख) आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ (दाशुषः)। (ग) मेरे मुख से ज्ञान व स्तुति की उत्तम वाणियाँ ही उच्चरित हों (गिरः) (घ) मैं आपका सुपुत्र बनूँ (तोकम्)।

भावार्थ—प्रभु यविष्ठ हैं। दाश्वान् की रक्षा करते हैं। हमें चाहिए कि ज्ञान व स्तुति वाणियों का ही उच्चारण करें और प्रभु के सुपुत्र बनें।

सूचना—इस अन्तिम मन्त्र में उशनाः (प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला) प्रभु का सुपुत्र बनना चाहता है। प्रभु का सुपुत्र वही हो पाता है जो इस मानव-जीवन में सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को ठीक परिपक्व करता है तथा सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देकर 'प्रजा-पति' बनता है। इस 'प्रजापति' ऋषि के मन्त्र से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

एकोनविंशोऽध्यायः

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरा-सोम 'स्वाद्वी-तीव्रा-अमृता मधुमती'

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳसोमेन। सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥१॥

१. प्रभु कहते हैं कि **स्वाद्वीम्**=स्वादयुक्त वाणीवाली **त्वा**=तुझ 'सुरा' को **स्वादुना**=स्वादयुक्त वाणीवाले 'सोम' के साथ **संसृजामि**=उत्तमता से युक्त करता हूँ। **'पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा'** (तै० १।३।३।४), अर्थात् पुरुष सोम हैं, स्त्री सुरा। पुरुष ने **सू**=विविध वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य कमाना है और स्त्री ने (सुर to govern, to rule, to shine) घर में व्यवस्था करनी है और अपनी उत्तम व्यवस्था से उसे चमकाना है। स्वाद्वीं सुरा को मैं स्वादु सोम के साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मधुर वाणीवाली पत्नी को मधुर वाणीवाले पति से संयुक्त करता हूँ। पत्नी पति के प्रति मधुर वाणी बोले और पति पत्नी के लिए। उत्तम सन्तान के निर्माण में मधुरवाणी अत्यन्त महत्त्व रखती हैं। यह पति-पत्नी में सामञ्जस्य व सौमनस्य पैदा करके सर्वाङ्ग सुन्दर सन्तान को जन्म देती है। २. **तीव्रां तीव्रेण**=(तीव् to be strong) सशक्त शरीरवाली सबला तुझे सशक्त शरीरवाले सबल पुरुष के साथ संयुक्त करता हूँ। पति-पत्नी अशक्त होंगे तो सन्तान भी मरियल-सी ही होगी। ३. **अमृताम्**=रोगरूप मृत्युओं से रहित तुझको **अमृतेन**=नीरोग पति से संयुक्त करता हूँ। माता-पिता का रोग सन्तानों में भी जाकर राष्ट्र में रोगियों की संख्या को बढ़ाएगा। स्मृतिकारों ने इसी से विशिष्ट बीमारियों में विवाह का निषेध कर दिया है। ४. **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त व्यवहारवाली तुझे **मधुमता**=माधुर्ययुक्त पति से संयुक्त करता हूँ। उस पति से संयुक्त करता हूँ जो **सोमेन**=शरीरबद्ध 'सोम' है (सोम=वीर्यशक्ति)। इस सोम से ही तो उत्तम सन्तान को जन्म मिलता है। ५. ये पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि **सोमः असि**=तू सोम है, तू ही हमारा जन्म देनेवाला है। तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो। तेरे ठीक परिपाक से हमारी प्राणापान की शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो। ६. **सरस्वत्यै पच्यस्व**=तू विद्या की अधिदेवता सरस्वती के लिए परिपक्व हो। सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। सोम की रक्षा से, उसके शरीर में ठीक परिपाक से यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञान चमक उठता है। ७. हे सोम! तू **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षण करनेवाले **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व हो, अर्थात् शरीर में तेरे सुरक्षित होने से हम अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके बुद्धि को अतिसूक्ष्म बनाकर प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले होते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बनते हैं। ८. याज्ञिकों ने प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरा' का संकेत देखा, परन्तु शराब को **'अनृतं पाप्मा तमः सुरा'** श० ५।१।२।१० झूठ, पाप व अज्ञान के रूप में देखनेवाली वैदिक संस्कृति शराब का ऐसा वर्णन नहीं मान सकती।

भावार्थ—पति-पत्नी (क) मधुरवाणीवाले (ख) शक्तिशाली (ग) नीरोग व (घ)

मधुर व्यवहारवाले हों। (ङ) सोम की रक्षा करनेवाले व उसका शरीर में ठीक परिपाक करनेवाले हों, जिससे उनकी प्राणापान शक्ति बनी रहे, वे उत्तम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले और अन्त में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम का रक्षण

परीतो षिञ्चता सुतꣳसोमो यऽउत्तमꣳहविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का शरीर में रक्षण व परिपाक करते हुए ये पति-पत्नी 'भारद्वाज'=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाले होते हैं। यह भारद्वाज प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता है कि **परीतः**=(परि इतः) यह सोम सर्वतः प्राप्त हो। इसका अपव्यय न होकर यह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में ही व्याप्त हो जाए। २. **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **षिञ्चत**=शरीर में ही सिक्त करो। ३. **यः सोमः**=यह सोम **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम ग्रहण करने योग्य पदार्थ है। इसी ने (क) हमारे जीवन को सशक्त व दीर्घ बनाना है, (ख) बुद्धि को सूक्ष्म करना है, (ग) हमें परमात्मा-दर्शन के योग्य बनाना है। ४. **दधन्वान्**=यह हमारा धारण करता है। हमारा जीवन इसी के धारण पर निर्भर है **'जीवनं बिन्दुधारणात्'**। ५. यह सोम वह है **यः**=जो **नर्यः**=मनुष्यों का हित करनेवाला है। यह उन्हें सब आधि-व्याधियों से सुरक्षित करता है। ६. **सोमम्**=इस सोम को यह 'भारद्वाज' **अद्रिभिः**=प्रभु के पूजन (adoring) के द्वारा **अप्स्वन्तरा**=सदा कर्मों में स्थित हुआ-हुआ **सुषाव**=अभिषुत करता है। सोम का शरीर में उत्पादन व रक्षण वही व्यक्ति कर पाता है, जो प्रभु-उपासन करता है और अपने को कर्मों में व्यापृत रखता है। प्रभु-उपासन से दूर होने पर और अकर्मण्य हो जाने पर हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तब सोम के रक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। सोम की रक्षा के लिए प्रभु का पूजन व कर्मों में व्याप्ति आवश्यश्क है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मरत पुरुष सोम को वासनाओं से विनष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा=सदा साथ रहनेवाला मित्र

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सोमः**=सोम **वायोः**=वायु के द्वारा **पूतः**=पवित्र होता है, अर्थात् प्राणापान की साधना से इस सोम में वासनाओं से उत्पन्न होनेवाली अपवित्रता नहीं आती। २. **पवित्रेण**=**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** इस वाक्य के अनुसार जीवन को पवित्र करनेवाले ज्ञान से **सोमः**=यह सोम **प्रत्यङ्**=(प्रति अञ्चति) वापस शरीर में गतिवाला होकर **अतिद्रुतः**=अतिशयेन गमनवाला होता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाले पुरुष के जीवन को यह सोम अतिशयेन गतिवाला बना देता है। सोमरक्षा के अभाव में अशक्त होकर मनुष्य निश्चेष्ट-सा बन जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में लगने पर यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अतः शरीर में ही इसका व्यापन होता है और शरीर की न्यूनताओं का दूरीकरण होकर यह शरीर-यन्त्र नये-का-नया-सा बना रहता है, इसकी गति में कमी नहीं

आती। ३. ऐसा होने पर सोम का रक्षक यह पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है। मानव-जीवन के उत्कर्ष की यह चरमसीमा है कि 'हम प्रभु के मित्र हों'। ४. फिर इस सारी भावना को आवृत्त करते हुए कहते हैं कि **वायोः**=यह प्राणापान से पवित्र होता है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर के अन्दर स्थिर रहता है। **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा **सोमः**=यह सोम **प्राङ्**=(प्राञ्चति ऊर्ध्वं गच्छति-म०) ऊर्ध्वगतिवाला होता है और इस ऊर्ध्वगति के कारण इस सोम का रक्षक **अतिद्रुतः**=अतिशयेन शीघ्रता से कार्यों में व्यापनेवाला होता है। और **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र होता है। ४. उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का मित्र बनकर यह भी 'आभूति' सर्वत्र ऐश्वर्यवाला होता है। इसके अन्नमयादि पाँचों कोश 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान (मन्यु) व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। इसके पाँचों कोश उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा सोम शरीर में ही गमनवाला होकर ऊर्ध्व गमनवाला होता है। ज्ञानाग्नि के दीपन में इसका व्यय होता है। इसके रक्षण से मनुष्य खूब क्रियामय जीवनवाला होता है और सदा प्रभु का मित्र बनता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यदुहिता—'श्रद्धा'

पुनाति ते परिस्रुतꣳसोमꣳसूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥४॥

१. प्रभु 'आभूति' से कहते हैं कि **ते**=तेरे **परिस्रुतम्**=शरीर में सर्वतः प्राप्त इस **सोमम्**=सोम को **सूर्यस्य दुहिता**=**'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता'** ज्ञान की पुत्री के समान यह श्रद्धा **पुनाति**=पवित्र कर देती है। यह श्रद्धा हमारे सोम को पवित्र करती है। श्रद्धा वस्तुतः हममें सत्य का धारण कराती है (श्रत् सत्यं दधाति) और यह सत्य सोम को पवित्र बनानेवाला होता है। २. यह श्रद्धा **वारेण**=असत्य व वासनाओं के निवारण से सोम को पवित्र करती है। वासनाएँ ही सोम की अपवित्रता का कारण बनती हैं। ३. यह श्रद्धा **शश्वता**=(शश प्लुतगतौ) द्रुत गतिवाले जीवन से सोम को पवित्र रखती है। श्रद्धावान् पुरुष प्रभु में विश्वास करके सदा उत्तम क्रिया में लगा रहता है। बस, यही उत्तम क्रिया सोमरक्षण का साधन बनती है। ४. यह श्रद्धा **तना**=(तन् विस्तारे) शरीर की शक्तियों के विस्तार द्वारा सोम की सुरक्षा व पवित्रता करती है। शरीर की शक्तियों के विस्तार में व्याप्त हुआ-हुआ सोम पवित्र बना रहता है। ५. वस्तुतः सोमरक्षा के लिए आवश्यक है कि हम (क) वासनाओं का निवारण करें, (ख) सदा उत्तम कर्मों में स्फूर्ति से लगे रहें और (ग) शक्तियों के विस्तार की श्रद्धावाले हों, अर्थात् शक्तियों के विस्तार के लिए हममें प्रबल भावना हो।

भावार्थ—श्रद्धा सोम को पवित्र करती है, क्योंकि यह वासनाओं का निवारण करती है, हमें स्फूर्ति-सम्पन्न व कर्मठ बनाती है तथा शक्तियों के विस्तार के लिए प्रेरित करती है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ब्रह्म+क्षत्र—तेज व इन्द्रिय

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेजऽइन्द्रियꣳसुरया सोमः सुतऽआसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि॥५॥

१. **सुतः**=उत्पन्न हुआ **सोमः**=यह सोम **सुरया**=(सुरा to govern, to rule) शासन के द्वारा, अर्थात् शरीर में ही नियन्त्रित होकर **ब्रह्म**=ज्ञान को, **क्षत्रम्**=बल को, **तेजः**=तेजस्विता को **इन्द्रियम्**=मन आदि इन्द्र के साधनों को **पवते**=(जनयति) प्रादुर्भूत करता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, बल की वृद्धि होती है, यह हमारी तेजस्विता का कारण होता है और हमारी मानसशक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है। २. **आसुतः**=शरीर में ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सम्पादित हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=जीवन में हर्ष व प्रफुल्लता के लिए होता है। ३. हे **देव**=सब सुखों के देनेवाले प्रभो! आप **शुक्रेण**=इस शुद्ध, शक्तिप्रद वीर्य से **देवताः**=दिव्य गुणों को **पिपृग्धि**=हममें पूरित कीजिए। वीर्यरक्षा से हमारा हृदय-मन्दिर दिव्य भावनाओं का निवास-स्थान बनता है, दूसरे शब्दों में यह देव-मन्दिर बन जाता है। ४. हे प्रभो! आप **यजमानाय**=यज्ञशील मेरे लिए **रसेन**=गोरस (दुग्ध), अथवा ओषधिरसों के साथ **अन्नम्**=अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। इस दूध व ओषधिरस और अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम सचमुच हमारे लिए 'ज्ञान, बल, तेज व इन्द्रियों के सामर्थ्य तथा हर्ष व उल्लास' को देनेवाला हो और हमारे हृदय को दिव्य भावनाओं से युक्त करके उसे देव-मन्दिर बना दे।

भावार्थ—हम रस व अन्न का सेवन करें। उससे उत्पन्न सोम हमारे ज्ञान, बल व तेज को बढ़ाएगा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करेगा, उल्लास का कारण बनेगा और हमें दिव्य गुणयुक्त जीवनवाला बनाएगा, अतः हम सोम को शरीर में ही नियन्त्रित करें (सुरया)।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्प्रकृतिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

तेज—वीर्य व बल

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा॥६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर में सोम के संरक्षण के लिए सात्त्विक व सौम्य भोजन सर्वाधिक अपेक्षित है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **कुविदङ्ग**=हे प्रचुर शक्तियुक्त, सम्पूर्ण गति देनेवाले प्रभो! **यवमन्तः** =जौ के खेतवाले **यथा**=जैसे **यवं चिद्यत्**=जौ को निश्चय से **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'आभूति' भी एक-एक कोश को अलग करके पृथक् करते चलते हैं और उससे ऊपर उठते जाते हैं। २. हे प्रभो! **ये**=जो **बर्हिषः**=वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले **नमऽउक्तिम्**=आपके प्रति नमस्कार के कथन को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं **एषाम्** =इनके **इह-इह**=उस-उस योग की भूमिका में स्थित हुओं के **भोजनानि**=पालनों को अथवा उत्तम सात्त्विक भोजनों को **कृणुहि**=आप कीजिए। इन जौ आदि सात्त्विक भोजनों से ही ये शक्ति को प्राप्त करेंगे और वासनाओं का उद्बर्हण कर पाएँगे। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। ४. **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। **सरस्वत्यै**=ज्ञान अधिदेवता के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानी बनने के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ। **इन्द्राय त्वा**=आत्मशक्ति के विकास के लिए मैं आपका ग्रहण करता हूँ, **सुत्राम्णे**=जिससे मैं अपना उत्तम त्राण कर सकूँगा। ४. **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा निवास-स्थान बनता हूँ, अर्थात् अपने हृदय में आपको स्थापित करता हूँ। **तेजसे त्वा**=

तेजस्विता की प्राप्ति के लिए आपको अपने में स्थापित करता हूँ। मेरा यह अन्नमयकोश अन्तर्निहित आपके द्वारा तेजस्वी बनाया जाता है। **वीर्याय त्वा**=वीर्य-सम्पन्न होने के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ। आपके द्वारा मेरा प्राणमयकोश उस वीर्यशक्तिवाला होता है जो शक्ति मुझे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। **बलाय त्वा**=मानस बल की प्राप्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। प्रभु के हृदयस्थ होने पर यह प्रभुभक्त अद्भुत मानस बल का लाभ करता है और उसके द्वारा सचमुच अपने कार्यों में सफल होता हुआ प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यव आदि सात्त्विक भोजनों से पवित्र विचारोंवाले होकर प्रभु का उपासन करें। वे प्रभु 'कुविदङ्ग' हैं, शक्तिशाली गति देनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से मैं भी तेज, वीर्य व बल को प्राप्त करता हूँ।

सूचना—'कुवित् इति बल नाम'। कुवित् बल वाचक है, सम्भवत: यही शब्द विकृत होकर कूअत बना है।

ऋषि:—**आभूति:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**॥

पति-पत्नी का स्थान

नाना हि वां देवहितꣳसदस्कृतं मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोमऽएष मा मा हिꣳसी: स्वां योनिमाविशन्ती॥७॥

१. उत्तम जीवन बिताने का उपदेश देते हुए प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों का **देवहितम्**=(देवविहितम्) मुझ प्रभु से विहित, अर्थात् निर्दिष्ट **नाना**=अलग-अलग **सद:**=स्थान **कृतम्**=किया गया है। पति ने घर के बाहर श्रम के द्वारा परिवार के पालन के लिए धन कमाना है और पत्नी ने घर में स्थित होकर (पत्नीशालं गार्हपत्य: १९।१८) गृह-सम्बन्धी सब कार्यों को सुचारु-रूपेण करना है। अर्जित धन का संग्रह व उचित व्यय पत्नी का कार्य है। २. इस प्रकार अपने-अपने कार्यों को करते हुए **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा सं सृक्षाथाम्**=मेरे साथ सम्यक् सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करो। इस प्रभु-सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होनी है, जिससे वे अपने सब कार्यों को सफलता के साथ करनेवाले होंगे। ३. हे पत्नी! **त्वम्**=तू **सुरा**=(सुर to govern, to rule) इस घर का शासन करनेवाली साम्राज्ञी **असि**=है। (सुर to shine) तूने अपनी उत्तम व्यवस्था से इस घर को दीप्त करना है। **शुष्मिणी**=तू शत्रुओं के शोषक बलवाली है। ४. **एष:**=यह तेरा पति भी **सोम:**=शक्ति का पुञ्ज व अत्यन्त विनीत है। ५. तू **स्वां योनिम्**=अपने घर में जिस घर का तूने निर्माण करना है **आविशन्ती**=प्रविष्ट होती हुई **मा**=मुझे **मा हिंसी:**=मत हिंसित करना, अर्थात् प्रभु-उपासन को कभी समाप्त न कर देना। यह उपासना ही तुझे वह शक्ति देगी, जिससे तू घर का उत्तमता से सञ्चालन कर पाएगी।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने-अपने कार्यक्षेत्र का ग्रहण करके प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कार्यों को करेंगे तो घर सचमुच 'आभूति' का घर बनेगा, जो सब दृष्टिकोणों से फूला-फला है (आ-भूति)। वहाँ स्वास्थ्य होगा, सुसन्तान होगी, सम्पत्ति होगी और इन सबसे बढ़कर वहाँ 'सत्य' होगा।

सूचना—यहाँ पत्नी के लिए तीन बातें कही हैं, पति के लिए एक। एवं, पत्नी का उत्तरदायित्व कम-से-कम तिगुना तो है ही।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

मोद-आनन्द-महस्

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥८॥

१. आभूति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना के द्वारा यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। आपको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो उपासनारत होता है। २. उस उपासक को **आश्विनं तेजः**=प्राणापान-सम्बन्धी तेजस्विता प्राप्त होती है और यह तेजस्विता ही उसे उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन देनेवाली बनती है। ३. उपासना से ही **सारस्वतं वीर्यम्**=ज्ञान की अधिदेवता के साथ सम्बद्ध वीर्य इसे प्राप्त होता है। उपासक को ज्ञान की वह शक्ति प्राप्त होती है जो उसके सब कर्मों को पवित्र करनेवाली होती है। ४. **ऐन्द्रं बलम्**=उपासना से ही अध्यात्म बल प्राप्त होता है। एवं, यह उपासक शरीर से स्वस्थ, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त तथा हृदय में आत्मिक शक्तिसम्पन्न व पवित्र बनता है। ५. **एषः**=यह शरीर, बुद्धि व मन के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'आभूति' नामवाला मैं **ते योनिः**=हे प्रभो! आपका निवास-स्थान बनता हूँ। आपको अपने हृदयदेश में बिठाता हूँ। **मोदाय त्वा**=इसलिए आपको हृदयदेश में बिठाता हूँ कि सांसारिक वस्तुओं का उचित उपयोग करते हुए 'मोद' व हर्ष का लाभ कर सकूँ, ये सांसारिक वस्तुएँ अत्युपयुक्त होकर मेरे जीवन को अस्वस्थ व कटु न बना दें। **आनन्दाय त्वा**=मैं आपको इसलिए हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ कि प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर मैं वास्तविक आनन्द का लाभ करनेवाला बनूँ। इन भोग्य पदार्थों के समुचित उपयोग ने स्वस्थ बनाकर मुझे सुखी किया था। इनमें अनासक्ति मेरे निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाली होगी और **महसे त्वा**=आपके सम्पर्क से तेजस्वी बनने के लिए मैं आपका निवास बनने का प्रयत्न करता हूँ। आपके सम्पर्क से शक्तिसम्पन्न बनकर ही तो मैं सब शत्रुओं पर विजय पानेवाला बन पाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु-उपासन हमारे जीवन में 'मोद, आनन्द व महस्' को भरनेवाला होता है।

ऋषिः—**आभूतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

आ-भूति

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि
धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि॥९॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु के उपासन से 'महस्' की प्राप्ति होती है' ऐसा कहा था। उसी का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—**तेजः असि**=हे प्रभो! आप तेज के पुञ्ज हैं, मूर्त्तिमान् तेज हैं। **मयि**=मुझमें **तेजः**=तेज का **धेहि**=आधान कीजिए। मेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। अपने इस तेज से मैं अपनी रक्षा करने में समर्थ होऊँ। २. **वीर्यम् असि**=हे प्रभो! आप वीर्य हैं। वीर्य के पुञ्ज हैं। **मयि वीर्यं धेहि**=मुझमें वीर्य का आधान करें। मेरा प्राणमयकोश वीर्यवान् होकर सम्भावित रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला हो। **वि**=विशेष रूप से यह **ईर्**=रोगों को कम्पित करे। शरीर में इस वीर्य के स्थापन से मैं रोगों का शिकार न होऊँ। ३. **बलम् असि**=हे प्रभो! आप बल हैं। **बलं मयि धेहि**=मुझमें बल स्थापन कीजिए। मेरा मनोमयकोश बल-सम्पन्न हो। यह बलसम्पन्न मन मुझे इन्द्रियों के दमन में समर्थ करे और मैं अपनी जीवन-यात्रा को, विघ्नों को दूर करता हुआ, पूर्ण करनेवाला बनूँ। ४. **ओजः**

असि=हे प्रभो। आप ओज हैं। **मयि ओजः धेहि**=मुझमें ओज का आधान करें। मेरा मन ओजस्वी हो और यह सब प्रकार से मेरी उन्नति का कारण बने। मेरे मन का बल सब विघ्नों व शत्रुओं को दूर करता है तथा यह मानस-ओज मेरी उन्नति व वृद्धि का कारण होता है। ५. **मन्युः असि**=(मन्=अवबोध) हे प्रभो! आप निरतिशय ज्ञान हैं, ज्ञानधन हैं। **मन्युं मयि धेहि**=मेरे विज्ञानमयकोश में भी इस ज्ञान-धन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं अपने जीवन को पवित्र करनेवाला बनूँ। और अन्त में ६. **सहः असि**=हे प्रभो! आप 'सहस्' है, सहनशक्ति के पुञ्ज हैं। हम आपकी आज्ञाओं की कितनी अवहेलना करते हैं, परन्तु आप किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए सदा हमारे कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। **मयि**=मुझमें भी **सहः धेहि**=सहनशक्ति का आधान कीजिए। मैं अपने आनन्दमयकोश को आनन्द से परिपूर्ण करनेवाला बनूँ और सचमुच आनन्द का लाभ कर सकूँ। ७. इस प्रकार हे प्रभो! आपकी कृपा से अपने सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करके मैं सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'आभूति' बनूँ, सर्वत्र ऐश्वर्यवाला।

भावार्थ—मेरा अन्नमयकोश तेजस्वी हो, प्राणमयकोश वीर्यवान् हो। मनोमयकोश में मैं बल व ओज को धारण करूँ। मेरा विज्ञानमयकोश मन्यु=ज्ञान से परिपूर्ण हो, और सहस् को अपनाकर मैं आनन्दमयकोशवाला बनूँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स-बलता

या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षति।
श्येनं पतत्रिणꣳसिꣳहꣳसेमं पात्वꣳहसः॥१०॥

१. गत मन्त्र में एक-एक कोश की शक्ति के धारण का उल्लेख था। यह शक्ति ही आभूति को हैम=स्वर्ग के समान देदीप्यमान वर्चस्=दीप्तिवाला बनाती है और इसका नाम 'हैमवर्चिः' हो जाता है। यह हैमवर्चि प्रार्थना करता है कि **या**=जो **विषूचिका**=(वि-सु-अञ्च) विविध उत्तम गतियों की कारणभूत शक्ति **व्याघ्रम्**=व्याघ्र **च वृकम्**=और भेड़िया **उभौ**=दोनों को **रक्षति**=सुरक्षित करती है। इन दोनों को ही क्या, **पतत्रिणम्**=आकाश में उड़नेवाले **श्येनम्**=बाज़ को तथा **सिंहम्**=शेर को जो शक्ति सुरक्षित करती है **सा**=वही शक्ति **इमम्**=इस हैमवर्चि को **अंहसः**=पापों से व पापजनित पीड़ाओं से **पातु**=रक्षित करे। २. इस संसार का यह एक जीवित-जागरित तथ्य है कि रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता है। ज्ञान व भलमनसाहत का भी अपना स्थान है, परन्तु वे शक्ति का स्थान नहीं ले-सकते। रक्षा के लिए शक्ति ही काम आती है। संसार में दुर्बल बलवान् से मारा जाता है, छोटी मछली बड़ी मछली से निगली जाती है। चूहा बिल्ली से मारा जाता है, बिल्ली कुत्ते से, कुत्ता वृक से, वृक व्याघ्र से और व्याघ्र सिंह से। गौ की भलमनसाहत उसे शेर के आक्रमण से नहीं बचाती। एवं, जहाँ ज्ञान व भद्रता का सम्पादन आवश्यक है वहाँ शक्ति का सम्पादन उनसे कहीं अधिक आवश्यक है। **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** इस उक्ति में यही तथ्य निहित है। ३. 'अंहसः पातु' इन शब्दों से यह भी व्यक्त है कि पाप से भी हमें शक्ति ही बचाती है। निर्बलता व अवीरता के साथ सब बुराइयों (evils) का निवास है। Virtue तो वीरत्व में ही है। निर्बल व्यक्ति जल्दी खिझ उठता है, सबल सहनशील होता है, इसलिए शक्ति का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है, यह शक्ति ही हमें प्रभु को भी प्राप्त करानेवाली होगी **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**।

भावार्थ—हम शक्ति-सम्पादन करके अपने को पापों व कष्टों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अनृणता

यदापिपेषं मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृचं स्थ सं मा भद्रेणं पृङ्क्त विपृचं स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शक्तिशाली बनकर उत्तम जीवनवाले माता-पिता उत्तम सन्तान को ही जन्म देते हैं। उस समय वे कहते हैं कि **यदा**=जब **प्रमुदितः**=प्रकृष्ट प्रसन्नतावाला, अर्थात् स्वास्थ्य के कारण सदा हँसता हुआ **पुत्रः**=बालक **धयन्**=स्तन्यपान करता हुआ, मातृ-दुग्ध को पीता हुआ **मातरं पिपेष**=माता के वक्षःस्थल को दबाता है तो **अग्ने**=हे प्रभो! **एतत् तत्**=तब यह मैं **अनृणः भवामि**=पितृऋण से अनृण होता हूँ। चूँकि **मया**=मैंने **पितरौ**=माता-पिता को **अहतौ**=नष्ट नहीं होने दिया। अब वे सन्तान के रूप में अमर ही बने रहेंगे। **प्रजाभिः अग्ने अमृतत्वमश्याम**=प्रजाओं से हम हे प्रभो! अमृतत्व को प्राप्त करें, यही तो उनकी प्रार्थना थी। अब ये मेरे माता-पिता अपने वंश को नष्ट होता हुआ न समझेंगे। २. यह उत्तम सन्तान चाहता है कि हे पितरो! आप **संपृच स्थ**=अपने को उत्तम गुणों से संपृक्त करनेवाले हो, इस प्रकार **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=भद्र गुणों से **संपृक्त**=सम्यक् युक्त करो। **विपृच स्थ**=आप दुरितों से अपने को पृथक् करनेवाले हो, **मा**=मुझे भी **पाप्मना पृङ्क्त**=पाप से पृथक् कीजिए। आपके गुणावगुण ही तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में मुझे प्राप्त होने हैं। आपके गुण मुझे गुणी बनाएँगे, आपके अवगुण मुझे अवगुणी करेंगे, अतः आपके लिए अपने जीवन को गुणों से युक्त व अवगुण से वियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक है। ३. केवल सन्तान का उत्पादन ही हमें पितृऋण से मुक्त नहीं कर देता, सन्तान का उत्तम बनाना भी आवश्यक है, उत्तम सन्तान ही तरानेवाली होती है।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न बनकर स्वस्थ, प्रमुदित सन्तान को जन्म दें। उन सन्तानों को सद्गुणों से संपृक्त करें तथा विगुणों से विपृक्त करके पितृऋण से अनृण हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नीरोगता-पवित्रता, आश्विनौ-सरस्वती

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना।

वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः॥१२॥

१. गतमन्त्र में अपने को भद्र से संपृक्त करने व पाप से विपृक्त करने का उल्लेख है। ऐसा करनेवाले ही 'देव' कहलाते हैं। ये **देवाः**=देवपुरुष, दिव्य वृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं। २. इस प्रकार जब ये उत्तम कर्मों का विस्तार करते हैं तब **अश्विनौ**=ये प्राणापान **भिषजौ**=जो देवों के वैद्य हैं, दिव्य वृत्तिवाले लोगों को बीमार न होने देनेवाले हैं, वे **भेषजम्**=औषध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं। ये प्राणापान उनकी सब व्याधियों के प्रतीकारक बनते हैं, इनके शरीर को वे पूर्णतया स्वस्थ करते हैं तथा ३. **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता भी **वाचा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **भिषक्**=इनकी मानस आधियों को दूर करनेवाली होती है। ज्ञान से इनका जीवन पवित्र हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसेकि प्राणापान से इनका शरीर नीरोग बना था। ४. वस्तुतः ये प्राणापान (अश्विनौ) तथा ज्ञान

(सरस्वती) **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों की शक्तियों को **दधतः**=धारण करते हैं। इन्हें आधि-व्याधियों से बचाकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सबल बनाते हैं।

भावार्थ—हम सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहकर प्राणापान की शक्ति से नीरोग बनें तथा ज्ञान के द्वारा पवित्र बनें। यह नीरोगता व पवित्रता हमें सर्वाङ्ग सम्पूर्ण जीवनवाला बनाए। हमारे सब अङ्ग पुष्ट हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञात्मक जीवन

दीक्षायै रूपꣳशष्प्याणि प्रायणीयस्य तोक्मानि।

क्रयस्य रूपꣳसोमस्य लाजाः सौमाꣳशवो मधु ॥१३॥

१. पिछले मन्त्र में देवों द्वारा यज्ञ-विस्तार का संकेत था। उसी यज्ञ को जीवन में लाने के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **दीक्षायै**=(दीक्षायाः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) व्रत ग्रहण का **रूपम्**=(sign, feature) निरूपक चिह्न **शष्पाणि**=नये उत्पन्न हुए-हुए व्रीहि हैं, अर्थात् एक व्यक्ति जब यज्ञ का व्रत लेता है तब वह शष्पभोजन का संकल्प करता है। २. **प्रायणीयस्य**=(प्र+अयन) प्रकृष्ट जीवन बिताने के निश्चय का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **तोक्मानि**=नव प्ररूढ़ यव हैं, नये जौ हैं। ये जौ अत्यन्त सात्त्विक भोजन होने से हमारे अन्त:करण को सात्त्विक बनाते हैं और उससे हमारा जीवन-मार्ग उत्तम होता है। ३. **सोमस्य क्रयस्य**=सोम के क्रय का, अर्थात् उत्तम भोजनों से उत्पन्न होनेवाले शरीर में स्थिरता से रहनेवाले सोम की प्राप्ति का **रूपम्**=निरूपक चिह्न **लाजाः**=धान के बने खील **सोमांशकः**=सोमलता के अंशु तथा **मधु**=शहद हैं। जब एक व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि मैंने उस सोम को प्राप्त करना है, जो मेरे शरीर में स्थिर रहे तो वह आग्नेय भोजनों को छोड़कर सौम्य भोजनों का ही स्वीकार करता है। इन सौम्य भोजनों के उदाहरण रूप से यहाँ लाजा, सोमांशु व मधु का उल्लेख हुआ है। ये प्रमुख सौम्य भोजन हैं। ये भोजन हमें सब प्रकार के प्रमेहों से बचाकर शक्तिसम्पन्न जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—दीक्षित व्यक्ति शष्पभोजन का व्रत लेता है, प्रकृष्ट जीवन बितानेवाला नव प्ररूढ़ यवों के प्रयोग का निश्चय करता है और सोम के क्रय (=प्राप्ति) की इच्छावाला सोम का सौदागर बनने की कामनावाला 'लाजा, सोमांशु व मधु' का प्रयोग करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**अतिथ्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अतिथि-महावीर-उपसद्

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।

रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥१४॥

१. 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'अतिथि' शब्द प्रभु की ओर निरन्तर चलनेवाले का वाचक है। इसी अतिथि की भाववाचक संज्ञा 'आतिथ्य' है, अर्थात् प्रभु की ओर निरन्तर चलना। उस **आतिथ्यरूपम्**=आतिथ्य का निरूपक चिह्न यह है कि **मासरम्**=(मासेषु रमन्ते—द०) ये प्रभु के उपासक प्रत्येक मास में रमण करते हैं, इन्हें वर्ष का कोई भी महीना प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इनका दृष्टिकोण यह होता है कि **'वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः'**। वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म भी रमणीय है और वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त व शिशिर भी रमणीय हैं। ऋतुमात्र सुन्दर

हैं, इन ऋतुओं के बनानेवाले सभी मास रमणीय हैं। २. **महावीरस्य**=इस संसार में प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले 'महान् वीर' का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यही है कि **नग्नहुः**=स्वयं नग्न रहकर भी (हु) दान देता है। अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढ़ाता, जिससे अधिक-से-अधिक दे सके। ३. अतिथि व महावीर बनने के लिए **उपसदाम्**=आचार्यों के समीप उपस्थित होनेवाले—आचार्य-चरणों में अन्ततः प्रभु के चरणों में बैठनेवाले ब्रह्मचारियों का **रूपम्**=निरूपकचिह्न **एतत्**=यही है कि **तिस्रो रात्रीः**=आचार्य के समीप तीन रात्रियों तक रहकर इन्होंने **सुरा सुता**=(सुर् to govern, to rule, to shine) आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की दीप्ति का निष्पादन किया है। यहाँ तीन रात्रियाँ—२४, ४४ व ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्यकालों का उपलक्षण हैं। आजकल की भाषा में प्रारम्भिक शिक्षणालय का काल, उच्च विद्यालय का काल तथा महाविद्यालय का काल हैं। इतने समय तक विद्यार्थी आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान को सिद्ध करने के लिए यत्नशील रहता है। आचार्य-चरणों में वास का यही चिह्न है।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाले को सभी मास सुन्दर लगते हैं। महान् वीर वह है जो स्वयं भूखा रहकर भी औरों को खिलाता है। आचार्य चरणों में रहनेवाला आत्म-नियन्त्रण व ज्ञान की साधना करता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

परिषेचन

सोम॑स्य रू॒पं क्री॒तस्य॑ परि॒स्रुत्परि॑षिच्यते।
अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भे॑ष॒जमिन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳ सर॑स्वत्या ॥१५॥

१. तेरहवें मन्त्र में कहा था कि 'सोमक्रय' सोम का ख़रीदार बनने का निरूपक चिह्न यह है कि हम 'लाजा-सोमांशु व मधु' का प्रयोग करते हैं। चौदहवें मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि विद्यार्थी आचार्य के समीप रहकर आत्म-नियन्त्रण व ज्ञानदीप्ति को सिद्ध करता है। इस आत्म-नियन्त्रण ने उसे सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाया था। अब प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **क्रीतस्य सोमस्य**='सोम ठीक ख़रीदा गया', अर्थात् 'सोम की सम्यक्तया रक्षा की गई' इस बात का **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि **परिस्रुत्**=(परितः स्रवति प्राप्नोति—द०) शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला यह सोम **परिषिच्यते**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में रुधिर के माध्यम से सिक्त होता है। २. अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **दुग्धम्** (दुह प्रपूरणे) प्रकृष्टतया पूरित हुआ-हुआ यह सोम **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की वृद्धि के लिए होता है। इससे शरीर में प्राणशक्ति व अपानशक्ति की वृद्धि होती है। ३. प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा **भेषजम्**=यह सब रोगों का औषध होता है। सब रोग-बीजों का दहन करके सोमक्रेता को नीरोग बनाता है। ४. **इन्द्राय**=यह इन्द्रशक्ति, आत्मशक्ति के विकास के लिए होता है और ५. अन्ततः **सरस्वत्या**=ज्ञान की देवता के द्वारा यह **ऐन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति का साधन होता है। इस 'सोम' से ही उस सोम (प्रभु) को प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—सोम का क्रय तो उसने ही किया जिसने कि इसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सिक्त करके रोगों का निवर्तक बनाया और आत्मशक्ति के विकास तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनाया।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

भिषक्

आसन्दी रूपःराजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी।
अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक्॥१६॥

१. 'आसन्दी' उस मञ्चिका=कुर्सी को कहते हैं जिसपर यज्ञशील पुरुष अधिष्ठित होता है। गतमन्त्र के अनुसार सोम का क्रय करके 'यह सोमक्रेता सोम को अपनी मञ्चिका बना पाया है (उस सोम का अधिष्ठाता बना है), इसका **रूपम्**=निरूपक चिह्न यह है कि वह **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (राज् to regulate) तथा (राज् to shine) ज्ञान-दीप्त हुआ है। शरीर में सोम के रक्षित होने पर आधि-व्याधियाँ नहीं रहतीं, जीवन बड़ा व्यवस्थित हो जाता है और सोम द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होकर मनुष्य ज्ञान से चमक उठता है। २. **आसन्द्यै**=(आसन्द्याः) आसन्दी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि **कुम्भी**=यह व्यक्ति कुम्भवाला बना है। 'कुम्भ' का अर्थ है 'क' का जिसमें पूरण (उभ उम्भ् पूरणे)=किया जाए, (क) अर्थात् आनन्द जिसमें भरा जाए। इस 'कुम्भवाला' व्यक्ति वह है जो आनन्द से परिपूर्ण है, जिसके मुख पर सदा विकास व उल्लास के चिह्न हैं। जो व्यक्ति सोम का अधिष्ठाता बनता है वह आनन्दमय व उल्लासमय जीवनवाला होता ही है। इसका जीवन सदा आशामय होता है। यह निराशावाद की बातें नहीं करता। ३. **वेद्यै**=(वेद्याः) वेदि का ज्ञाता बनने का, प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने का निरूपकचिह्न यह है कि यह व्यक्ति **सुराधानी**=सुरा का—नियन्त्रण का अपने में आधान करनेवाला होता है, अर्थात् इसका जीवन पूर्णतया नियन्त्रित होता है। ४. **उत्तरवेद्याः**=उत्कृष्ट ज्ञानी का **रूपम्**=निरूपकचिह्न यह है कि यह **अन्तरः**=(अन्तः अस्य अस्ति इति अन्तर अच्) (क) अन्दरवाला होता है। सदा अन्दर देखनेवाला—आत्म-निरीक्षण करनेवाला बनता है, (ख) आचार्य ने 'अन्तर' शब्द 'अनिति' इस व्युत्पत्ति से बनाया है, तब अर्थ यह होगा कि यह उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, इस जीवन से सब वासनाओं को तैरनेवाला होता है। ५. **कारोतरः**=उत्कृष्ट कर्म करनेवाला, प्रभूत कर्मों में व्याप्त रहनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=सब रोगों का चिकित्सक बनता है। यह सब आधि-व्याधियों को दूर करके शरीर में नीरोग व मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—सोम को अपनी आसन्दी बनाकर हम राजा बनें। इस सोमासन्दी से जीवन में आनन्द का सञ्चार करें। ज्ञानी बनकर नियन्त्रित जीवनवाले हों। उत्कृष्ट ज्ञानी बनकर सदा आत्मनिरीक्षण करें। कर्मों में लगे रहकर आधि-व्याधियों के वश में न हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सन्तान माता-पिता के अनुरूप

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम्।
यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना॥१७॥

१. सोम के अधिष्ठाता, सोम का पूर्णरूप से नियन्त्रण करनेवाले माता-पिता यथेष्ट सन्तानों का लाभ करते हैं। **वेद्या**=(विद् ज्ञाने) ज्ञानी पुरुष से **वेदिः**=ज्ञानी सन्तान ही **समाप्यते**=प्राप्त की जाती है। माता-पिता ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों तो सन्तानों में भी यही ज्ञान की रुचि उत्पन्न होती है। २. **बर्हिषा**=हृदयदेश से वासनाओं को उखाड़नेवाले पुरुष से

बर्हिः=वासनाओं का उद्‌बर्हण (विनाश) करनेवाली और अतएव **इन्द्रियम्**=(इन्द्रियं वीर्यम्) वीर्यसम्पन्न सन्तान उत्पन्न की जाती है। ३. **यूपेन**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ जोड़नेवाले तथा बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले पुरुष से **यूप**=सद्‌गुणसम्पन्न और असद्‌गुणरहित सन्तान होती है तथा ४. **अग्निना**=निरन्तर आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से **अग्निः**=उन्नतिशील सन्तान ही **प्रणीतः**=बनाया जाता है।

भावार्थ—सन्तान माता-पिता के अनुरूप होते हैं। ज्ञानी का ज्ञान-सम्पन्न, निर्वासन का वासनाशून्य और शक्तिसम्पन्न, सद्‌गुणसम्पन्न का सद्‌गुणी तथा उन्नतिशील का उन्नतिशील सन्तान होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**गृहपतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

घर में चार आवश्यक कार्य

ह॒वि॒र्धानं॒ यद॒श्विनाग्नी॑ध्रं॒ यत्सर॑स्वती।

इन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳसद॑स्कृ॒तं पत्नी॒शालं॒ गार्ह॑पत्यः॥१८॥

१.यत्=यदि **अश्विना**=प्राणापान अपेक्षित हैं तो आवश्यक है कि हम 'हविर्धानं' अग्निकुण्ड में हवि का आह्वान करें, अर्थात् घर में नियम से अग्निहोत्र करें। इससे वायुशुद्धि, रोग-अभिसंहार होकर प्राणापान शक्ति में वृद्धि होगी। २. **यत्**=यदि हम **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता की आराधना करना चाहते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो **आग्नीध्रम्**=अग्नीध्र की शरण में जाएँ। यह 'अग्नीध्र' आचार्य है। यह विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि का आधान करता है। वेद में अन्यत्र यही भावना **'अग्निनाऽग्निः समिध्यते'** इन शब्दों में कही गई है। ३. **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए, अर्थात् आत्मशक्ति के विकास के लिए **ऐन्द्रं सदःकृतम्** =परमेश्वर की उपासना का गृह बनाया गया है। घर में एकान्त शान्त स्थान का निर्माण हुआ है। यहाँ बैठकर यह 'हैमवर्चिः' प्रभु का उपासन करता है और अपने अन्दर उस प्रभु की शक्ति को प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर ही यह 'इन्द्र' बन पाता है। ४. एवं, घर में एक 'हविर्धान' अग्निहोत्र करने का स्थान है, यह हमारी प्राणापान की शक्ति के वर्धन का कारण बनता है। **अग्नीध्र**=आचार्य के समीप बैठने का स्थान है, यह हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। **ऐन्द्रम्**=प्रभु के उपासन का स्थान है, यह हमारी आत्मिक शक्ति की वृद्धि करनेवाला होता है। इन सबके अतिरिक्त **पत्नीशालम्**=एक पत्नी की शाला है। यह **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य है, जहाँ घर के सब लोगों के रक्षण के लिए अन्नपाचन आदि कार्य सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर हविर्धान हो, अग्नीध्र, ऐन्द्रसदस् तथा पत्नीशाल हो। उसमें अग्निहोत्र, आचार्यों से ज्ञानोपार्जन, प्रभु का उपासन तथा गृह-सम्बन्धी कार्य उत्तमता से चलते रहें।

सूचना='पत्नीशालं गार्हपत्यः' शब्द से यह बात स्पष्ट है कि पत्नी का स्थान घर में है, उसे गृहकृत्यों में निपुण बनकर घर के कार्यों को उत्तमता से करना है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रैषों से प्रैषों को

प्रै॒षेभि॑: प्रै॒षाना॑प्नोत्या॒प्रीभि॑रा॒प्रीर्य॒ज्ञस्य॑।

प्र॒या॒जेभि॑रनुया॒जान्व॑षट्का॒रेभि॒राहु॑तीः॥१९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार घरों को सुन्दर बनाकर उन घरों में माता-पिता **प्रैषेभिः**=प्रकृष्ट गतियों के द्वारा (प्र+इष् गतौ) **प्रैषान्**=प्रकृष्ट गतिवाले सन्तानों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। उत्कृष्ट आचरणवाले माता-पिता के सन्तान भी उत्कृष्ट आचरणवाले होते हैं। २. **यज्ञस्य**=उत्तम कर्मों के **आप्रीभिः**=(तेजो वै ब्रह्मवर्चसं आप्रियः—ऐ० २।४) तेजों से, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे रहने से उत्पन्न शक्तियों के द्वारा **आप्रीः**=तेज के पुञ्ज, अत्यन्त तेजस्वी सन्तानों को पाता है। ३. **प्रयाजेभिः**=(प्राणा वै प्रयाजाः—ऐ० १।११) प्राणशक्ति के द्वारा **प्रयाजान्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को प्राप्त करता है और ४. **अनुयाजैः**=(अपाना अनुयाजाः—कौ० ६।९) अपानशक्ति के द्वारा **अनुयाजान्**=अपानशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाते हैं, इनके शरीर में दोष दूरीकरण की शक्ति ठीक बनी रहती है। ५. **वषट्कारेभिः**=(वाग्वै वषट्कारः। —श० १।६।२।२९) वाक्शक्ति के द्वारा वषट्कारान्=वाक्शक्ति-सम्पन्न सन्तानों को पाता है और अन्त में ६. आहुतिभिः=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **आहुतीः**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है।

भावार्थ—माता-पिता का उत्तम आचरण सन्तान को भी सच्चरित्र बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यजमानः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पशुओं से पशुओं को

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीᳫंष्या।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान्॥२०॥

१. **पशुभिः**=पशुओं से **पशून्**=पशुओं को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। यदि दौर्भाग्यवश माता-पिता में 'कामः पशुः क्रोधः पशुः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार काम-क्रोधादि पशुवृत्तियाँ प्रबल होंगी तो वे इन पशुवृत्तियों की प्रबलतावाले सन्तानों को ही प्राप्त करेंगे। २. **पुरोडाशैः**=(पुरः दाश्नोति=kill) परन्तु सबसे प्रथम इन काम-क्रोधादि के संहार से **पुरोडाशान्**=सबसे प्रथम काम-क्रोध का संहार करनेवाली सन्तानों को प्राप्त करता है। ३. **हविर्भिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **हवींषि आप्नोति**=देकर खाने की वृत्तिवाले सन्तानों को पाता है ४. **छन्दोभिः**=(छन्दांसि छादनात्) अपने को पापों से बचाने की वृत्तियों से **छन्दांसिः**=अपने को पाप से बचानेवाले सन्तानों को प्राप्त करता है ५. **सामिधेनीभिः**=अपने में ज्ञान की समिधाओं के आधान की वृत्तियों से, अर्थात् ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **सामिधेनीः**=ज्ञानदीप्तियोंवाली सन्तानों को पाता है। ६. **याज्याभिः**=यज्ञ की क्रियाओं से **याज्ञाः**=यज्ञक्रियाओंवाली सन्तानों को और ७. **वषट्कारैः** =वाक्शक्ति के विकासों से **वषट्कारान्**=विकसित वाक्शक्तिवाली सन्तानों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पिता का पाशविक आचरण सन्तानों को पशुतुल्य बना देता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हविष्य अन्न (first grade)

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपᳪहविषऽआमिक्षा वाजिनं मधु॥२१॥

१. गतमन्त्रों का विषय 'उत्तम सन्तान की प्राप्ति कैसे हो सकती है', यह था। अपनी उत्तम वृत्ति से ही हम सन्तानों को उत्तम बना पाएँगे। उस उत्तम वृत्ति के निर्माण के लिए भोजन का उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। इन भोजनों में 'वानस्पतिक भोजन' उत्तम है।

वास्तव में मांस तो भोजन कहे जाने योग्य ही नहीं। इन वनस्पतियों व ओषधियों का राजा 'सोम' है। 'कौषीतकी उपनिषद् २३।७' के अनुसार 'एतद्वै परममन्नाद्यं सोमः' सोम परम अन्नाद्य=सर्वोत्कृष्ट भोजन है। 'हविर्वै देवतानां सोमः'—श० १।३।५३।२ देवताओं का सोम ही दानपूर्वक अदन करने योग्य पदार्थ है। २. इसी **हविषः सोमस्य**'=दानपूर्वक अदन के योग्य सोम के **रूपम्**=(Kind, sort, species) स्थानापन्न तज्जातीय पदार्थ निम्न हैं—(क) **धानाः**=भुने हुए जौ, (ख) **करम्भः**=दधिमिश्रित सत्तु, (ग) **सक्तवः**=सत्तू (घ) **परीवापः**=भुने हुए चावल या घनीभूत दूध (ङ) **पयः**=दूध (च) **दधि**=दही, (छ) **आमिक्षा**=उष्ण दूध में दही डालने पर जो दूध का घनभाग होता है, वह आमिक्षा है, (ज) **वाजिनम्**=घनभाग के अतिरिक्त जो पानी-सा है यह 'वाजिनं' कहलाता है, (झ) **मधु**=शहद। ३. ये नौ पदार्थ सोम की जाति के हैं। सोम के साथ मिलकर इनकी संख्या दस हो जाती हैं। इन दस हविष्य अन्नों के प्रयोग से हम अपने अन्तःकरणों को उत्तम बनाकर उत्तम आचरणवाले होते हैं और वैसी ही सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम हविष्य पदार्थों का ही सेवन करें, जिससे शुद्धान्तकरणोंवाले हो सकें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

स्थानापन्न अन्न (Second grade)

धानानाᳬरूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।

सक्तूनाᳬरूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥२२॥

१. गतमन्त्र में धान आदि हविष्य अन्नों का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उनमें से कुछ के स्थानापन्न पदार्थों का उल्लेख करते हैं—**धानानाम्**=भृष्ट=भुने हुए यवों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **कुवलम्**=उत्पल—कमलगट्टे हैं (कुवलं बदरीफले मुक्ताफलोत्पलयोश्च, इति कोशः) २. **परीवापस्य**=भुने हुए चावलों का **रूपम्**=स्थानापन्न अन्न **गोधूमाः**=गेंहू हैं। ३. **सक्तूनां रूपम्**=सत्तुओं का स्थानापन्न **बदरम्**=बेरों को सुखाकर बनाया गया चूर्ण है। तथा ४. **करम्भस्य**=दधिमिश्रित सत्तुओं का रूप **उपवाकाः**=यव (जौ) है। इक्कीसवें मन्त्र में प्रथमश्रेणी के अन्नों का उल्लेख हुआ था। बाइसवें तथा तेइसवें मन्त्र में द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम श्रेणी के अन्न न मिलने पर हम इन द्वितीय श्रेणी के अन्नों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित 'कुवल-गोधूम-बदर व उपवाक' का भोजनरूप में प्रयोग करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्य उपादेय पदार्थ

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि।

सोमस्य रूपं वाजिनᳬसौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥२३॥

१. **यत् यवाः**=ये जो जौ हैं, वे **पयसः रूपम्**=दूध का स्थानापन्न भोजन हैं, २. **दध्नः रूपम्**=दही का स्थानापन्न भोजन **कर्कन्धूनि**=स्थूल बदरी फल हैं ३. **सोमस्य रूपम्**=सोम का स्थानापन्न **वाजिनम्**=दूध का पतला भाग (whey) है, ४. **सोमस्य**=सोम से बने हुए भोजन का स्थानापन्न **आमिक्षा**=फटे दूध का घनभाग है, जिसमें दही मिलाया गया है, (curd of milk and whey)

भावार्थ—'यव-कर्कन्धु-वाजिन तथा आमिक्षा' ये हमारे प्रिय भोजन हों।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गुरु-शिष्य

आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावोऽअनुरूपः।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा ये यजामहाः ॥२४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सात्त्विक अन्नों का सेवनकरने वाले 'गुरु और शिष्य किस प्रकार अध्ययनाध्यापन करें' इस बात का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अध्यापक! आप **आश्रावय** (समन्तात् विद्योपदेशान् कुरु—द०) सब प्रकार से विद्यार्थियों को ज्ञान का ही श्रवण कराएँ, विविध विषयों में उन्हें ज्ञानप्रवीण करें। **इति**=बस, आपका यही कार्य हो। आपका ध्यान सदा पढ़ाने में ही हो, आपकी सारी शक्ति इसी कार्य में लगे। २. आप उन विद्यार्थियों को वह ज्ञान सुनाएँ जो **स्तोत्रियाः**=(स्तोत्राण्यर्हन्ति द०) इन स्तोत्रों के योग्य हैं, अर्थात् जिनकी योग्यता इन स्तोत्रों को उन्हें समझने के योग्य बनाती है। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। इसके सभी मन्त्र पदार्थों के गुणधर्मों का निरूपण करनेवाले होने से 'स्तोत्र' कहलाते हैं। ३. उन विद्यार्थियों को तू वह ज्ञान दे जो **प्रत्याश्रावः (प्रतिश्रावयति)**=पढ़े हुए पाठ को ठीक से सुना देता है, अर्थात् पूर्ण ध्यान से आचार्य-मुख से निकले शब्दों को सुनता है और उन्हें ठीक वैसा ही सुना देता है। ४. **अनुरूपः**=जो आचार्य के अनुरूप बनने के लिए उनके अनुकूल होने का पूर्ण प्रयत्न करता है। ५. अब विद्यार्थी के लिए कहते हैं कि **यज्ञा इति**=(देवपूजा-संगतिकरण-दान=यज्) तू आचार्यों का आदर कर, सदा आचार्यों के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न कर और अपने को आचार्य के प्रति दे डाल। यह आचार्य के प्रति अर्पण तुझे सर्वथा आचार्य के अनुरूप बना देगा। ६. **धाय्या**=(धेयमर्हा) ज्ञान के आधान के योग्य विद्यार्थियों का **रूपम्**=(Sign, feature) चिह्न यह होता है कि वे **प्रगाथाः**=प्रकृष्ट गायनवाले होते हैं। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं, और **ये**=जो **यजामहाः**=(भृशं यजन्ति) खूब यज्ञशील होते हैं। आचार्यों का आदर करते हैं, उनके सम्पर्क में रहते हैं, उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं तभी आचार्य उन्हें अपने अनुरूप बना पाते हैं।

भावार्थ—(क) आचार्यों का एक ही कार्य हो कि वे ज्ञान देने में लगे रहें, (ख) विद्यार्थियों का भी एक ही कार्य हो कि वे उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम की प्राप्ति

अर्धऽऋचैरुक्थानाᳬरूपं पदैराप्नोति निविदः।
प्रणवैः शस्त्राणाᳬरूपं पयसा सोमऽआप्यते॥२५॥

१. **अर्धऋचैः**=मन्त्रभाग से **उक्थानाम्**=प्रवचनों का **रूपम्**=सौन्दर्य **आप्नोति**=प्राप्त किया जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को 'श्रद्धा' के विषय में समझाते हुए **'श्रद्धया सत्यमाप्यते', 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि', 'श्रद्धया विन्दते वसु'** आदि मन्त्रभागों से विषय को बड़ा सौन्दर्य प्राप्त करा देते हैं। २. इसी प्रकार, **पदैः**=शब्दों से **निविदः**=निश्चयात्मक बातों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। 'भोजन' इसलिए भोजन है कि (भुज् पालनाभ्यवहारयोः) यह पालन के लिए खाया जाता है, अर्थात् यह स्पष्ट है कि

हमने शरीर-रक्षा के लिए खाना है, स्वाद के लिए नहीं। 'बाहु' इसीलिए 'बाहु' हैं कि (बाह् प्रयत्ने) इनसे मनुष्य कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, इन्हें सदा कर्मों में लगाये रखता है। 'दीधिति' अंगुलियों का नाम है, चूंकि 'धीयन्ते कर्मसु' इन्हें कर्मों में आहित करना है। एवं, 'वैदिक पद' हमें निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाले हैं। ३. **प्रणवैः**=(ओंकारैः द०) निरन्तर किये जानेवाले 'ओम्' के जप से **शस्त्राणांरूपम् आप्यते**=शस्त्र का रूप प्राप्त किया जाता है, अर्थात् यह **प्रणवः**=ओंकार जप करनेवाले का शस्त्र बन जाता है। उपनिषद् में तो 'प्रणवो धनुः' कहकर प्रणव को धनुष बना ही दिया है। इस प्रणवरूप धनुष से हम काम आदि शत्रुओं का (शंसन्ति-हिंसन्ति यैः) हिंसन करनेवाले होते हैं। ४. इस प्रकार **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा **सोमः**=वह उमा के साथ रहनेवाले महादेव, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानवाले प्रभु **आप्यते**=पाये जाते हैं। उसी प्रकार जैसे **पयसा**=दूध से **सोमः**=वीर्य **आप्यते**=प्राप्त होता है। दुग्धादि के प्रयोग से सोम की प्राप्ति होती है। इस सोम से सब शक्तियों का आप्यायन करते हुए हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानवृद्धि तो आवश्यक है ही। जप से वासना को दूर करना भी आवश्यक है और सात्त्विक भोजनों से सोम का वर्धन करते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सवन-त्रयी

अश्विभ्यां प्रातः सवनमिन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनम्।
वैश्वदेवꣳसरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳसवनम्॥२६॥

१. उपनिषदों में 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायंसवन' का उल्लेख है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य ही प्रातःसवन है, इसे करनेवाला 'वसु' कहलाता है। ४४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है। इसे करनेवाला 'रुद्र' है तथा तृतीयसवन ४८ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य है। इसे करनेवाला 'आदित्य' है। २. वसु ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणापान की शक्ति की वृद्धि करके उत्तम निवासवाला बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साधकों से यह प्रातःसवन किया जाता है। २४ वर्ष तक का ब्रह्मचर्य इसकी प्राणापान शक्ति को खूब आप्यायित कर देता है। इस प्रातःसवन को करनेवाला व्यक्ति भी 'अश्विनौ' शब्द से कहलाने लगता है। ३. **इन्द्रेण**=इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले से **माध्यन्दिनम्**=४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन विस्तृत किया जाता है। यह **ऐन्द्रम्**=इन्द्रशक्ति का विकास करनेवाला होता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुरवृत्तियों का संहार करता है। असुरों के लिए यह 'रुद्र'=भयंकर होता है। ४. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से **तृतीयं सवनम्**=यह ४८ वर्ष का तृतीयसवन **आप्तम्**=प्राप्त किया जाता है। यह तृतीयसवन **वैश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर होता है। दिव्य गुणों व ज्ञान का आदान करने के कारण ब्रह्म का ग्रहण करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। यह ज्ञान का अधिकाधिक संचय करता है। (सरस्वत्या) तथा दिव्य गुणों की अपने में वृद्धि करता है (वैश्वदेवम्)।

भावार्थ—१. आचार्य-चरणों में 'उपसद्' बनने का पहला लाभ यह है कि प्राणापान शक्ति देकर हमें स्वस्थ बनाते हैं (अश्विभ्यां, वसु) २. दूसरा लाभ यह है कि हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'रुद्र' बनकर प्रभु बनते हैं (इन्द्रस्य इति ऐन्द्रम्) और

अन्त में ३. सरस्वती की अराधना करते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों को बढ़ाकर हम 'आदित्य' बनते हैं और सब दिव्य गुणों के स्वीकार से 'वैश्वदेवम्' होते हैं।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गति-स्थिति (गति से स्थिति तक)

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम्।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति॥२७॥

वायव्यैः=वायु-सम्बन्धी गुणों के द्वारा, अर्थात् 'वा गतिगन्धयोः' गति के द्वारा बुराइयों को समाप्त करने की वृत्ति से **वायव्यानि**=वायु-गुणयुक्त शिष्यों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, विद्यार्थियों को भी वह क्रियाशीलता के द्वारा बुराइयों के ध्वंस की वृत्तिवाला बना पाता है। २. **सतेन**=(सन् संभक्तौ) संभजन व संविभाग से, अर्थात् समय-विभाग के अनुसार कार्य करने से (विभागयुक्त कर्म से—द०) अथवा दिनचर्या के ठीक परिपालन से **द्रोण-कलशम्**=(द्रोणकलशो यस्य, द्रु गतौ—कलाः शेरते अस्मिन्) गतिशील कलायुक्त शरीरवाले को प्राप्त करता है, अर्थात् ठीक समयविभाग के अनुसार, संविभागपूर्वक समक्रियाओं के करनेवाले आचार्यों के विद्यार्थी भी ठीक क्रियाशील होते हैं और अपने इस शरीर में सब कलाओं का सम्यक् आधान करनेवाले होते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'प्राण, श्रद्धा' आदि सब कलाएँ उनके जीवन में आश्रित होती हैं। ३. **कुम्भीभ्याम्**=(क+उम्भ्=कः आनन्द व जल=देवशक्ति) आचार्य से अपने में आनन्दमयता व शक्ति के भरने से **अम्भृणौ**=महान् (अम्भृण इति महन्नाम, निघण्टौ) व वाणी के पिता **सुते**=उत्पन्न किये जाते हैं (अम्भृण Powerful, great, mighty, master of वाच्)। आचार्य अपनी आनन्दमयता व शक्तिमत्ता से विद्यार्थियों को भी शक्तिसम्पन्न व महान् बनाता है। आचार्य की आनन्दमय मनोवृत्ति विद्यार्थियों को वाणी के ज्ञान का अधिपति बना देती है। ४. **स्थालीभिः**=(स्थल प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा की वृत्तियों से, अर्थात् स्थिररूप से कार्य में लगे रहने की वृत्ति से **स्थालीः आप्नोति**=स्थिर वृत्तिवालों को प्राप्त करता है। आचार्य की स्थिरता विद्यार्थियों में भी स्थिरता को जन्म देती है।

भावार्थ—हम वायु की भाँति क्रियाशील व बुराइयों का संहार करनेवाले बनें, संविभागपूर्वक कार्यों को करते हुए हम गतिशील व षोडशकला सम्पूर्ण देहवाले हों। आनन्दमयता से हम महान् बनें, स्थिरता को अपनाएँ।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अव-भृथ

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहै स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि साम्नावभृथऽआप्यते॥२८॥

१. **यजुर्भिः**=यजुर्वेद के मन्त्रों से **ग्रहाः**=(यैः सर्वं क्रियाकाण्डं ग्रह्णन्ति ते व्यवहाराः—द०) ग्रहणीय गृह व्यवहार—उपादेय कर्मकाण्ड **आप्यन्ते**=प्राप्त किये जाते हैं, अर्थात् यजुः मन्त्रों से हमें जीवन के सब कर्त्तव्यों का बोध होता है। यजुर्वेद का उपनाम ही कर्मवेद है। २. **ग्रहैः**=इन ग्रहणीय व्यवहारों व कर्त्तव्यों के ठीक पालन से ही वस्तुतः **स्तोमाः**=स्तवन तथा **विष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियाँ **आप्यन्ते**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् कर्मों के करने से ही प्रभु का अर्चन होता है और लोक में यश की प्राप्ति होती है। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**=प्रभु-अर्चन

तो स्वकर्म पालन से ही होता है तथा लोक में यशस्वी भी वही होता है जो अपने कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहता है। ३. **छन्दोभिः**=छन्दों के द्वारा ही **उक्थाशस्त्राणि**=उक्थ और शस्त्र प्राप्त होते हैं। 'छन्द' वेदमन्त्र हैं, 'उक्थ' प्रवचन हैं, शस्त्र=वासना-हिंसन के साधन हैं। एवं, अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्रों द्वारा उत्तम प्रवचन होते हैं तथा इन्हीं के उच्चारण से प्रेरणाओं को प्राप्त होते हुए और प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं का **शंसन**=हिंसन कर पाते हैं। वस्तुतः हमें ये वासनाओं से बचाते हैं, इसी से तो इनका नाम 'छन्दस्' हुआ 'छादयन्ति'। ४. **साम्ना**=शान्ति से वासनाओं के सभी तूफ़ानों के शान्त हो जाने पर **अवभृथः**=यज्ञान्तस्नान **आप्यते**=प्राप्त होता है, अर्थात् जीवन-यज्ञ का पूर्ण शोधन साम से होता है। जिस दिन मैं साम व शक्ति को प्राप्त कर सका, वस्तुतः उसी दिन मेरा यह यज्ञ पूर्ण होता है।

भावार्थ—यजुर्वेद प्रतिपादित उत्तम कर्मों का हम ग्रहण करें, कर्म ही हमारे **स्तोम**=प्रभुस्तवन हों तथा हमारी उत्तम स्तुति का कारण बनें। छन्दों के द्वारा मेरी वासनाओं का हिंसन हो और इस वासना-संहार से मेरा जीवन साममय हो। यह शान्ति मेरे जीवनकाल का **अवभृथ**=यज्ञान्त स्नान हो। इस शान्ति में मेरे जीवन की पूर्ण पवित्रता हो।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इडा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

संस्था (ब्राह्मीस्थिति)

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषा सꣳस्थाम्॥२९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अवभृथ' (यज्ञान्त स्नान) करनेवाला व्यक्ति **इडाभिः**=पृथिवी से (इडा=पृथिवी—नि० १।१) **भक्षान्**=भक्षणीय पदार्थों को प्राप्त करता है अथवा **इडाभिः**=गौओं से (इडा=a cow) भोजन को प्राप्त करता है, अर्थात् इसका भोजन दूध व वानस्पतिक अन्न, शाक-फल ही होते हैं। २. इन सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए सात्त्विक अन्तःकरणवाला बनकर **सूक्तवाकेन**=सदा मधुर, सत्य वाणियों के द्वारा यह, **आशिषः**=इच्छाओं को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित करके यह सब क्रियाओं को सफल कर पाता है, यह जैसा चाहता है, वैसा ही सोचता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक भोजनों व सत्य का सेवन करनेवालों का जीवन शान्त होता है। इस **शंयुना**=शान्ति को अपने साथ जोड़ने से यह **पत्नीसंयाजान्**=पत्नी के साथ उत्तम यज्ञों का **आप्नोति**=व्यापन करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने जीवन में अपने जीवन-सखा (पत्नी) से मिलकर उत्तमोत्तम यज्ञात्मक कर्मों का करनेवाला होता है। ४. **समिष्टयजुषा**=इन किये हुए उत्तम यज्ञों से (सम्=सम्यक् इष्ट=कृत यजुः=यज्ञ) **संस्थाम्**=उत्तम स्थिति को ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हमारा भोजन अन्न, फल, शाक व दूध हों। हम सत्य से सब इष्टकार्यों को सिद्ध करें। शान्ति से गृहस्थ में यज्ञों का सेवन करें। इन सम्यक् कृत यज्ञों के द्वारा स्थितप्रज्ञता व ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रतम्-सत्यम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'संस्था'=ब्राह्मीस्थिति पर थी, यही प्रस्तुत मन्त्र में 'सत्य की प्राप्ति' इन शब्दों से कही जा रही है। उस सत्य की प्राप्ति का क्रम यह है—**व्रतेन**=व्रत से **दीक्षाम्**=दीक्षा को **आप्नोति**=प्राप्त होता है। यहाँ मानव-जीवन का प्रारम्भ है। इस प्रारम्भिक ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति व्रत के द्वारा—नियम के द्वारा **दीक्षा**=(self devotion) आत्मभक्ति (ब्रह्मचर्य=प्रभु की ओर चलना) का निश्चय करता है। वस्तुतः हम अपने जीवन में क्रमशः 'माता-पिता-आचार्य-अतिथि' व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनते हैं। यही हमारे जीवन की 'पंचायतनपूजा' है। भौतिक क्षेत्र में इन पाँचों का क्रमशः पृथिवी आदि के साथ सम्बन्ध है। माता पृथिवी है, पिता सब कष्टों का निवारण करने का प्रयत्न करता हुआ **वारि**=जल के तुल्य है, आचार्य अग्नि है, अतिथि वायु की भाँति निरन्तर भ्रमण करनेवाला है और प्रभु समन्तात् दीप्त आकाश के समान हैं। हम उत्तरोत्तर इनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, यही अर्पण 'दीक्षा' है। इस दीक्षा के लिए व्रत का ग्रहण करना होता है, अन्यथा दीक्षा सम्भव ही नहीं। २. अब गृहस्थ में **दीक्षया**=इस दीक्षा के द्वारा **दक्षिणाम्**=दक्षिणा को **आप्नोति**=प्राप्त करता है। दीक्षित अनायास दान की वृत्तिवाला होता है। गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य 'दक्षिणा' है, जिस प्रकार ब्रह्मचारी का मौलिक कर्त्तव्य 'आत्मसमर्पण' था। ३. अब वानप्रस्थ में इस दक्षिणा देने की वृत्ति से **श्रद्धाम्**=(सत्=सत्यं, धा=धारण) सत्य के धारण को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् जितना-जितना देता है उतना-उतना सत्य का धारण चलता है। न देना ही असत्य की ओर जाना है। अपरिग्रह सत्य की ओर ले-जाता है और परिग्रह असत्य में फँसाता है। ४. अब ब्रह्माश्रम (संन्यास) में **श्रद्धया**=इस सत्यधारण की वृत्ति से अन्ततः **सत्यम्**=वह सत्य प्रभु **आप्यते**=प्राप्त किया जाता है। सत्य का धारण करते हुए धीमे-धीमे हम पूर्णसत्य को अपना पाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में व्रती बनें, दीक्षित हों, दक्षिणा=दान की वृत्तिवाले हों, इस दान की वृत्ति से उत्तरोत्तर सत्य का अपने में धारण करते हुए पूर्णसत्य को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ की पूर्णता

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'व्रत-दीक्षा-दक्षिणा-श्रद्धा' के माध्यम से सत्य की प्राप्ति का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि बस, **एतावत्**=इतना ही **यज्ञस्य रूपम्**=यज्ञ का रूप है। वस्तुतः यही यज्ञ है। **यत्**=जो **देवैः**=दिव्य गुणों से युक्त मनवालों से **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **कृतम्**=सम्पादित हुआ है। इस सत्य की प्राप्ति देवों को होती है। बिना दिव्य गुणों के अपनाये सत्य-प्राप्ति सम्भव नहीं। इस सत्य की प्राप्ति के लिए दिव्य गुणों के साथ ज्ञान भी आवश्यक है। वास्तव में ज्ञान के बिना दिव्य गुणों की प्राप्ति भी सम्भव नहीं, २. परन्तु **तत् एतत् सर्वम्**=ये सब दिव्य गुण तथा ज्ञान **आप्नोति**=मनुष्य तभी प्राप्त करता है, जब **यज्ञे सौत्रामणी सुते**=(सौत्रामणी=सौत्रमण्याम्) सौत्रामणी यज्ञ किया जाता है। सौत्रामणी यज्ञ के **सुते**=निष्पादित होने पर ही ये सब अच्छे गुण व ज्ञान प्राप्त हुआ करते हैं। यह सौत्रामणी यज्ञ=(सुत्रा) इस शरीर की उत्तमत्ता से रक्षा ही है। इसपर किसी प्रकार के रोगों का आक्रमण न हो जाए, यही सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ के लिए सुरा का सेवन होता

है। ('सुर्' to govern, to rule) **सुरा**=आत्मनियन्त्रण का साधन होता है। बिना आत्मनियन्त्रण के यह यज्ञ सिद्ध नहीं होता। इस नियन्त्रण में ही वीर्यरक्षा का आधार है। यह वीर्यरक्षा मनुष्य को पूर्ण स्वस्थ बनाती है और इस प्रकार हम सौत्रामणी यज्ञ को सिद्ध करते हैं। ३. एवं, हम शरीर में स्वस्थ बनते हैं, मन में देव बनते हैं, मस्तिष्क में ब्रह्म=ज्ञान का पूरण करते हैं। बस, यही 'जीवनयज्ञ' का पूर्ण रूप है।

भावार्थ—दिव्य गुणों के धारण, ज्ञान की प्राप्ति व शरीर की रोगों से पूर्णरक्षा के द्वारा हम जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का वर्धन

सुरावन्तं बर्हिषदꣳसुवीरं यज्ञꣳहिन्वन्ति महिषा नमोभिः।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ के करनेवाले **महिषा**=(मह् पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले साधक **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, अपने जीवन में नम्रता-धारण के द्वारा **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **हिन्वन्ति**=अपने में बढ़ाते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु की भावना को उज्ज्वल करते हैं। उस प्रभु की भावना को, जो २. (क) **सुरावन्तम्** (सुर् to shine) ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, सारे ज्ञान के स्रोत हैं। वे ही आदिगुरु हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले हैं। (ख) **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले हैं। (ग) **सुवीरम्**=(शोभना वीरा शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात् तम्) जिस प्रभु के उपासन से उपासक शरीर व आत्मा के बल से युक्त होते हैं। ३. इस प्रभु के उपासन से वासनाशून्य होकर हम वीर्य को सुरक्षित कर पाते हैं और **सोमं दधानाः**=इस सोम का धारण करते हुए, **दिवि**= प्रकाश में तथा **देवतासु**=दिव्य गुणों में अपने को धारण करते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश तथा मन में वासनाशून्यता के कारण एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। ४. हम **इन्द्रं यजमानाः**=उस घर में ऐश्वर्यशाली प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हुए **स्वर्काः**=उत्तम उपासनवाले हों तथा उत्तम अन्नों का (अर्क=अन्न—नि०) सेवन करनेवाले हों। प्रभु के सम्पर्क के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न सहायक होते हैं। इनसे अन्तःकरण की शुद्धि होकर स्मृति ठीक बनी रहती है, वासना-ग्रन्थियों का विनाश होकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य हो जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु-उपासन के लिए चित्तवृत्ति को ठीक रखने के उद्देश्य से सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुरया-सोम

यस्ते रसः सम्भृतऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्॥३३॥

१. **यः**=जो **ते**=तेरा **ओषधीषु**=ओषधियों में **रसः**=रस **सम्भृतः**=धारण किया गया है और उस रस के द्वारा **सुरया**=आत्मनियन्त्रण के साथ **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न किये गये सोम (वीर्यशक्ति) का **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है **तेन**=उस सोम के बल से **यजमानम्**=प्रभु के साथ अपना सम्पर्क करनेवाले इस यज्ञशील पुरुष को **मदेन**=आनन्द व उल्लास से

जिन्व=प्रीणित कर। २. प्रभु ने वनस्पतियों में एक रस की स्थापना की है। यह रस उत्तम सोम का उत्पादक होता है, इस सोम को यदि आत्मनियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति अपने में ही सुरक्षित रखता है तब यह सोम इस 'यजमान' के जीवन को आनन्दित करनेवाला होता है, वास्तव में यह सुरक्षित सोम ही उसे यजमान=प्रभु के साथ सङ्गत करनेवाला बनाता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यजमान का जीवन आनन्द से परिपूर्ण हो उठता है। ३. यह नियन्त्रित सोम इस यजमान को (क) **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिदेवता ही बना देता है, यह बड़ा ज्ञानी बनता है। (ख) **अश्विनौ**=इस सोम के रक्षण से पुरुष प्राणापान शक्ति का पुञ्ज बनता है (ग) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों की शक्तिवाला होता है तथा (घ) **अग्निम्**=सब दोषों का ध्वंस करके आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—हम ओषधियों के सेवन से सोम को शरीर में उत्पन्न करें। आत्मनियन्त्रण के द्वारा इस सोम की रक्षा करें। यह सुरक्षित सोम हमें आनन्द से प्रीणित करे। हमें यह प्रभु के मेलवाला (यजमान), ज्ञानी (सरस्वती), दीर्घजीवी (अश्विनौ), शक्तिसम्पन्न इन्द्रियोंवाला (इन्द्र) तथा दोषदहनपूर्वक आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनाता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम+रक्षण, सोम का अध्याहरण (अश्विनौ द्वारा)

यम॒श्विना॒ नमु॑चेरासु॒रादधि॒ सर॑स्व॒त्यसु॑नोदि॒न्द्रियाय॑।

इ॒मं तꣳशु॒क्रं मधु॑मन्त॒मिन्दु॒ꣳसोम॒ꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि॥३४॥

१. मैं **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस २. (क) **शुक्रम्**=(शीघ्रं बलकरम्) शीघ्र-बलकारी=जिसके होने पर मनुष्य शीघ्रता से शक्तिपूर्वक कार्यों को करता है। (ख) **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले—जो मेरे व्यवहार को मधुर बनाता है। (ग) **इन्दुम्**=(इन्द् to be powerful) परमैश्वर्यकारक तथा (घ) **राजानं सोमम्**=मेरे जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम—वीर्य को **भक्षयामि**=अपने में धारण करता हूँ, अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। २. उस सोम को मैं अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ **यम्**=जिसको **आश्विनौ**=प्राणापान **आसुरात्**=असुरवृत्तियों के लिए हितकर, अर्थात् आसुर भावनाओं को पनपानेवाले **नमुचेः (न मुच्)**=पीछा न छोड़नेवाले (Last infirmity of noble minds) इस अहंकार नामक असुरराज से **अधि**=(आश्विनौ ह्येनं नमुचेरध्याहरताम्। —श० १२.८.१.३) ऊपर उठानेवाले हुए, अर्थात् प्राणापान की साधना का परिणाम यह हुआ कि इस वीर्य के कारण इसके अधिष्ठानभूत वीर पुरुष में अहंकार की भावना उत्पन्न नहीं हुई। एवं, प्राणायाम के अभ्यास के अभाव में यह वीर्य राजसरूप धारण करके मनुष्य को अहंकारी बना देता है। प्राणायाम से सात्त्विकता बनी रहती है और अहंकार की उत्पत्ति नहीं होती। यही अश्विनीदेवों का नमुचि से सोम का अध्याहरण है, अंहकार से ऊपर उठाना है। ३. अब अश्विनीदेवों द्वारा नमुचि से अध्याहरित इस सोम को **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **इन्द्रियाय**=इन्द्र के शरीर के लिए **असुनोत्**=सिद्ध करती है। अहंकार से ऊपर उठे हुए पुरुष का वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और उसकी शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना वीर्यरक्षा का सुन्दर साधन है। वीर्य का ज्ञानाग्नि-दीपन में विनियोग होकर उस का सुन्दर सद्व्यय हो जाता है, उससे आत्मा की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना वीर्य की केवल रक्षा ही नहीं करती, अपितु उस वीर पुरुष को अभिमान का शिकार भी नहीं होने देती। 'ज्ञान-प्राप्ति में लगना' उस वीर्य का

सद्व्यय करके आत्मशक्ति को बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**हैमवर्चिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शची द्वारा सोमपान

यदत्र रिप्तꣳरसिनः सुतस्य यदिन्द्रोऽअपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमꣳराजानमिह भक्षयामि॥३५॥

१. **यत्**=जो **रसिनः**=रसवाले जीवन को माधुर्य से भरनेवाले **सुतस्य**=अभिषुत (उत्पन्न) सोम का **रिप्तम्**=(लिप्तं प्राप्तम् द.) अंश प्राप्त हुआ है, **यत्**=जिस अंश को **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता जीवात्मा **शचीभिः**=ज्ञानों व कर्मों के द्वारा तथा प्रभुनाम जपन के द्वारा **अपिबत्** =अपने अन्दर पीता है, अर्थात् व्याप्त कर लेता है। २. स्पष्ट है कि सोम जीवन को मधुर बनानेवाला है (रसिनः), इसके अभाव में शरीर में रोग आ जाते हैं और मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि पनपने लगते हैं, इस प्रकार मनुष्य का जीवन कड़वा हो जाता है। ३. इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यह है कि मनुष्य यज्ञ-यागादि उत्तम कर्मों में लगा रहे और अपने अतिरिक्त समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये। (शचीभिः) उससे भी श्रान्त हो जाने पर वाणी से प्रभु का नाम जपने में प्रवृत्त हो। ४. **अहम्**=मैं भी **अस्य**=इस सोम के **तत्**=उस अंश को **शिवेन मनसा**=शिव मन के हेतु से **भक्षयामि**= अपना भाग बनाता हूँ। इस सोम की रक्षा से मेरा मन शिव वृत्तिवाला बनता है, उसमें सभी के कल्याण की भावना उत्पन्न होती है। ५. वस्तुतः सोम के इन सब लाभों का विचार करके कि (क) यह मेरे जीवन को माधुर्यवाला बनाता है, (ख) इसके रक्षण से मेरा मन शिव बनता है, मैं **इह**=यहाँ मानव-जीवन में **सोमं राजानम्**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाले इस सोम को **भक्षयामि**=अपना भोजन बनाता हूँ। इसे अपने शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—१. सोमरक्षा का प्रकार यह है कि हम कर्मों में लगे रहें, ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के नाम का जप करें। २. रक्षित सोम (क) हमारे जीवन को मधुर बनाएगा, (ख) मन को शिव बनाएगा (रसिनः) तथा (ग) हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्त करेगा (राजानम्)।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पितृश्राद्ध

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम्॥३६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाले युवक व युवति रसमय व मधुर जीवनवाले बने रहते हैं। उनके मन शिव होते हैं और उनका ज्ञान दीप्त होता है। इस प्रकार उत्तम जीवनवाले वे दम्पती वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए-हुए अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। इन पितरों को वे 'स्वधा'=अन्न प्राप्त कराते हैं तथा 'नमः' उनका सत्कार करते हैं। इनके आमन्त्रण को स्वीकार करके वे पितर आते हैं और इसीलिए वे 'स्वधायी'=(स्वधां प्रति एतुं शीलं यस्य) कहलाते हैं। इन **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आने के स्वभाववाले **पितृभ्यः**=पिताओं कि लिए **स्वधा नमः**=अन्न तथा सत्कार हो। २. इसी प्रकार **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले

पितामहेभ्यः=पितामहों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो तथा **स्वधायिभ्यः**=स्वधा के प्रति आनेवाले **प्रपितामहेभ्यः**=परदादों के लिए **स्वधा नमः**=अन्न व सत्कार हो। ३. यहाँ मन्त्र में आमन्त्रण क्रम पिता-पितामह व प्रपितामह है, यद्यपि आयु की दृष्टि से बड़प्पन का मान करते हुए यह क्रम प्रपितामह-पितामह-पिता होना चाहिए तथापि सम्भावना का ध्यान करते हुए यह क्रम बदल दिया गया है। पिता जो ५१ व ५२ वर्ष के होंगे उनके आने का तो सम्भव है ही। पितामह भी ७४ व ७५ वर्ष की आयु होने से सम्भवतः आएँ, परन्तु इस समय तक जो १०० वर्ष से ऊपर के होंगे उनके आने का संशय ही है। पिता से सम्बन्ध का सामीप्य भी है। जो पिता से सम्बन्ध है, पितामह से उतना नहीं होता और प्रपितामह से यह सम्बन्ध और भी दूर का होता है। सन्तान पर पिता का प्रभाव अधिक पड़ता है, पितामह का इससे कम और प्रपितामह का उससे भी कम, परन्तु फिर भी युवक दम्पती इन सभी को आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादि के द्वारा मान करते हैं। ४. ये युवक बड़े प्रसन्न होते हैं कि उनके आमन्त्रण को स्वीकार करके **पितरः अक्षन्**=पितरों ने भोजन किया है और **पितरः अमीमदन्त**=पितर प्रसन्न हुए हैं, और **पितरः अतीतृपन्त**=उन पितरों ने तृप्ति का अनुभव किया है। ५. अब प्रसन्न व तृप्त पितरों से ये प्रार्थना करते हैं कि हे **पितरः शुन्धध्वम्**=आप उत्तम उपदेश व प्रेरणाओं से हमारे जीवनों को शुद्ध कीजिए। वस्तुतः पितृश्राद्ध का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम अपने उन पितरों से अपने कुलधर्मों व जातिधर्मों का उपदेश ग्रहण करके अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उनके आशीर्वादों से शुभमार्ग पर चलने की शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम पिता-पितामह व प्रपितामहों को वानप्रस्थाश्रमों से समय-समय पर घर में आमन्त्रित करें। उनका अन्नादि द्वारा सत्कार करें। उनसे उपदेश व प्रेरणा लेकर अपने जीवनों को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

पवित्र शतायुष्य

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥३७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितृश्राद्ध करनेवाला प्रार्थना करता है कि **मा**=मुझे **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य-शान्त स्वभाववाले **पितरः**=ये पिता **पुनन्तु**=पवित्र करें। उनके जीवन की सौम्यता मेरे जीवन को भी सौम्य बनाए। **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः**=प्रपितामह भी **पुनन्तु**=मेरे जीवन को पापशून्य बनाएँ। मुझे ये सब **शतायुषा**=सौ वर्ष के जीवन को देनेवाले **पवित्रेण** =जीवन को पवित्र करने के साधनभूत ज्ञान से पवित्र कर दें। २. **शतायुषा पवित्रेण**=सौ वर्ष का आयुष्य देनेवाले पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञान से **मा**=मुझे **पितामहाः**=पितामह **पुनन्तु**=पवित्र करें और **प्रपितामहाः पुनन्तु**=प्रपितामह पवित्र करें, जिससे **विश्वम्**=पूर्ण आयु-जीवन को **व्यश्नवै**=मैं विशेषरूप से प्राप्त करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों। यह होगा तभी जब मैं पवित्र बनूँगा, अतः ये पितर मुझे अपने उपदेशों व सौम्य जीवनों की क्रियात्मक प्रेरणाओं से पवित्र कर दें। मेरा जीवन शुद्ध हो और मैं शतायु बनूँ।

भावार्थ—मैं पितरों की प्रेरणाओं से व उनके आचरण से अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ तथा शुद्ध जीवनवाला बनकर पूरे सौ वर्ष तक चलनेवाला बनूँ। 'पवित्रशतायुष्य' ही मेरा ध्येय हो।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घायुष्य के तीन साधन

अग्नऽआयूंꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥३८॥

१ **अग्ने**=हे परमात्मन्! **आयूँषि**=आयुष्य के पावक कर्मों को ही **पवसे**=(पावयसे चेष्टयसे) हमसे करवाइए। आपकी कृपा व प्रेरणा से हमारे सारे आहार-विहार ऐसे हों जो दीर्घजीवन का कारण बनें। २. इस दीर्घजीवन के लिए ही आप **नः**=हमें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले दुग्धादि पदार्थों को तथा **इषम्**=व्रीह्यादि धान्यों को **आसुव**=दीजिए। दीर्घजीवन के लिए हम 'अन्न व रस' का ही सेवन करनेवाले बनें तथा ३. साथ ही आप ऐसी कृपा कीजिए कि **दुच्छुनाम्**=(दुष्टं श्वनं) दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को **आरे**=दूर ही **बाधस्व**=नष्ट कीजिए। हमसे इन्हें दूर ही रखिए। यह दुष्टसङ्ग दीर्घजीवन के लिए बड़ा विघ्न होता है। (तैः रहितो हि पुरुषः परमायुः प्राप्नोति—द०) दुष्टसङ्ग से रहित पुरुष ही दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि १. क्रियाशील बना जाए (पवसे) २. व्रीहि व दधि आदि अन्न-रसों का ही प्रयोग किया जाए ३. दुष्ट-सङ्ग से दूर रहा जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सत्सङ्ग

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥३९॥

१. हे प्रभो! **मा**=मुझे **देवजनाः**=देवजन—दिव्य वृत्तिवाले लोग **पुनन्तु**=पवित्र करें। गत मन्त्र में कहा था कि 'आरे बाधस्व दुच्छुनाम्' दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को हमसे दूर ही नष्ट कीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में दुःसंग से विपरीत सत्सङ्ग की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं कि देव-वृत्तिवाले लोगों के सङ्ग से हमारा जीवन पवित्र बने। २. **मनसा**=विचारपूर्वक किये जानेवाले **धियः**=कर्म **पुनन्तु**=हमारे जीवनों को पवित्र करें। वस्तुतः मनुष्य तो है ही वह जो **मत्वा कर्माणि सीव्यति** विचारपूर्वक कर्म करता है। ऐसे कर्म ही हमारे जीवन को पवित्र करते हैं। अकर्मण्यता सब अपवित्रताओं का कारण है। अविचारपूर्वक किये गये कर्म भी हमारे दुःखों व मानस मालिन्य के कारण बन जाते हैं। ३. **विश्वा भूतानि**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' नामक सब भूत **पुनन्तु**=हमारे जीवन को पवित्र करें। इनसे सिद्ध होनेवाली पवित्रता मेरे शारीरिक स्वास्थ्य का कारण बनेगी। ४. **जातवेदः**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **मा पुनीहि**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। हृदयस्थ प्रभु मुझे अपने ज्ञान से दीप्त करके पवित्र कर डालते हैं।

भावार्थ—१. देवजन मुझे पवित्र करें। २. विचारपूर्वक किये गये कर्म मुझे पवित्र करें ३. पृथिवी आदि भूत मुझे पवित्र करें ४. सर्वज्ञ प्रभु मुझे पवित्र करें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-शक्ति व कर्मसंकल्प

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥ऽरनु॥४०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'जातवेदः पुनीहि मा' यह प्रार्थना थी। उसी प्रार्थना को दूसरे शब्दों में करते हुए मन्त्र का आरम्भ करते हैं कि **देव**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले तथा पवित्र अन्तःकरणों को द्योतित करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **पवित्रेण**=पवित्रता के सर्वोत्तम साधनभूत ज्ञान से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम होगा तो विचारों की उत्तमता के कारण मेरे उच्चारण व आचरण भी उत्तम होंगे। विचार ही स्थूलरूप धारण करके क्रिया में परिणत हुआ करते हैं। २. हे **दीद्यत्**=तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे **शुक्रेण**=शीघ्रता से कार्य करने में समर्थ करनेवाली वीर्यशक्ति से **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। यह सुरक्षित 'शुक्र' ही तो मेरे मानस को 'शुचि' (पवित्र) बनाएगा। ३. हे **अग्ने**=सारे संसार को गति देनेवाले प्रभो ! **क्रतून् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **क्रत्वा**=संकल्प व क्रिया से मुझे पवित्र कीजिए। मेरे हृदय में सदा यज्ञात्मक कर्मों का ही संकल्प हो तथा उस संकल्प के अनुसार मैं उन यज्ञों के सम्पादन में प्रवृत्त रहूँ। ये यज्ञ ही उत्तम कर्म हैं। इनमें निरन्तर प्रवृत्त मैं अपने जीवन को अपवित्रता से बचा सकूँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे ज्ञान-शक्ति तथा उत्तम कर्मों के संकल्पों द्वारा पवित्र कीजिए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान की ज्वाला

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा॥४१॥

१. 'परमात्मा क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह ज्योतिरूप हैं—मानो वह ज्ञानाग्नि की प्रसृत ज्वालाएँ हैं। उस ज्योतीरूप प्रभु से 'वैखानस' प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=ज्ञानाग्निरूप प्रभो! **यत्**=जो **पवित्रं ब्रह्म**=सब पवित्रताओं का साधनभूत ज्ञान **ते**=आपके **अर्चिषि अन्तरा**=सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजस्वरूप में (अन्तरा=मध्य में) **विततम्**=विस्तृत है, **तेन**=उस उत्तम ज्ञान से **मा पुनातु**=मुझे पवित्र कीजिए। २. जैसे सोना अग्नि में तपकर, मल के भस्म हो जाने से निखर उठता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला में तपकर पवित्र हो जाऊँ। अग्नि में सब दोषों का दहन हो जाता है। ज्ञानाग्नि के पुञ्ज आपमें पड़कर मेरे भी सब मलों का दहन हो जाए। वस्तुतः ज्ञान वह तेज है जिसके साथ किसी अपवित्रता—पाप व मल का सम्भव ही नहीं। इस ज्ञान से दीप्त होकर मैं भी निर्मल हो जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान मेरे जीवन को उज्ज्वल कर दे।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पवित्रकर्त्ता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्रता

पवमानः सोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा॥४२॥

१. **सः पवमानः**=वह शोधक सोम **अद्य**=आज **नः**=हमें **पुनातु**=पवित्र करे। हमारे शरीर के रोगों को नष्ट करके हमें स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाला हो। २. **विचर्षणिः**=वह æ"Vk] gekjsÑ rkÑ r d kst kuus ky k iBkq Sins of omissions (अकृत) तथा Sins of commissions (कृत) को देखनेवाला परमात्मा **पवित्रेण**=पवित्र करनेवाले ज्ञान से **मा**=मुझे

पुनातु=पवित्र करे। मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जिसके प्राप्त होने पर मैं पापों से मुक्त हो जाऊँ। ३. **यः पोता**=जो हमारे हृदयों को पूर्ण पवित्र कर देनेवाले प्रभु हैं **सः**=वे वासना को नष्ट करके शुद्धता को उत्पन्न करनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पूर्ण पवित्र कर दें। प्रभु के नाम का जप व तदर्थभावन मेरे हृदय को वासनाशून्य करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम मुझे नीरोग करके स्वास्थ्य की दीप्ति दे। सर्वव्यापक प्रभु के सामीप्य को अनुभव करके मैं पापों से बचूँ। प्रभु नाम-स्मरण मेरी ढाल बन जाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व कर्म

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः॥४३॥

१. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज तथा ज्ञानदीप्त प्रभो! हे **सवितः**=सत्कर्मों में सतत प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप **पवित्रेण**=अद्भुत पवित्रता के जनक ज्ञान से तथा **सवेन**=(यज्ञः= सवः) यज्ञात्मक कर्मों से **उभाभ्याम्**=इन ज्ञान व कर्म दोनों से **मा**=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी से सदा पवित्र करनेवाले हों। ये ज्ञान और कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी स्वस्थ हों।

भावार्थ—ज्ञान व कर्म मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हों। मैं पक्षी के समान हूँ तो ज्ञान व कर्म मेरे पंख हों। ये मुझे ऊपर ले-जानेवाले हों।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वैश्वदेवी-पुनती=देवी

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥४४॥

१. **वैश्वदेवी**=(विश्वेभ्यः देवेभ्यः आगता—द०) सब देवताओं के लिए प्राप्त होनेवाली अथवा सब देवों का हित करनेवाली 'तच्चक्षुर्देवहितम्'। वह वेदज्ञान जो देवों के लिए हितकर है अथवा देवों में जो निहित होता है। **पुनती**=हम सबको पवित्र करनेवाली, **देवी**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त यह वेदवाणी **आगात्**=हमें प्राप्त हो। स्पष्ट है कि यह वेदवाणी (क) देवों के लिए हितकर है, (ख) पवित्र करनेवाली है तथा (ग) ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। २. **यस्याम्**=जिस वेदवाणी में **इमाः**=यह **बह्वीः तन्वः**= बहुत-से शरीर, अर्थात् कितने ही धीर पुरुष **वीतपृष्ठाः**=(वीतं कान्तं पृष्ठं येषां) कमनीय स्वरूपवाले हो जाते हैं। इस वेदवाणी के ज्ञानजल में धुलकर चमक उठते हैं अथवा जिस वेदवाणी में **इमाः**=ये **बह्वीः**=बहुत-सी **तन्वः**=(विस्तृतविद्याः—द०) विस्तृत विद्याएँ **वीतपृष्ठाः**=(विविधानि इतानि=विदितानि पृष्ठानि=प्रच्छनानि याभिस्ताः—द०) ज्ञात विविध प्रश्नोंवाली हैं, अर्थात् इस वेदवाणी में नाना विद्याओं का प्रश्नोत्तर रूप से प्रतिपादन हो गया है। ३. **तया**=वेदवाणी से **सधमादेषु**=(सहस्थानेषु—द० यज्ञस्थानेषु—म०) मिलकर एक जगह आनन्दपूर्वक बैठने के स्थानों में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=पति **स्याम**=हों। हम धनों के स्वामी बने रहें, यह हमारा स्वामी न बन जाए। धन का हमारे जीवन में गौण स्थान हो।

भावार्थ—वेदवाणी 'वैश्वदेवी पुनती-देवी' है। इसमें स्नान कर शरीर का प्रक्षालन हो जाने से लोग चमक उठते हैं। इकट्ठे होने पर इसी की चर्चा करते हैं। धनों के कभी दास

नहीं बनते हैं।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यमराज्य में

ये स॑मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।

तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम्॥४५॥

१. **ये**=जो हमारे **पितरः**=पिता-पितामह-प्रपितामह आदि **समानाः**=सुख-दुःख में समानवृत्तिवाले होते हैं, 'नित्यं च समचित्तकं, इष्टानिष्टोपपत्तिषु'=इष्ट-अनिष्ट प्राप्ति में समचित्त रहते हैं। जो शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो हर्ष से फूलते हैं और न ही उदास हो जाते हैं। २. **समनसः**=(समानं मनो विज्ञानं येषां) और समान विज्ञानवाले होते हैं ३. **यमराज्ये**=जो यम के राज्य में निवास करते हैं, अर्थात् जो सदा नियन्त्रित जीवन बिताते हैं। ४. **तेषाम्**=उन्हें **लोकः**=उत्तम लोक व यश की प्राप्ति होती है, **स्वधा**=उन्हें आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त होता है, **नमः**=उनमें नमन की वृत्ति होती है। ५. उनका **यज्ञः**=सङ्ग **देवेषु**=दिव्य गुणों के उत्पादन में **कल्पताम्**=समर्थ हो। उनके सङ्ग से हममें भी दिव्य गुण उत्पन्न हों।

भावार्थ—१. 'पितर' शब्द से कहलाने योग्य व्यक्ति वे हैं जो (क) समचित्त-स्थितप्रज्ञ हैं। (ख) समान विज्ञानवाले हैं। (ग) नियन्त्रण के संसार में विचरते हैं, अर्थात् व्रती जीवनवाले हैं। २. इन पितरों को (क) उत्तम यश प्राप्त होता है। (ख) धारण के लिए आवश्यक अन्न दुर्लभ नहीं होता। (ग) इनमें नमन की वृत्ति होती है अथवा इन्हें सब नमस्कार करते हैं। ३. इनका सङ्ग हमें भी दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम पैतृक संस्कार

ये स॑मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।

तेषा॒ꣳश्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳसमाः॑॥४६॥

१. **ये**=जो **समानाः**=समान वृत्तिवाले-सब सन्तानों के साथ एक-जैसा बर्तनेवाले अथवा 'समानयन्ति' खूब उत्साहित करनेवाले, **जीवाः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले, **जीवेषु**=जीवित प्राणियों में **मामकाः** =मुझमें ममत्ववाले मेरे पिता-पितामह व प्रपितामह हैं, २. **तेषाम्**=उनकी **श्रीः**=शोभा **मयि**=मुझमें **कल्पताम्**=सिद्ध हो, अर्थात् इनकी सब उत्तमताएँ पैतृक संस्कारों के रूप में मुझे प्राप्त हों। **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् पूर्ण जीवन में उनकी उत्तमताओं को मैं धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मुझे उत्तम पैतृक संस्कार प्राप्त हों। जीवित पितरों का जीवन मेरे जीवन के लिए आदर्श बने और मैं अपने जीवन को अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनाऊँ।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देवयान-पितृयाण

द्वे सृ॒तीऽअ॑शृणवं पितृ॒णाम॒हं दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।

ताभ्या॑मि॒दं विश्व॒मेज॒त्समे॑ति॒ यद॑न्त॒रा पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥४७॥

१. **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **अहम्**=मैंने **द्वे सृती**=दो मार्ग **अशृणवम्**=सुने हैं। एक तो

पितृणाम्=पितरों का मार्ग है, यही **पितृयाण** कहलाता है। इसमें मनुष्य उस-उस कामना से युक्त होकर अमुक-अमुक यज्ञ को करता है। उपनिषद् ने इसी मार्ग को **'प्रेयमार्ग'** कहा है। इस मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब इष्ट सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं। उनका जीवन बड़ा प्रिय-सा हो जाता है—उन्हें लौकिक सुखों की कमी नहीं होती। २. **उत**=और दूसरा मार्ग **देवानाम्**=देवों का है—उन पुरुषों का है जो देववृत्तिवाले हैं, जो देते हैं, ज्ञान से चमकते हैं औरों को भी ज्ञान देनेवाले होते हैं। उपनिषद् में इनका मार्ग **'श्रेयमार्ग'** है। पितृयाण 'कृष्ण' मार्ग था तो यह देवयान 'शुक्ल' मार्ग है। पितृयाण मार्ग में द्रविण आदि से उस मार्ग को 'कृष्ण' नाम दिया गया है। देवयान मार्ग में बुद्धि अनेकचित्त, विभ्रान्त नहीं होती—बुद्धि समाहित रहती है, अत: यह 'शुक्ल' मार्ग है। ३. **ताभ्याम्** =उन दो मार्गों से ही **इदम्**=यह **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार **यत्**=जोकि **पितरं मातरं च अन्तरा**=('असौ वै पितेयं माता—श० १२।८।१।२१) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में विद्यमान है, वह **समेति**=सम्यक्तया गति करता है, अर्थात् वे दो ही मार्ग हैं, जिनसे यह सारा संसार चलता है।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्यों के लिए दो ही मार्ग हैं। १. ज्ञान की अपरिपक्व अवस्था में 'पितृयाण' है, जिससे आगे चलकर सकाम यज्ञों को करते हुए हम अभ्युदय का साधन करते हैं तथा २. ज्ञान के परिपक्व होने पर मनुष्य 'देवयान' मार्ग से चलता है। इसमें उन्हीं यज्ञों को वे निष्काम होकर कर्त्तव्य बुद्धि से करते हैं और नि:श्रेयस को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषि:—**वैखानस:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**निचृदष्टि:**। स्वर:—**मध्यम:**॥

हवि:

इदं हवि: प्रजननं मेऽअस्तु दशवीरꣳसर्वगणꣳस्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्नि: प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतोऽअस्मासु धत्त ॥४८॥

१. गतमन्त्र के पितृयाण व देवयान मार्गों से चलनेवाले लोग सदा यज्ञ करके यज्ञशेष खानेवाले होते हैं। यह यज्ञशेष को खाना ही 'हवि' कहलाता है। 'हु दानादनयो:' अर्थात् दानपूर्वक बचे हुए को खाना। **इदं हवि:**=यह दानपूर्वक अदन **मे**=मेरे लिए **प्रजननं अस्तु**=प्रकृष्ट विकासवाला हो। हवि के द्वारा मेरी शक्तियों का उत्तम विकास हो। २. यह हवि **दशवीरम्**=(प्राणा वै दशवीरा: प्राणानेवात्मन् धत्ते—श० १२।८।१।२२) मेरे सभी प्राणों का वर्धन करनेवाली हो। ३. **सर्वगणम्**=अङ्गनि वै सर्वे गणा अङ्गन्येवात्मन्धत्ते। —श० १२.८.१.१२) यह हवि मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को स्वस्थ बनानेवाली हो। ४. इस प्रकार यह हवि मेरे **स्वस्तये**=उत्तम कल्याण के लिए हो। ५. **आत्मसनि**=यह हवि मुझे आत्मशक्ति सम्पन्न करनेवाली हो। ६. **प्रजासनि**=उत्तम सन्तान देनेवाली हो। ७. **पशुसनि**=ये मेरे लिए उत्तम गवादिक पशुओं को प्राप्त करानेवाली हो। ८. **लोकसनि**=यह मेरे इस लोक को उत्तम बनाये। ९. **अभयसनि**=यह मुझे **अभयपद**=ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली हो। १०. मेरी हवि खाने की वृत्ति के कारण **अग्नि:**=मेरी उन्नति का साधक प्रभु **मे प्रजाम्**=मेरी सन्तान को **बहुलां करोतु**=प्रवृद्ध व उन्नत—फूला-फला **करोतु**=करे। मेरी सन्तान में भी इस हवि की वृत्ति उत्पन्न हो। मेरी सन्तान भी अपनों में बहुतों का समावेश करनेवाली हो (बहून् लाति)।

११. इस 'हवि' के परिणामस्वरूप ही आप **अस्मासु**=हममें **अन्नं पयः**=अन्न और दूध को **धत्त**=धारण कीजिए और इस अन्न व दूध के द्वारा आप **अस्मासु**=हममें **रेतः**=शक्ति का आधान कीजिए।

भावार्थ—मैं हविवृत्ति बनूँ, देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। यह हवि मेरा विकास करे—मेरे प्राणों की शक्ति को बढ़ाए, मेरे सब अङ्गों को सबल करे, मेरे लिए कल्याणकर हो, मुझे आत्मिक शक्ति दे, उत्तम प्रजा को प्राप्त कराए, उत्तम पशु-धनवाला बनाए, मेरा लोक उत्तम हो, अर्थात् मैं यशस्वी बनूँ और अन्त में अभयपद प्राप्त करूँ। इस हवि से मेरी प्रजा भी बहुल हो। हवि के परिणामस्वरूप ही मैं अन्न, दूध व इनके द्वारा शक्ति को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञानवाला

उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं यऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥४९॥

१. गतमन्त्र का वैखानस ऋषि हवि के द्वारा सब प्राणों को उत्तम बनाकर **'शंख'**=उत्तम, शान्त इन्द्रियोंवाला बनता है। (शं-ख)। यह प्रार्थना करता है कि **अवरे**=सबसे अर्वाचीन काल में होनेवाले मेरे पिता **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा दें। **उत्**=और **परासः**=सुदूर काल में होनेवाले मेरे प्रपितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=इन दोनों के मध्य में होनेवाले मेरे पितामह भी **उदीरताम्**=मुझे उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराएँ। २. ये सब **पितरः**=मेरा पालन करनेवाले पिता-पितामह व प्रपितामह, **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अथवा सोम का सम्पादन करनेवालों में उत्तम हैं। ये अपनी शक्ति का व्यर्थ में अपव्यय नहीं होने देते और इसलिए ३. ये वे हैं **ये**=जो **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं। सोमरक्षण से इनकी प्राणशक्ति स्थिर रहती है। इस प्राणशक्ति की स्थिरता से ये स्वस्थ व दीर्घजीवी होते हैं। ४. **अवृकाः**=(वृक आदाने) ये वे हैं जिन्हें धन के आदान का लोभ नहीं है। इस धनलोभ के न होने से ये सब वासनाओं से ऊपर उठे हुए हैं। लोभ ही तो वासनावृक्ष का मूल है। उसके अभाव में इनका जीवन व्यसनों से ऊपर उठा हुआ है। ५. **ऋतजाः**=ये ऋत के ज्ञानवाले हैं, इन्हें सब सत्य ज्ञान प्राप्त है। इनका मस्तिष्क इस सत्यज्ञान से चमक रहा है। ६. **ते पितरः**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=जब-जब हम इन्हें पुकारें—आमन्त्रित करें उस-उस पुकारने के समय पर **अवन्तु**=रक्षित करें। उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराके ये हमारे जीवनों को सन्मार्ग पर लानेवाले हों।

भावार्थ—पिता-पितामह व प्रपितामह सभी हमें समय-समय पर उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराके अपने क्रियात्मक उदाहरण से स्वस्थ, निर्लोभ व सत्यज्ञान-परिपूर्ण बनने के लिए उत्साहित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुमति-सौभद्र मन

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयꣳसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥५०॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले

हैं। बड़े स्वस्थ हैं, पूर्व मन्त्र के शब्दों में प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं। २. **नवग्वा**=अतएव नवम दशक तक ९०-१०० साल के आयुष्य तक जानेवाले हैं, अथवा **नवा ग्वा**=नवमी व स्तोतव्य गतिवाले हैं, इनका आचरण अत्यन्त प्रशस्य है। ३. **अथर्वाणः**=(न थर्वतिः=चरतिकर्मा) स्तुतिनिन्दा, लाभालाभ व जीवन-मृत्यु के कारण नीतिमार्ग से कभी भी विचलित होनेवाले नहीं। ४. **भृगवः**=अपने ज्ञान को परिपक्व करनेवाले हैं ५. परिणामतः **सोम्याः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं। ६. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन **यज्ञियानाम्**=(यज्ञे हिताः) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी बुद्धि में **स्याम**=हों। उनकी प्रेरणाएँ व उनका जीवन हमें उत्तम प्रेरणाएँ दे, हमें सद्बुद्धि प्राप्त कराए। **अपि**=और हम सदा **भद्रे**=कल्याणकारक **सौमनसे**=शोभन मनस में, मन की उत्तम स्थिति में **स्याम**=निवास करें। हमारा मन सदा सुप्रसन्न हो। उसमें किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि मलों का सम्भव न हो तथा हम सदा सभी के कल्याण की कामना करें, हमारा मन अभद्र न हो।

भावार्थ—पितरों की विशेषताएँ ये हैं—वे स्वस्थ हैं (अङ्गिरसः), सदाचारी हैं (नवग्वाः), स्थिरवृत्ति के हैं (अथर्वाणः), सद्ज्ञान से परिपक्व विचारोंवाले हैं (भृगवः) तथा सौम्य (विनीत) हैं। हम सब इन पितरों की सुमति व सौमनस में स्थित हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सात्त्विक भोजन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥५१॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, हमसे पहले काल में होनेवाले **पितरः**=पिता-पितामह व प्रपितामह हैं जो **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले हैं, और **वसिष्ठाः**=अत्यन्त उत्तम निवासवाले, अधिक-से-अधिक पूर्ण **सोमपीथम्**=सोम के पान को **अनु+उहिरे**=प्रतिदिन धारण करते हैं, २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **संरराणः**=(संप्रियमाणः) प्रीति व आनन्द का अनुभव करता हुआ **यमः**=नियन्त्रित जीवनवाला सन्तान **हवींषि**=दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष को **उशन्**=चाहता हुआ **उशद्भिः**=चाहते हुए पितरों के साथ **प्रतिकामम्**=शरीर की चाहना-आवश्यकता (want) के अनुसार **अत्तु**=खाये। ३. यहाँ भोजन के विषय में निम्न बातें सुव्यक्त हैं—(क) वही भोजन खाना है जिसकी शरीर को आवश्यकता हो (प्रतिकामम्), 'यह मकान मरम्मत चाहता है' इस वाक्य में चाहना की जो भावना है, वही 'प्रतिकाम' शब्द में निहित है। शरीर को जिस भोजनांश की आवश्यकता है वही भोजनांश इसे प्राप्त कराना चाहिए। (ख) भोजन को प्रसन्नतापूर्वक खाना चाहिए (उशन्)। प्रसन्नतापूर्वक खाया गया भोजन ही रुधिरादि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करता है, अन्यथा कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो रोगों व अकालमृत्यु के कारण बनते हैं। (ग) हमारा भोजन सदा यज्ञशेष ही हो। देकर बचे हुए को ही खाना है (हवींषि)। अकेला खानेवाला पाप का ही सेवन करता है। (घ) 'यमः' यह कर्तृपद इस बात की सूचना भी देता है कि भोजन वही करना चाहिए जो संयम के अनुकूल हो। उत्तेजक भोजन हमारी वृत्ति को असंयत बनानेवाले हैं, अतः त्याज्य हैं।

भावार्थ—हम भोजन वह करें, जिसकी शरीर को आवश्यकता है। उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक ही खाएँ। हमारा भोजन यज्ञशेष हो, हविरूप हो। उत्तेजक भोजनों से हम बचने का प्रयत्न करें। सदा सोम का पान करनेवाले, शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आचार्य व माता-पिता

त्वꣳसो॑म॒ प्रचि॑कितो मनी॒षा त्वꣳरजि॑ष्ठ॒मनु॑ नेषि॒ पन्था॑म्।

तव॒ प्रणी॑ती पि॒तरो॑ नऽइन्दो दे॒वेषु॒ रत्न॑मभजन्त॒ धीरा॑ः ॥५२॥

१. हे **सोम**=सौम्यगुणयुक्त आचार्य! शान्तस्वभाव विद्वन्! **त्वम्**=आप **प्रचिकितः**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं, बड़े समझदार व ज्ञानी हैं। २. **त्वम्**=आप **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **रजिष्ठम्**=अत्यन्त ऋजुतम **पन्थाम्**=मार्ग को **अनुनेषि**=हमें अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं, बड़ी कुशलता से हमें छल-छिद्र से दूर सरलता के मार्ग पर ले-चलते हैं। ३. **तव प्रणीती**=आपके प्रणयन (guidence) से ही हे **इन्दो**=हे शक्ति व ज्ञान के परमैश्वर्य से सम्पन्न आचार्य! **नः**=हमें **पितरः**=पितर लोग जो **धीराः**=(धीमन्तः-उ०, ध्यानवन्तो वा-द०) बुद्धिमान् व ध्यानवाले हैं, वे **देवेषु**=विद्वानों के सम्पर्कों में **रत्नम् अभजन्त**=रमणीय बातों का भागी बनाते हैं। ३. आचार्य (क) **सोम**=शान्त है, (ख) **इन्दु**=शक्तिशाली व ज्ञान के परमैश्वर्यवाला है (ग) प्रकृष्ट चेतनावाला, बड़ा समझदार व ऊँचे नामवाला है। (घ) बुद्धिपूर्वक सरलतम मार्ग से विद्यार्थियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता है। ४. पितर (क) धीर हैं, बुद्धिमान् हैं, ध्यानवाले व धैर्यवाले हैं—बड़े धैर्यपूर्वक सन्तानों के जीवन-निर्माणरूप कार्य में लगे रहते हैं। (ख) आचार्यों के निर्देशों का बड़ा ध्यान करते हैं। आचार्यों को संरक्षकों की सहकारिता प्राप्त होने पर ही सन्तानों का निर्माण हुआ करता है। (ग) ये अपने सन्तानों को सदा दैवीवृत्तिवाले पुरुषों के सम्पर्क में लाने का ध्यान करते हैं और (घ) इस सज्जनसङ्ग से उनमें रमणीय गुणों का आधान कराते हैं।

भावार्थ—आचार्य व पितर मिलकर युवक सन्तानों में रमणीय गुणों का आधान कराएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मशील-विजेता

त्वया॒ हि नः॑ पि॒तरः॑ सोम॒ पूर्वे॒ कर्मा॑णि च॒क्रुः पव॑मान॒ धीराः॑।

व॒न्वन्न॑वातः॑ परि॒धीँ१॥ऽरपो॑र्णु वी॒रेभि॒रश्वै॑र्म॒घवा॑ भवा नः॥५३॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन्! आचार्य! **नः**=हमारे **पूर्वे**=हमसे पूर्व काल में होनेवाले **धीराः**=धीमान् व ध्यानवान्, धैर्यशाली **पितरः**=पितर **हि**=निश्चय से **त्वया**=तुझसे, अर्थात् आपके निर्देशों के अनुसार **कर्माणि चक्रुः**=कर्मों को करते थे। हमारे पितर अपने आचार्यों के कहने के अनुसार कर्मों को करनेवाले हुए। हमें भी उसी मार्ग को अपनाकर आचार्य-निर्देशों पर ही चलना चाहिए। २. हे **पवमान**=अपने जीवन को पूर्ण पवित्र करनेवाले आचार्य! **वन्वन्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले (वन्=to injure) अथवा वासनाओं को पराजित करनेवाले (to conquer) आचार्य! **अवातः**=स्वयं सभी उपद्रवों से अहिंसित होता हुआ तू **परिधीन्**=हमारे चारों ओर स्थित हुए-हुए इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को **अपोर्णु**=हमसे दूर आच्छादित कर। ये शत्रु हम तक पहुँचनेवाले न हों। इन शत्रुओं से बचाकर आप हमें भी अपनी भाँति 'पवमान'=पवित्र व 'वन्वन्' (win) विजेता बनाइए। ३. इन वासनाओं से बचाकर **वीरेभिः अश्वैः**=वीरता से युक्त-शक्तिसम्पन्न इन्द्रियरूप अश्वों से आप **नः**=हमारे लिए **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हम इन शक्तिशाली इन्द्रियों के द्वारा (मघ=मख) उत्तमोत्तम यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—१. हम आचार्यों के निर्देशों के अनुसार कर्मों को करनेवाले हों। २. वासनाओं का पराजय करें ३. शक्तिसम्पन्न इन्द्रियों से यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

शिक्षा का दृष्टिकोण

त्वꣳसोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवीऽआ ततन्थ।
तस्मै तऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥५४॥

१. हे **सोम**=शान्तात्मन् आचार्य! **त्वम्**=आप **पितृभिः**=मेरे संरक्षकों के साथ **संविदानः**=सम्यक् ऐकमत्यवाले होते हुए—संज्ञानवाले होते हुए **द्यावापृथिवी अनु**=मस्तिष्क व शरीर का लक्ष्य करके **आततन्थ**=मेरी शक्तियों का विस्तार कीजिए। आचार्य व माता-पिता ने परस्पर विचार करके एक मतिवाला होकर विद्यार्थियों के जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना है। उनके सब प्रयत्नों व कर्मों का लक्ष्य यही हो कि इनके ज्ञान का विकास हो तथा इनके शरीर स्वस्थ बनें। जैसे यह द्युलोक बड़ा उग्र व तेजस्वी है, उसी प्रकार इनके मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से देदीप्यमान हों तथा जैसे यह पृथिवी दृढ़ है, इसी प्रकार इनका यह शरीर दृढ़ हो, पत्थर के समान पक्का हो। इनको 'ज्ञान से दीप्त, शरीर से दृढ़' बनाना ही इनका लक्ष्य हो। २. हे **इन्दो**=ज्ञान के परमैश्वर्य-वाले आचार्य! **तस्मै ते**=उस तेरे लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन करते हुए हम **विधेम**=पूजा करनेवाले हों। हमारी इस हविर्वृत्ति से आपका यश चारों ओर फैले। हमारे जीवन की यह वृत्ति आपके यश को फैलानेवाली हो कि इन शिष्यों को अमुक आचार्य ने शिक्षित किया है। ३. आपके शिक्षण का हमारे जीवन में यह परिणाम हो कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः**=स्वामी न कि दास **स्याम**=हों। इस संसार में हम कभी भी धन के दास न बन जाएँ। धन के दास बने और हमारी यज्ञशेष को खाने की वृत्ति नष्ट हुई और इस प्रकार उत्पन्न हुई-हुई स्वार्थपरता हमें धर्मशून्य बना देगी। हमारी धर्मशून्यता आपके भी अपयश का कारण बनेगी।

भावार्थ—आचार्य व माता-पिता का प्रयत्न हमें ज्ञानोज्ज्वल व स्वस्थ-शरीरवाला बनाए। हम स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठे रहें, कभी धन के दास न बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बर्हिषद् पितरों का स्वागत

बर्हिषदः पितरऽऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽआ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥५५॥

१. **बर्हिषदः**=पवित्र हृदय में स्थित होनेवाले **पितरः**=पितरो! **ऊती**=रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=यहाँ—हमारे समीप **आगता**=आइए। २. **वः**=आपके लिए **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को **चकृम**=सिद्ध किया है। **जुषध्वम्**=आप उनका प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। ३. पिता-पितामह व प्रपितामह जब वानप्रस्थ को जाते हैं तब उनका मुख्य उद्देश्य हृदयों को राग-द्वेषादि मलों से रहित करने का होता है। वे हृदय को वासनाशून्य करने के लिए सतत प्रयत्न में लगे होते हैं। वे हृदय को 'बर्हि' बना रहे होते हैं, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। ये वानप्रस्थ अब 'शंख'=शान्त इन्द्रियोंवाले बने हैं। ये हमारे कल्याण व रक्षण के लिए समय-समय पर आते हैं और उत्तम प्रेरणाओं के द्वारा हमें

परस्पर कलह से नष्ट हो जाने से बचाते हैं। इनके आने पर हम इनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को तैयार करते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे प्रीतिपूर्वक उन पदार्थों का सेवन करें। ४. **ते**=वे प्रायः **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षणादि कर्मों के साथ **आगता**=आएँ। आपके आने से हमारे घर का वातावरण अत्यन्त शान्तिवाला बने और हम अपने धनों को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। ५. **अथ**=अब **नः**=हममें **शंयोः**=(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्-यास्क) रोगों के शमन को तथा भयों के यावन-दूरीकरण को **दधात**=धारण कीजिए। वासनाओं से अपने को बचाकर हम नीरोग व निर्भीक हों। शरीर में व्याधि न हो तो मन में आधि न हो। शरीर में (disease) न हो, मन में बेचैनी (uneasiness) न हो। आप हममें **अरपः**=निष्पापता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हम समय-समय पर पितरों को आमन्त्रित करें। वे हमारे रक्षण के लिए हमारे समीप आने की कृपा करें। हम उनके लिए पवित्र हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। उनकी उत्तम प्रेरणाओं से हमारी व्याधियाँ व आधियाँ दूर हों और हम निष्पाप बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र पितर

आहं पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ२॥ऽअवित्सि नपा॑तं च वि॒क्रम॑णं च॒ विष्णोः॑।
ब॒र्हि॒षदो॒ ये स्व॒धया॑ सु॒तस्य॒ भज॑न्त पि॒त्वस्तऽइ॒हाग॑मिष्ठाः॥५६॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान से रक्षा करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को—ज्ञानदाता आचार्यों को **अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे 'सुविदत्र' आचार्यों का सङ्ग सदा प्राप्त होता रहे। २. उन आचार्यों से मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **नपातं च**=कभी भी नष्ट न होनेवाले, फिर भी **विक्रमणं च**=विविध क्रमणों को—इस वैविध्य से युक्त सृष्टि के क्रम को **आ अवित्सि**=सब प्रकार से समझने का प्रयत्न करूँ। किस प्रकार यह 'सृष्टि-प्रलय' का क्रम अनादिकाल से कभी नष्ट न होता हुआ चलता है। ३. **बर्हिषदः**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाले, अर्थात् जिनका मुख्य लक्ष्य हृदय को वासनाशून्य बनाना है, ये जो **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले, उत्तम सात्त्विक अन्न के साथ **सुतस्य**=अभिषुत-उत्पन्न किये हुए **पित्वः**=(सुगन्धिपानस्य-द०) सुगन्धियुक्त पेय-रस का **भजन्ते**=सेवन करते हैं, अर्थात् जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है, **ते**=वे पितर **इह**=यहाँ हमारे घरों पर **आगमिष्ठाः**=आएँ, हमें उनका सम्पर्क प्राप्त हो।

भावार्थ—हमें उन पितरों का, ज्ञानप्रद आचार्यों का सम्पर्क सदा प्राप्त हो जो हमें इस अविनाशी सृष्टि-प्रलय-चक्र का ज्ञान देनेवाले हों और जिनका खान-पान अत्यन्त सात्त्विक है। उत्तम ज्ञान देकर ये हमारा त्राण करते हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोम्य पितर

उप॑हूताः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॒षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।
तऽआ ग॑मन्तु॒ तऽइ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॒ऽव॒न्त्व॒स्मान्॥५७॥

१. **बर्हिष्येषु**=(बर्हिषु उत्तमेषु-द०) हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम **प्रियेषु**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **निधिषु**=ज्ञानकोशों के होने पर **सोम्यासः**=जो अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हैं, अर्थात् जिन्हें उत्तम ज्ञान ने अत्यन्त विनीत बनाया है, **वे पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्य

उपहूता:=हमसे आमन्त्रित किये गये हैं। २. हमारे 'पिता, पितामह, प्रपितामह' स्वस्थ होकर **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** सदा स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया जो ज्ञान उन्हें हृदयों को वासनाशून्य बनाने में उत्तम सहायक सिद्ध हुआ। यही ज्ञान उनका प्रियनिधि बना। इस ज्ञान ने उन्हें सौम्य मनोवृत्ति प्रदान की। इन ज्ञानप्रद पितरों को हम समय-समय पर आमन्त्रित करते हैं। ३. आमन्त्रित किये हुए **ते**=वे पितर **आगमन्तु**=आएँ, **ते**=वे **इह**=यहाँ—हमारे घरों पर आकर **श्रुवन्तु**=हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**=वे **अधिब्रुवन्तु**=उन समस्याओं को सुलझाने के लिए आधिक्येन उपदेश दें और इस प्रकार **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम भी उनसे 'बर्हिष्य प्रियनिधि' को प्राप्त करनेवाले बनें और इस संसार में न उलझते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक ज्ञान से हृदयों को निर्वासन बनानेवाले सौम्य पितर हमसे आमन्त्रित होकर यहाँ आएँ और हमें अपने सदुपदेशों से प्रीणित करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्निष्वात् पितर

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५८॥

१. **अग्निष्वात्ताः**=(गृहीताग्निविद्याः—द०) जिन्होंने अग्निविद्या का ग्रहण किया है। यहाँ अग्नि शब्द 'पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों के मध्य में स्थित हुआ पाँचों भूतों की विद्या का संकेत कर रहा है। एवं, अग्निष्वात्त पितर वे हैं जिन्होंने सब भूतों के विज्ञान का सम्यक् अध्ययन किया है, जीवन को सुन्दर व स्वस्थ बनाने के लिए सब भूतों का विज्ञान आवश्यक ही है। **सोम्यासः**=जो पितर अत्यन्त सौम्य व शान्त स्वभाव के हैं। **पथिभिः देवयानैः**=और अब देवयान मार्गों से जीवन के कार्यक्रम को चला रहे हैं। वे **पितरः**=पितर **नः आयन्तु**=हमारे समीप आमन्त्रित होकर आएँ। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस यज्ञरूप जीवन में **स्वधया**=आत्मज्ञान का धारण करनेवाले सात्त्विक ज्ञान से **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **अधिब्रुवन्तु**=हमें खूब उपदेश दें और अपने इन ज्ञानपूर्ण उपदेशों से **अस्मान् अवन्तु**=हमें सुरक्षित करें। उन उपदेशों से हमें ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि हम अपने जीवनों को वासना से बचानेवाले बनें। वासनाओं से ऊपर उठकर अपने जीवन को नाश से बचा पाएँ।

भावार्थ—पदार्थविज्ञान में निपुण, देवयान-मार्ग से चलनेवाले ज्ञानी आचार्य हमें वह ज्ञान दें जो ज्ञान हमें इस जीवन में वासनाओं से सुरक्षित करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुप्रणीतयः—उत्तम प्रणयन करनेवाले

अग्निष्वात्ताः पितरऽएह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीᳪषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिᳪसर्ववीरं दधातन॥५९॥

१. हे **अग्निष्वात्ताः**=अग्नि आदि पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण करनेवाले **पितरः**=ज्ञानप्रद आचार्यो! **इह आगच्छत**=आप यहाँ—हमारे घरों पर आइए। २. **सदः सदः**=प्रत्येक सभा में **सुप्रणीतयः**=उत्तम, प्रकृष्ट नीतिवाले आप **सदत**=अपना स्थान ग्रहण कीजिए। जब-जब हमारी कोई भी सभा हो तब-तब उसमें ये ज्ञानी आचार्य सभापति पद

का आसन ग्रहण करके हमारी उस सभा का सुप्रणयन (सञ्चालन) करें। ३. हमसे **प्रयतानि**=प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की हुई अथवा पवित्र **हवींषि**=हव्य—सात्त्विक पदार्थों को **अत्त**=आप खाइए, अर्थात् हम इन आमन्त्रित ज्ञानी आचार्यों के लिए पवित्र सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाले हों। वे इन अन्नों को स्वीकार करें। ४. **अथ**=और अब **बर्हिषि**=हृदय के निर्वासन होने पर **सर्ववीरम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीरता व शक्ति का आधान करनेवाले **रयिम्**=धन को **दधातन**=हममें धारण कीजिए। ये पितर वस्तुत: इस प्रकार के नीतिमार्ग का उपदेश देते हैं कि उसपर चलते हुए हम हृदय में उत्पन्न होनेवाली वासनाओं के शिकार नहीं होते और इस प्रकार अपने अङ्गो को वीरतापूर्ण बना पाते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान में निपुण पितरों के सदुपदेशों से सुनीति के मार्ग पर चलते हुए वासनाओं को जीतें और अपने प्राणों को सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रकृतिवित् व ब्रह्मवित् (Physics and Mataphysics) का पण्डित

येऽअ॑ग्निष्वा॒त्ता येऽअन॑ग्निष्वात्ता॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति॥६०॥

१. **ये**=जो पितर **अग्निष्वात्ताः**=(सम्यग्गृहीताग्निविद्याः) अग्नि आदि भौतिक पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् ग्रहण कर चुके हैं तथा **ये**=जो **अनग्निष्वात्ता**=अग्न्यादि से भिन्न—इन अग्न्यादि के भी प्रकाशक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् अग्निष्वात्त भौतिकी के पण्डित हैं, तो अनग्निष्वात्त सब भूतों से पर ब्रह्मविद्या के वेत्ता हैं, २. जो विद्वान् पिता **दिवः मध्ये**=सदा प्रकाश में विचरण करते हैं और **स्वधया**=आत्मज्ञान के धारण करानेवाले, सात्त्विक अन्न से **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं और जिन्हें शुद्ध, सात्त्विक आहार रुचिकर होता है, ३. **तेभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु **एताम्**=इस **असुनीतिम्**=प्राणों की नीति को, प्राणशक्ति के वर्धन की योग्यता को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है और इस असुनीति के द्वारा **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयाति**=समर्थ करता है, अर्थात् इन्हें वह इस योग्य बनाता है कि ये जितनी देर चाहें, शरीर को धारण कर सकें। एवं, इन्हें यह असुनीति 'मृत्युञ्जय' बना देती है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान व ब्रह्मज्ञान में निपुण ज्ञानी लोग प्रभु से प्राप्त असुनीति=प्राणविद्या को हमें भी प्राप्त कराएँ, जिससे हम अपने जीवनों को तदनुसार चलाते हुए दीर्घ बना पाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

नाराशंस में सोमपान

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्तानृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः।
ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳस्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम्॥६१॥

१. **अग्निष्वात्तान्**=ग्रहण की है अग्नि आदि पदार्थों की विद्या जिन्होंने उन **ऋतुमतः**=प्रशस्त ऋतुओंवाले, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार दिनचर्यावाले पितरों को हम **नाराशंसे**=नरसमूह के लिए आशंसनीय =प्रशस्त धर्मों को करने के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम उन पितरों को पुकारते हैं **ये**=जो **सोमपीथम्** =सोम के पान को **आशुः**=(अश्नन्ति) खाते हैं। सोमपान करनेवाले पितर ही स्वस्थ रहकर नरों के लिए हितकर कार्यों के करनेवाले होते हैं। ३. **ते विप्रासः**=विशेषरूप से अपना पूर्ण करनेवाले पितर **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से

आमन्त्रित करने योग्य **भवन्तु**=हों और इनके उपदेशों को सुनकर तथा इनसे प्रेरणा प्राप्त करके **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=सदा पति ही बने रहें, हम कभी धन के दास न बन जाएँ। धन को साधन के रूप में देखते हुए हम भी (क) अग्निष्वात्त बनने का प्रयत्न करें–उत्कृष्ट ज्ञानी बनें, पदार्थविद्या का खूब अध्ययन करें। (ख) ऋतुमान बनें, ऋतुओं के अनुकूल हमारी दिनचर्या हो। (ग) नरहित के लिए प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। (घ) सोमपान से शक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करें।

भावार्थ–हम अग्नि आदि सब पदार्थों के विज्ञान में कुशल बनकर ऋतु के अनुसार भोजनादि क्रियाओं को करते हुए नरहित के प्रशंसनीय कर्मों को करनेवाले बनें। इस नाराशंस के निमित्त सोमपान करें, अर्थात् शरीर में सोम की रक्षा करें।

ऋषिः–**शङ्खः**। देवता–**पितरः**। छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

यज्ञोपदेश

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिꣳसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता कराम॥६२॥

१. **आच्याजानु**=घुटनों को परस्पर मिलाकर और **दक्षिणतः निषद्य**=दाहिनी ओर बैठकर **विश्वे**=हे पितरो! आप सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का **अभिगृणीत**=उपदेश दो। २. इन उपदेशों को सुननेवाले युवक सन्तान निवेदन करते हैं कि **पुरुषता**=मनुष्य होने के नाते, अर्थात् अल्पज्ञता के कारण स्खलनशील होने से (To err is human) **वः**=आपके विषय में **यत् आगः**=जो अपराध **कराम**=कर बैठें, उस ऐसे **केनचित्**=किसी अपराध से हे **पितरः**=पितरो! आप **नः**=हमें **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत कीजिए। आपके प्रति व्यवहार में जो कमी-बेशी (अतिरिक्तता व न्यूनता) रह गई हो उसके लिए आप हमें क्षमा करना।

भावार्थ–उपहूत पितर हमसे समादृत होकर हमें उत्तम कर्मों का उपदेश दें और हमारे व्यवहार में अज्ञानवश रह गई कमी को क्षमा करें।

ऋषिः–**शङ्खः**। देवता–**पितरः**। छन्दः–**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

प्रातःकाल का स्वाध्याय

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत तऽइहोर्जं दधात॥६३॥

१. (क) **अरुणीनाम्**=प्रातःकाल की अरुण किरणों की **उपस्थे**=गोद में **आसीनासः**=बैठे हुए, अर्थात् प्रातः सूर्योदय की प्रथम किरणों को अपने शरीर पर लेते हुए आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के प्रति **रयिं धत्त**=ज्ञानधन का धारण कीजिए। (ख) **अरुणीनाम्**-(गवाम्-वेदवाचः)-शब्द का अर्थ गौवें व वेदवाणियाँ भी है, अतः अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि ज्ञान की वाणियों में स्थित हुए-हुए आप मुझ शरण में आये हुए के लिए ज्ञानधन दीजिए। २. हे **पितरः**=ज्ञान द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **पुत्रेभ्यः**=हम पुत्रों के लिए **तस्य वस्वः**=इस निवास को उत्तम बनाने के लिए उपयोगी ज्ञानधन का **प्रयच्छत**=दान कीजिए। **ते**=और वे आप **इह**=इस जीवन में हमारे लिए **ऊर्जं दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण करिए। आपसे निवास के लिए उपयोगी ज्ञानधन को प्राप्त करके, तदनुसार अपना आहार-विहार करते हुए हम अपने अन्दर ऊर्जा धारण करनेवाले बनें। आपकी भाँति हम भी ज्ञान की किरणों में निवास करनेवाले हों और

ज्ञानवृद्धि के द्वारा जीवन को उत्तम व संयत बनाकर अपने बल को क्षीण न होने दें।

भावार्थ—ज्ञान की किरणों में ही निवास करनेवाले ज्ञानी पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

देव-विषयक ज्ञान

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥६४॥

१. 'कविषु भवं कव्यम्' क्रन्तदर्शी पुरुषों में होनेवाले ज्ञान को यहाँ 'कव्य' कहा गया है। 'कौति सर्वा विद्याः' जो ज्ञान सब विद्याओं का उपदेश देता है वह, वेदज्ञान ही 'कव्य' है। हे **अग्ने**=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **कव्यवाहन**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान को धारण करनेवाले आचार्य! **त्वम्**=आप **यम् चित् रयिम्**=जिस भी ज्ञानधन को **मन्यसे**=उत्तम समझते हैं, **तत्**=उस **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **श्रवाय्यम्**=सुननेयोग्य **देवत्रा**=सब देवों के विषय में दिये गये, अर्थात् जिस ज्ञान में प्रकृत्ति से बने तेतीस देवों का तथा चौंतिसवें महादेव का ज्ञान दिया गया है, उस **युजम्**=अन्त में मुझे उससे युक्त करनेवाले ज्ञान को **पनया**=(देहि) दीजिए। २. आचार्य मुझे वह ज्ञान दें जिस ज्ञान को वे मेरे लिए ठीक समझते हैं। मुझे आचार्य कृपा से वह ज्ञान प्राप्त हो, जो वेदवाणियों में प्रभु की ओर से दिया गया है, जो ज्ञान सब देवों का प्रतिपादन करता है और जिस ज्ञान से मैं अपना सम्बन्ध उस प्रभु से बना पाता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से प्रकृति के सब देवों का ज्ञान प्राप्त करके, इनमें उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बना पाऊँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

कव्य+हव्य

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यऽआ॥६५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी भी ज्ञानी बना है। '**अग्निनाग्निः समिध्यते**'=ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से विद्यार्थी में भी ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है, आचार्य अग्नि से विद्यार्थी भी अग्नि बना है। आचार्य 'कव्यवाहन' था, विद्यार्थी भी कव्यवाहन बना है। **यः**=जो भी **अग्निः**=ज्ञानाग्नि से दीप्त हुआ **कव्यवाहनः**=सब विद्याओं के प्रतिपादक वेदज्ञान का धारण करनेवाला ज्ञानी सन्तान है, वह **ऋतावृधः**=सत्यज्ञान से वृद्ध अथवा सत्य व उससे बढ़े हुए **पितॄन्**=ज्ञान द्वारा रक्षक इन पितरों का **यक्षत्**=(यज् पूजा) सत्कार करता है, इनके साथ अपना सम्पर्क बनाता है (यज् सङ्गतिकरण), इनके प्रति अपना अर्पण करता है (यज् दान)। २. **इत् उ**=और अब इन **देवेभ्यः**=ज्ञान को देनेवाले अथवा ज्ञान से देदीप्यमान **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के प्रति **आ**=आकर (आगत्य) **हव्यानि**=ग्रहण करने योग्य विज्ञानों को **प्रवोचति**=अच्छी प्रकार कहता है, अर्थात् सारा प्राप्त किया ज्ञान उन्हें सुनाता है। मन्त्र २४ में कहा था कि 'प्रत्याश्रवोऽनुरूपः' पढ़े पाठ को फिर से सुना देनेवाला आचार्य के अनुरूप ही बन जाता है। यहाँ वही भावना 'प्रेदु हव्यानि वोचति' से कही है। धारण किया हुआ ज्ञान 'कव्य' था। उसी ज्ञान को सुनाने का प्रसंग आया तो वही ज्ञान 'हव्य' हो गया। आचार्य विद्यार्थी के प्रति 'कव्य' का वहन करता

है। विद्यार्थी 'कव्यवाहन' बनकर इसी ज्ञान का जब आचार्यों के प्रति प्रत्याश्रावण करता है तब 'हव्य' का प्रबन्धन कर रहा होता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से **कव्य**=सब सत्यविद्याओं के प्रतिपादक ज्ञान को ग्रहण करें। इसे आचार्यों को सुनाकर सब प्रजाओं में उस ज्ञान को देनेवाले बनें। हमारा 'कव्य' 'हव्य' हो जाए, प्रजाओं में आहुति के योग्य हो जाए।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उतना ही जितना आवश्यक

त्वम॑ग्नऽईडि॒तः क॑व्यवाह॒नावा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ तेऽअ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वीꣳषि॑॥६६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब शिष्य आचार्य से सुने हुए पाठ को फिर से सुना देता है तब वह आचार्य के समान ही कव्य का वहन करनेवाला हो जाता है। यह 'कव्यवाहन' कहलाता है, क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान को धारण करनेवाला। मन्त्र में इसके लिए कहते हैं, कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील व ज्ञान से अग्नि के समान चमकनेवाले! **कव्यवाहन**=क्रान्तदर्शी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेवाले! **त्वम्**=तू **ईडितः**=(ईडितं अस्य अस्ति इति) उपासनावाला बनता है। तू उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु का उपासक बनता है। २. **हव्यानि**=इन ग्रहण योग्य विज्ञानों को **सुरभीणि कृत्वी**=बड़ा सुगन्धित करके **अवाट्**=तू प्रजाओं में इनका प्राप्त करानेवाला बनता है। इन ज्ञानों का प्रचार तू इस मधुरता से करता है कि चारों ओर सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैलती है। ३. तू **पितृभ्यः**=उन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **हव्यानि**=उत्तम सेवनीय पदार्थों को **प्रादाः**=देता है, **ते**=वे इन पदार्थों को **स्वधया**=आत्मधारण के दृष्टिकोण से **अक्षन्**=खाते हैं। वे उतना ही भोजन करते हैं, जितना कि शरीरधारण के लिए पर्याप्त हो। ४. हे **देव**=ज्ञान की दीप्तवाले विद्वन्! **त्वम्**=तू भी **प्रयता**=शुद्ध **हवींषि**=हव्य पदार्थों का ही **अद्धि**=सेवन कर। तू भी सात्त्विक भोजनों को ही कर। 'प्रयता' का अर्थ आचार्य दयानन्द ने 'प्रयत्नेन साधिताभिः' प्रयत्न से प्राप्त पदार्थ किया है, श्रम से कमाये हुए भोजन को ग्रहण करने से ही सात्त्विकता बनी रहती है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करें। २. उसे बड़े मिठास के साथ लोगों तक पहुँचाएँ ३. आचार्यों को, पितरों को सात्त्विक अन्न देनेवाले हों। स्वयं भी पवित्र, प्रयत्नार्जित हव्य पदार्थों को ही खाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वदेश व विदेश के विद्वान्

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॥ऽउ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳसुकृ॑तं जुषस्व॥६७॥

१. **ये**=जो **च**=भी **इह**=यहाँ, इसी स्थान में **पितरः**=ज्ञानप्रद पितर हैं, **ये च इह न**=और जो यहाँ—इस स्थान में रहनेवाले नहीं हैं। उदाहरणार्थ—हम भारत के हैं, तो हमारे दृष्टिकोण से मन्त्रार्थ होगा, 'जो यहाँ भारत में रहनेवाले विद्वान् हैं, और जो यहाँ से बाहर के विद्वान् हैं, अर्थात् विदेश के विद्वान् हैं। २. **यान् च विद्म**=जिनको हम जानते हैं **यान् उ च न प्रविद्म**=और जिनको हम नहीं जानते हैं। ३. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले विद्वन्! **ते**=वे **यति**=(यतीन् शुचीन्) पवित्र जीवनवाले हैं ऐसा **त्वम्**=तू **वेत्थ**=जानता है, अर्थात् 'इस देश

के हैं या विदेश के हैं' इस बात का कोई महत्त्व नहीं। वे हमारे परिचित हैं या अपरिचित यह बात भी अविचारणीय है। आवश्यक बात तो इतनी ही है कि 'वे पवित्र जीवनवाले हैं या नहीं'। यदि वे पवित्र जीवनवाले हैं तो ज्ञानी विद्वन्! तू **स्वधाभिः**=आत्मधारण के लिए योग्य अन्नों से **सुकृतं यज्ञम्**=सुसम्पादित सत्कार व्यवहार को (देवपूजात्मक यज्ञ को) **जुषस्व**=सेवन कर, अर्थात् उत्तम अन्नादि से तू उनकी सेवा कर।

भावार्थ—हमें विद्वानों का आदर करना चाहिए चाहे वे स्वदेश के हों चाहे विदेश के। चाहे वे हमारे परिचित हों चाहे अपरिचित। इतना जानना पर्याप्त है कि उनका जीवन पवित्र है या नहीं। यदि वे 'यति'—संयत जीवनवाले हैं, तो वे हमारे लिए आदरणीय ही हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्कृष्ट पितर

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳसुवृजनासु विक्षु॥६८॥

१. **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **इदं नमः अस्तु**=यह सत्कार व अन्न हो। हम सत्कारपूर्वक उनके लिए सात्त्विक हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। २. **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=हमसे विद्या व अवस्था में वृद्ध हैं, गुणों के दृष्टिकोण से पूर्वस्थान में स्थित हैं। **उ**=और **ये**=जो **उपरासः**=(उपरमन्ते इति, विषयेभ्य उपरताः) जो सांसारिक विषयों से उपरत हुए हैं। जो (कृतकृत्याः परं ब्रह्म ईयुः—उ०) गृहस्थ के सब कार्यभारों को पूर्ण करके अब ब्रह्मज्ञान में ही मुख्यरूप से **ईयुः**=गति कर रहे हैं। ३. **ये**=जो पितर **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में, पृथिवीलोक के मुख्य देवता अग्नि में **आनिषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, सब प्रकार से यज्ञ-यागादि करने में प्रवृत्त हैं। **ये वा**=या जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(शोभनं वृजनं बलं यासाम्) उत्तम धर्म-(पापवर्जन)-रूप बलवाली **विक्षु**=प्रजाओं में गिने जाते हैं, उन सब पितरों के लिए हम सत्कारपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम 'पूर्व' अर्थात् विद्यावयोवृद्ध 'उपर'=विषयों से उपरत 'पार्थिवे रजसि आनिषत्ता'=अग्नि में यज्ञ-यागादि करनेवाले तथा उत्तम धर्मरूप बलवाले पितरों का अन्नादि से सत्कार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पर प्राण पितर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरप व्रन्॥६९॥

१. **अध**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पितर **परासः**=जो उत्कृष्ट हैं—विद्या आदि गुणों से उत्कर्ष को प्राप्त हैं, **प्रत्नासः**=आयुष्य में भी बड़े हैं, **ऋतम् आशुषाणाः**=(यज्ञं व्याप्नुवन्तः) यज्ञादि उत्तमकर्मों में व्याप्त हुए-हुए हैं। **शुचि दीधितिं इत् अयन्**=पवित्र ज्ञान की किरणों को जिन्होंने प्राप्त किया है और **उक्थशासः**=(उक्थानि शंसन्ति) कहने के योग्य ज्ञान-वचनों का शंसन करते हैं। २. **क्षामा भिन्दन्तः**=पार्थिव भोगों का विद्रावण करते हुए (क्षामा=पृथिवी, पार्थिव भोग) **अरुणीः**=अविद्या के अन्धकार की नाशक ज्ञानकिरणों को **अपव्रन्**=आच्छादन व आवरणरहित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप ऐसा ही करें। आपकी कृपा से ऐसा ही हो।

भावार्थ—हम उन ज्ञानी पितरों का सम्पर्क प्राप्त करें जो गुणों से उत्कृष्ट हैं, वयोवृद्ध हैं, यज्ञादि कर्मों में व्याप्त जीवनवाले हैं, पवित्र ज्ञान-किरणों को प्राप्त हैं, उक्थों का शंसन करनेवाले, पार्थिव भोगों से ऊपर उठे हुए तथा ज्ञान की किरणों को अनावृत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

हवि का अदन

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतऽआ वह पितॄन्हविषेऽअत्तवे॥७०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अग्नि' से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **उशन्तः**=कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करते हैं। जब हमें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना होती है, तभी हम अपने हृदयों में प्रभु का स्थापन कर पाते हैं। २. **उशन्तः**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना करते हुए ही हम **समिधीमहि**=अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के लिए यज्ञ करते हैं। ज्ञानाग्नि के प्रकाश में ही तो आपका दर्शन हो पाएगा। ३. **उशतः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए हमें **उशन्**=चाहते हुए आप हमें **पितॄन् आवह**=उन ज्ञानी पितरों को प्राप्त कराइए, जिनके सम्पर्क से हमारे जीवन में सदा **हविषे अत्तवे**=हवि खाने की भावना उत्पन्न हो। हम हवि का ही सेवन करें, सदा दानपूर्वक खानेवाले बनें। वस्तुतः इस हवि से ही प्रभु का भी पूजन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। प्रभु को हृदयों में धारण करें, इसी उद्देश्य से ज्ञान को समिद्ध करें। ज्ञानप्रद पितरों के सम्पर्क को प्राप्त करके हवि के खाने का पाठ पढ़ें। यह हवि ही हमारा प्रभुपूजन बन जाएगी।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

नमुचि-शिरश्छेदन

अपां फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥७१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पितरों के सम्पर्क में रहकर पुरुष अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है। मन्त्र ६९ के अनुसार पितर 'ऋतमाशुषाणाः' सदा यज्ञों में व्याप्त रहनेवाले थे। उनके सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति भी सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगता है। यह कर्मरत होने से ही विषयों में लिप्त नहीं होता। इन्द्रियों को जीतकर यह जितेन्द्रिय बनता है, अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **अपाम**=कर्मों के **फेनेन**=(वर्धनेन—द०) वर्धन से, अपने जीवन को सदा कर्मों में लगाये रखने से **नमुचेः**=नमुचि के, अन्त तक पीछा न छोड़ने वाली (न+मुच) अभिमानवृत्ति के **शिरः उदवर्तयः**=सिर को तूने काट डाला है। कार्यरत पुरुष गर्व से ऊपर उठा रहता है। अभिमान वही करता है जो स्वयं काम न करके औरों को ही काम करने की आज्ञा देता रहता है। २. तू अभिमान को तो जीतता ही है **यत्**=यह वह क्षण होता है जब तू **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अजयः** =जीत लेता है। काम, क्रोध, लोभ आदि सब स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तू पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से मनुष्य आसुरवृत्तियों का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सोम तथा अमरता

सोमो राजामृतꣳसुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम्।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार क्रियाशीलता के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठ जाने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह **सोमः**=सोम **राजा**=(राजृ दीप्तौ) उसके जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। २. **अमृतम्**=यह सोम अमृत है। यह अपने रक्षा करनेवाले की अमरता का कारण बनता है, उसे रोगों का शिकार नहीं होने देता। ३. **सुतः**=निष्पादित हुआ-हुआ यह सोम **ऋजीषेण**=(सरलभावेन-द०) जीवन में सरलता के मार्ग से चलने के द्वारा-सरलभाव को अपनाने के द्वारा **मृत्युम्**=मृत्यु को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष सरलवृत्तिवाला होता है और जीवन में व्यर्थ की चिन्ताओं से रहित होने के कारण वह कभी अकालमृत्यु का ग्रास नहीं होता। सोमरक्षा से जीवन सौम्य व शान्त होता है। शान्त व सरल पुरुष अवश्य पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है। २. **शुक्रं ऋतेन**=यह सोम मानव-जीवन में व्यवस्था (राजा) व नियमितता के द्वारा (ऋत) सत्य का वर्धन करनेवाला होता है, **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति का वर्धक होता है, **विपानम्**=यह उसकी विशेषरूप से रक्षा करनेवाला होता है। सत्य के वर्धन के द्वारा यह सोम मन को दीप्त करता है, इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से इन्द्रियों को उज्ज्वल बनाता है, और शरीर की रोगों से विशेषरूप से रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाता है। एवं, शरीर इन्द्रियों व मन को दीप्त करने के कारण इसका 'शुक्रं' यह नाम सार्थक ही है, (शुच दीप्तौ)। ३. **अन्धसः**=अन्न से, अध्यायनीय-अत्यन्त ध्यान देने योग्य सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=प्रत्येक अङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। **इदम्**=यह उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्** =यह उसे रोगों द्वारा मृत्यु का शिकार नहीं होने देता। **मधु**=यह उसके जीवन को अत्यन्त मधुर बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा करनेवाला व्यक्ति सरल वृत्ति व स्वभाव का बनता है। इसके जीवन में व्यर्थ की चिन्ताएँ उत्पन्न नहीं होतीं, इसीलिए यह दीर्घजीवी बनता है। इसके जीवन में सत्य तथा माधुर्य होता है।

सूचना—'ऋतेन' का अर्थ 'यज्ञ से' भी है। यह सोम हममें यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके हमें सत्यवृत्तिवाला बनाता है, हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को बढ़ाता है। यज्ञ के अभाव में ही विलासमय जीवन बनकर शक्ति का ह्रास होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अङ्गिरसः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

क्रुङ् (Swan) का क्षीरपान

अ॒द्भ्यः क्षी॒रं व्य॑पिब॒त् क्रुङ्ङा॑ङ्गिर॒सो धि॒या।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑॥७३॥

१. **क्रुङ्**=क्रौञ्चपक्षी (Swan)—जैसे हंसजाति का यह क्रौञ्चपक्षी **अद्भ्यः**=जलों से **क्षीरम्**=दूध को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पी लेता है, उसी प्रकार **अंगिरसः**=अपने एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला विद्वान् **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों के द्वारा (धी=कर्म तथा प्रज्ञा) **अद्भ्यः क्षीरम्**=(आपो रेतो भूत्वा) जलों से उत्पन्न सारभूत सोम को (क्षि निवासगत्योः), शरीर में उत्तम निवास व गति, अर्थात् क्रियाशीलता के कारणभूत सोम को **व्यपिबत्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। सोमरक्षा का सरलतम साधन प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहना ही है। अकर्मण्यता हमें ग़लत मार्ग की ओर ले-जाती है। इस अकर्मण्यता से हममें वासनाएँ जागती हैं और सोमपान सम्भव नहीं रहता। २. **ऋतेन**=यह सोम यज्ञ व नियमितता के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=हमारे सत्य को विकसित करता

है, इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ाता है और रोगों से रक्षा करता है। ३. यह **शुक्रम्**=हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=सब अङ्गों की शक्ति का वर्धक होता है। ५. **इदम्**=यह शुक्र (सोम) उसका **पयः**=आप्यायन करनेवाला **अमृतम्**=उसे अकाल में न मरने देनेवाला तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में लगे रहने के द्वारा सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शुचिषत् हंस

सोमम॒द्भ्यो व्य॑पिब॒च्छन्द॑सा ह॒ꣳसः शु॑चि॒षत्।

ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृत॒ं मधु॑॥७४॥

१. **शुचिषत्**=(पवित्रेषु विद्वत्सु सीदति— द०) पवित्र जीवनवाले विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला, उन्हीं के सङ्ग में बैठने-उठनेवाला **हंसः**=(हन्ति पाप्मानम्) सत्सङ्ग द्वारा पापों को नष्ट करनेवाला यह 'शंख' (ऋषि) **अद्भ्यः**=(आपः प्राणाः) प्राणसाधना के द्वारा तथा **छन्दसा**=वेदज्ञान द्वारा, सतत अध्ययन की वृत्ति के द्वारा, जो वृत्ति उसे पापों से बचाती है (छादयति) उस स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा **सोमम्**=सोम को **व्यपिबत्**=विशेषरूप से शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। २. यह सोम **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता से **सत्यं इन्द्रियं विपानम्** =सत्य का वर्धन करता है, अङ्गों की शक्ति को बढ़ाता है, शरीर को विशेषरूप से रोगों से बचाता है। ३. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल व क्रियाशील (शुच् दीप्तौ, या शुक् गतौ) बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा के **इन्द्रियम्**=सब अङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदं पयः**=यह आप्यायन करनेवाला होता है, **अमृतम्**=असमय में न मरने देनेवाला होता है तथा **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोम की रक्षा के लिए हम सत्सङ्ग के द्वारा आसुरवृत्ति को नष्ट करें। प्राणसाधना करें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापति का सोमपान

अन्ना॑त्परि॒स्रुतो॒ रस॒ं ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिबत् क्ष॒त्रं पय॒ः सोम॑ प्र॒जाप॑तिः।

ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳशु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृत॒ं मधु॑॥७५॥

१. **परिस्रुतः**=(सर्वतः स्रुतः पक्वात्—द०) सब प्रकार से परिपक्व **अन्नात्**=(यवादेः—द०) जौ आदि अन्नों से **सोमं रसम्**=उत्पन्न सारभूत इस सोमरस को—वीर्यशक्ति को **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा अथवा ब्रह्म के ध्यान के द्वारा **व्यपिबत्**=विशेषरूप से पान करता है। स्वाध्याय व ब्रह्मध्यान सोमरक्षण में सहायक होते हैं। २. यह शरीर में ही पिया हुआ—व्याप्त किया हुआ सोम **क्षत्रम्**=सब क्षतों व घावों से बचानेवाला होता है, अथवा यह (क्षत्रं=बल) बल का देनेवाला होता है और **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=सत्य का वर्धन करता हैं, इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है और विशेषरूप से रोगों से रक्षा करता है।

४. **शुक्रम्**=यह जीवन को उज्ज्वल (शुच् दीप्तौ) व क्रियाशील (शुक् गतौ) बनाता है। ५. **अन्धसः**=सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा की **इन्द्रियम्**=इन्द्रिय-शक्तियों को बढ़ानेवाला होता है **इदं पयः**=यह आप्यायन करता है, **अमृतम्**=यह असमय के रोगों से मरने नहीं देता और **मधु**=जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों का सेवन करता हुआ उत्पन्न सारभूत सोम का शरीर में पान करता है, तभी यह प्रजाओं को क्षतों से बचानेवाला व प्रजाओं का वर्धन करनेवाला होता है। **ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति**=ब्रह्मचर्य से ही राजा राष्ट्र की उत्तम रक्षा करता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रेतः मूत्रं (प्रजापति की राष्ट्र को दो भेंटें)

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽउल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानःशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥७६॥

१. गतमन्त्र में प्रजापति के सोमपान का उल्लेख है। यह प्रजा का रक्षक राजा परिपक्व अन्नों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह राजा इस सोमपान से शक्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। यह **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति से युक्त राजा (इन्द्रियं=राजा—'जयदेव') **योनिं प्रविशत्**=अपने आश्रयभूत राष्ट्र में प्रवेश करता हुआ अथवा चुनाव द्वारा राजा को जन्म देनेवाली अतएव राजा की योनिभूत प्रजा में प्रवेश करता हुआ, उस प्रजा में **रेतः**=शक्ति को **विजहाति**=(विहायितम्=दान) भेंट के रूप में देता है—प्रजा में शक्ति का स्थापन करता है। इस शक्तिस्थापन के साथ **मूत्रम्**=(मूत्र-स्राव to go, to move) एक विशिष्ट गति को, क्रियाशीलता को प्रजा में स्थापित करता है। प्रजा राजाओं को चुनाव द्वारा जन्म देती है। एवं, प्रजा राजा की योनि हैं। चुना जाकर राजा प्रजा में प्रवेश करता है (योनि-प्रवेश) तो प्रजा को शक्ति व गति की भेंट देता है, अर्थात् राष्ट्र की व्यवस्था इस प्रकार करता है कि प्रजा की शक्ति बढ़े और प्रजा में क्रियाशीलता की भावना उत्पन्न हो। इस शक्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला राजा स्वयं शक्ति का पुञ्ज (इन्द्रिय) बनता है। २. यह राजा **गर्भः**=(गृह्णाति) प्रजा को वश करने में (ग्रहण करने में—उसपर अनुग्रह व निग्रह में) समर्थ होता है तथा प्रजा को अपने में धारण करनेवाला होता है। ३. यह राजा **जरायुणा**=(जारयति) शत्रु को क्षीण करनेवाले तथा राष्ट्र में पापों को जीर्ण करनेवाले बल से **आवृतः**=आच्छादित होता है, अर्थात् यह उस शक्ति को धारण करता है, जिसके द्वारा यह राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाता है। ४. **जन्मना**=(जनी प्रादुर्भवे) राष्ट्र की शक्तियों के विकास के द्वारा यह **उल्वं**=(ऊर्णोतेः—नि० ६।३५) आवरणों को—प्रगति में आनेवाले बाधक विघ्नों को **जहाति**=दूर करता है (हा, Remove) अथवा **उल्बम्**=राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों (calamity) का निवारण करता है। ५. यह राजा सोम का पान करता है वह पीत सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यम् इन्द्रियम् विपानम्**=इसके अन्दर सत्य को बढ़ाता है, शक्तिवर्धक होता है और इसकी विशेषरूप से रक्षा करता है। ६. **शुक्रम्**=इसके जीवन को यह उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ७. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=जीवात्मा का, इस राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाला, **अमृतम्**=इसे रोगों से न मरने देनेवाला तथा **मधु**=इसके जीवन को मधुर बनानेवाला होता है।

भावार्थ—चुना जाने पर राष्ट्र के सिंहासन पर बैठता हुआ राजा प्रजा में शक्ति व गति का आधान करता है। प्रजा को वश में रखता हुआ यह शत्रुशोषक शक्ति से युक्त होता है। विकास के द्वारा राष्ट्र की उन्नति के आवरणों को दूर करता है। राष्ट्र पर आनेवाली आपत्तियों से राष्ट्र को बचाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

न्याय

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७७॥

१. **प्रजापतिः**=गतमन्त्र के अनुसार राजा पहला कार्य यह करता है कि राष्ट्र को सबल व क्रियाशील बनाकर सुरक्षित करता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राष्ट्र में विवाद करते हुए पुरुषों का वह उचित न्याय करता है। यह राजा **रूपे दृष्ट्वा**=दोनों पक्षों से निरूपण की गई बातों को सम्यक् देखकर उन बातों की प्रबलता व निर्बलता को तोलकर **सत्यानृते**=सत्य और अनृत को **व्याकरोत्**=पृथक्-पृथक् स्थापित करता है। 'यह पक्ष सत्य है' और 'यह पक्ष असत्य है' इस प्रकार दोनों का स्पष्ट विवेचन कर देता है। २. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक राजा प्रयत्न करता है कि वह प्रजा के अन्दर **अनृते अश्रद्धाम्**=अनृत में, झूठ में अश्रद्धा को, अनास्था व अरुचि को तथा **सत्ये श्रद्धाम्**=सत्य में श्रद्धा को **अदधात्**=स्थापित कर सके। चूँकि यह सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के विषय में अश्रद्धा ही प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा करनेवाली होती है। ३. यह राजा अपने इस सत्कार्य को इसीलिए कर पाता है कि सुरक्षित सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति के द्वारा **सत्यं इन्द्रियं विपानम्**=इसे सत्यनिष्ठ, शक्तिशाली व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है। **शुक्रम्**=यह सोम इसके जीवन को शुचि व (शुक् गतौ) क्रियाशील बनाता है। ४. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न यह सोम **इन्द्रस्य**=राष्ट्र के शत्रुओं के विदारक राजा का **इन्द्रियम्**=शक्तिवर्धक होता है। **इदम्**=यह **पयः अमृतं मधु**=इसका आप्यायन करता है, इसे रोगों से मरने नहीं देता और इसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में सत्यासत्य का ठीक विवेचन करनेवाला होता है तथा प्रजा में सत्य के प्रति श्रद्धा व अनृत के प्रति अश्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विधि-निषेध

वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७८॥

१. **प्रजापतिः**=यह राजा **वेदेन**=(ईश्वरप्रकाशितेन वेदचतुष्टयेन—द०) वेद से, ईश्वर से दिये गये ज्ञान से **रूपे**=सत्य व अनृत के रूप को **व्यपिबत्**=विशेष रूप से ग्रहण करे। २. इस बात को सम्यक् समझे कि **सुतासुतौ**=(प्रेरिताप्रेरितौ—द०) किस बात की वेद में विधि व प्रेरणा है तथा किस बात का निषेध है, विधि-निषेधात्मक वेदवाक्यों से वह धर्माधर्म को सम्यक् जाने। स्वयं धर्माधर्म को जानता हुआ ही वह प्रजा में धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश कर सकता है। ३. यह ज्ञान उसे तभी होता है जब शरीर में व्याप्त

किया हुआ सोम **ऋतेन**=यज्ञियवृत्ति से **सत्यम् इन्द्रियं विपानम्**=उसे सत्ययुक्त करता है, शक्तिशाली बनाता है और उसकी रोगों से रक्षा करता है। ४. **शुक्रम्**=यह सोम उसे उज्ज्वल व क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः** =अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=इस ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा का **इन्द्रियम्**=बल बनता है। **इदम्** =यह उसे **पयः अमृतं मधु**=आप्यायित करता है, नीरोग करता है तथा मधुर बनाता है।

भावार्थ—राजा सत्यासत्य के स्वरूप को ठीक समझनेवाला हो। वह वेद के विधि-निषेधात्मक वाक्यों से धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

परिपक्व अन्न का रस

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसꣳशुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥७९॥

१. गतमन्त्र में वेद से सत्यानृत के रूप को व विधि-निषेध को देखने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **प्रजापतिः**=राजा **दृष्ट्वा**=वेद के विधि-निषेध को देखकर, उसके अनुसार **परिस्रुतः**=परिपक्व अन्न से **रसम्**=रस को **व्यपिबत्**=पीता है, इसी परिपक्व अन्न के रस से उत्पन्न **शुक्रम्**=वीर्य को **शुक्रेण**=(शुच् दीप्तौ) उज्ज्वलता के हेतु से अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशीलता के उद्देश्य से **व्यपिबत्**=अपने शरीर में पीता है, अर्थात् उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। २. यह शरीर में सुरक्षित सोम **पयः**=उसका आप्यायन व वर्धन करनेवाला होता है तथा **सोमम्**=उसे सौम्य व शान्त बनानेवाला होता है। ३. **ऋतेन**=यज्ञ व नियमितता के द्वारा यह सोम **सत्यम्**=उसे सत्यवृत्तिवाला बनाता है **इन्द्रियम्**=उसकी एक-एक इन्द्रिय को शक्तिसम्पन्न करता है, **विपानम्**=उसका विशेषरूप से रक्षण करता है, उसे रोगों से बचाता है। ४. **शुक्रम्**=यह उसे दीप्त करता है, उसे क्रियाशील बनाता है। ५. **अन्धसः**=अन्न से उत्पन्न हुआ यह सोम **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला होता है। **इदम्**=यह **पयः**=उसका वर्धन करता है। **अमृतम्**=उसे रोगों से मरने नहीं देता, **मधु**=उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—परिपक्व अन्न के रसों से उत्पन्न वीर्य मनुष्य-शरीर में सुरक्षित होकर उसका आप्यायन करनेवाला होता है और उसे शान्त बनाता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कुटीर उद्योग (Cottage Industry)

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳसविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ॥८०॥

१. गतमन्त्रों में राजा के राष्ट्र को सुरक्षित करने, उसमें न्याय-व्यवस्था को ठीक रखने का उल्लेख हो चुका है। प्रस्तुत मन्त्र में आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र में राजा 'कुटीर उद्योग' को प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। 'तन्त्रं' के यहाँ दो अर्थ अपेक्षित हैं—(क) परिवार का पालन (Supporting of a family) तथा (ख) Loom खड्डी (वस्त्र-निर्माणयन्त्र)। यहाँ खड्डी अन्य छोटे-छोटे यन्त्रों का भी प्रतीक है। २. राजा ऐसी व्यवस्था करता है कि **मनीषिणः**=विद्वान् पुरुष **मनसा**=विचारपूर्वक **सीसेन**=सीसे

आदि धातुओं से **तन्त्रम्**=छोटे-छोटे यन्त्रों को बनाते हैं, जिन यन्त्रों के द्वारा कार्य करते हुए वे मनीषी लोग इतना धन अवश्य कमा लेते हैं कि वे अपने परिवार का पालन कर सकें। ३. ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी लोग **ऊर्णासूत्रेण**=ऊन के सूत्रों से **वयन्ति**=आवश्यक वस्त्रादि बुनते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये विद्वान् स्वयं बुनते हैं, औरों से बुनवाते नहीं। इससे श्रम का महत्त्व बढ़ता है—दासप्रथा की हीनभावना उत्पन्न नहीं होती, धन की अत्यधिक विषमता भी नहीं होती। ४. इस प्रकार स्वयं अपने हाथ से कार्य करते हुए इन **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय, ज्ञानी पुरुषों के **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **अश्विना**=प्राणापान **सविता**=निर्माण की देवता तथा **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता **वयन्ति**=संहत करते है, बनाते हैं। प्राणापान इन्हें आलसी नहीं होने देते, सविता व निर्माण इन्हें आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी-अभाव का अनुभव नहीं कराता तथा सरस्वती इनके जीवन में उलझनों को नहीं आने देती। ५. **भिषज्यन्**=चिकित्सा करता हुआ **वरुणः**=वरुणदेव-द्वेषनिवारण **रूपम्**=इस इन्द्र के रूप को सुन्दर बनाता है। इसे रोगी नहीं होने देता और स्वास्थ्य व सौन्दर्य को प्राप्त कराता है। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियाँ ही रोगों को पैदा करके मनुष्य को अस्वस्थ करती हैं और उसके रूप को हर लेती हैं।

भावार्थ—१. राजा राष्ट्र में कुटीर उद्योग की इस प्रकार व्यवस्था करे कि लोगों के जीवन में आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न न हों। २. जीवनयज्ञ के उत्तम सञ्चालन के लिए प्राणापान की शक्ति का वर्धन हो, निर्माण की वृत्ति हो तथा विज्ञान की वृद्धि हो। ३. ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि के अभाव से सभी नीरोग व सुरूप हों।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यव, चावल, लाजा

तद॑स्य रू॒पम॒मृत॒ꣳशची॑भिस्ति॒स्रो द॑धुर्दे॒वताः॒ स॒ꣳररा॒णाः।
लोमा॑नि॒ शष्पै॒र्बहु॒धा न तोक्म॑भिस्त्वग॑स्य मा॒ꣳसम॑भवन्न ला॒जाः॥८१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वरुण देवता, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष आदि का नितान्त अभाव मनुष्य को स्वास्थ्य का सौन्दर्य-उत्तम रूप प्राप्त कराता है। **अस्य**=इसका **तत् रूपम्**=वह स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य **शचीभिः**=कर्मजनित शक्तियों व प्रज्ञानों से **अमृतम्**=न नष्ट होनेवाला होता है। ईर्ष्या से ऊपर उठकर यह प्रज्ञापूर्वक कार्यों में लगा रहता है। यह कर्मों में लगे रहना उसमें किसी प्रकार के हीनभाव उत्पन्न नहीं होने देता। २. **तिस्रः देवताः**=इसके जीवन में द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्ष का चन्द्र तथा पृथिवी की अग्नि, अध्यात्म दृष्टिकोण से मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयान्तरिक्ष का प्रसाद (प्रसन्नता) तथा शरीर की उष्णता शक्ति की गर्मी—ये तीनों देव **संरराणा**=सम्यक् रमण करते हुए **संदधुः**=उत्तम रूप की स्थापना करते हैं। ३. इसके जीवन में **शष्पैः**=घास भोजन से **लोमानि अभवन्**=शरीर में लोम उत्पन्न होते हैं। 'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा—ऐतरेय'। ४. **न** और (अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं सर्वे नकाराश्चकारार्थाः) **बहुधा**=बहुत करके **तोक्मभिः**=(विशिष्टयवैः—म०) विशिष्ट रूप से उत्पन्न किये गये जौ से **अस्य त्वक्**=इसकी त्वचा का निर्माण होता है। जौ को उत्तम खाद्य व जल से उत्पन्न किया जाए और हमारे भोजनों में इन्हीं जौ का प्राचुर्य हो तो हमारी त्वचा ठीक रहेगी। ५. **न**=और **लाजाः**=भुने हुए चावल **अस्य मांसम् अभवन्**=इसके मांस हो गये। इसकी मांस-रचना चावलों का परिणाम है। संक्षेप में इनका भोजन शष्प, तोक्म व लाजा हैं। इनसे इसके लोम, त्वचा व मांस ठीक होते हैं, और वह स्वस्थ बना रहता है।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से हमारे शरीर की कान्ति बनी रहती है। २. हमारे जीवन में सूर्य के समान ज्ञानज्योति हो, चन्द्र के समान मानस आह्लाद हो तथा अग्नि के समान शरीर में शक्ति की उष्णता हो। ३. शष्प, तोक्म व लाजा प्रयोग से हमारे लोम, त्वचा व मांस ठीक बने रहें।

ऋषि:—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्द:—**त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवतः**॥

रुद्रवर्तनी अश्विनौ

तदश्विना भिषजा रुद्रवर्तनी सरस्वती वयति पेशोऽअन्तरम्।
अस्थि मज्जानं मासरैः कारोतरेण दधतो गवां त्वचि॥८२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब 'शष्प, तोक्म व लाजा' इसके भोजन होते हैं, **तत्**=तब **रुद्रवर्तनी**=(रुद्रस्य वर्तनिरिव वर्तनिर्ययोः) रुद्र के समान मार्गवाले, (रोरुमयाणो द्रवति इति रुद्रः) रुद्र गर्जना करता हुआ शत्रुओं पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। ये गर्जते हुए प्रबलता से रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से इसके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **अन्तरम् पेशः**=अन्दर के सौन्दर्य (रूप) को **वयति**=सन्तत करती है। प्राणापान इसे स्वस्थ बनाकर बाह्य रूप को सुन्दर बनाते है, तो ज्ञान इसके मस्तिष्क को दीप्त करके इसके अन्तः सौन्दर्य को बढ़ाता है। ३. **मासरैः**=(मासेषु रमणैः) सब मासों में अर्थात् सदा रमण से, आनन्दमय मनोवृत्ति के धारण से **अस्थि मज्जानम्**=यह अस्थियों व मज्जा को **वयति**=सन्तत करता है, बढ़ाता है। वस्तुतः सदा ऋतु को अभिशाप देते रहने से और खिझते रहने से अस्थि व मज्जा शिथिल हो जाते हैं, और स्वास्थ्य एकदम गिर जाता है। २. **अश्विना**=प्राणापान ही **कारोतरेण**=(कारुः शिल्पिनि कारके, तरप्रत्यय) अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से कार्यों के करने, **गवां त्वचि**=वेदवाणियों—ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में **दधतः**=इसे धारण करते हैं, अर्थात् यह प्राणापान की शक्ति के वर्धन से सूक्ष्म बुद्धि होकर सदा ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में रहना चाहता है।

भावार्थ—प्राणापान वैद्य हैं, ज्ञान से अन्त:सौन्दर्य प्राप्त होता है। सदा प्रसन्न रहने से अस्थि, मज्जा आदि ठीक रहते हैं। उत्तमता से कर्मों में लगे रहने से मनुष्य ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

ऋषि:—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवतः**॥

रसं ओषधीनाम्

सरस्वती मनसा पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः।
रसं परिस्रुता न रोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम॥८३॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **मनसा**=मनन-संकल्प से तथा **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा **पेशलम्**=लचकीले, कोमल (Soft), सूखे काठ की भाँति न अकड़े हुए, **वसु**=निवास के योग्य, **दर्शनम्**=दर्शनीय, सुन्दर **वपुः**=शरीर को **वयति**=सन्तत करती है, बनाती है, अर्थात् 'ज्ञान, संकल्प तथा प्राणापान' शरीर को लचकीला, उत्तम व सुन्दर बनाते हैं। ज्ञान से ही हमारा आहार-विहार हितकर होगा और शरीर नीरोग रहेगा। विचारशीलता व संकल्प उत्साह को स्थिर रखते हैं और शरीर निवास के योग्य बना रहता है। प्राणापान शरीर को तेजस्वी व दर्शनीय बनाते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न

से **रसम्**=रस को **वयति**=सन्तत करती है, अर्थात् ज्ञान से हम स्वास्थ्य के लिए हितकर अन्न-रसों का सेवन करनेवाले बनते हैं। यह रस **रोहितम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है। ३. **न**=और **नग्नहु:**=(नग्न: अपि जुहोति) स्वयं नग्न रहता हुआ भी जो आहुति देता है, अर्थात् लोकहित के लिए यज्ञियवृत्तिवाला होता है—खूब दान देता है और **धीर:**=धैर्यशाली होता है **तसरम्**=(तस्यति उपक्षयति दु:खानि येन—द०) सब दु:खों व रोगों का क्षय करनेवाले **वेम**=(वी=प्रजनन) विकासवाले शरीर को **वयति**=सन्तत करता है, अर्थात् जो व्यक्ति यज्ञियवृत्ति के कारण भोगवाद में नहीं फँस जाता (नग्नहु:) और जीवन में शान्ति से चलता है (धीर:) वह शरीर को नीरोग (तसरं) तथा विकसित शक्तियोंवाला (वेम) बना पाता है।

भावार्थ—(क) हमें ज्ञानपूर्वक आहार-विहार करना चाहिए, (ख) विचारशील—उत्तम संकल्पवाला होना चाहिए, (ग) प्राणापान की शक्ति का वर्धन करना चाहिए, (घ) शरीर की उन्नति के लिए पक्वान्नों के रस का ग्रहण करना चाहिए तथा (ङ) त्यागवृत्तिवाला व धैर्यशील बनकर नीरोग व विकसित शरीरवाला बनना चाहिए।

ऋषि:—**शङ्ख:**। देवता—**सोम:**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**॥

दुग्ध सेवन

पय॑सा शु॒क्रम॒मृत॑ꣳ ज॒नित्र॒ꣳसुर॑या मू॒त्राज्ज॑नयन्त॒ रेत॑:।
अपाम॑तिं दु॒र्म॑तिं बाध॑माना॒ऽऊव॑ध्यं॒ वात॑ꣳसब्वं॒ तदा॒रात्॥८४॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी, मननशील, प्राणापान-शक्तिसम्पन्न लोग (सरस्वती, मनसा, नासात्याभ्यां) **पयसा**=दूध के द्वारा **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, जो शक्ति **अमृतम्**=उन्हें रोगों से मरने नहीं देती और **जनित्रम्**=उनके विकास का कारण बनती है। गतमन्त्र में अन्न के रस का उल्लेख था। वह 'अन्न-रस' उनकी शरीर की उन्नति का कारण (रोहित) होता है। प्रस्तुत मन्त्र में दूध का उल्लेख करते हैं। यह वीर्य को उत्पन्न करके उन्हें नीरोग व विकसित शक्तिवाला बनाता है। २. **सुरया**=(सुर to govern) आत्मनियन्त्रण के द्वारा तथा **मूत्रात्**=(मूत्र प्रस्रवणे, स्रु गतौ) गतिशीलता के द्वारा ज्ञानी लोग **रेत:**=शक्ति को **जनयन्त**=विकसित करते हैं। ३. इस प्रकार उत्तम खान-पान, आत्मनियन्त्रण व क्रियाशीलता से वे **अमतिम्**=बुद्धि के अभाव, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=औरों का घात-पात सोचनेवाली दुष्ट बुद्धि को, अर्थात् रजोगुण को अथवा तामसी व राजसी बुद्धि को **अपबाधमाना:**=अपने से दूर रखते हैं। ४. इसी उद्देश्य से जो **ऊवध्यम्**=आमाश्यगत अन्न है, **वातम्**=नाड़ीगत अन्न है तथा **सब्वम्**=पक्वाशयगत अन्न है **तत्**=उसे **आरात्**=दूर और समीप करते हैं, अर्थात् उसके उपादेय अंश को शरीर में धारण करते हैं और हेयांश को शरीर से दूर करते हैं। प्राण के ठीक कार्य करने पर उपादेयांश शरीर का अङ्ग बन जाता है, और अपान के ठीक कार्य करने पर हेयांश शरीर से दूर होता रहता है।

भावार्थ—(क) दूध के प्रयोग से वीर्यशक्ति को उत्पन्न करें, (ख) आत्म-नियन्त्रण व गतिशीलता से उस शक्ति की रक्षा करें (ग) अमति व दुर्मित को अपने से दूर करें, (घ) आमाशय-नाड़ी (आन्त्र) व पक्वाशय में प्रविष्ट अन्न के उपादेयांश को अपने समीप रक्खें तथा मलरूप हेयांश को अपने से दूर करें, जिससे पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पूर्ण स्वास्थ्य (सुत्रामा इन्द्र)

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्॥८५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्न व दूध आदि भोज्य द्रव्यों के उपादेयांश को समीप तथा हेयांश को अपने से दूर रखनेवाला **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विदारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **सुत्रामा**=उत्तमत्ता से अपना त्राण करता है, अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देता। २. शरीर को ही नीरोग बनाये, इतना ही नहीं, वह **हृदयेन सत्यम्**=हृदय से भी सत्य को ग्रहण करता है, अर्थात् मन में ईर्ष्यादि की अपवित्र भावनाओं को उत्पन्न नहीं होने देता। ३. हृदय को सत्य से शुद्ध व पवित्र बनाकर **पुरोडाशेन**=मस्तिष्क से (मस्तिष्को वै पुरुडाशः—तै०२।८।६) **सविता**=सदा निर्माण के कार्यों को करनेवाला **जजान**=बनता है, अर्थात् इसका मस्तिष्क कभी तोड़-फोड़ के कार्यों का विचार नहीं करता। गतमन्त्र के अनुसार अमति व दुर्मति का बाधन होने पर और सुमति का विकास होने पर मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। ४. **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवता **यकृत्**=इसके जिगर को **क्लोमानम्**=(The lungs, the bladder) फेफड़ों व मूत्राशय को तथा मसाने=गुर्दों को **भिषज्यन्**=नीरोग करता है, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष व मात्सर्य से ऊपर उठकर मनुष्य अपने जिगर आदि को ठीक रखता है। दूसरे शब्दों में, ईर्ष्या-द्वेषादि से ऐसे विष उत्पन्न होते हैं जिनसे जिगर आदि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ४. **न**=और यह इन्द्र **वायव्यैः**=वायव्य पदार्थों से, वाततत्त्व-प्रधान पदार्थों के प्रयोग से **पित्तम्**=पित्त को **मिनाति**=कुछ न्यून (Diminish) करता है। पित्त के बढ़ जाने पर ही जिगर आदि के कष्टसाध्य विकार उत्पन्न हो जाया करते हैं।

भावार्थ—(क) जितेन्द्रिय पुरुष शरीर को स्वस्थ्य, हृदय को सत्यमय तथा मस्तिष्क को निर्माणात्मक विचारोंवाला बनाता है, (ख) ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर यह अपने यकृत्, क्लोम व मसानों को विकृत नहीं होने देता (ग) वायव्य पदार्थों के प्रयोग से पित्त को संयत रखता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता॥८६॥

१. गतमन्त्र के 'सुत्रामा इन्द्र' की **मधु**=मधुरगुणान्वित अन्न को **पिन्वमानाः**=सेवन करती हुई **अन्त्राणि**=(अन्नपाकाधारा नाड़ीः—द०) अन्न का परिपाक करनेवाली नाड़ियाँ **स्थालीः**=(यासु पच्यन्ते अन्नानि) उखा (पतीली) होती हैं। जैसे पतीली में अन्न का परिपाक करते हैं, इसी प्रकार इन नाड़ियों में अन्नपाचन क्रिया चलती है। २. **गुदाः**=मल को दूर करनेवाली इन्द्रियाँ ही **पात्राणि**=(पा रक्षणे) रक्षिका होती हैं। इन इन्द्रियों के ठीक कार्य करने पर ही शरीर का रक्षण निर्भर है। ३. **न**=और **धेनुः**=(गौर्नाडी धमनिः धेनुरित्यर्थान्तरम्) नाड़ियाँ व धमनियाँ **सुदुघा**=(दुह प्रपूरणे) उत्तमत्ता से प्रपूरण करनेवाली हैं। शरीर में उस-उस स्थान पर आवश्यक रुधिर को पहुँचानेवाली होती हैं। ४. **न**=और

प्लीहा=तिल्ली **श्येनस्य पत्रम्**=बाज़ के पंख के समान है। प्लीहा का आकार श्येन पंख-सा है। जैसे पंख श्येन की उड़ान का कारण होता है, उसी प्रकार प्लीहा अविकृत होने पर मनुष्य के उत्साह का कारण बनती है, विकृत होकर मनुष्य को उदासीन कर देती है। ५. **शचीभिः**=सब प्रज्ञाओं व कर्मों का अधिष्ठान होने से **नाभिः**=नाभि **आसन्दी**=राजपीठ के समान है, इसी नाभि में सब प्रज्ञान व कर्म सम्बद्ध हैं। ६. **न**=और **उदरम्**=उदर तो **माता**=सम्पूर्ण रुधिर आदि का निर्माण करनेवाला है ही।

भावार्थ—(क) जिस समय हमारी आँतें अन्न का ठीक परिपाक करेंगी, (ख) गुदा आदि इन्द्रियाँ मल के दूरीकरण से रक्षिका होंगी, (ग) धमनियाँ रुधिरादि का ठीक पूरण करेंगी (घ) प्लीहा अविकृत होकर हमारे उत्थान का कारण बनेगा, (ङ) नाभि सब शक्तियों व प्रज्ञानों का आधार बनेगी और (च) उदर रुधिरादि का निर्माण करेगा, तभी हम पूर्ण स्वस्थ बनेंगे।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कुम्भ-कुम्भी

कुम्भो व॑नि॒ष्ठुर्ज॑नि॒ता शची॑भि॒र्यस्मि॒न्नग्रे॒ योन्यां॒ गर्भो॑ऽअ॒न्तः।
प्ला॒शिर्व्य॑क्तः श॒तधा॑र॒ऽउत्सो॑ दु॒हे न कु॒म्भी स्व॒धां पि॒तृभ्यः॑ ॥८७॥

१. पति को कैसा बनना इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **कुम्भः**=(कं उभ्यते अस्मिन्) जल के परिणामभूत वीर्यकण (आपो रेतो भूत्वा) जिसके अन्दर पूरित होते हैं, वह 'कुम्भ' है । पति ने अपने इस शरीररूपी कलश को वीर्यादि धातुओं से परिपूर्ण बनाना है। (कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णः—द०) वीर्यादि से परिपूर्ण होने के कारण ही जो आनन्द से परिपूर्ण है, (क=आनन्द)। संक्षेप में, पति शक्तिशाली है और इसीलिए प्रसन्न मनोवृत्तिवाला है। २. **वनिष्ठुः**=(सम्भाजी—द०) यह सम विभागपूर्वक वस्तुओं का प्रयोग करता है, सारा स्वयं नहीं खा जाता। केवलादी नहीं बनता। ३. **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने से **जनिता**=यह अपनी शक्ति का सदा प्रादुर्भाव करता है। ४. **अग्रे**:=सृष्टि बनने से पूर्व यह संसार **यस्मिन्**=जिस प्रभु में था, **योन्यां गर्भः अन्तः**=उस कारणभूत ब्रह्म में यह गर्भरूप से निवास करता है। जैसे गर्भ माता में सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह सदा उस 'जगद्योनि' ब्रह्म में गर्भरूप से सुरक्षित रहता है। वहाँ रहता हुआ यह रोगों व पापों से आक्रान्त नहीं होता। ५. **प्लाशिः**=(प्रकृष्टम् अश्नाति) यह सदा उत्तम सात्त्विक भोजनों का करनेवाला होता है। **व्यक्तः**=इस सात्त्विक भोजन से ही इसका अन्तःकरण सात्त्विक बनकर इसके जीवन को उच्च बनाता है। ६. **शतधारः**=(शतशः धारा वाचो यस्य) यह अनन्त ज्ञान की वाणियोंवाला होता है। ७. **उत्सः**=(उन्दी क्लेदने) यह दया के जल से सदा क्लन्न व करुणार्द्र हृदयवाला होता है, अथवा यह ज्ञान का स्रोत बनता है जहाँ से सब लोग अपनी ज्ञान की प्यास बुझा पाते हैं। ८. अब पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं, कि **कुम्भी**=पत्नी भी शक्ति से परिपूर्ण शरीररूपी कलशवाली होती है और इसीलिए आनन्दमय हृदयवाली होती है। यहाँ प्रथम 'कुम्भ' शब्द के स्त्रीलिंग 'कुम्भी' शब्द के प्रयोग से अन्य गुणों का भी पत्नी में उसी प्रकार आवश्यक रूप से होने का संकेत हो गया है। ९. **न**=और इन गुणों के साथ यह 'पत्नी' **स्वधाम्**=आत्मधारण के लिए आवश्यक अन्न को **पितृभ्यः**= अपने-अपने कर्त्तव्य भाग के पालन के द्वारा घर का रक्षण करनेवाले पितरों के लिए **दुहे**=पूरित करती है। घर में सभी को शरीरपोषक भोजन प्राप्त कराना, यह पत्नी का

विशिष्ट कर्त्तव्य है। इसके ठीक होने पर ही शरीर, मन व बुद्धि सबकी उन्नत्तियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—पति व पत्नी शक्तिशाली व प्रसन्न मनवाले हों। शरीरपोषक अन्न के सेवन से सब उन्नत्तियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्वरूप

मुखꣳसदस्य शिरऽइत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥८८॥

१. **अस्य**=इस—गतमन्त्र के 'कुम्भ' का **मुखम्**=मुख **सत्**=उत्कृष्ट होता है। (सत् इति उत्तरनाम—नि० ३।२९)। २. **सतेन**=इस उत्कृष्ट मुख के साथ **इत्**=निश्चय से **शिरः**=मस्तिष्क होता है। जहाँ इसका मुख उत्कृष्ट होता है, वहाँ इसका मस्तिष्क भी ठीक होता है। ३. **जिह्वा पवित्रम्**=इसकी जिह्वा पवित्र होती है। **अश्विना पवित्रम्**=इसके प्राणापान इसे पवित्र बनानेवाले होते हैं। ४. 'मुख व मस्तिष्क की उत्कृष्टता' तथा 'जिह्वा व प्राणापान की पवित्रता' के कारण ही **आसन्** (आस्ये)=इसके मुख में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता का निवास होता है। ५. इस विद्या के कारण सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करने से **पायुः**=इसकी मलशोधक गुदा-इन्द्रिय **चप्पम्**=(चप सान्त्वने) इसको सान्त्वना व शान्ति प्राप्त करानेवाली है। मलशोधन ठीक हो जाने से शरीर व मन में शान्ति व प्रसन्नता का अनुभव होता है। ६. **अस्य**=इसके **बालः**=भिन्न-भिन्न शरीर-अङ्गों में उत्पन्न बाल **भिषक्**=इसके वैद्य होते हैं। ये उसे सर्दी-गर्मी से बचाने में सहायक होते हैं। मलों के चूसने में उपयुक्त होते हैं और इस प्रकार से रोगनिवारण करते हुए इसके वैद्य ही होते हैं। ७. **वस्तिः न शेपः**=मूत्रस्थान और मूत्रेन्द्रिय तो **हरसा**=मलहरण के द्वारा **तरस्वी**=इसको बलसम्पन्न बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'कुम्भ' अर्थात् अपने अन्दर शक्ति व आनन्द का पूरण करनेवाले के सब अङ्ग सुन्दर होते हैं। मुख और सिर तो उत्कृष्ट होते ही हैं, इसकी जिह्वा व इसके प्राणापान पवित्र होते हैं। इसके मुख में सरस्वती का निवास होता है। इसकी मलशोधक इन्द्रियाँ भी मलशोधन के द्वारा इसे बलवान् बनाती हैं।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

रहन-सहन

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते ॥८९॥

१. **ग्रहाभ्याम्**=(गृहीत इति ग्रहौ ताभ्याम्—द०) शुद्ध वायु के द्वारा शरीर में नीरोगता लानेवाले **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ इस कुम्भ (८७) के जीवन में **अमृतम् चक्षुः**=वह ज्ञान होता है, जो इसकी अमरता का कारण बनता है। यह ज्ञान ही इसे विषयों में फँसने से बचाता है, और इसे विषयासक्त हो मरने नहीं देता। २. इस नीरोगता व उत्तम ज्ञान के लिए ही **छागेन**=(छागादिदुग्धेन—द०) बकरी के दूध के सेवन से यह **तेजः**=तेजस्विता को प्राप्त करता है। (छाग का अर्थ बकरी का दूध भी है)। ३. इसी तेजस्विता को वह **शृतेन**=ठीक प्रकार से परिपक्व **हविषा**=दान देकर बचे हुए हव्य पदार्थों के सेवन से प्राप्त करता है। ४. **गोधूमैः**=गेहूँ आदि अन्नों से **पक्ष्माणि**=(पक्ष परिग्रहे) यह बलों व उत्तमताओं

का परिग्रह करता है। ५. **कुवलैः**=(सुशब्दैः—द०, कु शब्दे वल=Well=वर) उत्तम शब्दों के साथ **उतानि**=बुने गये वस्त्रों को यह धारण करता है, अर्थात् केवल सुन्दर कपड़े नहीं पहनता शब्द भी सुन्दर ही बोलता है। गोधूम आदि अन्नों को ही नहीं खाता रहता, उत्तम शक्तियों व गुणों का भी ग्रहण करता है। ६. **न**=और **शुक्रम्**=वीर्य **पेशः**=इसको रूप देनेवाला होता है, अर्थात् शक्ति के कारण यह रोगों का शिकार नहीं होता और परिणामतः इसका शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से चमकता है। ७. स्वस्थ बने रहने के लिए ही मन्त्र ८७ के कुम्भ और कुम्भी **असितम्**=(षिञ् बन्धने अबद्धम्=not very tight) न बहुत सटे हुए कपड़े **वसाते**=पहनते हैं। ये कसे हुए कपड़े न पहनकर ढीले ही कपड़े पहनते हैं। कसे हुए कपड़े रुधिराभिसरण अवरोध पैदा करके स्वास्थ्य के लिए विघातक होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि प्राणशक्ति के साथ ज्ञान का भी वर्धन करे। बकरी के दूध तथा ठीक पके हव्य पदार्थों के सेवन से तेजस्वी बनें। अन्न के ग्रहण के साथ गुणों को भी ग्रहण करे। सुन्दर वस्त्रों के साथ शब्द भी सुन्दर बोले। इसकी शक्ति इसे स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त कराये। कपड़े बहुत तंग न पहने।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

परमगति

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्थाऽअमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥९०॥

१. उत्तम रहन-सहनवाला व्यक्ति **अविः**=(योऽवति रक्षति) शरीर व मानस मलों से अपनी रक्षा करता है। अपने को उन मलों से आक्रान्त नहीं होने देता। २. **न**=और **मेषः**=(मिषति स्पर्धते) उत्तम गुणों के उपार्जन में स्पर्धावाला होता है। ३. इसके **नसि**=नासिका में **प्राणस्य पन्थाः**=प्राण का मार्ग **अमृतः**=कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् यह प्रयत्न करता है कि यह सदा श्वास व प्रश्वास नासिका से ही ले। यह 'नासिका से श्वास लेना' **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु व नीरोगता के ग्रहण से **वीर्याय**=इसको वीर्यसम्पन्न बनाने के लिए हो। इसके जीवन में **उपवाकैः**=आचार्य के समीप बैठकर, (उप) आचार्य से सुने ज्ञान के उच्चारणों से (वाकैः) **सरस्वती**=ज्ञान **जजान**=उत्पन्न होता है ('प्रत्याश्रावः' आचार्य से सुनाये हुए को सुनानेवाला 'अनुरूपः' आचार्य के समान ही ज्ञानी बनता है)। ५. **बदरैः**=(बद स्थैर्ये) स्थिरताओं से **व्यानम् नस्यानि बर्हिः**=व्यानवायु, प्राणापान तथा वासनाशून्य हृदय **जजान** उत्पन्न होता है। (क) इन्द्रियों की स्थिरता से 'व्यान' उत्पन्न होता है। सारे शरीर में व्याप्त होकर सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाली यह व्यानवायु ही है, इसके लिए जितेन्द्रिय बनकर इन्द्रियों की स्थिरता का सम्पादन आवश्यक है अन्यथा नाड़ी-संस्थान के भ्रंश की आशंका बनी रहती है, (ख) मन की स्थिरता नस्यानि=प्राणापान के विकास के लिए आवश्यक है। मनोनिरोध व प्राणनिरोध अत्यन्त सम्बद्ध हैं, (ग) बुद्धि की स्थिरता से वासना-शून्य हृदय का (बर्हिः) विकास होता है एवं, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की स्थिरता में 'व्यान, नस्य व बर्हि' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अपना रक्षण करें। उत्तमत्ता में स्पर्धावाले हों। सदा नासिका से श्वास लेते हुए शक्ति का वर्धन करें। आचार्य से उक्त का अनुवाद करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ तथा इन्द्रियों, मन व बुद्धि की स्थिरता से नाड़ी-संस्थान को ठीक रक्खें, प्राणापान का वर्धन करें तथा हृदय को वासनाशून्य बनाएँ।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जितेन्द्रय कौन?

इन्द्र॑स्य रू॒पमृ॑ष॒भो बला॑य॒ कर्णा॑भ्या॒ꣳश्रोत्र॑म॒मृतं॒ ग्रहा॑भ्याम्।
यवा॒ न ब॒र्हिर्भ्रु॒वि केस॑राणि क॒र्कन्धु॑ जज्ञे॒ मधु॑ सार॒घं मुखा॑त्॥९१॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=स्वरूप यह है कि वह **बलाय**=बल के सम्पादन व स्थिरता के लिए **ऋषभः**=(ऋष् गतौ) सदा गतिशील होता है। यह अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता, परिणामतः सबल बना रहता है। २. **कर्णाभ्याम्**=कानों से यह सदा **श्रोत्रम्**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करनेवाला होता है। ३. **ग्रहाभ्याम्**=शुद्ध वायु का ग्रहण करनेवाले प्राणापानों से **अमृतम्**=यह अमर बनता है, रोगों से मरियल शरीरवाला नहीं होता। ४. **न**=और **यवाः**=जौ आदि धानों का प्रयोग **बर्हिः**=इसके हृदय को वासनाशून्य बनाता है। 'जैसा अन्न वैसा मन' इस उक्ति के अनुसार सात्त्विक अन्न के प्रयोग से यह सात्त्विक मनवाला होता है। ५. **भ्रुवि**=इसकी भ्रुवों पर (Brows) **केसराणि**=(विज्ञानानि) विज्ञान झलकते हैं, इसकी त्योरी कभी चढ़ी नहीं होती, अतः इसकी भ्रुवें क्रोध को प्रकट नहीं करतीं। इसकी भ्रुवों से इसके मन का प्रसाद प्रकट होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह **के**=आनन्द में **सर**=विचर रहा है, ज्ञानप्रधान इसका जीवन है। ६. इसके **मुखात्**=मुख से **कर्कन्धु**=(कर्क=fire अग्नि, कर्कं दधाति) अग्नि को धारण करनेवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्साहपूर्ण, **सारघम्**=(सारं हन्ति=प्राप्नोति) सारयुक्त तथा **मधु**=अत्यन्त मधुर वचन **जज्ञे**=प्रकट होता है, वह मुख से कभी निराशा के प्रतिपादक वचनों को नहीं बोलता, इसके वचन 'मितं च सारं च' परिमित व सारभूत होते हैं। यह अत्यन्त मधुर वचनों को ही बोलता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष—(क) क्रिया के द्वारा शक्तिशाली होता है, (ख) कानों से सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता है, (ग) प्राणापान के द्वारा शुद्ध वायु के ग्रहण से नीरोग बनता है, (घ) जौ आदि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से इसका हृदय वासनाशून्य होता है, (ङ) इसका मन इसके मनःप्रसाद को प्रकट करता है और (च) यह उत्साहमय सारभूत मधुर शब्दों को बोलता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उपासक का जीवन 'अस्तेयः, अपरिग्रह-अहिंसा'

आ॒त्मन्नु॒पस्थे॒ न वृक॑स्य॒ लोम॒ मुखे॒ श्मश्रू॑णि॒ न व्या॑घ्रलो॒म।
केशा॒ न शी॒र्षन्यश॑से श्रि॒यै शिखा॑ सि॒ꣳहस्य॒ लोम॒ त्विषि॑रिन्द्रि॒याणि॑॥९२॥

१. **न**=और **आत्मन् उपस्थे**=उस आत्मा के समीप स्थित होने पर, अर्थात् परमात्मा की उपासना के सिद्ध होने पर **वृकस्य**=(वृक robbery=स्तेय) मन के अन्दर रहनेवाले स्तेय का, चोरी की भावना का, बिना परिश्रम के धन की प्राप्ति की इच्छा का **लोम**=छेदन हो जाता है, प्रभु का उपासक कभी भी स्तेय की ओर नहीं झुकता, यह 'अस्तेय' धर्म का पूर्ण पालन करने का प्रयत्न करता है। २. **न**=और इसके **मुखे**=मुख पर **श्मश्रूणि**=दाढ़ी-मूँछ के बाल प्रकट होकर इसके यौवन में कदम रखने की सूचना देते हैं, परन्तु प्रभु की उपासना से इसमें **व्याघ्रलोम**=(व्याजिघ्रति) समन्तात् विषयों को सूँघने की वृत्ति का छेदन हो जाता है। यह विषयासक्त होकर विषयों के परिग्रह में ही नहीं लगा रहता, अपितु इसके विपरीत

वह 'अपरिग्रह' धर्मवाला होता है। यौवन में भी यह विषयासक्त नहीं होता। ३. **न**=और **शीर्षन्**=मस्तिष्क में **केशाः**=ज्ञान की रश्मियाँ (a ray of light) इसके **यशसे**=यश के लिए होती हैं और **श्रियै**=इसकी श्री के लिए होती हैं। मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञानरश्मियाँ इसके जीवन को यश-सम्पन्न व श्रीसम्पन्न बनाती हैं। ४. **शिखा**=यह ज्ञानाग्नि (ray of light) की ज्वाला इसकी **सिंहस्य**=हिंसावृत्ति का **लोम**=छेदन करनेवाली होती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के कारण यह अधिक-से-अधिक अहिंसक होता है। ५. **त्विषिः**=इसके चेहरे पर दीप्ति होती है। उपासक स्वास्थ्य व मनःप्रसाद के कारण तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **इन्द्रियाणि**=इसमें प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति अत्यन्त वृद्ध होती है।

भावार्थ—उपासक अस्तेय धर्म का पालन करता है। भरपूर युवावस्था में भी विषयों का परिग्रही नहीं बनता। ज्ञान के कारण यशस्वी व श्रीसम्पन्न कार्यों को ही करता है। इसका ज्ञान इसे अहिंसक बनाता है। यह दीप्त होता है, वीर्यसम्पन्न अङ्गोंवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शतमानम् आयुः 'प्रसाद-प्रकाश-प्रभाव'

अङ्गा॑न्या॒त्मन् भि॒षजा॑ तद॒श्विना॒त्मान॒मङ्गैः॒ सम॑धा॒त् सर॑स्वती।
इन्द्र॑स्य रू॒पꣳश॒तमा॑न॒मायु॑श्च॒न्द्रेण॒ ज्योति॑र॒मृतं॒ दधा॑नाः॥९३॥

१. उपासक के, जितेन्द्रिय पुरुष के, **अङ्गानि**=अङ्ग **आत्मन्**=सदा आत्मा में होते हैं, अर्थात् यह सब अङ्गों से उन-उन क्रियाओं को करता हुआ परमात्मा को भूलता नहीं। २. **तत् अश्विना**=प्राणापान **भिषजा**=इसके वैद्य होते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के कारण यह नीरोग बना रहता है। ३. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता, अर्थात् ज्ञानी बनकर यह **अङ्गैः**=योगाङ्गों के द्वारा **आत्मानम्**=उस परमात्मा को **समधात्**=सम्यक् धारण करता है, स्वाध्याय करता है और इस स्वाध्यायरूप क्रियायोग से यह अपने को परमात्मा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। ४. **इन्द्रस्य**=इस प्रकार इस जितेन्द्रिय पुरुष का **रूपम्**=रूप यह होता है कि यह (क) **शतमानम् आयुः**=सौ वर्ष से मपी आयु को प्राप्त करता है। (ख) **चन्द्रेण ज्योतिः**=मानस आह्लाद के साथ ज्ञान की ज्योतिवाला होता है और (ग) ये उपासक **अमृतं दधानाः**=विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को तथा नीरोगता व अमरता को धारण करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने अङ्गों को आत्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करता है, प्राणापान-शक्ति की वृद्धि से नीरोग होता है, ज्ञान व योगाङ्गों से प्रभु से मेल करता है, सौ वर्ष तक जीता है, प्रसन्न रहता है, ज्योतिर्मय व विषयों के पीछे न मरनेवाला होता है।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

कर्मों में रस व उसका लाभ

सर॑स्वती॒ योन्यां॒ गर्भ॑म॒न्तर॒श्विभ्यां॒ पत्नी॒ सुकृ॑तं बिभर्ति।
अ॒पाꣳरसे॑न॒ वरु॑णो॒ न साम्नेन्द्र॑ꣳश्रि॒यै ज॒नय॑न्न॒प्सु राजा॑॥९४॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान को प्राप्त विदुषी स्त्री घर के सब कार्यों को करती हुई **योन्याम्**=सृष्टि के मूलकारण परमात्मा के **अन्तः गर्भम्**=अन्दर गर्भरूप में रहती है। जैसे एक बालक माता में गर्भरूप से रहता हुआ सुरक्षित होता है, उसी प्रकार यह परमात्मा में निवास करती हुई वासनाओं से अपने को बचा पाती है। २. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के हेतु से, अर्थात् घर के सब सभ्यों की प्राणापानशक्ति की वृद्धि के लिए यह **पत्नी**=गृहपत्नी **सुकृतम्**=उत्तमता

से संस्कृत किये हुए अन्न का **बिभर्ति**=भरण करती है। सबको उत्तम पथ्य भोजन देकर सबके स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखती है। ३. **न**=और **अपां रसेन**=कर्मों के अन्दर रस को अनुभव करने से **वरुणः**=घर का प्रत्येक व्यक्ति दोष का निवारण करनेवाला बनता है। खाली बैठे आलसी व्यक्तियों को ही ईर्ष्या-द्वेष की बातें सूझती हैं। ४. कर्म में लगे रहने से यह ईर्ष्या-द्वेष में नहीं फँसता और **साम्ना**=शान्ति से अथवा उपासना से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **श्रियै**=अपने में 'श्री' की वृद्धि के लिए **जनयन्**=आविर्भूत करता है। प्रभु के ध्यान के द्वारा अन्तःस्थित प्रभु के दर्शन करता है, यह प्रभुदर्शन इसकी शोभा को बढ़ाता है। ५. और यह प्रभु के तेज के अंश से चमकता हुआ व्यक्ति **अप्सु राजा**=(क) अपने कर्मों में बड़ा व्यवस्थित (regular) होता है। (ख) अथवा अपने कर्मों से चमक उठता है (राज्=दीप्ति)। इसके कर्म सामान्य व्यक्तियों के कर्मों की अपेक्षया असाधारणता लिये हुए होते हैं, इसीलिए वह (ग) **अप्सु**=प्रजाओं में **राजा**=राजा बन जाता है।

भावार्थ—१. गृहिणी को चाहिए कि गृहकार्यों को करती हुई प्रभु में निवास करे। २. सब गृहसभ्यों के लिए उत्तम सात्त्विक अन्न को सिद्ध करके प्राप्त कराए। ३. कर्मों में लगे रहने से ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर रहे। ४. शान्ति व उपासना से प्रभु के तेजोंऽश को अपने में धारण करे। ५. व्यवस्थित कर्मों से चमक उठे और प्रजाओं में राजा बनने के योग्य हो।

ऋषिः—**शङ्खः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अमृत-सोम-इन्दु

तेजः पशूनाᳬहविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु।
अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुतासुताभ्याममृतः सोमऽइन्दुः ॥९५॥

१. **पशूनाम्**=पशुओं के **तेजः**=तेजस्विता के कारणभूत दूध को मैं ग्रहण करूँ। वेद में अन्यन्त्र 'पयः पशूनाम्' ही पाठ है, अतः यहाँ **तेजः** व **पयः** में कार्यकारणभाव होने से पयः के स्थान में तेजः का प्रयोग किया गया है। २. **हविः**=दानपूर्वक किया हुआ सात्त्विक भोजन, यज्ञशेषरूप पथ्य, **इन्द्रियावत्**=हमारे बल को (इन्द्रियं वीर्यम्) बढ़ानेवाला हो। ३. **परिस्रुता**=परिपक्व अन्न के साथ तथा **पयसा**=दूध के साथ **सारघं मधु**=मैं मधुमक्षिकाओं से निर्मित शहद का ग्रहण करूँ। ४. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान की शक्ति के लिए **दुग्धम्**=मैं दुग्ध (दूध) को स्वीकार करूँ। ५. इस प्राणापानरूप **भिषजा**=वैद्यों से **अमृतः**=मैं अमृत बनूँ, कभी रोगों का शिकार न होऊँ। ६. **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिदेवता से, अर्थात् अत्युत्तम ज्ञान से मैं **सोमः**=सौम्य बनूँ। ज्ञान का परिणाम तो है ही 'विनय'। यदि मैं विनीत न रहकर अभिमानी हो जाऊँगा तो मेरा सारा उत्थान समाप्त हो जाएगा। ७. **सुतासुताभ्याम्**=सुत व असुतों के द्वारा बड़े परिश्रम से भूमि में पैदा किये गये—उत्तम सात्त्विक अन्नों के द्वारा (परिसुता) तथा असुत, अर्थात् गौ आदि के दूध के द्वारा यह **इन्दुः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला बनता है अथवा शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—पशुओं का दूध, यज्ञशेष अन्न व शहद के प्रयोग से मैं अमर=नीरोग बनूँ। बुद्धि की तीव्रता से ज्ञानी बनकर (विनीत बनूँ)। ठीक अन्नों का प्रयोग मुझे शक्तिशाली बनाये। यह 'अमृत-सोम-इन्दु' ही राजा बनने के योग्य हैं। इस राजा के वर्णन से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है।

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः॥

अथ विंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति का केन्द्र

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः ॥१॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों में 'अमृत, सोम व इन्दु' बनने का उल्लेख था। उससे पहले ९४वें मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अप्सु राजा' थे, प्रजाओं में यह राजा बनता है। इसी राजा का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं कि **क्षत्रस्य**=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाली शक्ति का तू **योनि असिः**=उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् तू अपने में उस शक्ति को उत्पन्न करता है जो शक्ति प्रजा को हानि से बचाती है। २. **क्षत्रस्य**=सम्पूर्ण बल का **नाभिः असि**=तू अपने में बन्धन करनेवाला है (नह बन्धने)। तू अपने में शक्ति का बन्धन करते हुए शक्ति का केन्द्र बनता है। ३. शक्ति का केन्द्र बनने के कारण ही **त्वा**=तुझे **मा हिंसीत्**=कोई भी रोग हिंसित करनेवाला न हो। यह वीर्य का संयम तुझे सब रोगों से बचानेवाला हो। ४. तू **मा**=मुझे **मा हिंसीः** =नष्ट मत कर। प्रभु मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' से कहते हैं कि तू मेरा भी विस्मरण न होने दे, अर्थात् प्रजापति को चाहिए कि वह 'प्रभु का ध्यान' अवश्य करे ताकि उसे शक्ति व ऐश्वर्य आदि के कारण अभिमान न हो जाए और न ही वह विषय-प्रवण बन जाए। यह अपनी रक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रजा की ठीक प्रकार से रक्षा कर पाता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता है।

भावार्थ—हम बल के उत्पत्ति-स्थान व बल का केन्द्र बनने का प्रयत्न करें। यह बल का केन्द्र बनना हमें रोगों में फँसने से बचाए। इसी उद्देश्य से हम प्रभु का सदा स्मरण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

धृत-व्रत

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि॥२॥

१. गतमन्त्र का 'क्षत्र का केन्द्र' बननेवाला व्यक्ति **निषसाद**=निश्चय से व नम्रता के साथ सिंहासन पर बैठता है। २. **धृतव्रतः**=यह व्रत का धारण करता है। 'प्रजारक्षण' ही इसका मुख्य व्रत होता है। प्रजारक्षण के लिए यह बाह्य शत्रुओं से बदला लेता है और अन्त:शत्रुओं को उचित दण्ड द्वारा सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। ३. **वरुणः**=(क) यह प्रजाओं के द्वारा चुना जाता है। प्रजा ने रक्षण के लिए ही इसे चुना है, (ख) यह अपने को अपने कार्य में समर्थ होने के लिए श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'**, (ग) यह प्रजाओं में द्वेषादि की वृत्तियों के निवारण का प्रयत्न करता है। **'वारयति इति वरुणः'**। ४. इसी उद्देश्य से यह **आ**=समन्तात् चारों ओर **पस्त्यासु**=प्रजाओं

में विचरण करता है। प्रजाओं में सदा भ्रमण करनेवाला राजा ही प्रजा का ठीक से रक्षण कर पाता है। ५. यह प्रजाओं में भ्रमण करनेवाला राजा ही **साम्राज्याय**=सम्यक् शासन के लिए होता है। उत्तमता से शासन के लिए राज्य में सर्वत्र भ्रमण करके स्वयं सब-कुछ देखना आवश्यक है। ६. यह राजा **सुक्रतुः**=उत्तम कर्म व प्रज्ञावाला होता है। ७. इस राजा को आदेश देते हैं कि **मृत्योः पाहि** =तू प्रजाओं को मृत्यु से बचा। सफाई के उत्तम प्रबन्ध से तथा खान-पान की वस्तुओं की ठीक व्यवस्था से तू रोगों को न फैलने दे। ८. केवल रोगों से ही नहीं **विद्योत् पाहि**=(विद्युत्पाताद्रक्ष) विद्युत्पात आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी तू राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो। वस्तुत: यदि वैयक्तिक पापों से आध्यात्मिक कष्ट होते हैं तो सामाजिक पापों से आधिभौतिक कष्ट आया करते हैं और राजा के अपराध अथवा राष्ट्रीय अपराध आधिदैविक आपत्तियों के कारण बनते हैं, अत: राजा ने राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र की आधिदैविक आपत्तियों से रक्षा करनी है।

भावार्थ—प्रजारक्षण के व्रत को लेकर राजा गद्दी पर बैठे। वह प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाला हो। राष्ट्र को रोगों से होनेवाली मृत्यु से बचाए तथा विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों से भी बचाए।

ऋषिः—**अश्विनौ**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**निचृदतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

अभिषेक

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
अ॒श्विनो॒र्भैष॑ज्येन॒ तेज॑से ब्रह्मवर्च॒साया॒भि षि॑ञ्चामि॒ सर॑स्वत्यै॒ भैष॑ज्येन
वी॒र्या॑यान्नाद्या॑या॒भि षि॑ञ्चा॒मीन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॒ बला॑य श्रि॒यै यश॑से॒ऽभि षि॑ञ्चामि ॥३॥

१. **सवितुः**=सबके उत्पादक व प्रेरक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **त्वा अभिषिञ्चामि**=तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तूने वेद में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न के हेतु से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, अर्थात् तू अपने प्रयत्न से कमाकर खानेवाला है। तेरी यह विशेषता भी तुझे इस शासनाधिकार के योग्य बनाती है। तू कोश को प्रजा के लिए धेनु='दूध पिलानेवाली' समझता है तो अपने लिए उस कोश को तू **'वशा'**=बन्ध्या गौ के समान समझता है। तू किसी प्रकार के विषयभोगों के लिए उस कोश का विनियोग नहीं करता। यह बात भी तुझे अभिषेक के योग्य बनाती है। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से भी मैं तेरा अभिषेक करता हूँ, क्योंकि तू किसी भी वस्तु का उतना ही ग्रहण करता है जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो। ४. **अभिषिञ्चामि** =मैं तेरा अभिषेक इसलिए करता हूँ कि **अश्विनोः**=प्राणापान की **भैषज्येन**=चिकित्सा के द्वारा **तेजसे**=तेरे शरीर में नीरोगता के कारण तेजस्विता का प्रादुर्भाव हुआ है तथा **ब्रह्मवर्चसाय**=तेरे स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क के कारण ज्ञानाध्ययन की सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। तू शरीर से तेजस्वी है तो मस्तिष्क से ब्रह्मवर्चस्वी बना है। ५. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा अभिषेक करता हूँ चूँकि **सरस्वत्यै भैषज्येन**=सरस्वती-विद्याधिदेवता' के चिकित्सन के द्वारा **वीर्याय**=तू शक्तिसम्पन्न बना है तथा **अन्नाद्याय**=तुझमें अन्न के खाने की शक्ति ठीक बनी है। तू मन्दाग्नि नहीं हो गया है। ज्ञान को विलासवृत्ति नष्ट करती है और इसके विनाश से इसकी शक्ति ठीक बनी रहती है। आहार-विहार के ठीक होने से यह मन्दाग्नि नहीं हो जाता। मन्दाग्नि पुरुष कभी

भी शासन के लिए उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह पग-पग पर खिझने की वृत्तिवाला होता है। ६. **अभिषिञ्चामि**=मैं तेरा इसलिए अभिषेक करता हूँ कि तू **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्र की इन्द्रियों के द्वारा, अर्थात् स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा **बलाय**= बलसम्पन्नता के लिए समर्थ हुआ है, **श्रियै**=तेरा प्रत्येक कार्य शोभासम्पन्न है तथा **यशसे**=तू अपने कार्यों के साफल्य से यशःसम्पन्न बना है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'**=जितेन्द्रिय राजा ही तो प्रजाओं को वश में स्थापित करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अभिषेक के योग्य राजा वह है जो—(क) परमेश्वर की अनुज्ञा में चलता है, (ख) अपने प्राणापान के प्रयत्न से अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, (ग) पोषण से अधिक वस्तु का ग्रहण नहीं करता, (घ) प्राणापान के शक्तिवर्धन से तेजस्वी व ब्रह्मवर्चस्वी बना है, (ङ) ज्ञान से अपने को पवित्र करके वीर्यसम्पन्न तथा प्रज्वलित जाठराग्निवाला हुआ है, (च) इन्द्रियों को अपने अधीन रखके तू 'बल, श्री व यशः' सम्पन्न बना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सुश्लोक-सुमंगल-सत्यराजन्

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्॥४॥

१. हे राजन्! तू **कः असि**=सुखस्वरूप है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं। सदा प्रसन्न रहता है **'स्मितपूर्वाभिमाषी'** है। २. **कतमः असि**=सुखस्वरूप होने से तू प्रजा के लिए भी अतिशयेन सुखकारी है। प्रजा को अधिक-से-अधिक सुखी करने का प्रयत्न करता है। ३. **कस्मै त्वा**=इस सुखस्वरूपता के लिए ही तुझे (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूँ। ४. **काय त्वा**=प्रजा के रक्षण के द्वारा प्रजा को सुखी करने के लिए मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। ५. इन अपने स्वभाविक कार्यों के कारण तू **सुश्लोक**=उत्तम यशवाला हुआ है। सारी प्रजाएँ तेरे गुणों का कीर्तन करती हैं। ६. **सुमङ्गल**=तू प्रजाओं का उत्तम मङ्गल करनेवाला है और ७. **सत्यराजन्**=तू सत्य से सदा चमकनेवाला है तथा सत्य से ही शासन करनेवाला है।

भावार्थ—राजा स्वयं प्रसन्नता के स्वभाववाला हो, प्रजा को प्रसन्न करनेवाला हो। इसी कारण उसका अभिषेक किया गया है। वह उत्तम शासन के कारण यशस्वी बने, प्रजा का मङ्गल करे और सत्य से चमक उठे, सत्य से ही सबका शासन करे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत-धारण

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणोऽअमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥५॥

१. अभिषिक्त राजा उपस्थित प्रजाजन को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं प्रयत्न करूँगा कि **मे शिरः**=मेरा मस्तिष्क **श्रीः**=सदा 'श्रीसम्पन्न हो, उसमें सदा उत्तम विचारों को ही स्थान मिले। २. **मुखं यशः**=मेरा मुख यशस्वी हो, अर्थात् मेरे मुख से किसी प्रकार के अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। ३. **श्मश्रूणि**=(श्मनि श्रितम्) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियाँ—मन व बुद्धि' ये सब **त्विषिः** =दीप्ति के पुञ्ज हों **च**=और **केशाः** =ज्ञान की रश्मियों से युक्त हों। ये सब अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ होकर चमकें। ये सब

ज्ञान की किरणों से दीप्त हों। ४. **मे प्राणः**=मेरी प्राणशक्ति **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाली हो (राजृ दीप्तौ) तथा यह मेरे जीवन को बड़ा व्यवस्थित बनाए। साथ ही यह प्राणशक्ति **अमृतम्**=मुझे रोगों से मरने न दे। मुझे नीरोग बनाकर पूर्ण शतमान आयुवाला बनाए। ५. **चक्षुः**=मेरी आँख **सम्राट्**=सम्यक् प्रकाशमान हो। मानस स्वास्थ्य के कारण मेरी आँख में नैर्मल्य की चमक हो। ६. **श्रोत्रम्**=मेरा कान, वेदज्ञान को श्रवण करने के कारण, **विराट्**=विशिष्ट रूप से शोभायमान हो। आचार्य दयानन्द के शब्दों में यह विविध शास्त्र श्रवणयुक्त हो और इसीलिए यह **विराट्**=चमकनेवाला हो।

भावार्थ—राजा के व्रत हैं—(क) मैं मस्तिष्क में पवित्र विचारों को धारण करूँगा, (ख) मेरा मुख यशस्वी शब्दोंवाला हो, (ग) मेरी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब-के-सब दीप्त व ज्ञान की रश्मियोंवाले हों, (घ) प्राण मेरी दीप्ति व अमरता का कारण हो, (ङ) चक्षु सम्राट् हो और (च) कान विराट् हो—ऐसा मैं प्रयत्न करूँगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभापतिः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

राजा की इन्द्रियाँ

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥

१. **मे जिह्वा**=(जुहोतिशब्दमन्नं यया द.) शब्दों का उच्चारण करनेवाली व अन्न का सेवन करनेवाली मेरी यह जिह्वा **भद्रम्**=भद्र हो। यह कल्याण व सुख का साधन बने। भद्र बनने के लिए ही यह शुभ शब्दों का उच्चारण करे व सात्त्विक अन्नों का सेवन करे। २. **वाङ् महः**=मेरी वाणी (पूज्यवेदशास्त्रबोधयुक्ता—द०) पूजनीय हो, यह उत्तम वेदज्ञान से युक्त हो। ३. **मनः**=हमारा मन **मन्युः**=अवबोधवाला हो, मननशील हो। ४. **भामः**=मेरा तेज **स्वराट्**=स्वयं चमकनेवाला हो, मुझे तेजस्विता के लिए आभूषणों व विलेपनों की आवश्यकता न हो। इन आभूषणों व विलेपनों के बिना भी मैं तेजस्वी प्रतीत होऊँ। ५. मेरी **अंगुलीः**=अंगुलियाँ (अगि गतौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाली, सदा कर्मों में स्थापित की जानेवाली ये दीधितियाँ **मोदाः** =मेरी प्रसन्नता का कारण बनें। इसी प्रकार, **अङ्गानि**=(अगि गतौ) सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले मेरे अङ्ग **प्रमोदाः**=मेरे प्रकृष्ट आनन्द का कारण बनें और ६. **सहः**=सहनशक्ति **मे मित्रम्**=मेरी मित्र हो, यह मुझे पापों से बचानेवाली हो।

भावार्थ—१. मेरी जिह्वा भद्र होगी। २. वाणी महनीय होगी। ३. मन विचारशील। ४. मेरा तेज निमित्तान्तर निरपेक्ष होगा। ५. अंगुलियाँ और अङ्ग क्रियाओं में व्याप्त रहकर आनन्द का अनुभव करेंगे। ६. सहनशक्ति मेरी मित्र होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

बाहू+हस्तौ+उरः

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳहस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥

१. **बलम्**=शरीर का बल तथा **इन्द्रियम्**=एक-एक इन्द्रिय की शक्ति ही **मे बाहू**=मेरी भुजाएँ हों, अर्थात् मैं बल और इन्द्रियों को भुजा के रूप में देखूँ। २. **कर्म**=निरन्तर क्रियाशीलता और **वीर्यम्**=क्रियाशीलता से उत्पन्न वीर्य **मे हस्तौ**=मेरे हाथ हों। ३. **मम**=मेरा **आत्मा**=आत्मिक बल तथा **क्षत्रम्**=क्षतों से बचानेवाला क्षात्रबल ही **उरः**=मेरी छाती व वक्षःस्थल हो।

भावार्थ—राजा व्रत लेता है कि मैं (क) बल व इन्द्रिय-शक्ति को ही अपनी भुजाएँ समझूँगा। (ख) कर्म व कर्मजनित शक्ति को हाथ समझूँगा तथा (ग) आत्मिक बल व क्षात्रबल को ही उर:स्थनीय मानूँगा।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**सभापति:**। छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

प्रजारूपी अङ्ग

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वत:॥८॥

१. गतमन्त्र के व्रतों के अनुसार अपने जीवन का सुन्दर परिपाक करके राष्ट्र के प्रति राष्ट्र-रक्षणयज्ञ में अपनी आहुति देता हुआ राजा कहता है कि **राष्ट्रम्**=राष्ट्र ही **मे पृष्ठी**=मेरा पृष्ठदेश—पश्चाद्भाग है। जैसे शरीर की मूल आधारभूत यह रीढ़ की हड्डी है, उसी प्रकार मैं अपने जीवन में राष्ट्र को ही रीढ़ की हड्डी समझता हूँ। उसके स्वास्थ्य पर ही मेरा स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. **विश:**=ये प्रजाएँ **सर्वत:**=जो चारों ओर सब भागों से एकत्र हुई हैं, वे **मे**=मेरे **अङ्गानि**=अङ्गों के तुल्य हैं। **उदरम्**=वैश्यवर्ग उदर के समान है। **अंसौ**=सैनिकवर्ग मेरे कन्धों के समान है। **ग्रीवा:**=ब्राह्मण लोग गर्दन व कण्ठ के समान हैं। **श्रोणी**=रक्षकवर्ग कटिदेशों के तुल्य हैं। **ऊरू**=श्रमिकवर्ग जंघाओं के समान हैं। **अरत्नी**=शासन में भाग लेनेवाला सारा सैक्रेटेरियेट भुज=मध्यप्रदेशों के समान है तथा **जानुनी**=मन्त्रिमण्डल का अधीनस्थ कर्मचारीवर्ग घुटनों के तुल्य है। इन सब लोगों को मैं अपने अङ्गों के समान ही समझता हूँ। जिस प्रकार मुझे अपने अङ्ग प्रिय हैं, उसी प्रकार ये सारा प्रजावर्ग मुझे प्रिय है। इसकी पुष्टि में ही मैं अपनी पुष्टि समझता हूँ।

भावार्थ—प्रजा राष्ट्र-शरीर के विविध अङ्ग हैं। राष्ट्र स्वयं इस शरीर की रीढ़ की हड्डी है। राजा प्रजा को अपने शरीर के अङ्गों के समान समझता है।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**सभेश:**। छन्द:—**निचृज्जगती**। स्वर:—**निषाद:**॥

प्रजा में प्रतिष्ठित

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भग: सौभाग्यं पस:।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठित:॥९॥

१. राजा ही कहता है कि **चित्तम्**=स्मृति—प्रभु का स्मरण, अपने कर्त्तव्य का स्मरण तथा **विज्ञानम्**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान **मे नाभि:**=मेरा केन्द्र हो 'नह बन्धने'। इस चित्त व विज्ञान का मुझमें बन्धन हो। मैं चित्त व विज्ञान से पृथक् न होऊँ। २. **अपचिति:**=पूजा—प्रभु का पूजन तथा **भसत्**=(भस दीप्तौ) ज्ञान की दीप्ति **मे पायु:**=मेरे रक्षक हों। जैसे शरीर में पायु=गुदेन्द्रिय सब मलों का निराकरण करके शरीर की रक्षा करता है, इसी प्रकार यह प्रभु-पूजन तथा ज्ञान मेरे मलों को दूर करके मेरा रक्षण करे। ३. **आनन्दनन्दौ** =आत्म-प्राप्ति का आनन्द अथवा मन:प्रसाद तथा **नन्द**=समृद्धि (नन्दति becomes prosperous) ये दोनों **मे**=मेरे **आण्डौ**=(अमति=to serve) मेरी सेवा करनेवाले हों, अर्थात् मुझे पारलौकिक कल्याण व ऐहलौकिक समृद्धि प्राप्त हो। ४. **भग:**=परमात्म-प्राप्ति का ऐश्वर्य व **सौभाग्यम्**=प्राकृतिक सम्पत्ति **मे**=मेरे **पस:**=(स्पृशतिकर्मण:) स्पर्श करनेवाले हों, अर्थात् मैं सदा इनके सम्पर्क में रहूँ। ५. **जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्**=मैं अपनी जाँघों से तथा पाँवों से **धर्म:**

अस्मि=सबका धारण करनेवाला होऊँ। **'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत'**=जांघें वैश्य हैं, पाँव 'शूद्र'। वैश्य धन का प्रतीक है तो शूद्र 'श्रम' का। मैं अपने धन व श्रम से सबका धारण करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार **राजा**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला बनकर मैं **विशि**=प्रजा में **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित होऊँ। प्रजा के जीवन को भी दीप्त व व्यवस्थित बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—राजा अपने जीवन में 'चित्त-विज्ञान-अचिति (पूजा), भसत् (प्रकाश), आनन्द-नन्द-भग तथा सौभाग्य' का समन्वय करके अपने धन व श्रम से प्रजा का धारक बने और प्रजा के जीवन को व्यवस्थित व दीप्त बनाए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभेशः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वश्यविश्व

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि॒ गोषु॑।
प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒
द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

१. **प्रतिक्षत्रे**=प्रत्येक बल में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ। बल व राष्ट्र में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं बल व राष्ट्र को अपने वश में करनेवाला बनूँ। २. **अश्वेषु प्रतितिष्ठामि**=मैं अश्वों में प्रतिष्ठित होऊँ तथा **गोषु प्रतितिष्ठामि**=गौवों में प्रतिष्ठित होऊँ, अर्थात् मैं गौवों व घोड़ों को खूब प्राप्त करूँ। मेरे राष्ट्र में गौवों व घोड़ों की कमी न हो। ३. **प्रत्यङ्गेषु**=मैं हाथ-पाँव आदि सब अङ्गों में **प्रतितिष्ठामि**=प्रतिष्ठित होऊँ तथा **आत्मन्**=चित्त में प्रतिष्ठित होऊँ। अङ्गों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मेरे सब अङ्ग अविकल हों तथा चित्त आधियों से शून्य हो। ४. **प्रतिप्राणेषु**=प्रत्येक प्राण में **प्रतितिष्ठामि**=मैं प्रतिष्ठित होऊँ तथा **पुष्टे**=समृद्धि में मैं प्रतिष्ठित होऊँ। प्राणों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय यह है कि मैं नीरोग बनूँ। पुष्टों में प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय है कि मैं खूब धनसम्पन्न होऊँ। ५. **द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि**=मस्तिष्क व शरीर दोनों में प्रतिष्ठित होऊँ (द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी शरीरम्) एवं शरीर व मन के विकास के परिणामरूप मेरी द्यावापृथिवी में उत्कृष्ट कीर्ति हो। मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों में लब्धकीर्ति बनूँ। ६. शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर **यज्ञे प्रतितिष्ठामि**=मैं यज्ञों में प्रतिष्ठित बनूँ। मेरी यज्ञों में रुचि हो। प्रभु ने इसी से मुझे फूलने-फलने का निर्देश दिया है।

भावार्थ—मैं 'क्षत्र-राष्ट्र-अश्व-गौ-प्रत्यङ्ग-चित्त-प्राण-पुष्ट, द्यावापृथिवी व यज्ञ में प्रतिष्ठित होऊँ। मैं 'वश्यविश्व, पशुमान्, आधिव्यधिरहित-श्रीमान् व यज्ञकर्ता' बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**उपदेशकाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

३३ देव

त्र॒या दे॒वाऽएका॑दश त्रय॒स्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः।
बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥११॥

१. **त्रयाः**=(त्रयोऽवयवा येषां ते) तीन प्रकार के **एकादश**=ग्यारह-ग्यारह **देवाः**=देव **त्रयस्त्रिंशाः**=कुल मिलाकर तैतीस देव (जो ११ पृथिवीलोक में हैं, ११ अन्तरिक्षलोक में हैं तथा ११ द्युलोक में—ये सब) **सुराधसः**=(शोभनं राधो येषाम्) उत्तम धनोंवाले हैं। उस-उस धनवाले हैं जोकि (राध्नोति अनेन) हमें सब प्रकार की उन्नतियों में सफल बनाते हैं।

२. ये **बृहस्पतिपुरोहिताः**=(बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु—द०) सूर्यरूपी मुखियावाले **देवाः**=देव **देवस्य सवितुः**=उस दिव्य गुणोंवाले उत्पादक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में वर्त्तमान हुए-हुए **देवैः**=अपनी दीप्तियों से व अपने दिव्य गुणों से **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। ३. संसार में कुल तैंतीस देव हैं—ये 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थिति के कारण तीन प्रकार हैं। एक-एक देव में उत्तम धन निहित है। इन तैंतीस देवों में सूर्य मुख्य है। वस्तुतः सूर्य केन्द्र में है और सब देव सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और इस प्रकार एक सौरलोक बनता है। प्रभु की अनुज्ञा में वर्त्तमान ये सब देव अपने दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—तैंतीस देव मेरे लिए सुराधस् हों, ये मेरी रक्षा करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्प्रकृत्तिः**। स्वरः—**धैवतः**॥

कामसमृद्धि

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्कारा आहुतिभिराहुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा॥१२॥

१. गतमन्त्र के **प्रथमाः**=प्रथम स्थान में स्थित पृथिवीस्थ ग्यारह देव **द्वितीयैः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे**=मेरे **कामान्**=इष्टों को **समर्धयन्तु**=समृद्ध करें। इन देवों की कृपा से मेरे सब मनोरथ पूर्ण हों। मुझे पृथिवीस्थ ग्यारह देवों की कृपा से स्वास्थ्य प्राप्त हो तो अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देवों की कृपा से मैं निर्मल हृदयवाला बनूँ। २. **द्वितीयाः**=द्वितीय स्थान में स्थित अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव **तृतीयैः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देवों के साथ **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को समृद्ध करें। मैं हृदय-नैर्मल्य के साथ ज्ञानदीप्ति को भी प्राप्त करूँ। ३. **तृतीयाः**=तृतीय स्थान में स्थित द्युलोकस्थ ग्यारह देव **सत्येन**=उस सत्यस्वरूप परमात्मा के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। मैं ज्ञानी बनूँ तथा सत्य को अपनानेवाला होऊँ। ४. **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप प्रभु **यज्ञेन**=यज्ञ के साथ मेरे इष्टों को समृद्ध करे। मैं सत्य बोलूँ—यज्ञशील बनूँ। ५. **यज्ञः**=यज्ञ **यजुर्भिः**=देवपूजा, संगतिकरण व दान के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करे। मैं यज्ञशील बनूँ, देवों का आदर करूँ, बराबरवालों से प्रेम से मिलूँ तथा आवश्यकतावालों को दान अवश्य दूँ। ६. **यजुर्भिः**=ये पूजा, प्रेम व दान **सामभिः**=उपासनाओं के साथ व शान्त जीवन के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। मैं प्रभु का उपासक बनूँ और शान्त जीवनवाला होऊँ। ७. **सामानि**=ये उपासनाएँ **ऋग्भिः**=विज्ञानों व सूक्तों (मधुर भाषणों) के साथ मुझे समृद्ध काम करें। ८. **ऋचः**=ये विज्ञान **पुरोनुवाक्याभिः**=(पुरा अनु वच्) पूर्वाश्रम में आचार्य के उच्चारण के पीछे उच्चारण के द्वारा मेरे इष्टों को पूर्ण करें। पुरः का अर्थ 'सामने' भी होता है तब अर्थ होगा आचार्य के सामने बैठकर आचार्य से श्रावित ज्ञान को ठीक उसी के अनुसार उच्चारित करना। यह उच्चारण ही मुझे ज्ञानी बनाएगा। ९. **पुरःअनुवाक्याः**=प्रथमाश्रम में आचार्य के सामने बैठकर, आचार्य से उच्चरित ज्ञान को उच्चारण करने की क्रियाएँ **याज्याभिः**=(यज्=सङ्गतिकरण) उस ज्ञान को अपने साथ सङ्गत करने की क्रियाओं के साथ मुझे सफल मनोरथ करें। मैं उस ज्ञान को अपना अङ्ग बना पाऊँ। १०. **याज्याः**=यह ज्ञान को अपनाने की क्रियाएँ **वषट्कारैः**=(उत्तमकर्मभिः—द०) उत्तम कर्मों के साथ मुझे पूर्ण मनोरथ करें। ज्ञान का परिणाम मेरे जीवन में यह हो कि मैं सदा यज्ञादि उत्तम

कर्मोंवाला बनूँ। ११. **वषट्कारा:**=ये उत्तम यज्ञादि कर्म **आहुतिभि:**=त्यागवृत्तियों के साथ मेरे कामों को समृद्ध करें। मेरा प्रत्येक कर्म त्याग की भावना से युक्त हो। १२. और अन्त में **आहुतय:**=यह त्याग, यज्ञों को करके यज्ञशेष खाना, **मे कामान् समर्धयन्तु**=मेरे इष्टों को पूर्ण करे। ये आहुतियाँ मेरे लिए इष्टकामधुक् हों। १३. **भू:**=इस प्रकार मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ (भवति) नष्ट न हो जाऊँ और **स्वाहा**=उस **स्व**=आत्मा–प्रभु के प्रति अपना **हा**=अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ–मेरा जीवन देवों की कृपा से समृद्ध-काम हो। मैं स्वस्थ बनूँ, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ।

ऋषि:–**प्रजापति:**। देवता–**अध्यापकोपदेशकौ।** छन्द:–**अनुष्टुप्।** स्वर:–**गान्धार:॥**

प्रयत्न व नम्रता (प्रयतिरानति:)

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्॒ म॒ऽआन॑ति॒राग॑ति:।
मा॒ꣳसं म॒ऽउप॑नति॒र्वस्वस्थि॑ म॒ज्जा म॒ऽआन॑ति:॥१३॥

१. **मम लोमानि प्रयति:**=मेरे बाल प्रकृष्ट यत्नवाले हैं। (मम लोमस्वपि प्रयत्न:) मेरे एक-एक लोम में प्रयत्न की भावना है। २. **मे त्वक्**=मेरी त्वचा **आनति:**=नम्रता है तथा **आगति:**=क्रियाशीलता है। **नति:**=नम्रता **आनति:**=सब दृष्टिकोणों से नम्रता। **आ-गति:**= सदा क्रियाशीलता। 'त्वचा'-जैसे संवरण करती हुई शरीर को सुरक्षित रखती है, इसी प्रकार नम्रता और क्रियाशीलता मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं, एवं ये मेरी त्वचा हैं। ३. **उपनति:**=विद्वानों के समीप नम्रता से उपस्थान ही **मे**=मेरा **मांसम्**=मांस है, मुझे बलवान् बनानेवाला है (बलवान्=मांसल:) ४. **वसु**=धन, राष्ट्रकोश ही, **अस्थि**=राष्ट्र-शरीर के ढाँचे को ठीक रखनेवाली हड्डी है। धन के बिना राष्ट्र-शरीर खड़ा नहीं रह सकता। ५. **आनति:**=शत्रुओं को झुकाना **मे**=मेरी **मज्जा**=मज्जा (Marrow) है। शत्रुओं को नतमस्तक करना मेरे जीवन का अङ्ग बन गया है, यह मेरा स्वभाव हो गया है।

भावार्थ–मेरे जीवन में प्रयत्न (प्रयति), नम्रता (आनति), क्रियाशीलता (आगति) आचार्यों के समीप नम्रता से उपस्थान (उपनति)–ये सब बातें हैं। परिणामत: मैं वसुओं को प्राप्त कर पाया हूँ।

ऋषि:–**प्रजापति:**। देवता–**अग्नि:**। छन्द:–**निचृदनुष्टुप्।** स्वर:–**गान्धार:॥**

अग्नि द्वारा पापमोचन

यद्दे॑वा देव॒हेड॑नं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम्।
अ॒ग्निर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑स:॥१४॥

१. **देवा:**=मन्त्र ११ में वर्णित तैतीस देवो! **देवास:**=ज्ञानी व समझदार होते हुए **वयम्**=हम **यत्** =जो **देवहेडनम्**=देवों का निरादर व अपराध **चकृमा**=करते हैं, कर बैठते हैं। २. **विश्वात् तस्मात् एनस:**=उस सब अपराध से **अग्नि:**=इन पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी अग्नि **मा**=मुझे **मुञ्चतु**=मुक्त करे और इस पापमोचन के द्वारा **अंहस:**=उस पाप से होनेवाली पीड़ा से भी **मुञ्चतु**=मुझे मुक्त करे। ३. पृथिवीस्थ देवों के विषय में अपराध यही है कि हम उन देवों का ठीक प्रयोग व सेवन नहीं करते। मिट्टी से बचने का यत्न करते हैं। यह मिट्टी तो पृथिवी देवता का अंश है। उसे शरीर पर रमाने से शरीर के विष दूर होते हैं, परन्तु हम उससे घबराते हैं, घृणा भी करते हैं। इसी प्रकार 'जठरेण हुताशनम्'=पेट

से अग्नि का सेवन मन्दाग्नि को दूर करता है। हम हाथों को तापते रहते हैं और अग्नि का लाभ नहीं उठा पाते। ४. शरीरस्थ सब देवांशों का ठीक प्रयोग होने से मनुष्य पापों व कष्टों से बचा रहता है।

भावार्थ—मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, यह भावना मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाए और मैं पाप व कष्टों से बचा रहूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वायु द्वारा पापमोचन (दिवा+नक्तम्)

यदि॒ दिवा॒ यदि॒ नक्त॒मेना॑ꣳसि चकृ॒मा व॒यम्।
वा॒युर्मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१५॥

१. **यदि**=यदि **दिवा**=दिन में और **यदि**=अथवा **नक्तम्**=रात्रि में **वयम्**=हम **एनांसि** =पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सम्पूर्ण **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=छुड़ाए और इस प्रकार उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्टों से भी **मुञ्चतु**=मुक्त करे। ३. दिन के विषय में सबसे बड़ा अपराध यह है कि दिन में हम अकर्मण्य हो जाएँ। 'अहन्' की भावना है—न-हन=न नष्ट करना। 'दिन के एक-एक क्षण को मूल्यवान् समझना और उन्हें नष्ट न होने देना' यही दिन का सदुपयोग है। निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे रहकर हम दिन के विषय में सम्भव अपराधों से बचते हैं और रात्रि में गाढ़ी निद्रा में जाकर रात्रि-सम्बन्धी पापों से भी बच जाते हैं। 'रात्रि'=रमयित्री है, आराम के लिए है। 'उसमें एक-एक बजे तक जागते रहना', रात्रि के विषय में अपराध है। ४. उस अपराध से बचेंगे तो वायु हमें उन अपराधों से होनेवाले कष्टों से मुक्त करेगा। 'वायु' शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बना है। दिन में गति व रात्रि में गन्धन=मल का अल्पीभाव—ये भावनाएँ वायु शब्द में निहित हैं। 'दिनभर मैं गतिशील बना रहूँ तथा रात्रि में प्रकृति को दिनभर की टूट-फूट व मल को समाप्त करने का अवसर दूँ', यही वायु की प्रेरणा है। ऐसा होने पर मैं दिन-रात के विषय में होनेवाले पापों से, कष्टों से बचा रहूँगा।

भावार्थ—हम दिन में उत्तम कर्मों में लगे रहें तथा रात्रि में गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सूर्य द्वारा पापमोचन (जागरित+स्वप्न)

यदि॒ जाग्र॒द्यदि॒ स्वप्न॒ऽएना॑ꣳसि चकृ॒मा व॒यम्।
सूर्यो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सो॒ विश्वा॑न्मुञ्च॒त्वꣳह॑सः॥१६॥

१. **यदि जाग्रत्**=यदि जागते हुए अथवा **यदि स्वप्ने**=यदि सोते हुए **वयम्**=हम **एनांसि**=पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं तो २. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस **विश्वात्**=सब **एनसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करे और उन पापों से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से भी मुक्त करे। ३. जाग्रत् अवस्था में प्रलोभनवश हम अपने व्यवहारों में शतशः गलतियाँ कर बैठते हैं। हम समझते हैं कि यह वस्तु न खानी चाहिए, परन्तु स्वादवश खा बैठते हैं। इसी प्रकार हम समझते हैं कि हमें यह शब्द नहीं बोलना चाहिए, परन्तु बोल बैठते हैं। यदि किसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में हम अपने को वश में कर भी लें तो सो जाने पर हम उन्हीं

वस्तुओं का स्वाद लेने लगते हैं और अपशब्दों को बोलने लगते हैं। अत: ४. सूर्य हमें इन जागते व सोते समय होनेवाले पापों से बचाए और उनके परिणामभूत कष्टों से भी बचाए। 'सूर्य' शब्द की भावना है 'सरति'=चलता है। हमें भी दिनभर चलना है, थक नहीं जाना तभी तो हम इस अश्रान्त भाव से चलनेवाले सूर्य की भाँति चमकेंगे। निरन्तर क्रिया में लगे रहनेवाला व्यक्ति जाग्रत् व स्वप्न के पापों से बचा रहता है। जाग्रत् में उसे अवकाश नहीं होता, स्वप्न में उसे मोक्षरूपता-सी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार यह सूर्य='सरण' की, निरन्तर चलने की प्रेरणा देकर हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—सूर्य से सरण व गति की प्रेरणा लेकर मैं अपने जाग्रत् व स्वप्न—दोनों को निष्पाप व कल्याणकर बनाऊँ।

सूचना—मन्त्र संख्या १४, १५ व १६ में 'अग्नि, वायु व सूर्य' से पापमोचन की प्रार्थना की गई है। 'अग्नि' शब्द 'अगि गतौ' से बनता है, तो वायु 'वा गतौ' से और सूर्य 'सृ गतौ' से बना है। एवं, तीनों में गति की भावना है। वस्तुत: जीवन का सार गति है, गति ही जीवन है। आत्मा शब्द का अर्थ भी 'अत सातत्यगमने' से बनकर 'निरन्तर गति' ही है। यह गति ही हमें पाप व अपवित्रता से बचाती है।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**लिङ्गोक्ता:**। छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**॥

अव-यजन (दूरीकरण)

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥१७॥

१. **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **यत्**=जो **एन:**=पाप **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठते हैं **तस्य**=उसके आप **अवयजनम् असि**=नाशक हैं (अवपूर्वो यजतिर्नाशने—उ०)। ग्राम-विषयक अपराध 'नागरिक' नियमों का न पालना है। 'सड़क पर कूड़ा फेंक देना, मार्ग पर ठीक स्थान में न चलना, लापरवाही से जलती तीली आदि को इधर-उधर डाल देना, बड़ी ऊँची तान पर रेडियो बजाना' आदि सब नागरिक अपराध हैं। २. **अरण्ये**=अरण्य—वन के विषय में हम **यत्**=जो अपराध करते हैं, आप उस पाप से हमें दूर करें। वनविषयक मुख्य अपराध लकड़ी को काटना, परन्तु नये वृक्ष व वनस्पतियों को न लगाना है। हम एक वृक्ष को काटें तो दो लगाने का ध्यान करें, अन्यथा वनों का उच्छेद होकर वृष्टि का भी अवग्रह (प्रतिबन्ध=रोक) हो जाएगा और लकड़ी भी अन्तत: समाप्त हो जाएगी। ३. **सभायाम्**=सभा के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उसे आप हमसे दूरे करनेवाले हैं। 'सभा' में शान्तभाव से न बैठना, बातें करते रहना, ध्यानभंग करनेवाली या अप्रासंगिक बात करना' ये सब सभा-विषयक पाप हैं, इनसे हम बचें। ४. **इन्द्रिये**=इन्द्रियों के विषय में **यत्**=जो पाप हम करते हैं, उसको आप हमसे दूर करनेवाले हैं। इन्द्रियों के विषय में अपराध यही है कि हम उनका दुरुपयोग करते हैं या उपयोग ही नहीं करते, अत: हम ज्ञानेन्द्रियों को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के सहायक भूत ५. **शूद्रे**=समाज में श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले शूद्रों के विषय में **यत्**=हम उनके लिए जो अपशब्द आदि का प्रयोग करते हुए, उन्हें मनुष्य न समझते हुए अपराध करते हैं, उसे हमसे दूर कीजिए। ६. **अर्ये**=वैश्यों के विषय में **यत्**=हम जो पाप करते हैं, उनसे उधार वस्तु लेकर समय पर रुपया नहीं देते अथवा देने से ही बचने का प्रयत्न करते हैं, उन पापों से हमें बचाइए। ७. घर में पति-पत्नी

दो मुख्य पात्र हैं। दोनों ने मिलकर घर को बनाना है। एक ने अन्दर का काम सँभाला है, दूसरे ने बाहर का। इस प्रकार सम्मिलित उत्तरदायित्व होने पर भी दोनों के अलग-अलग विशिष्ट कर्तव्य हैं। ये ही उनके 'अधिधर्म' हैं। 'एक-दूसरे के अधिधर्मों के विषय में आलोचना करते रहना' यह अधिधर्म विषयक अपराध है, अतः **यत्**=जो **एकस्य**=एक के **अधिधर्मणि**=अधिधर्म के विषय में हम अपराध करते हैं **तस्य**=उसके **अवयजनम् असि**=आप नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम ग्राम और सभा आदि के विषय में हो जानेवाले अपराधों से बचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

'गोदुग्ध' व 'पाप-नाश'

यदापोऽअघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च।
अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥१८॥

१. हे **वरुण**=हमें सब पापों से बचानेवाले प्रभो! आपके आदेश के अनुसार **यत्**=जो **आपः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाली हैं, अतएव प्राप्त करने योग्य हैं, **अघ्न्याः इति**=न हिंसा करनेवालों में उत्तम हैं **वरुण इति**=जो वरण के योग्य हैं, परन्तु आपके आदेश को न सुनकर हम जो इन्हें **शपामहे**=(शपतिर्वधकर्मा) मारते हैं **ततः**=उस पास से **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम सब भोगों को प्राप्त करानेवाली, अमृतमय दुग्ध से हमें हिंसित न होने देनेवाली, वरणीय गौवों को न मारें। इनके द्वारा दुग्ध-घृतादि पदार्थों को प्राप्त करके हम विविध यज्ञों को सिद्ध करनेवाले बनें। २. **अवभृथ**=हे प्रभो! आप यज्ञरूप (Sacrifice) हैं। आपने जीव के हित के लिए (आत्मदा) अपने को भी दे डाला है। **निचुम्पुणः**=नितरां शान्त गति से आप चल रहे हैं। 'चुप मन्दायां गतौ' शान्तभाव से आप ब्रह्माण्ड-निर्माण आदि क्रियाओं में लगे हुए हैं। इन सब क्रियाओं में कहीं व्यग्रता नहीं, कहीं शोर नहीं। **निचेरुः असि**=निश्चय से आप चरणशील हैं **(स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च)** आपकी क्रिया स्वाभाविक है। **निचुम्पुणः**=बिना शोर किये शान्तभाव से आप इन सब क्रियाओं को करते चल रहे हैं। ३. आप हमारे जीवनों को भी इसी प्रकार 'शान्त व क्रियामय' बनाइए और **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में हमसे हो जानेवाले अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए तथा **मर्त्यैः**=हम मर्त्यों से (स्खलनशीलो हि मनुष्यः=to err is human) स्खलनशील स्वभाव के कारण **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये अपराधों को **अव अयक्षि**=हमसे दूर कीजिए। बड़ों के प्रति निरादर, बराबरवालों से कलह व छोटों के प्रति कठोरता ही प्रायः मर्त्यकृत पाप का स्वरूप है। आप हमें इनसे बचाइए। ४. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **पुरुराव्णः**=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=हमें बचाइए।

भावार्थ—हम गोहत्या करके गोमांस भक्षण करने के स्थान में गोरक्षण द्वारा गोदुग्धरूप अमृत का सेवन करें, जिससे हमारे जीवन शान्त, यज्ञात्मक, क्रियामय हों। हम देवों के विषय में पाप न करें, न ही मनुष्यों के विषय में।

सूचना—देवकृतं एनः=देवताओं के विषय में पाप यही है कि हम शरीरस्थ देवांशों के

स्वास्थ्य का ध्यान नहीं करते। सूर्यादि देव चक्षु आदि के रूप में हमारे शरीर में रह रहे हैं। हमें उन्हें पूर्ण स्वस्थ रखना चाहिए, परन्तु गोमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के द्वारा हम उनकी हिंसा के कारण बनते हैं। देव हविर्भुक् हैं, मांसभुक् नहीं। हमें चाहिए कि हम गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से इस देवकृत पाप को अपने से दूर करें। हममें दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। सुमित्रिया नऽआपऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१९॥

१. गतमन्त्र में गोमांस का निषेध करके गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों के सेवन का संकेत था। उस सात्त्विक आहार के परिणामस्वरूप **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय रसरूप (रसो वै सः —तैत्तिरीय०) उस प्रभु में ही **ते**=तेरा **हृदयम्**=हृदय हो। संसार के सब कार्यों को करते हुए भी तू प्रभु का विस्मरण करनेवाला न हो। २. **अप्सु अन्तः**=तेरा एक-एक क्षण कर्मों में निहित हो। एक क्षण के लिए भी तू अकर्मण्य न बने। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** इस आदेश के अनुसार कर्मों को करते हुए ही तू जीने का प्रयत्न कर। ३. **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियों व जलों का ही **संविशन्तु**=प्रवेश हो। तू मांस को शरीर में प्रविष्ट मत करने लगना। ४. यह सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (मिद् स्नेहने) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) **सन्तु**=हों। ५. ये ओषधियाँ व जल **तस्मै**=उनके लिए ही **दुर्मित्रियाः**=दुर्मित्रिय हों, अस्नेहकर व रोगों से न बचानेवाली हों **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब भी **द्विष्मः**=नहीं चाहते हैं। स्नेह के अभाव व द्वेष के धारण करनेवाले व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर नहीं होतीं। इस व्यक्ति के अन्दर कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और ये भोजन उसका कल्याण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सात्त्विक वानस्पतिक भोजन हमें नीरोग बनाए। केवल शरीर में ही नहीं, मन में भी। प्रभु का हम स्मरण करें, सदा कर्मनिष्ठ हों। किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कर्मों के द्वारा पवित्रता

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥२०॥

१. **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादुका=खड़ाओं से **मुमुचानः**=(मुच्यमानः) छूटता हुआ पुरुष उससे उत्पन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। २. **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेद व पसीनेवाला पुरुष **स्नातः**=स्नान किया हुआ **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। ३. **इव**=जैसे **आज्यम्**=घृत **पवित्रेण**=छलनी से छाना हुआ **पूतम्**=पवित्र हो जाता है, ४. उसी प्रकार **आपः**=कर्म **मा**=मुझे **एनसः**=पाप से **शुन्धन्तु**=शुद्ध कर दें। मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तो उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों के अभाव में उसका जीवन पवित्र बना रहता है। ५. 'आपः' शब्द का अर्थ आप्त पुरुष भी है—चरित्र व ज्ञान की दृष्टि से ऊँचे पुरुषों का सङ्ग हमें निश्चितरूप से पाप से बचाता ही है। ६. 'आपः' का अर्थ

'सर्वव्यापक प्रभु' भी है। वह सर्वव्यापक प्रभु हमें पापों से बचाए। प्रभु का स्मरण पवित्रता का सर्वमहान् साधन है। ७. (क) मुझे आपः 'कर्म' इस प्रकार पाप से छुड़ा देते हैं जैसेकि पादुका को पहनना छोड़ने से मनुष्य तदुत्पन्न दोषों से छूट जाता है। आलस्य गया-दोष गये। (ख) आपः='आप्त पुरुष' मुझे इस प्रकार पापों से मुक्त कर देते हैं जैसेकि स्नान व्यक्ति को पवित्र कर देता है। आप्त पुरुषों के उपदेश की जलधाराएँ पापरूपी स्वेद को दूर कर देती हैं। (ग) **आपः**=सर्वव्यापक प्रभु पवित्र हैं, उनके ध्यान में छनकर मैं इस प्रकार पवित्र हो जाता हूँ जिस प्रकार कि घृत छलनी में से छनकर पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—कर्मशीलता, आप्त पुरुषों का सङ्ग, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्-उत्तर-उत्तम

उद्वयं तम॑स॒स्परि॒ स्वः॒ पश्य॑न्त॒ऽउत्त॑रम्। दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥२१॥

१. 'गतमन्त्र के अनुसार उत्तरोत्तर पवित्र होते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=उत्कृष्ट **तमसः**=तमोबहुल अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **अगन्म**=चलें। इस प्रकृति से ऊपर उठें। प्राकृतिक भोगों में ही फँसे न रह जाएँ। यह प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु जीव को इसके अन्दर आसक्त नहीं हो जाना। इससे ऊपर उठना है। २. इससे परे **उत्तर**=प्रकृति व जीव की तुलना में जीव श्रेष्ठ है, क्योंकि वह चेतन है। इस **उत्तर**=उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान चैतन्ययुक्त इस जीव को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम आगे बढ़ें। प्राकृतिक भोगों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही आत्मस्वरूप का दर्शन कर पाता है। ३. इस आत्मस्वरूप को देखते हुए हम उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब सूर्यादि देव चमक रहे हैं। इन सब देवों को दीप्ति देनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम प्रकाशमय प्रभु को हम प्राप्त करें। प्रभु उत्तम हैं, वे पूर्ण चैतन्य होने से पूर्ण आनन्दमय हैं। ४. प्रकृति 'उत्'=उत्कृष्ट है, जीव 'उत्तर' अधिक उत्कृष्ट है, प्रभु 'उत्तम' हैं, सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं, उत्कृष्टता की सीमा हैं। हम पवित्र बनते हैं जब प्रकृति में नहीं फँसते। पवित्रतर होते हैं, जब आत्मस्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन हमें पवित्रतम बना देता है। शुद्ध प्रभु में जीवन भी शुद्ध हो जाता है (तादृगेव)।

भावार्थ—प्रकृति उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें आसक्त न होकर उसका ठीक प्रयोग करते हुए हम आत्मस्वरूप का दर्शन करें। अधिकाधिक पवित्र होते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रस से संसर्ग

अ॒पोऽअ॒द्यान्व॑चारिष॒ꣳरसे॑न॒ सम॑सृक्ष्महि।
पय॑स्वानग्न॒ऽआग॑म॒ं तं मा॒ सꣳसृ॑ज॒ वर्च॑सा प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥२२॥

१. गतमन्त्र के 'प्रभु-मिलन' के लिए **अद्य**=आज ही से मैंने **आपः अनु अचारिषम्**=कर्मों का व आप्त पुरुषों का अनुसरण किया है। मैंने सब प्रकार के आलस्य की भावना को परे फेंककर कर्मशीलता को स्वीकार किया है और आप्तजनों के ही सम्पर्क में रहने व उनके

पदचिह्नों पर चलने का निश्चय किया है परिणामतः २. **रसेन**=(रसो वै सः) उस रसरूप आनन्दमय प्रभु से **समसृक्ष्महि**=संस्पृष्ट हुआ हूँ। कर्मशीलता व सत्संग मेरे प्रभु-मिलन के साधन बने हैं। ३. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **पयस्वान्**=आप्यायन व वर्धनवाला होकर **आगमम्**=मैं आपके समीप आया हूँ। उन्नति करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पाता है। ४. **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा**=शक्ति से **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। इस जीवन की उत्तमता के लिए (क) सबसे पहली वस्तु शक्ति है। शक्ति के बिना सब व्यर्थ है। (ख) अपने स्वास्थ्य के बाद संसार को सुन्दर बनानेवाली दूसरी वस्तु उत्तम सन्तान है। सन्तान उत्तम न हो तो घर नरक बन जाता है। (ग) संसार को चलाने के लिए धन भी चाहिए। उसके बिना संसार चलना सम्भव नहीं। स्वर्गतुल्य घर तभी बनता है जब शरीर में शक्ति हो, सन्तानें उत्तम हों तथा धन का अभाव न हो।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता व आप्तपुरुषों के सङ्ग से रसरूप परमात्मा से मेल कर सकें। उन्नत होते हुए प्रभु को प्राप्त करें। वे प्रभु हमें 'शक्ति, उत्तम सन्तान व धन' दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समित्**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उदार इच्छाएँ

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा॥२३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस रसमय प्रभु से अपना सम्पर्क बनानेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि **एधः असि**=आप सदा से बढ़े हुए हैं। आप प्रत्येक गुण का निरतिशय रूप हैं। **एधिषीमहि**=आपके सम्पर्क से हम भी बढ़नेवाले बनें। २. **समित् असि**=आप सम्यक् दीप्त ज्ञानाग्निरूप हैं। आपकी कृपा से मेरी ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो। ३. **तेजः असि**=आप तेजस्विता के पुञ्ज हैं। **तेजः मयि धेहि**=आप मुझमें तेजस्विता का आधान कीजिए। ४. इस 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्विता' के लिए मैं उसी प्रकार अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक से आवर्तन करूँ जैसेकि **पृथिवी समाववर्ति**=पृथिवी सम्यक्तया आवृत्त हो रही है। **उ**=और **उषाः**=उषा **उ**=तथा **सूर्यः**=सूर्य भी **सम्**=नियमपूर्वक आवर्तन में चल रहा है। बहुत क्या? **इदं विश्वं जगत्**=यह सम्पूर्ण संसार **उ**=भी **सम्**=सम्यक् आवर्तन कर रहा है। इस संसार से प्रेरणा लेकर मैं भी सम्यक् आवर्तनवाला बनूँ। मेरी दिनचर्या बड़ी ठीक हो। ५. इस प्रकार प्राकृतिक जगत् के आवर्तन की भाँति अपने दैनिक कार्यक्रम का ठीक आवर्तन करता हुआ मैं **वैश्वानरज्योतिः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक प्रभु की ज्योतिवाला बनूँ, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनूँ। ६. **विभून्**=व्यापक **कामान्**=इच्छाओं को **व्यश्नवै**=प्राप्त करूँ। मेरी कमानाएँ उदारता को लिये हुए हों। संकुचित, स्वार्थमयी इच्छाओंवाला मैं न होऊँ। ७. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **भूः**=मैं प्राणशक्ति का पुञ्ज बनूँ और **स्वाहा**=उस आत्मा के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं 'वर्धन-ज्ञानाग्निदीपन व तेजस्वितावाला' होऊँ। सूर्य-चन्द्र आदि की भाँति व्यवस्थित क्रियाओंवाला बनूँ। प्रभु के तेजोंऽश को प्राप्त करूँ। उदारमना बनूँ। प्राणशक्तिसम्पन्न होकर समर्पण की वृत्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

व्रत और श्रद्धा

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥२४॥

१. हे **अग्ने**=सारे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=व्रतों का पालन करनेवाले प्रभो! **त्वयि**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **समिधम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अभ्यादधामि**=मैं धारण करता हूँ, ज्ञान के अभ्यास के द्वारा तीव्र हुई-हुई बुद्धि से ही मैं आपका दर्शन कर पाऊँगा। २. आपकी बनाई हुई यह भौतिक अग्नि भी व्रतपति है। मैं उस अग्नि में समिधा रखता हूँ और इस दीप्त हुई अग्नि से **दीक्षितः**=दीक्षित हुआ-हुआ **अहम्**=मैं **व्रतं च श्रद्धाम्**=व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। प्रभु अपने नियमों व व्रतों को तोड़ते नहीं, यह अग्नि भी अपने व्रतों को तोड़ती नहीं। घृत व हव्य पदार्थों की आहुति देनेवाले के हाथ को भी यह जलाती है। मैं भी इससे दीक्षा लूँ और इस संसार में मुझे 'स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति-विपत्ति व जन्म-मृत्यु' भी अपने व्रतों से विचलित न कर सकें। ३. इस प्रकार निष्कामभाव से व्रतों का पालन करता हुआ मैं हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इन्धे**=अपने हृदयाकाश में दीप्त करनेवाला बनूँ। निष्काम होकर श्रद्धा से व्रतों का पालन ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—१. प्रभु-प्राप्ति के निमित्त मैं अपने में ज्ञानदीप्ति को धारण करूँ। २. व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला बनूँ। ३. निष्कामभाव से व्रतों का श्रद्धापूर्वक पालन मेरे हृदय को प्रभु के प्रकाश से पूर्ण करेगा।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पुण्यलोक

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रत और श्रद्धा को धारण करनेवाला व्यक्ति जिस पुण्यलोक को प्राप्त करता है, उसका वर्णन करते हैं कि **यत्र**=जहाँ **ब्रह्म च क्षत्रम्**=ज्ञान और बल **सम्यञ्चौ**=सम्यक् प्रकट होनेवाले **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं। ज्ञान 'ब्रह्म' है। 'बृहि वृद्धौ' यह सब प्रकार की वृद्धि का कारण है। बल 'क्षत्र' है—यह सब प्रकार के क्षतों से त्राण करनेवाला है, आघातों से, चोटों से बचानेवाला है। ये **सम्यञ्च**=सम्यक् प्रकट होनेवाले हों, अर्थात् इनका उत्तम विकास हुआ हो। उत्तम लोक वही है जहाँ इस ब्रह्म व क्षत्र का साथ-साथ विकास होता है। अकेला ज्ञान जीवन को सुन्दर नहीं बनाता, अकेला बल जीवन को पाशविक-सा बना देता है। २. मैं **तं पुण्यं लोकम्**=उस पुण्यलोक को **प्रज्ञेषम्**=(ज्ञानीयाम्—द०) जानूँ, अर्थात् प्राप्त करूँ। **यत्र**=जहाँ **देवाः**=सब देव **अग्निना सह**=अग्नि के साथ होते हैं। विद्वान् मन्त्रिवर्ग देव हैं, राजा 'अग्नि' है। उत्तमलोक व राष्ट्र वही है जहाँ मन्त्री राजा के साथ होते हैं, जहाँ इनका परस्पर विरोध नहीं होता। ३. वस्तुतः इस प्रकार मन्त्रियों व राजा में अविरोध होने पर राष्ट्र-व्यवस्था बड़ी सुन्दरता से चलती है। उस व्यवस्था में वे इस बात का पूर्ण ध्यान करते हैं कि (क) राष्ट्र में कोई अनपढ़ न रहे, ज्ञान का सम्यक् विकास हो तथा राष्ट्र में कोई भी निर्बल न हो। (ख) स्वास्थ्य की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर हो। सफ़ाई व खान-पान का सब प्रबन्ध ठीक होने से लोगों की

शक्ति बढ़े। शिक्षणालय ज्ञानवृद्धि का कारण बनें, व्यायामशालाएँ बलवृद्धि की हेतु हों।

भावार्थ—पुण्यलोक वही है जहाँ (क) ज्ञान के साथ बल का भी विकास है। (ख) जहाँ मन्त्रिवर्ग व ज्ञानीवर्ग राजा के साथ ऐकमत्यवाला होकर राष्ट्र की उन्नति में तत्पर है। वे मिलकर राष्ट्र में शिक्षणालयों की स्थापना करते हैं, व्यायामशालाओं का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**आश्वतराश्विः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र+वायु

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥२६॥

१. गतमन्त्र के पुण्यलोक का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यत्र**=जहाँ **इन्द्रः च वायुः च**=इन्द्र और वायु, अर्थात् बल की देवता तथा गति (=ज्ञान) की देवता (गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् विकासवाले होते हुए **सह चरतः**=साथ-साथ विचरते हैं, अर्थात् जहाँ सब लोग सबल तथा ज्ञानसम्पन्न हैं २. **तम्**=उस **पुण्यं लोकम्**=शुभ लोक को **प्रज्ञेषम्**=(प्रजानीयाम्) मैं जान पाऊँ, **यत्र**=जिस लोक में **सेदिः**=अन्न के न प्राप्त होने से होनेवाला विनाश **न विद्यते**=नहीं है। ३. राष्ट्र में सब मन्त्री राजा के साथ मिलकर इस प्रकार व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होती। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं मरता। राजा ने जहाँ यह व्यवस्था करनी है कि सभी सबल हों (इन्द्र), सभी ज्ञानसम्पन्न हों (वायु), वहाँ उसे सभी के लिए अन्न भी प्राप्त कराना चाहिए, आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये कश्चित् क्षुधयावसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी भूख से अवसन्न (मृत) न हो।

भावार्थ—पुण्यलोक में 'इन्द्र और वायु' का स्थापन होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी सबल व सज्ञान होते हैं। इनमें कोई निर्बल व मूर्ख नहीं होता। अन्नाभाव से कोई मरता नहीं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशुना अंशुः

अꣳशुना ते अꣳशुः पृच्यतां परुषा परुः।
गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसोऽअच्युतः॥२७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित पुण्यलोक के निवासियों के लिए ही कहते हैं कि **अंशुना**=ज्ञान की किरण के साथ **ते**=तेरी **अंशु**=ज्ञान की किरण **पृच्यताम्**=संपृक्त हो, अर्थात् तेरा ज्ञान-प्राप्ति का तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। **'हिरण्यमस्तृतम् भव'**=तू अविच्छिन्न ज्ञानवाला बन, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। २. शरीर में **परुषा**=जोड़ के साथ **परुः**=जोड़ **पृच्यताम्**=ठीक जुड़ा हो। अङ्गों का शरीर में सन्धान बिलकुल ठीक हो। जोड़ों के ढीले हो जाने पर जैसे एक गाड़ी पुराना छकड़ा-सा बन जाती है, उसी प्रकार तेरा यह शरीर-रथ जीर्णशीर्ण-सा न बन जाए। इसमें सब जोड़ ठीक से जुड़े हों। ३. 'तेरा ज्ञान अविच्छिन्न हो' तथा 'तेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक से सटे हुए हों' इन दोनों बातों के लिए **ते**=तेरा **गन्धः**=(सम्बन्धः) प्रभु के साथ सम्पर्क **सोमम्**=शरीर में सोमशक्ति को **अवतु**=सुरक्षित करे। सोम की रक्षा होने पर ही ज्ञान की अविच्छिन्नता व शरीर की दृढ़ता सम्भव है। ४. यह **अच्युतः**=न क्षरित हुआ **रसः**=जीवन को रसमय बनानेवाला अथवा ओषधियों का

सारभूत सोमरस तेरे उल्लास के लिए होता है। ओषधियों के सेवन से रसादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम जब प्रभु-स्मरण के द्वारा शरीर में ही सुरक्षित किया जाता है तब यह एक अद्भुत मस्ती का कारण होता है। जीवन में इस सोम का पान (रक्षण) करनेवाला व्यक्ति उल्लास का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अविच्छिन्न हो, शरीर सुदृढ़ हो। प्रभु-स्मरण के द्वारा हम अपने सोम की रक्षा करें, न क्षरित हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवन में उल्लास देनेवाला हो।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**भुरिगुष्णिक्**। स्वर:—**ऋषभ:**॥

किन्त्व:

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्व:॥२८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम की रक्षा करनेवाले व्यक्ति इस सोम को **सिञ्चन्ति**=शरीर में ही सिक्त करते हैं, **परिषिञ्चन्ति**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में इसे सिक्त करने के लिए यत्नशील होते हैं **उत्सिञ्चन्ति** =और अन्तत: इसे ऊर्ध्वगति के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में सिक्त करते हैं। अग्नि में जैसे घृत डालते हैं, उसी प्रकार ये मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि में इस सुरक्षित सोम को समिधा के रूप में रखते हैं और उसे दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये व्यक्ति-ज्ञानाग्नि में सोम का सेचन करके ज्ञानवृद्धि के द्वारा **पुनन्ति च**=अपने को पवित्र करते हैं। ३. इस ज्ञान के द्वारा अपने को पवित्र करके वे **सुरायै**=(सुर् to shine) चमकने के लिए होते हैं, ज्ञान की दीप्ति से मनुष्य क्यों न चमकेगा? क्षात्रबल से ब्रह्मबल की दीप्ति कहीं अधिक है। चमकने के साथ यह **बभ्र्वै**=उत्तम भरण व पोषण के लिए होता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' (ज्ञान) है तो इसके शरीर में 'क्षत्र' (बल) होता है। ज्ञान से वासनाओं के विनाश के कारण ही शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। ४. इस प्रकार ज्ञान व शक्ति होने पर इसके जीवन में एक विशेष उल्लास होता है और **मदे**=उस उल्लास के होने पर यह अपने को ही प्रेरणा-सी देते हुए **वदति**=कहता है कि **किन्त्व:**='कस्य त्वम्' आज तू उस आनन्दमय प्रजापति परमात्मा का बना है। उस **क:**='अनिर्वचनीय परमात्मा' का बनने के कारण ही तेरा नाम **किन्त्व:**=इस प्रकार हो गया है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करें, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्यापक रक्खें, उसकी ऊर्ध्वगति करें। इससे हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। ज्ञान की दीप्ति व शरीर का ठीक पोषण होने पर जो एक विशेष उल्लास प्राप्त होता है, उसे प्राप्त कर लेने पर हम अपने लिए कह सकेंगे कि 'तू आज उस आनन्दमय अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु का हो गया है', तेरा नाम ही 'किन्त्व' प्रसिद्ध हुआ है।

ऋषि:—**विश्वामित्र:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

ध्यान-दान-शोधन-स्तवन

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व न:॥२९॥

१. गतमन्त्र का 'किन्त्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशील प्रभो! हे **प्रात:** =(प्रा पूरणे) हममें सब अच्छाइयों को भरनेवाले प्रभो! आप **न:**=हमें **जुषस्व**=प्रेम करनेवाले होओ, अर्थात् मैं आपका प्रिय बनूँ। जैसे सदा पढ़ाई में प्रथम निकलनेवाले पुत्र से पिता प्रेम करता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी उत्तम क्रियाओं से प्रभु का प्रिय बनूँ। २.

किस प्रकार के जीवनवाले मुझसे प्रभु प्रेम करें? **धानावन्तम्**=(धान=अवधान=ध्यान) उत्तम ध्यानवाले मुझको। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में मेरा यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि मैं माता-पिता व आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनूँ और ग्रहण करूँ। जीवन-यात्रा की पहली मंजिल में 'ध्यान' ही मेरा आदर्श वाक्य हो। ३. अब जीवनयात्रा की दूसरी मंजिल में **करम्भिणम्**=(करेण दीयते) हाथों से दिये जानेवाले दान की वृत्तिवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में मैं सदा कुछ-न-कुछ दान देनेवाला बनूँ। 'करम्भ' शब्द का अर्थ 'दधिसक्तु' भी होता है। दधि व सक्तु (दही-सत्तू) आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला मैं आपका प्रेमपात्र बनूँ। ४. अब जीवन-यात्रा के तीसरे प्रयाण में **अपूपवन्तम्**=उत्तम इन्द्रियोंवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। गृहस्थ में थोड़े-बहुत मल से मलिन हुई-हुई इन्द्रियों को वानप्रस्थ में मैं फिर से पवित्र बनाने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ (इन्द्रियम् पूपः—ऐ० २।२४)। तीव्र तप के द्वारा इन्द्रियों को निर्मल बनानेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ। ५. शुद्धेन्द्रिय बनकर **उक्थिनम्**=जीवन के चतुर्थाश्रम में निरन्तर आपके स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले मुझसे आप प्रेम कीजिए। सदा आपके स्तवन से अपने जीवन को पवित्र रखनेवाला मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो—(क) ध्यानवाला होता है, (ख) दान देता है, (ग) इन्द्रियों को शुद्ध रखता है, तथा (घ) सदा प्रभु-नाम स्मरण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नृमेधपुरुषमेधौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्तवन

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु-स्तवन करनेवाला' बनने से हुई थी। उसी प्रभु-स्तवन के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के लिए **बृहत् गायत**=खूब ही गायन करो, अथवा उस गायन को करो जो गायन कि 'बृहत्' तुम्हारा वर्धन करनेवाला है तथा **वृत्रहन्तमम्**=(अतिशयेन वृत्रं हन्ति) जो गायन वृत्र का अतिशयेन विनाश करनेवाला है। प्रभु के नाम-स्मरण से वासना नष्ट हो जाती है, मन में अशुभ विचार आते ही नहीं। ३. यह प्रभु के गुणों का गायन वह है **येन**=जिससे **ऋतावृधः**=अपने में **ऋत**=यज्ञ व सत्य का वर्धन करनेवाले लोग **ज्योतिः**=उस ज्योति को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं, जो **देवम्**=दीप्यमान व हममें दिव्यता को बढ़ानेवाली है तथा **जागृवि**=जागरणशील व अविनश्वर है, जिस ज्ञान की ज्योति से हम सो नहीं जाते, सदा सावधान रहते हैं। ३. यह ज्ञान की ज्योति ही अन्त में **देवाय**=उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होती है। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला बनता है। ज्ञान-ज्योतिवाला पुरुष इस जीवनयात्रा में भटकता नहीं है। यह आगे बढ़ता हुआ उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=अन्तिम लक्ष्य-स्थान है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। यह गायन (क) हमारा वर्धन करेगा, (ख) वासनाओं को विनष्ट करेगा, (ग) हम ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होंगे और (घ) हममें वह ज्ञान-ज्योति उत्पन्न होगी, जो हमें दिव्य बनाएगी, सदा जागरणशील-सावधान रक्खेगी तथा हमें प्रभुरूप लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

ऋषि:—**प्रजापति:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

इन्द्राय-पातवे

अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतꣳसोमं पवित्रऽआ नय। पुनाहीन्द्राय पातवे ॥३१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'अध्वर्यु' होता है, अध्वर को अपने साथ जोड़ता है। गतमन्त्र में इसे ही 'ऋतावृध्' कहा था। इस अध्वर्यु से कहते हैं कि—हे **अध्वर्यो**=अहिंसक मनोवृत्ति को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष! **अद्रिभिः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीरों के निर्माण के हेतु से **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **सोमम्**=इस सोम को, वीर्य को **पवित्रे**=जीवन की पवित्रता की साधनभूत ज्ञानाग्नि में **आनय**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन, अर्थात् इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हुए तू इसको अपनी ज्ञानाग्नि का ईंधन बना। यह ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर तेरे सब दोषों को भस्मसात् करती है। २. इस प्रकार समिद्ध ज्ञानाग्नि से दोषों को भस्म करता हुआ **पुनाहि**=तू अपने को पवित्र बना और अपने को पवित्र करता हुआ तू **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए हो तथा **पातवे**=अपने रक्षण के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सोम की उत्पत्ति इसीलिए की गई है कि (क) शरीर पाषाणतुल्य दृढ़ हो तथा (ख) मनुष्य ज्ञानदीप्त होकर पवित्र जीवनवाला बने और (ग) अन्त में यह प्रभु को प्राप्त कर सके।

ऋषि:—**कौण्डिन्य:**। देवता—**परमात्मा**। छन्द:—**पङ्क्ति:**। स्वर:—**पञ्चम:**॥

प्रभु का ग्रहण

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः।
यऽईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥३२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षा द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है और कह उठता है कि आप **यः**=जो **भूतानाम् अधिपतिः**=सब भूतों के अधिपति हैं, **यस्मिन्**=जिस आपमें **लोकाः**=सब लोक **अधिश्रिताः**=स्थित हैं, **यः ईशे**=आप ईश हैं, सबका शासन करनेवाले हैं, आप **महतो महान्**=महान् से भी महान् हैं, **तेन**=इस हेतु से **अहम्**=मैं **त्वाम्** =आपको **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'प्रकृति व परमात्मा' के चुनाव में आपको चुनता हूँ। २. आपका वरण करनेवाला मैं भी (क) भूतों का अधिपति बन पाऊँगा। ऐसा बन सकने पर मेरा स्वास्थ्य कभी विकृत न होगा। (ख) सब लोक मुझमें स्थित होंगे—मैं सभी को आश्रय देनेवाला बनूँगा। (ग) अपनी इन्द्रियों का ईश—शासन करनेवाला बनूँगा, न कि दास। (घ) इस प्रकार जितेन्द्रियता व आत्मशासन के द्वारा मैं बड़े-से-बड़ा बनने का प्रयत्न करूँगा, विशाल हृदयवाला होऊँगा। इस प्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=आपको **मयि**=अपने में **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, आपको अपने जीवन में धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का अपने में धारण करने का अभिप्राय है कि (क) हम पृथिवी आदि भूतों के पूर्ण अधिपति बनते हुए स्वस्थ बनें, (ख) हम सब लोकों के शरणस्थान बनें, (ग) अपनी इन्द्रियों के ईश बनें, और (घ) विशाल-से-विशाल हृदयवाले हों।

सूचना—**'मयि गृह्णामि त्वामहम्'** का शब्दार्थ इस रूप में भी है कि मैं आपको अन्दर ग्रहण करता हूँ। प्रभु का ग्रहण जब कभी भी होगा, हृदयाकाश में ही होगा। प्रभु को बाह्य वस्तुओं में गृहीत नहीं किया जा सकता। मूर्त्ति में उसका दर्शन न होकर हृदय में होगा।

ऋषिः—**काक्षीवत्सुकीर्तिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का ग्रहण क्यों?

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३३॥

१. गतमन्त्र में 'प्रभु-ग्रहण' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वह प्रभु-ग्रहण कैसे होगा और प्रभु-ग्रहण क्यों आवश्यक है? **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप **उप**=उपासना द्वारा **याम**=यम-नियमों के धारण करने से गृहीत होते हैं, अर्थात् आपका धारण मैं तभी कर पाऊँगा जब (क) उपासना को अपनाऊँगा और (ख) उपासना के द्वारा मेरा जीवन यम-नियमों के बन्धन में बँधा हुआ होगा। २. **त्वा**=मैं आपको (क) **अश्विभ्याम्**=प्राणपान के लिए ग्रहण करता हूँ। आपकी उपासना से मेरी प्राणापान शक्ति की वृद्धि होगी। (ख) **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए। आपके ग्रहण से मेरा ज्ञान बढ़ेगा तथा (ग) **इन्द्राय**=इन्द्रशक्ति के लिए। आपकी उपासना व ग्रहण से मेरा आत्मिक बल बढ़ता है और अन्त में (घ) **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपने त्राण के लिए। आपके धारण से मैं केवल शारीरिक रोगों से ही नहीं बचता, मानस विकारों से भी मैं अपनी रक्षा कर पाता हूँ। आपका धारण मुझे शरीर की व्याधियों के साथ मन की आधियों से भी बचाता है। ३. इस सारी बात का ध्यान करते हुए **एषः**=यह मैं **ते योनिः** =तेरा गृह बनता हूँ। मैं घर होऊँ और आप उस घर के पति। ऐसा मैं इसीलिए चाहता हूँ कि **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान के लिए **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की अधिदेवता के लिए तथा **इन्द्राय**=प्राणशक्ति के विकास के लिए तथा **सुत्राम्णे**=उत्तमता से अपना धारण करने के लिए समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—उपासना व यम-नियमों के पालन से हम परमात्मा का अपने में ग्रहण करें, जिससे हमारी प्राणापानशक्ति की वृद्धि हो, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो, हमारी आत्मशक्ति का विकास हो तथा हम उत्तमता से अपना त्राण कर सकें—आधि-व्याधियों से बच सकें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन का विलायक

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः॥३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासना व यम-नियमों के पालन से प्रभु का अपने में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अनुभव करता है कि हे प्रभो! आप **मे**=मेरे **प्राणपाः**=प्राणों की रक्षा करनेवाले हो। **अपानपाः**=मेरे अपान की रक्षा करनेवाले हो। जहाँ आप मेरे बल को बढ़ाते हैं, वहाँ मेरी दोष-दूरीकरण की शक्ति को भी स्थिर रखते हैं। २. **चक्षुष्पाः**=आप मेरी आँखों की रक्षा करनेवाले हैं तथा **श्रोत्रपाः च मे**=मेरे श्रोत्रों को सुरक्षित करनेवाले हैं। इन सुरक्षित आँखों व श्रोत्रों की शक्ति से मेरा ज्ञान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है। प्राणापान की रक्षा से शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था तो इन चक्षुः=नेत्रों की रक्षा से मुझे दृष्टि का स्वास्थ्य मिलता है। ३. हे प्रभो! आप **मे वाचः** =मेरी वाणी के **विश्वभेषजः**=सब दोषों की औषध हैं। मेरी वाणी आपकी उपासना से पवित्र होकर अपशब्दों व अनृत का उच्चारण नहीं करती, वह आपके नामजप आदि पवित्र कार्यों में ही प्रवृत्त रहती है। और ४. हे प्रभो! आप **मनसः**=मेरे मन के **विलायकः असि**=विलायक हैं (विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्यात्मनि

स्थापयति—म०) मेरे मन को विषयों से व्यावृत्त करके अपने में स्थापित करनेवाले हैं। भौतिक वस्तुओं में थोड़ी देर तक स्थिर रहकर मन फिर भटक जाता है, क्योंकि उनका आगा-पीछा देखकर उसकी उत्सुकता समाप्त हो जाती है, परन्तु एक बार प्रभु में चलने लगा तो वह फिर ओर-छोर को न पाकर वहीं उलझा रह जाएगा। उस प्रभु की अनन्तता में ही विलीन-सा हो जाएगा, अतः मन प्रभु को पाकर ही स्थिर होगा। अन्यथा भटकता ही रहेगा।

भावार्थ—जब हम प्रभु को अपने में धारण कर पाते हैं तब (क) प्राणापान सुरक्षित होकर हमारे शरीर का बल बढ़ता है, (ख) चक्षुः-श्रोत्र की रक्षा लेकर हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ग) हमारी वाणी प्रभुनाम-स्मरण से सब दोषों से निवृत्त हो जाती है, हम शुभ ही शब्दों को बोलते हैं, (घ) प्रभु में हमारा मन ऐसा विलीन हो जाता है कि अपने आप ही वह विषयव्यावृत्त हो जाता है, विषय उसके लिए नीरस हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

उपहूत का उपहूत

अ॒श्विन॑कृतस्य ते॒ सर॑स्वतिकृत॒स्येन्द्रे॑ण सु॒त्राम्णा॑ कृ॒तस्य॑।
उप॑हूत॒ऽउप॑हूतस्य भक्षयामि॥३५॥

१. गतमन्त्र में प्रभु का आराधन करते हुए कहा गया था कि आप ही हमारे प्राणापान की शक्ति के व ज्ञानादि के रक्षक हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि इस शक्ति की रक्षा व ज्ञानवृद्धि के साधनभूत 'सोम' की आपने हममें स्थापना की है। हे प्रभो! मैं **ते**=आपके सोम का **भक्षयामि**=भक्षण करता हूँ—उसे अपने शरीर का अङ्ग बनाता हूँ। उस सोम का जो २. **अश्विनकृतस्य**=(आश्विनाभ्यां कृतस्य—म०) प्राणापान के हेतु से किया गया है। यहाँ तृतीया का प्रयोग उसी प्रकार है जैसेकि (अध्ययनेन वसामि=अध्ययन के हेतु से रहता हूँ)। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। ३. **ते**=तेरे उस सोम का जो **सरस्वतिकृतस्य**=विद्या की अधिदेवता के हेतु से किया गया है, अर्थात् इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ४. उस सोम का मैं भक्षण करता हूँ जो **इन्द्रेण कृतस्य**='इन्द्र' के हेतु से उत्पन्न किया गया है। **'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'** इन्द्र के सब कर्म सबल होते हैं। सोम की रक्षा से मेरे भी सब कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं और मैं सब असुरों का, आसुरवृत्तियों का संहार करके सचमुच देवराट्=दिव्य गुणों से चमकनेवाला इन्द्र बनता हूँ। ५. मैं उस सोम का भक्षण करता हूँ जोकि **सुत्राम्णा कृतस्य**=उत्तम त्राण के हेतु से उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से मैं शरीर को व्याधियों से और मन को आधियों से बचा पाता हूँ और इस प्रकार यह सोम मेरे लिए सुत्रामन् होता है। मैं भी इसकी रक्षा के द्वारा 'सुत्रामा' बनता हूँ। ६. उस सोम का भक्षण करनेवाला मैं कौन हूँ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उपहूतस्य**=प्रतिदिन प्रातः-सायं (कृतोपहवस्य—म०) पुकारे गये व समीप बुलाये गये उस प्रभु का **उपहूतः**=उपहूत मैं हूँ। मैं प्रभु का आह्वान करता हूँ। प्रभु मुझे अपने समीप बुलाते हैं। ७. प्रभु का उपासन सोमरक्षण का सर्वोत्तम साधन है और यह सुरक्षित सोम हमारी प्राणापान शक्ति को बढ़ाता है, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है, हमें असुर-संहार-समर्थ देवराट् इन्द्र बनाता है और हम इसकी रक्षा से शरीर व मन को पूर्ण नीरोग बनानेवाले 'सुत्रामा' बनते हैं।

भावार्थ—उपहूत प्रभु के हम उपहूत बनें और सोमरक्षण के द्वारा प्राणापान की शक्ति, ज्ञान व इन्द्रशक्ति का वर्धन करें तथा शरीर व मन को नीरोग बना पाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्वारोद्घाटन

समि॑द्धऽइन्द्र॑ऽउ॒षसा॒मनी॑के पु॒रो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः।
त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳश॒ता॒ वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार॥३६॥

१. गतमन्त्र का सोमभक्षण करनेवाला व्यक्ति अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बनकर 'आङ्गिरस' बनता है और अग्रिम ग्यारह मन्त्रों का ऋषि यह 'आङ्गिरस' ही है। यह आङ्गिरस=सोम का पान व रक्षण करनेवाला व्यक्ति **समिद्धः**=ज्ञान से खूब दीप्त बनता है। २. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न 'इन्द्र' बनता है। ३. यह **उषसाम् अनीके** (अनीकं मुखम्)=उषःकालों के अग्रभाग में ही **पुरोरुचा**=अग्रतो गामिनी दीप्ति से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है, अर्थात् बहुत प्रातःकाल में ही स्वाध्यायादि के द्वारा उस ज्ञान को यह धारण करनेवाला होता है, जो ज्ञान इसकी निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। ४. यह **पूर्वकृत्**=पूर्वदिशा को अपनी दिशा बनानेवाला होता है। यह दिशा 'उदय की दिशा' है—यह अपने जीवन में 'सत्य, यश व श्री' के दृष्टिकोण से उदयवाला होता है। ५. उदय के मार्ग पर चलता हुआ यह **त्रिभिः त्रिंशता देवैः**=तेतीस देवों से सम्पन्न होता है। ६. **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) को हाथों में लिये होता है और **वृत्रं जघान** =इस वज्र से ज्ञान की आवरणभूत 'वृत्र' नामक वासना को नष्ट कर देता है। ७. वासना को नष्ट करके यह **दुरः**=मोक्षलोक के चार द्वारों को **विववार**=खोल डालता है। मोक्ष के चार द्वार **'शमो विचारः संतोषः चतुर्थः साधुसंगमः'**=शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम हैं। इसके जीवन में ये चारों ही बातें होती हैं—यह शान्त होता है, विचारशील व सन्तोषी बनता है, सदा सत्सङ्ग में रुचिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (उपहूत) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानसमिद्ध बनता है। उन्नति करता हुआ सब देवों को अपने में धारण करता है, क्रियाशील जीवन के द्वारा वासना से ऊपर उठता है और मोक्ष के चारों द्वारों को अपने लिए खोलता हुआ 'शान्त, विचारशील, सन्तोषी व सत्सङ्गी' बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तनूनपात्**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ का धाम

न॒रा॒शꣳसः॒ प्रति॒ शूरो॒ मिमा॑न॒स्तनू॒नपा॒त्प्रति॑ य॒ज्ञस्य॒ धाम॑।
गोभि॑र्व॒पावा॒न्मधु॑ना स॒म॒ञ्जन्हिर॑ण्यैश्च॒न्द्री य॑जति॒ प्रचे॑ताः॥३७॥

१. गतमन्त्र का आङ्गिरस चारों मोक्ष द्वारों को खोलनेवाला **नराशंसः**=(नरैः आ=समन्तात् शंस्यते) सर्वत्र मनुष्यों से प्रशंसित होता है। यह २. **प्रति-शूरः**=प्रत्येक वासना व शत्रु से मुक़ाबला करनेवाला वीर होता है। ३. **प्रतिमिमानः**=कार्य को माप-तोलकर करनेवाला होता है और ४. इसीलिए **तनू-न-पात्** =शरीर को वह गिरने नहीं देता, शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखता है। ५. **यज्ञस्य धाम**=(यज्ञो वै विष्णुः) सृष्टियज्ञ को करनेवाले सर्वव्यापक 'यज्ञ' नामक प्रभु का यह घर (निवासस्थान) बनता है। ६. जब यह अपने हृदय में प्रभु को बिठा लेता है तब **गोभिः**=उस हृदयस्थ प्रभु से उच्चारण की गई वेदवाणियों के द्वारा

यह **वपावान्**=(वप्=बोना) प्रशस्त गुणों के बीजों को बोनेवाला होता है। अपने अन्दर उत्तम गुणों का विकास करता है। ७. **मधुना समञ्जन्** =माधुर्य से अपने जीवन को अलंकृत करता है। इसका व्यवहार व वाणी अत्यन्त मधुर होते हैं। अन्दर गुण हों तो वाणी व व्यवहार में माधुर्य होना ही चाहिए। ८. **हिरण्यैः**=(हितरमणीयैः) हितरमणीय ज्ञानों के द्वारा, वीर्य के द्वारा शक्तियुक्त होने के कारण **चन्द्री**=यह सदा आह्लाद–प्रसन्नता की वृत्तिवाला होता है। ९. **यजति**=यज्ञशील होता है–(क) बड़ों का आदर करता है, (ख) बराबरवालों से मिलकर चलता है तथा (ग) देने की शक्तिवाला होता है। १०. **प्रचेताः**=यह प्रकृष्ट चेतनावाला–उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। जीवन को बड़ी समझदारी से उन्नति–पथ पर ले–चलता है, कभी असावधान नहीं होता।

भावार्थ–हम प्रभु को अपने में धारण करनेवाले बनें, उसकी ज्ञानवाणियों से जीवन में सद्गुणों के बीज बोएँ। माधुर्यवाले हों। सदा आह्लादमय, यज्ञशील व प्रचेता बनें।

ऋषिः–**आङ्गिरसः**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

पुरन्दरः

ईडि॒तो दे॒वैर्हरि॑वाँ२॥ऽअभि॒ष्टिरा॒जुह्वा॑नो ह॒विषा॒ शर्द्ध॑मानः।
पु॒र॒न्द॒रो गो॑त्र॒भिद्वज्र॑बाहु॒राया॑तु य॒ज्ञमुप॑ नो जुषा॒णः॥३८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनानेवाला व्यक्ति **देवैः ईडितः**=देवों से स्तुत होता है। विद्वान् लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। अथवा **देवैः**=दिव्य गुणों के हेतु से (हेतु में तृतीया) यह (ईडितमस्य अस्ति इति) प्रभु की स्तुति करनेवाला होता है। प्रभु–स्तुति के द्वारा यह दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला होता है। २. **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाला बनता है। ३. **अभिष्टिः**=(अभिगमनवान्–उ०) कामादि शत्रुओं पर यह आक्रमण करनेवाला होता है। ४. **आजुह्वानः**=समन्तात् यज्ञों को करनेवाला बनता है–यज्ञ इसका स्वभाव हो जाता है। ५. **हविषा** =इस यज्ञ की वृत्ति से, दानपूर्वक अदन की वृत्ति से–यह **शर्द्धमानः**=(शर्ध इति बलनाम अतिबलायमानः–म०) अत्यन्त बलवान् की भाँति आचरण करनेवाला होता है। ६. **पुरन्दरः**=इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में असुरों से बनाये गये पुरों का यह विदारण करनेवाला होता है। यह असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस कर डालता है। वासनाओं को नष्ट करके यह 'पुरन्दर' बनता है। ७. **गोत्रभित्**=जीवनयात्रा में पर्वत के समान आ जानेवाले वासनारूप विघ्नों को यह विदीर्ण करता है, बड़े–से–बड़े विघ्न को यह नष्ट करनेवाला होता है। ८. **वज्रबाहुः**=इसी उद्देश्य से क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर चलता है। ९. यह **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **नः**=हमारे **उप**=समीप **आयातु**=आये। यज्ञों का सेवन करते हुए ही हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं।

भावार्थ–उपासना से दिव्य गुणों को प्राप्त करते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले हों। इससे हमारी शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः–**आङ्गिरसः**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

सजोषाः

जु॒षा॒णो ब॒र्हिर्हरि॑वान्न॒ऽइन्द्रः॑ प्रा॒चीन॑ꣳसीदत्प्र॒दिशा॑ पृथि॒व्याः।
उ॒रु॒प्रथाः॒ प्रथ॑मानꣳस्यो॒नमा॑दि॒त्यैर॒क्तं वसु॑भिः स॒जोषा॑ः॥३९॥

१. **जुषाणः**=गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार यज्ञों का सेवन करता हुआ २.

हरिवान् प्रशस्त इन्द्रियोंवाला ३. **नः**=हमारा अर्थात् प्रभु का भक्त ४. **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ५. **उरुप्रथाः**=खूब विस्तारवाला, उदार हृदयवाला, ६. **सजोषाः**=प्रीति से युक्त, अर्थात् सदा सन्तुष्ट व प्रसन्न (प्रीत्या सहितः सन्तुष्टः–म०) ७. **पृथिव्याः प्रदिशा**=पृथिवी के प्रकृष्ट संकेत से, अर्थात् मानो यह पृथिवी उसे अपने विस्तार का संकेत करती हुई हृदय को भी विस्तारवाला बनाने का उपदेश दे रही हो। इस प्रकार पृथिवी के उपदेश के अनुसार (क) **प्रथमानम्**=अत्यन्त विस्तृत (ख) **स्योनम्**=सुखमय, सदा प्रसन्न (ग) **आदित्यै वसुभिः**=आदित्यों व वसुओं से **अक्तम्** =अलंकृत हो उत्तम, अर्थात् गुणों के आदान की भावना तथा उत्तम निवास बनाने की भावना से सुभूषित **प्राचीनम्**=(प्रागञ्चनं) निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले व आगे बढ़नेवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत्**=स्थित होता है।

भावार्थ—मनुष्य (क) यज्ञों का सेवन करे (ख) उत्तम इन्द्रियोंवाला बने (ग) प्रभु का होकर संसार में विचरे (घ) जितेन्द्रिय बने (ङ) उदार हो (च) सदा प्रीतियुक्त हो। ऐसा बनकर यह अपने हृदय को, इस विशाल पृथिवी का स्मरण करते हुए (क) विशाल बनाये (ख) विशालता के द्वारा सुखमय बनाए (ग) गुणों का आदान व उत्तम निवास की भावना से युक्त हो (घ) 'इसमें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहे' इस बात का ध्यान करे।

सूचना—पृथिवी अत्यन्त विशाल है। मनुष्य यदि चाहे तो वह बड़ी सुन्दरता से वहाँ अपना जीवन बिता सकता है, परन्तु मनुष्य अपने को तंग नगरों की सीमा में रखने के लिए यत्न करता है, इससे उसका जीवन अधिक कृत्रिम व कष्टमय हो जाता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चार दिव्य द्वार

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्ताᳬसुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः॥४०॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय **वृषाणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य अथवा **कवष्यः**=(Shield) ढालरूप **धावमानाः**=जीवन को बड़ा शुद्ध बनानेवाले (धाव् =शुद्धि) **दुरः**=द्वार—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूप चार द्वार **यन्तु**=प्राप्त हों। ये चारों द्वार उसके लिए **जनयः**=प्रादुर्भाव का कारण बनें, उसकी शक्तियों का विकास करनेवाले हों और **सुपत्नीः**=उत्तमता से उसका रक्षण करनेवाले हों। मुख उत्तम सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है—पायु शरीर में से मलांश को पृथक् करके शरीर का रक्षण करता है। उपस्थ वशीभूत होकर उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला होता है और वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह सचमुच प्रभु के उपस्थान का कारण बनता है। ब्रह्मरन्ध्र अन्त में आत्मा के शरीर से निकलने का मार्ग होने पर मोक्ष व ब्रह्म-प्राप्ति का कारण बनता है। २. ये **द्वारः**=चारों द्वार **देवीः**=दिव्य द्वार हैं। एक (मुख) उत्तम भोजन के द्वारा शरीर में बल व प्राण का आधान करनेवाला है तो दूसरा (पायु) मलशोधन के द्वारा अपान की शक्ति को ठीक रखकर शरीर को स्वस्थ बनाता है। एवं, ये दोनों द्वार मिलकर शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन बन मोक्ष प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये चारों द्वार दिव्य हैं। ये **अभितः**=दोनों ओर **विश्रयन्ताम्**=विवृत हों। विवृत होकर ये अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों,

अथवा ये शरीर में विशिष्टरूप से सेवा करनेवाले हों। (श्रिञ् सेवायाम्) अभितः शब्द का प्रयोग इसलिए हुआ है कि एक ओर मुख है तो दूसरी ओर पायु तथा एक ओर उपस्थ है तो दूसरी ओर ब्रह्मरन्ध्र। ३. **सुवीराः**=ये चारों द्वार उत्तमता से (सु) विशेष करके (वि) बुराइयों को दूर करनेवाले (ईर् कम्पने) हैं। ये चारों द्वार **महोभिः**=अपने-अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से अथवा तेजस्विताओं से **वीरं प्रथमानाः**=वीर पुरुष का विस्तार करनेवाले होते हैं, अर्थात् उस पुरुष को वीर बनाते हैं। मुख और पायु मुझे शरीर के दृष्टिकोण से वीर बनाते हैं, उपस्थ और ब्रह्मरन्ध्र मुझे आत्मिक बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मुख-पायु, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र' रूपी दिव्य द्वार स्तुत्य हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। इनके अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करने पर हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व सुन्दर बनते हैं और आत्मिक बल व वीरता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—'कवष्यः' 'कु शब्दे' से बनकर मुख के कार्य का संकेत करता है 'धावमानाः' 'धाव् शुद्धौ' से बनकर पायु के कार्य का, 'जनयः' उपस्थ के कार्य का संकेत करता है और 'सुपत्नीः' 'पा रक्षणे' से बनकर ब्रह्मरन्ध्र के कार्य का।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**उषासानक्ता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'देवानां देव का पूजन'

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'उषासानक्ता' शब्द पति-पत्नी के लिए है। 'उष दाहे' धातु से उषस् शब्द बनता है—पति अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता है। 'नज् to be modest' धातु से बनकर 'नक्त' शब्द स्त्री का वाचक है, जो उचित लज्जा व शालीनतावाली है। ये **उषासानक्ता**=पति-पत्नी **बृहती**=गतमन्त्र के द्वारों के कार्य के ठीक होने से वर्धनवाले हैं। **पयस्वती**=आत्मिक शक्तियों के आप्यायनवाले हैं (पयस्=ओप्यायी वृद्धौ)। २. ये पति-पत्नी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुदुघे**=उत्तमता से अपने अन्दर पूरण करनेवाले हैं, जो प्रभु **बृहन्तम्**=सब प्रकार के वर्धन का कारण हैं तथा **शूरम्**=(शृ हिंसायाम्) सब प्रकार की बुराइयों को हिंसित करनेवाले हैं। प्रभु की भावना को अपने में भरने से हमारी शक्तियों का वर्धन होता है और सब आसुर-वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ३. **ततं तन्तुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में विस्तृत यज्ञ-तन्तु को **पेशसा**=सुन्दर रूप से **संवयन्ती**=ये सन्तत करनेवाले होते हैं, अर्थात् सृष्टि-प्रारम्भ में प्रभु ने जिस यज्ञ को प्रजाओं के साथ ही उत्पन्न किया है उस यज्ञतन्तु को ये विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन यज्ञरूप बना रहता है। ४. इस यज्ञ से ये पति-पत्नी **देवानां देवम्**=देवाधिदेव परमात्मा को **यजतः**=उपासित करते हैं। यज्ञ द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. इस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम होता है कि ये **सुरुक्मे**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की दीप्ति से ये भी दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का अपने में पूरण करें, जिससे हमारा वर्धन हो और हमारी आसुर वृत्तियों का संहार हो, (ख) यज्ञतन्तु को विच्छिन्न न करने के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें, (ग) प्रभु-उपासन से हम प्रभु की भाँति दीप्त हो उठें, प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**दैव्याध्यापकोपदेशकौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्राचीनं ज्योति

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा।
मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः॥४२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'देवानां देव' का यजन करके ये पति-पत्नी 'सुरुक्म'=उत्तम दीप्तिवाले बनते हैं। ये **दैव्या**=(देवस्य इमौ) परमात्मा के ही हो जाते हैं। २. **मिमाना**=अपने जीवन में ये सदा 'यज्ञं निर्मिमाणौ'=श्रेष्ठ कर्मों को करनेवाले होते हैं। अथवा सब कर्मों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं, अर्थात् 'युक्त-चेष्ट' होते हैं। ३. **मनुषः पुरुत्रा**=ज्ञान से-ज्ञान के द्वारा ये अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं (पृ पालनपूरणयोः, त्रा=रक्षणे)। ४. **होतारौ**=ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं। ५. **इन्द्रं प्रथमा**=दानपूर्वक अदन से उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को विस्तृत करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा ही वस्तुतः 'प्रभुपूजन' होता है अथवा ये अपने जीवन में प्रभु का विस्तार करनेवाले होते हैं। ६. **सुवाचा** =सदा उत्तम वाणीवाले होते हैं। ७. ये **मधुना**=अपने जीवन के माधुर्य से, माधुर्यमयी क्रियाओं से **यज्ञस्य मूर्धन्**=उत्तम कर्मों के अग्रभाग में **दधाना**=अपने को स्थापित करते हैं, अर्थात् ये उत्तम क्रियाओंवाले होते हैं और अत्यन्त माधुर्यवाले होते हैं। ८. इस प्रकार ये **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्राग् अञ्जनम्) निरन्तर अग्रगति व उन्नति के साधक ज्ञान को **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा-यज्ञशेष के सेवन के द्वारा, **वृधातः**=बढ़ानेवाले होते हैं। स्वार्थ मनुष्य के ज्ञान को नष्ट करता है। मनुष्य जितना-जितना स्वार्थ व काम से ऊपर उठता है उतना-उतना उसका ज्ञान चमकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, सब क्रियाओं को मापकर करें, अति में न जाएँ, ज्ञान से अपना त्रण करें, होता बनें, प्रभु का अपने में विस्तार करें, उत्तम वाणीवाले हों, माधुर्य के साथ यज्ञों के अग्रभाग में स्थित हों, उस ज्ञान को प्राप्त करें, जो हमारी अग्रगति का साधन बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**तिस्रो दैव्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तिस्रो देवीः (ज्ञान-श्रद्धा-वाणी)

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमानाऽइन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः॥४३॥

१. **तिस्रः देवीः**=तीन दिव्य गुण **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से, अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति से **वर्धमानाः**=निरन्तर बढ़ने के स्वभाववाले होते हैं। २. ये तीनों दिव्य गुण **इन्द्रं जुषाणाः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सेवन करनेवाले होते हैं। इन्द्र को ही प्राप्त होते हैं। ३. ये तीनों गुण उस इन्द्र के लिए **जनयः पत्नीः न**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली पत्नियों के समान होते हैं। पत्नी सन्तान को जन्म देती है, ये तीनों देवियाँ इस इन्द्र में उत्तमताओं को जन्म देनेवाली होती हैं, उत्तम दिव्य गुणों को पैदा करती हैं। ४. इन तीनों देवियों में प्रथम देवी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता है जोकि **अच्छिन्नं तन्तुं पयसा**=अच्छिन्न यज्ञतन्तु के-निरन्तर चलनेवाले यज्ञ के प्रकाश से युक्त है, अर्थात् ज्ञान पहली देवता है, इसके होने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय बनता है। ५. दूसरी देवता **इडा**=(श्रद्धेडा श० ११।२।७।२०) श्रद्धा है, जो **देवी**=मनुष्य में सब दिव्य गुणों को जन्म

देनेवाली है। ६. तीसरी देवता **भारती**=वाणी है। इस तीसरी देवता को अन्यत्र मन्त्रों में 'मही' भी कहा गया है। भारती व मही दोनों शब्द नि० १।११ में वाणी के वाचक हैं। यह वाणी तभी देवता है जबकि यह **विश्वतूर्त्तिः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट (सर्वत्र विशति) सर्वव्यापक प्रभु में (विश्वस्मिन् त्वरया तूर्णं गच्छति) शीघ्रता से व्याप्त होती है। हम अपने कार्य से ज़रा खाली हुए और यह वाणी प्रभु के जप में लगी। हमारा सारा खाली समय वाणी द्वारा तज्जपः=उस प्रभु के नाम के जप में लगे। ऐसा होने पर यह देवता हो जाती है। यह भारती व मही बन जाती है। यह सचमुच हमारा भरण करती है और हमारे जीवन को महनीय बना देती है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान की अधिदेवता 'सरस्वती' यज्ञिय भावनाओं को जन्म देकर यज्ञ का विकास करे, 'श्रद्धा' (इडा) दिव्य गुणों को जन्म दे, तथा 'भारती' (वाणी) सदा उस प्रभु में त्वरा से गतिवाली हो, अर्थात् प्रभु के नाम का जप करनेवाली हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**त्वष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

भूरिरेताः

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन्वृषणं भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥४४॥

१. यदि गतमन्त्र की भावना के अनुसार हमारी वाणी सर्वव्यापक प्रभु का जप करनेवाली बनती है तो हम उस प्रभु की कृपा से वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और इन्द्रियों को वश में कर सकने के कारण 'इन्द्र' व परिणामतः 'वृषभ' बनते हैं, वासना से ऊपर उठकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले बनते हैं। इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **वृष्णे**=सुखों की वर्षा करनेवाले के लिए **त्वष्टा**=वह दिव्य गुणों का निर्माता प्रभु **शुष्मम्**=शत्रुशोषक शक्ति को **दधत्**=धारण करता है। इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है, जिससे यह सब शत्रुओं को जीत पाता है। २. वह **अपाकः**=(न विद्यते अन्यः पाकः यस्मात् सः—उ०) अत्यन्त प्रशंसनीय (अनुत्तम) **अचिष्टुः**=(अञ्चनशीलः सर्वत्र गतः—म०) सर्वव्यापक प्रभु **यशसे**=इस इन्द्र के यश के लिए **पुरूणि**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को इसमें आहित करता है। इन कर्मों को करता हुआ यह इन्द्र यशस्वी बनता है और ३. **वृषणम्**=सब शक्तियों का सेवन करनेवाले प्रभु की **यजन्**=पूजा व सङ्गतिकरण करता हुआ यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है ४. **भूरिरेताः**=भरण-पोषण करनेवाले रेतस्वाला होता है (रेतस्=वीर्य)। ५. **यज्ञस्य मूर्धन्**=सदा उत्तम कर्मों के अग्रभाग में स्थित होता है और ६. **देवान् समनक्तु**=दिव्य गुणों के साथ अपने को सङ्गत करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से बल प्राप्त होता है। हम यशस्वी कार्यों को करनेवाले बनते हैं और हम दिव्य गुणों से अपने जीवन को समलंकृत कर पाते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**वनस्पतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वनस्पतिः

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन॥४५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित बल का धारण करनेवाला इन्द्र **वनस्पतिः**=ज्ञानरश्मियों का पति बनता है (वन=a ray of light)। २. ज्ञानी बनने के कारण ही **पाशैः**=विषयों के जालों से

अवसृष्टः न=छूटा हुआ-सा होता है। विषयों के बन्धन से यह ऊपर उठता है। विषयों के बन्धन ज्ञान की तलवार से कट जाते हैं। ३. विषय-बन्धनों को काटकर वह **त्मन्या**=(आत्मना) आत्मतत्त्व से **समञ्जन्**=सङ्गत होता है। विषयों से छूटने पर ही आत्मतत्त्व से मेल होता है। ४. आत्मतत्त्व से मेल के कारण **शमिता न**=यह अत्यन्त शान्त-सा हो जाता है और ५. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला–देव बनता है। एवं, क्रम यह है 'ज्ञान, विषयबन्धन-विनाश, आत्मसंयम, शान्ति व दिव्यता'। ६. यह शान्त स्वभाववाला देव व्यक्ति **इन्द्रस्य जठरम्**=उस प्रभु के दिये हुए इस पेट को **हव्यैः**=यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों से ही **पृणानः**=(पूरयन्) पूरित करता है। पेट को प्रभु का समझता हुआ उसे मांसादि अदिव्य–अपवित्र पदार्थों से कभी नहीं भरता। सात्त्विक भोजनों के सेवन से उसकी वृत्ति भी सात्त्विक बनती है। ७. इस प्रकार यह **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **मधुना**=शहद से तथा **घृतेन**=घृत से **स्वदाति**=स्वादवाला–माधुर्यवाला बना देता है। वस्तुतः 'हव्य पदार्थ' ही हमारे भोजन होने चाहिएँ। घृत और शहद आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन हमारे जीवन को यज्ञरूप बना देगा।

भावार्थ—हमारे भोजन वानस्पतिक हव्य पदार्थ हों, हम मधु व घृत आदि का प्रयोग करें। इस प्रकार हमारा जीवन यज्ञरूप होगा, माधुर्यमय होगा।

ऋषिः—**आङ्गिरसः**। देवता—**स्वाहाकृतयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र तथा देव

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूरऽइन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवाऽअमृता मादयन्ताम्॥४६॥

१. **स्तोकानाम्**=(स्तोक=कण=बिन्दु) एक-एक कण के रूप में उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुं प्रति**=(इन्द to be powerful) शक्तिशाली बनानेवाले सोम को लक्ष्य बनाकर चलनेवाला, अर्थात् सोम के एक-एक कण का ध्यान करनेवाला यह आङ्गिरस **शूरः**=शूरवीर बनता है। २. **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला और इन्द्र नामवाला राजा **वृषायमाणः**=बलवान् पुरुष की भाँति आचरण करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है, प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करता है। ३. **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते–उ०, तुरान् हिंसकान् सहते–द०) शीघ्रता से हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराभव करता है। ४. वस्तुतः वीर्य के कण-कण की रक्षा करनेवाला शूरवीर, जितेन्द्रिय, शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ, प्रजाओं पर सुखों का वर्षक, शत्रुओं का पराभावयिता राजा ही प्रजा की रक्षा कर पाता है–**'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं वि रक्षति'**। विलासी राजा प्रजारक्षण में समर्थ नहीं होता। ५. इस राज्यरूप महादेव कार्य को राजा अकेला नहीं कर सकता, वह इस कार्य के लिए सात वा आठ मन्त्रियों को अपने साथ नियत करता है। राजा 'इन्द्र' है, तो ये मन्त्री 'देव' कहलाते हैं। ये देव भी **घृतप्रुषा**=(घृ=क्षरण, दीप्ति) मलक्षरण व नैर्मल्य तथा दीप्ति से सिक्त (प्रुष् to sprinkle) **मनसा**=मन से **मोदमानाः**=हर्ष का अनुभव करते हुए **मादयन्ताम्** प्रजा को आनन्दित करें। ६. कैसे देव? (क) **स्वाहा देवाः**=(स्वाहाकृतयो देवाः स्वाहादेवाः) प्रजा के हित के लिए स्व का त्याग करनेवाले देव, तथा (ख) **अमृताः**=(नास्ति मृतं मरणं येषां–म०) जो किन्हीं भी विषयों के पीछे मर नहीं रहे, अर्थात् विषयासक्त नहीं हैं। एवं, मन्त्रियों के तीन विशेषण हैं, ये नैर्मलय व दीप्ति से सिक्त मन से मोदमान हों, प्रजाहित के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाले हों तथा विषयों के पीछे मरनेवाले न हों। इन तीन विशेषणों से विशिष्ट देव ही प्रजारक्षणरूप कार्य में राजा के उत्तम सहायक हो सकते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, वह ब्रह्मचारी बनता है, शक्तिशाली बनकर कामादि शत्रुओं का संहार करता है। उसके मन्त्री 'देव' हैं। ये भी निर्मल मनवाले, प्रसन्नचित्त, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए, विषयों से अछूते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अभिभूति क्षत्रम्

आयात्विन्द्रोऽवसऽउप नऽइह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात्॥४७॥

१. गतमन्त्र का प्रजारक्षक, ब्रह्मचर्य व्रत का पालक **इन्द्रः**=राजा **इह**=इस राष्ट्र में **नः उप**=हमारे समीप **अवसे**=रक्षण के लिए **आयातु**=आये। २. अपने उत्तम जीवन व कर्म के कारण **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ, 'जिसकी सब प्रशंसा करते हैं', ऐसा यह राजा **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला तथा **सधमात्**=(देवैः सार्धं मादयति) देवतुल्य अपने मन्त्रियों के साथ प्रजा को आनन्दित करनेवाला **अस्तु**=हो। यह वस्तुतः प्रजारक्षण के कार्य में ही आनन्द का अनुभव करे, प्रजाओं के साथ मिलनेवाला हो, प्रजाओं के लिए अपने आराम को तिलाञ्जलि देनेवाला हो, उनके लिए अभिगम्य हो। ३. **वावृधानः**=इस प्रकार यह राष्ट्र का निरन्तर वर्धन करनेवाला हो। ४. यह राजा वह हो **यस्य**=जिसकी **तविषीः**=सेनाएँ व बल **पूर्वीः**=प्रथम श्रेणी की हैं, अर्थात् अत्यन्त उत्तम हैं। ५. यह राजा **द्यौः न**=प्रकाश की भाँति **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं के पराभव करनेवाले बल का **पुष्यात्**=पोषण करे। उस शक्ति से सम्पन्न हो जो शक्ति शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ हो। जहाँ इसमें ज्ञान हो, वहाँ इसमें अद्भुत बल भी हो।

भावार्थ—प्रजा का रक्षण करनेवाला यह राजा अपने उत्तम कार्यों से प्रजा से स्तुत हो, शूर हो, वृद्धिशील हो, इसकी सेनाएँ भी प्रथम श्रेणी की, अर्थात् उत्तम शिक्षित हों। जहाँ यह ज्ञान के प्रकाशवाला हो, वहाँ शत्रु पराजयक्षम बल से भी सम्पन्न हो। इस प्रकार स्वयं सुन्दर दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनकर यह प्रजाओं को भी 'वामदेव' बनाने के लिए प्रयत्नशील होता है (वाम=सुन्दर, देव=दिव्य गुण)।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

युद्ध व आक्रमण

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥४८॥

१. गतमन्त्र के राजा के लिए ही कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी **आयासत्**=आये 'दूर हो, समीप हो' कहीं भी हो, हमारी **अवसे**=रक्षा के लिए यह आये ही। २. यह स्वयं राष्ट्र में उस-उस स्थान पर पहुँचकर **अभिष्टिकृत्**=अभिलषित कार्यों का करनेवाला हो। यह राजा उचित प्रबन्ध के द्वारा वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करे तथा आवश्यक प्रबन्ध के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला हो। ३. शत्रु का आक्रमण होने पर **ओजिष्ठेभिः**=ओजस्वितम, अत्यन्त बलिष्ठ सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ, गतमन्त्र की 'पूर्वी तविषी'=प्रथम श्रेणी की सर्वोत्तम सेनाओं से युक्त हुआ-हुआ **नृपतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **वज्रबाहुः**=वज्रयुक्त भुजावाला होकर **सङ्गे**=शत्रु के साथ मेल होने पर, अर्थात्

युद्ध में **समत्सु**=आक्रमणों के होने पर **पृतन्यून्**=शत्रुओं को (पृतनामिच्छन्ति) **तुर्वणिः**=(तुर्वति) नष्ट करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश करके यह प्रजा को शत्रु के आक्रमण-भय से मुक्त करता है। भयमुक्त प्रजा ही तो विविध क्षेत्रों में उन्नति कर सकती है।

भावार्थ—राजा दूर हो या समीप हो, प्रजा के रक्षण के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचे। प्रजा की अभिलाषाओं को सिद्ध करनेवाला हो। शत्रुओं का आक्रमण होने पर शक्तिशाली सैन्यों के साथ स्वयं अस्त्र-शस्त्र धारण करके शत्रु का संहार करे।

सूचना—'संग और समत्' निघण्टु में दोनों ही संग्राम के नाम हैं। एकवचन में होता हुआ 'संग' युद्ध (war) है और बहुवचन में वर्त्तमान समद् शब्द आक्रमणों (Battles) का वाचक है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वज्री, मघवा, विरप्शी

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥४९॥

१. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा मुख्य सेनाधीश के रूप में **हरिभिः**=सुशिक्षित अश्वों के साथ **नः अच्छ**=हमारी ओर **आयातु**=प्राप्त हो। २. यह राजा **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **च**=तथा **राधसे**=धनादि की सिद्धि के लिए **अर्वाचीनः**=शत्रु के सम्मुख जानेवाला हो। शत्रु पर आक्रमण करके उसे पराजित करनेवाला हो। ३. यह **वज्री**=उत्तम वज्रवाला **मघवा**=परमपूजित धन से युक्त **विरप्शी**=महान् अथवा (विविधं रपति) विविध आदेशों का देनेवाला राजा **नः इमं यज्ञं अनु**=हमारे इस राष्ट्रयज्ञ का लक्ष्य करके **वाजसातौ तिष्ठाति**=संग्राम में स्थित होता है। युद्ध में कभी कायरता से भाग नहीं खड़ा होता। संग्राम में विजय प्राप्त करके यह अन्न के संविभाग में स्थित होता है। सब प्रजाओं को जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कराने की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—राजा के कर्तव्य हैं कि सेना के अङ्गभूत घोड़े आदि को सुशिक्षित करे। अवसर आने पर शत्रु पर आक्रमण करे। प्रजा का रक्षण करे, उसे उचित धन प्राप्त कराए। युद्ध में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर उपस्थित हो।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राष्ट्र-रक्षा व प्रजा-कल्याण

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवे सुहवꣳशूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥५०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'गर्ग' है, जो (गिरति) शत्रुओं को निगल जाता है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को समाप्त करके राष्ट्र के **त्रातारम्**=रक्षक **इन्द्रम्**=शत्रुओं के मार भगानेवाले राजा को और अतएव **अवितारम्**=(अव प्रीणने) प्रजा का प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=राजा को २. **हवेहवे**=प्रत्येक संग्राम में **सुहवम्**=सुगमता से बुलाये जानेवाले, **शूरम्**=शत्रुओं की हिंसा करनेवाले (शृ हिंसायाम्) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय राजा को ३. जितेन्द्रियता के कारण ही **शक्रम्**=(शक्नोति इति शक्रः) राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ, **पुरुहूतम्**=बहुत-से पुकारे गये, सत्कार किये गये **इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली राजा को **ह्वयामि**=इस सिंहासन पर बैठने व बैठकर राज्य करने के लिए

पुकारता हूँ। ४. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, इन्द्रियों का अधिष्ठाता **मघवा**=पापशून्य ऐश्वर्यवाला, कर आदि से प्राप्त उचित धन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्ययित करनेवाला और अतएव **मघवा**=मघवान् कहलानेवाला यह राजा **नः**=हममें **स्वस्ति**=कल्याण को **धातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा करे और प्रजा के कल्याण की साधना करे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

निर्द्वेषता व निर्भयता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ऽअवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषोऽअभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥५१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला और इस प्रकार **सुत्रामा**=बहुत उत्तमता से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला २. **स्ववान्**=आत्मतत्त्ववाला, अर्थात् आत्मप्रवण, भोगवृत्ति से दूर रहनेवाला यह राजा **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः**=(मृड सुखने) प्रजा को अत्यन्त सुखी करनेवाला **भवतु**=हो। ३. प्रजा को सुखी करने के उद्देश्य से ही यह **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण प्रजाजनों को जाननेवाला हो। राजा लोग 'चारचक्षु' होते हैं। गुप्तचरों के द्वारा और स्वयं भी छद्मवेश में प्रजा में विचरण करते हुए ये प्रजा की ठीक स्थिति को जानें। इसे जाने बिना ठीक प्रकार प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। ४. **द्वेषः बाधताम्**=राजा द्वेष को दूर करे। प्रजावर्ग में परस्पर द्वेष को उत्पन्न न होने दे। ५. परस्पर द्वेष होने पर दिलों में भय बना रहता है। द्वेष को दूर करके राजा **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करे। वस्तुतः निर्भयता दिव्य गुणों में प्रथम है। इसके होने पर अन्य दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है। ६. राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि हम सब प्रजावर्ग **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य के, शक्ति के **पतयः**=स्वामी व रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा इस बात का पूरा ध्यान करे कि प्रजा में धर्म, जाति व बिरादरी आदि किसी भी आधार को लेकर परस्पर द्वेष व लड़ाई की भावना उत्पन्न न हो। राष्ट्र में पारस्परिक द्वेष से दिलों में डर (दहशत) न बना रहे।

ऋषिः—**गर्गः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुमति—सौमनस्

तस्य वयꣳ सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ२ऽइन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥५२॥

१. **वयम्**=हम **तस्य**=ऊपर के मन्त्रों में वर्णित **यज्ञियस्य**=पूजा के योग्य राजा की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे**=कल्याणकर **सौमनसे**=सौमनस्य में, अर्थात् मन के उत्तम व्यवहार में **स्याम**=हों, अर्थात् हमारे शासन करनेवाले इस राजा की मति सदा उत्तम बनी रहे और इसके मन के भाव सदा उत्तम बने रहें। इसके मस्तिष्क में सदा उत्तम विचार हों, मन में सदा उत्तम भाव हों। इस प्रकार इस राजा का उत्तम मस्तिष्क व उत्तम मन प्रजा के जीवन को उत्तम बनाने के साधनों का सदा विचार करता रहे। २. **सः**=वही राजा **सुत्रामा**=प्रजा का उत्तमता से त्राण करता है। **स्ववान्**=प्रशस्त आत्मावाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **अस्मे**=हमसे **आरात्**=दूर **चित्**=ही **द्वेषः**=द्वेष को **सनुतः**=सदा **युयोतु**=पृथक् करे।

भावार्थ—राजा सुमति व सौमनसवाला हो। वह हमसे द्वेष को दूर करे।

ऋषि:—**विश्वामित्र:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**निचृद्बृहती**। स्वर:—**मध्यम:**॥

मयूररोम, मन्द्र, 'हरि'

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभि:।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ२॥ऽइहि ॥५३॥

१. पिछले मन्त्र में शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले 'गर्ग' (निगल जानेवाले) राजा का उल्लेख था। जब यह राजा उत्तम व्यवस्था के द्वारा प्रजा में से द्वेष को दूर कर देता है और सब प्रजाएँ परस्पर प्रेमवाली व 'अभय' हो जाती हैं तब वे प्रस्तुत मन्त्र की ऋषि 'विश्वामित्र'—सबके साथ स्नेह करनेवाली बन जाती हैं। इस विश्वामित्र से प्रभु कहते हैं—हे **इन्द्र**=द्वेषादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! तू इन **हरिभि:** =शरीररूप रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़ों से **आयाहि** =हमारे समीप आ। २. कैसे घोड़ों से? **मन्द्रै:**=जो सदा प्रसन्न हैं तथा **मयूररोमभि:**=(मिनाति द्वेषादिकम्) द्वेषादि को अपने से पृथक् रखते हैं अथवा 'मय गतौ' गतिशील हैं तथा 'रु शब्दे' उस प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले हैं, अर्थात् क्रियामय हैं, प्रभु का स्मरणवाले हैं। हाथों में क्रिया, मन में प्रभु का विचार। ३. इस प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता में **त्वा**=तुझे **चित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=न रोके, अर्थात् संसार के विषय तुझे बाँध न लें। इन्होंने बाँधा और तेरी गति रुकी। **न**=जैसे **विम्**=पक्षी को **पाशिन:**=पाशहस्तशिकारी बाँध लेते हैं, उसी प्रकार यह प्रकृति विषयरूप जालों में कहीं तुझे बाँध न ले। यह प्रकृति इतनी चमकीली व आकर्षक है कि इसके अन्दर न बँधना अत्यन्त कठिन है। प्रभुकृपा ही मनुष्य को इस बन्धन से बचाती है। ४. तू इन विषयों को **धन्वा इव**=मरुस्थलों की भाँति **अति इहि**=लाँघ जा। मरुस्थल में मरीचिका के दृश्य मृग को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, परन्तु उसकी प्यास को बुझाते तो नहीं। इसी प्रकार ये विषय मरुस्थल हैं। इनसे तेरा कल्याण न होगा। तू इनमें फँसा रहेगा और सुख को प्राप्त न कर सकेगा। इन विषयों को पार करके ही तू मेरे समीप पहुँचेगा और यात्रा को पूरा कर सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप घोड़े 'सदा प्रसन्न, गतिशील व प्रभु का स्मरण करनेवाले' हों तभी हम जीवनयात्रा में किन्हीं भी विषयों से बद्ध न होकर प्रभु को पानेवाले होंगे।

ऋषि:—**वसिष्ठ:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**भुरिक्पङ्क्ति:**। स्वर:—**पञ्चम:**॥

वीरवत् गोमत्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासोऽअभ्यर्चन्त्यर्कै:।
स न स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न:॥५४॥

१. **एव इत्**=गतमन्त्रों के अनुसार निश्चय से **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वृषणम्** =प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=प्रजा की रक्षा के लिए हाथ में वज्र लिये हुए अथवा क्रियाशील राजा को **वसिष्ठास:**=राष्ट्र में उत्तम निवासवाले प्रजाजन **अर्कै:**=स्तोत्रों से **अभ्यर्चन्ति** =पूजते हैं, सत्कृत करते हैं। 'अर्क' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। अपने धान्यों में से छठा या ८वाँ भाग देकर राजा का उचित मान करते हैं। स्पष्ट है कि राजा का कर्त्तव्य जहाँ प्रजा की रक्षा करना है, वहाँ सुरक्षित प्रजाओं का भी यह कर्त्तव्य है कि राजा को अपने धान्यों का निश्चित अंश कररूप में अवश्य दे। २. इस

प्रकार प्रजा से **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सः**=वह राजा **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=उत्तम वीरोंवाले तथा **गोमत्**=प्रशस्त गौवोंवाले राष्ट्र का **धातु**=धारण करे, अर्थात् राजा राष्ट्र की ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में सब पुरुष वीर हों। रोगादि के कारण व अन्नाभाव के कारण राष्ट्र में लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। इसी दृष्टिकोण से राजा यह व्यवस्था भी करे कि राष्ट्र में गौवें खूब हों। प्रत्येक घर में गौ के लिए स्थान हो। वैदिक आदर्श के अनुसार आदर्श घर वही है जहाँ **'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः'**=सायंकाल कूदती-फाँदती गौवें आती हैं। गौवें होंगी तो हमारी सन्तानें भी वीर होंगी। एवं, एक-एक घर 'गोमत्-वीरवत्' बनेगा और सारा राष्ट्र बड़ा सुन्दर हो जाएगा। इस सुन्दर राष्ट्र में उत्तम निवासवाले ये व्यक्ति 'वसिष्ठ' होंगे। ३. ये वसिष्ठ राजा (इन्द्र) के मन्त्री आदि कर्मचारी वर्ग (देवों) को कहते हैं कि **यूयम्**=तुम सब **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों के द्वारा **नः**=हमारी **पात**=रक्षा करो। सब मन्त्रिवर्ग राष्ट्र का कार्य इस उत्तमता से करें कि प्रजा के सब लोगों की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा राजा को अन्नभाग दे। प्रशंसित राजा हमारे राष्ट्र को वीरोंवाला तथा गौवोंवाला बनाये। सब मन्त्री आदि राष्ट्र की स्थिति को उत्तम बनाने का ध्यान करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आदर्श गृह

समि॑द्धोऽअ॒ग्निर॑श्विना त॒प्तो घ॒र्मो वि॒राट् सु॒तः।

दु॒हे धे॒नुः सर॑स्वती॒ सोम॑ꣳशु॒क्रमि॒हेन्द्रि॒यम् ॥५५॥

१. हे **अश्विनौ**=गुणों व कर्मों में व्याप्त होनेवाले स्त्री-पुरुषो! घर को अच्छा बनाने के लिए इस बात का ध्यान करो कि २. **अग्निः समिद्धः**=आपके घर में अग्नि में समिधा डाली गई हैं और अग्निहोत्र सम्यक्तया सम्पादित हुआ है। अग्निहोत्र घर में सब व्यक्तियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। ३. दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि **तप्तः**=(तप्तं अस्यास्तीति)=घर में सब व्यक्ति तपस्वी हों। जीवन में तप मनुष्य का पतन नहीं होने देता। ४. तप के परिणामस्वरूप **घर्मः**=सब गृहसभ्यों में प्राणों की उष्णता हो (घर्म=गर्म) तपस्या से यह प्राणों की उष्णता भी बनी रहती है। ५. **विराट्**=प्रत्येक व्यक्ति प्राणों की उष्णता को स्थिर रखता हुआ ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाला हो। ६. **सुतः**=(सुतं अस्यास्तीति) यह उत्पादनवाला—अर्थात् यह सदा निर्माण के कार्यों में लगनेवाला हो। ७. **धेनुः दुहे**=प्रत्येक गृहपति यह कह सके कि मेरे घर में गौ दुही जाती है या दूध देने से गौ सबका पूरण करती है। ८. गौ ही नहीं, **सरस्वती दुहे**=यहाँ ज्ञान की अधिदेवता भी सबका पूरण करती है, अर्थात् इस घर में सब ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और ९. इसी का परिणाम है कि **इह**=इस घर में **सोमम्**=सौम्यता—विनीतता व शान्ति है, **शुक्रम्**=वीर्यशक्ति है और **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय का बल अथवा धन है।

भावार्थ—आदर्श घर में पति-पत्नी सदा कर्मव्यापृत रहते हैं, घर में अग्निहोत्र होता है, तपस्या, प्राणशक्ति, ज्ञानदीप्ति व निर्माणात्मक कार्य वहाँ विद्यमान होते हैं। गौवों और ज्ञान का दोहन होता है। अन्त में सौम्यता के साथ वहाँ वीरता होती है तथा सब इन्द्रियाँ ठीक स्थिति में होती हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना-सरस्वती

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती।
मध्वा रजाᳬसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान्॥५६॥

१. गतमन्त्र के 'विदर्भि' के जीवन में **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान **तनूपा**=शरीर की रक्षा करनेवाले होते हैं और **भिषजा**=वे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले होते हैं। इनके शरीर में प्रथम तो रोग उत्पन्न ही नहीं होते, उत्पन्न हो भी जाते हैं तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उत्पन्न हुए-हुए सोम को प्राणापान शरीर में व्याप्त करते हैं और इस प्रकार उस-उस अङ्ग को सबल बनाकर उसे रोगों का घर नहीं बनने देते। २. इसके जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिदेवता, अर्थात् ज्ञान **मध्वा**=माधुर्य के साथ **रजांसि**='रजःकर्मणि भारत', 'रजरुवर्थ उच्यते'=कर्मों को व अर्थों को धारण करता है। यह प्राणसाधन द्वारा सुरक्षित सोमवाला पुरुष ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर (क) 'बड़े माधुर्यपूर्ण व्यवहारवाला' होता है। (ख) सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। (ग) इन उत्तम कर्मों के द्वारा यह अर्थ का उपार्जन करनेवाला बनता है। ३. इस प्रकार ये प्राणापान तथा ज्ञान (क्षत्र+ब्रह्म) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पथिभिः**=उत्तम मार्गों से **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति को तथा धन को (इन्द्रियं धनम्) **वहान्**=प्राप्त कराते हैं। गो० ३।२।२। में इन धनों का उल्लेख इस रूप में है—'जायमानो ह वै ब्राह्मणः सप्तेन्द्रियाण्यभि जायते ब्रह्मवर्चसं यशश्च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यगन्धं सप्तमम्', अर्थात् प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि विदर्भि के जीवन में ब्रह्मवर्चस् होता है, वह यशस्वी बनता है, चिन्ता से ऊपर उठे होने से वह ठीक से सोता है, पाप के प्रति वह क्रोध कर पाता है, लोगों की दृष्टि में वह सदा श्लाघा के योग्य जीवनवाला होता है, सुन्दर रूपवाला होता है और उत्तम ज्ञानवाला होता है।

भावार्थ—एक आदर्श जीवनवाले पुरुष के शरीर में प्राणापान होते हैं और विद्याभ्यास से बढ़ा हुआ ज्ञान उसे मधुर व शक्तिसम्पन्न बनाता है। यह सुमार्ग से उत्तम धनों का अर्जन करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

मधु भेषजम्

इन्द्रायेन्दुᳬसरस्वती नराशᳬसेन नग्नहुम्।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते॥५७॥

१. **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्दुम्**=सोम को, (इन्द् to be powerful या इन्द् परमैश्वर्य) शक्ति व ज्ञानरूप परमैश्वर्य के कारणभूत इस सोम को धारण करती है। सोम को यहाँ इन्दु कहा गया है, चूँकि यह सोम शक्ति व परमैश्वर्य का कारण बनता है। मनुष्य जब ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है तब यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. यह सरस्वती ही इस इन्द्र को **नराशंसेन**=(नरै आशंसनीयेन) मनुष्यों से चाहनेयोग्य इस यज्ञ से **नग्नहुम्**=(नग्नः सन् जुहोति) अपनी आवश्यकताओं को कम करके आहुति देनेवाला, दान देनेवाला बनाती है। ज्ञान से मनुष्य भौतिक वृत्तियों से ऊपर उठता हुआ खूब देने की वृत्तिवाला बनता है। ३.

इस इन्द्र के लिए ही **भिषजा अश्विना**=रोगों के चिकित्सक प्राणापान **सुते**=शरीर में सोम का उत्पादन होने पर **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध को **अधाताम्**=धारण करते हैं। अथवा इस **मधु**=शहदरूप औषध को धारण करते हैं, अर्थात् प्राणापान की शक्ति के साथ इस मधु का मात्रा में प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध हो जाता है। शहद की सामान्यत: मात्रा गर्मियों में १८ ग्राम व सर्दियों में ३० ग्राम हो सकती है।

भावार्थ—१. ज्ञान का उपासक पुरुष सोम की रक्षा के द्वारा शक्तिसम्पन्न बनता है। २. यज्ञियवृत्ति को धारण कर, अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर, दान देता है ३. प्राणापान इसके वैद्य बनते हैं, ४. मात्रा में किया गया मधु का प्रयोग इनके लिए सर्वोत्तम औषध बन जाता है।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्रा:**। छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

इष–ऊर्ज–रयि

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।
इडाभिरश्विनाविषꣳसमूर्जꣳसꣳरयिं दधु:॥५८॥

१. **आजुह्वाना**=(आह्वयन्ती) प्रभु का आह्वान (पुकार) करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियशक्तियों को अथवा ५६वें मन्त्र की व्याख्या में प्रदर्शित सात धनों को तथा **वीर्यम्**=वीर्य को धारण करती है। ज्ञान और प्रभु–उपासना के मिल जाने पर मानव जीवन में सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करके यह वीर्यवान् बनता है। २. **इडाभि:**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अश्विना**=प्राणापान **इषं सन्दधु:**=सम्यक्तया प्रेरणा प्राप्त कराते हैं **ऊर्जम्**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए इसमें बल व प्राणशक्ति का आह्वान करते हैं और **रयिम्**=प्रेरणानुसार कार्य कर सकने के लिए उचित धन का **सन्दधु:**=सम्यक्तया धारण करते हैं। ३. 'इडाभि:' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा की भावनाओं से' भी होता है। प्राणापान श्रद्धा की भावनाओं के होने पर, इसे प्रेरणाशक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं। ४. प्रस्तुत मन्त्र में सरस्वती का विशेषण 'आजुह्वाना' ज्ञान के साथ उपासना को जोड़ रहा है तथा अश्विना के साथ 'इडाभि:' यह पद बल के साथ श्रद्धा के मेल का विधान कर रहा है। बल के साथ श्रद्धा होने पर ही प्रेरणाशक्ति व धन का लाभ है। एवं, ज्ञान व बल दोनों के साथ श्रद्धा व उपासना का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी सरस्वती प्रभु को पुकारती हुई हो, ज्ञान उपासना से जुड़ा हो तथा हमारी प्राणाशक्ति के साथ श्रद्धा का मेल हो। हम उन्नत शक्तिवाले बनें, श्रद्धा से युक्त हों।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्रा:**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

नमुचि का सोम

अश्विना नमुचे: सुतꣳसोमꣳशुक्रं परिस्रुता।
सरस्वती तमा भरद् बर्हिषेन्द्राय पातवे॥५९॥

१. **अश्विना**=ये प्राणापान **नमुचे:**=(न+मुचि) न परित्याग करनेवाले के, अर्थात् अपव्यय न करनेवाले के **सुतम्**=उत्पन्न हुए–हुए **सोमम्**=सोम को **परिस्रुता**=शरीर में चारों ओर स्रुत व व्याप्त करनेवाले होते हैं। शरीर में व्याप्त हुआ–हुआ यह सोम **शुक्रम्**=उनके जीवन को (शुक् दीप्तौ) दीप्त बनानेवाला होता है और (शुक् गतौ) उन्हें क्रियाशील

बनाता है। (क) यहाँ 'नमुचि' शब्द अभिमानरूप आसुर भावना के लिए न आकर उस पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्यर्थ के भोगविलास में वीर्य का परित्याग नहीं करता। (ख) इस पुरुष के वीर्य को प्राणापान ऊर्ध्वगति देकर सारे शरीर में व्याप्त कर देते हैं। (ग) शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम उस पुरुष के जीवन को उज्ज्वल बनाता है, और उसे खूब क्रियाशील बने रहने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. अब **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **तम्**=उस शरीर में व्याप्त किये गये सोम को **बर्हिषा**=वासनाशून्य हृदय के साथ व इस निर्वासन हृदय के द्वारा **इन्द्राय**=इन्द्र के लिए **आभरत्**=धारण करती है **पातवे**=जिससे वह अपना रक्षण कर सके। ज्ञान में लगा हुआ पुरुष इस सोम का शरीर में बड़ा सुन्दर सद्व्यय कर पाता है। इस प्रकार शरीर में ही व्ययित हुआ-हुआ सोम उसका संरक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से सोम का शरीर में ही व्यापन करें, वहाँ यह ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में व्ययित हो और इस प्रकार यह सोम उस सोमपान करनेवाले की रोगों से रक्षा करनेवाला बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

विस्तृत द्वार

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः।
इन्द्रो न रोदसीऽउभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥६०॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणापान की साधना से **दुरः**=शरीर के 'मुख+पायुः+उपस्थ+ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वार **कवष्यः**=(कूयन्ते स्तूयन्ते) बड़े स्तुत्य हों। 'कवष्यः' शब्द का अर्थ ढाल भी है। ये द्वार मनुष्य के लिए ढाल का काम करें। उसे शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाले हों। मुख व पायु के ठीक कार्य करने पर मनुष्य रोगों से बचा रहता है, उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र के ठीक कार्य करने पर मनुष्य अध्यात्म दृष्टि से उन्नत होता है और वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. **न**=और ये द्वार (समुच्चयार्थीयो नकारः—उ०) **व्यचस्वतीः**=(व्याप्तिमत्यः—द०) व्याप्ति व विस्तारवाले हों। ये अपने-अपने कार्य को करने की विस्तृत शक्तिवाले हों। ३. **न**=और ये द्वार **दिशः**=(दिश् to direct) जीवन को बड़ा सुव्यवस्थित करनेवाले हों। ४. **न**=और इन उत्तम द्वारोंवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का—मस्तिष्क व शरीर का **दुहे**=प्रपूरण करे। इनकी कमियों को दूर करके इनमें क्रमशः ज्ञान व शक्ति को भरे तथा ५. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **कामान् दुहे**=सब इष्ट कामनाओं को पूरण करे। ज्ञान से हमारी कामनाएँ पवित्र तो हों ही, उन कामनाओं का हम पूरण भी कर सकें।

भावार्थ—'मुख-पायु-उपस्थ व ब्रह्मरन्ध्र'रूपी चारों द्वारा स्तुत्य व विस्तारवाले हों। ये हमारे जीवनों को बड़ा व्यवस्थित करनेवाले हों। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का उचित पूरण करें तथा ज्ञान द्वारा सब इष्ट कामनाओं को सिद्ध करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

शक्ति व सौन्दर्य

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रꣳसायमिन्द्रियैः।
संजानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥६१॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के विजेता पुरुष को **उषासानक्तम्**=उषःकाल में तथा रात्रि में, अर्थात् रात्रि के आरम्भ से रात्रि के अन्त तक तथा **दिवा-सायम्**=दिन के प्रारम्भ से दिन के अन्त, अर्थात् सायंकाल तक **इन्द्रियैः**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से अथवा इन्द्रियों के धनों से **समञ्जाते**=अलंकृत करते हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन्द्रियाँ सदा सशक्त बनी रहती हैं। २. ये ही प्राणापान **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता से, अर्थात् ज्ञान से **संजानाने**=संज्ञान व ऐकमत्यवाले होकर **सुपेशसा**=(पेशस्=Shape आकृति) उत्तम रूप से, सौन्दर्य से, **समञ्जाते**=सुभूषित करते हैं। प्राणापान के साथ ज्ञान के मिल जाने पर सारा जीवन सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान से हमें इन्द्रियों की शक्ति व सौन्दर्य प्राप्त हो। क्षत्र व ब्रह्म दोनों सङ्गत होकर हमारे जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दैव्या होता

पातं नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तꣳसरस्वति।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳसचासुते ॥६२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दिवा**=दिन में **नः**=हमारी **पातम्**=रक्षा कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से दिन में हम अपने व्यवहारों को शक्तिपूर्वक करते चलें। आपके कारण हम अनथक बने रहें, थककर लेट न जाएँ। 'दिवा' शब्द 'दिव्=व्यवहारे' धातु से बनकर स्पष्ट संकेत कर रहा है कि यह सोने के लिए नहीं है, यह तो उचित व्यवहारों को निरन्तर करने के लिए है। २. हे **सरस्वति** =ज्ञानाधिदेवते! **नक्तम्**=रात्रि में **पाहि**=हमारी रक्षा कीजिए। जब कभी हमें जीवन में अन्धकार-सा दृष्टिगोचर हो तब आप हमें प्रकाश देनेवाली हों। आपकी कृपा से हम उलझें नहीं, उदास न हों। हमारे जीवन में अज्ञानान्धकार की रात्रि न आये। ३. हे **दैव्या होतारा**=(प्राणापानौ वै दैव्यौ होतारौ—ऐ० ३।४) प्राणापानो! आप दानपूर्वक अदन करनेवाले हो, अतएव **देव्यौ**=उस देव को प्राप्त करानेवाले हो अथवा हमारे अन्दर दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले हो। **भिषजा**=आप तो हमारे सब रोगों के चिकित्सक हो। आप तो **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सचा**=मिलकर **पातम्**=रक्षित करते हो। प्राणापान की क्रिया जब परस्पर मिलकर ठीक प्रकार से चलती है तब ये (क) वीर्य की ऊर्ध्वगति करते हैं, (ख) स्वयं न खाते हुए सब इन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिए भोजन का पाचन करते हैं, (ग) हमारे अन्दर दिव्य गुणों का विकास करते हैं और उस देवाधिदेव परमात्मा से हमें मिलाते हैं, (घ) हमें पूर्ण नीरोग बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारी दिन-रात रक्षा करते हैं। सरस्वती हमारे अन्धकार को दूर करती है। इन सबकी कृपा से हम नीरोग बन व दिव्य गुणों को प्राप्त कर देव=परमात्मा को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तीव्रम् मदम्

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥६३॥

१. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता, **भारती**=वाणी तथा **इडा**=श्रद्धा **त्रेधा** =जो तीन प्रकार से अवस्थित हैं, 'सरस्वती' द्युलोक में, 'इडा' (श्रद्धा) अन्तरिक्षलोक में तथा 'भारती' इस पृथिवीलोक में, इन तीन देवियों के साथ **अश्विना**=प्राणापान **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **परिस्रुता**=(परिता स्रवणेन) शरीर में व्यापन के द्वारा **तीव्रम्**=बुद्धि की तीव्रता के सम्पादन करनेवाले (पटुत्वकरम्–उ०) तथा **मदम्**=हृदयान्तरिक्ष में उल्लास को पैदा करनेवाले **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **सुषुवुः**=पैदा करते हैं। २. अन्न के सेवन से शरीर में रसादि के क्रम से सोम की उत्पत्ति होती है। यह सोम शरीर में ही व्याप्त रहे, शरीर का ही अङ्ग बन जाए, इसके लिए आवश्यक है कि हम (क) स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ, सरस्वती की आराधना करें, (ख) प्राणापान की साधना करें, प्राणायाम के अभ्यासी हों (अश्विना), (ग) वाणी को नियन्त्रित रक्खें। यह औरों का भरण-पोषण करनेवाली हो, उत्साहवर्धक, प्रशंसात्मक शब्द ही बोले। कभी क्रोधभरे शब्द न निकाले। ब्रह्मचारी के लिए क्रोध वर्जित है, (घ) हम श्रद्धायुक्त मनवाले हों। हमारा श्रद्धासम्पन्न हृदय सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। वह वासनाओं का क्षेत्र न बने। ३. इस प्रकार 'स्वाध्याय, प्राणसाधना, क्रोधशून्य मधुर वाणी व श्रद्धा' इन साधनों से सोम के शरीर में ही व्याप्त होने पर मनुष्य (क) तीव्र बुद्धि बनता है (तीव्रम्), (ख) उसका जीवन उल्लासमय होता है (मदम्), (ग) इन दो लाभों के अतिरिक्त उसका शरीर भी बड़ा स्वस्थ बनता है। इसी स्वास्थ्य के वर्णन से अग्रिम मन्त्र का प्रारम्भ होगा।

भावार्थ—सोम मनुष्य को तीव्र बुद्धि व उल्लासमय जीवनवाला बनाता है। 'यह शरीर में ही सुरक्षित रहे', इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील हों, प्राणापान के अभ्यासी हों, वही वाणी बोलें जो क्रोधशून्य हो तथा हृदय में श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत हों।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशः-श्रीः रूपम्

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳरूपꣳरूपमधुः सुते॥६४॥

१. गतमन्त्र में सोम के शरीर में परिस्रुत होने पर बुद्धि की तीव्रता व हृदय में उल्लास होने का उल्लेख किया था। प्रस्तुत मन्त्र में इस सोम की रक्षा से शरीर में सब प्रकार की नीरोगता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **अश्विना**=ये प्राणापान उस सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हैं और इस प्रकार **मधु भेषजम्**=अत्यन्त माधुर्यमय औषध बन जाते हैं। शरीर में कोई रोग नहीं आता, आता भी है तो ये प्राणापान उसकी शीघ्र ही चिकित्सा कर देते हैं। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता भी **नः**=हमारे लिए **भेषजम्**=कितनी सुन्दर औषध बनती है। यह हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कराती है जो हमें इस संसार में होनेवाले ईर्ष्या-द्वेष व पारस्परिक कलहों में नहीं फँसने देता। ३. इस स्थिति में जबकि प्राणापान शारीरिक रोगों के लिए औषध बनते हैं तथा सरस्वती की आराधना मानस रोगों को दूर करनेवाली होती है तब इस **इन्द्रे** =सब रोगादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले पुरुष में **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे जीवनों में दिव्यता का निर्माण करनेवाला प्रभु **यशः**=यश को **अधुः**=स्थापित करता है। ४. यह प्रभु, अश्विनीदेव तथा सरस्वती **श्रियम्**=श्री को, शोभा को तथा **रूपंरूपम्**=प्रत्येक अङ्ग में सौन्दर्य को **अधुः** =स्थापित करते हैं, परन्तु

यह सब होता तभी है जब **सुते**=सोम का उत्पादन होता है।

भावार्थ—प्राणापान तथा ज्ञान हमारे रोगों के औषध होते हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन यश, श्री व रूपसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रः

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥६५॥

१. 'पिछले मन्त्र के अनुसार अपने में सोम का उत्पादन करनेवाला इन्द्र कैसा बनता है', इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार करते हैं—**ऋतुथा**=वह ऋतु के अनुसार चलता है, ऋतु के अनुकूल अपना आहार-विहार रखता है। २. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता व जितेन्द्रिय बनता है। ३. **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है। ४. **शशमानः**=तीव्र गतिवाला होता है, किसी कर्म में आलस्य नहीं करता और ५. इसके जीवन में **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के साथ **परिस्रुता**=शरीर में सोम के परितः स्रवण=(व्यापन) के द्वारा **कीलालम्**=बन्धन को, उस परमात्मा के साथ सम्बन्ध को तथा **मधु**=माधुर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। इस प्रकार इसके लिए यह सरस्वती **धेनुः**=आप्यायन करनेवाली होती है। इसकी सब शक्तियों के वर्धन का कारण बनती है। ६. इन्द्र वह है जो समयानुसार कार्य करता है, ज्ञानरश्मियोंवाला होता है तथा द्रुत गतिवाला होता है, कार्यों में कभी आलस्य नहीं करता। ७. प्राणापान की साधना तथा स्वाध्याय इसे व्रतों के बन्धन में बाँधकर प्रभु के मार्ग पर ले-चलते हैं। इसके जीवन में माधुर्य का कारण बनते हैं। सरस्वती की आराधना इसके आप्यायन का कारण बनती है। ८. ऊपर की सब बातें तभी हैं जब सोम का शरीर में ही परितः स्रवण व व्यापन हो।

भावार्थ—सोमी ऋतु के अनुसार आचरण करता है, जितेन्द्रिय बनता है, ज्ञानी व तीव्र गतिवाला होता है, प्राणापान की साधना से परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुतं-मधु

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता।
समधातꣳसरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥६६॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः न**=(नश्चार्थे—म०) ज्ञानेन्द्रियों के साथ अथवा ज्ञान की वाणियों के साथ **सोमम्**=सोम को **समधातम्**=धारण करते हैं। २. **परिस्रुता**=सोम के परितः-स्रवण व व्यापन के साथ **मासरेण**=(मासेषु रमणं) प्रत्येक मास में रमण के साथ सोम को धारण करते हैं, अर्थात् शरीर में सोम का व्यापन होने पर सारे महीने व सारी ऋतुएँ अच्छी-ही-अच्छी लगती हैं। ३. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **सुतम्**=सोम को तथा **मधु**=माधुर्य को धारण करती है। ४. यदि हम चाहते हैं कि (क) हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक बनी रहें, हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों (गोभिः), (ख) हमें सब मास अच्छे-ही-अच्छे लगें (मासरेण), (ग) हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए हों (मधु) तो आवश्यक है कि हम प्राणापान की साधना करें (अश्विना), स्वाध्यायशील हों (सरस्वती), हममें स्वार्थत्याग की भावना हो (स्वाहा)।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने जीवन को ज्ञानसम्पन्न, प्रसन्नता से युक्त मनवाला तथा माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्रा:**। छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु-मघ

अश्विना हविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती।

आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे ॥६७॥

१. **अश्विना**=प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नमुचे:**=(न-मुचि, धर्ममत्यजत) धर्म को, अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले प्रभु के **धिया**=ध्यान व ज्ञान के द्वारा **हवि:**=त्यागपूर्वक अदन की भावना को और **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को तथा **शुक्रम्**=जीव को शुद्ध (शुच्) व सक्रिय (शुक्) बनानेवाले वीर्य को, **वसु**=उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को तथा **मघम्**=पापशून्य, सुपथ से अर्जित ऐश्वर्य को **आसुरात्**=उस प्राणाशक्ति के देनेवाले प्रभु से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आजभ्रिरे**=प्राप्त कराए २. मानव जीवन की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण पग प्राणसाधना (प्राणायाम्) व स्वाध्याय हैं। ३. इनसे मनुष्य में (क) त्यागपूर्वक अदन की भावना उत्पन्न होती है। इन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। (ख) वीर्य स्थिर होता है जो उसके जीवन को शुद्ध व क्रियाशील बनाता है। (ग) उत्तम निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उसमें विकसित होते हैं और (घ) उसे सुपथ-अर्जित ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा अश्विनीदेवों व सरस्वती की आराधना करें, जिससे हमारा जीवन 'हवि-इन्द्रिय-शुक्र-वसु व मघ' से सुशोभित हो।

ऋषि:—**विदर्भि:**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्रा:**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**॥

वल व मघ का विदारण

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्द्धयन्।

स बिभेद वलं मघं नमुचावासुरे सचा ॥६८॥

१. **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=इन्द्र को **अश्विना**=प्राणापान व **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **हवि**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं **स:**=वह इन्द्र **आसुरे**=उस प्राणशक्ति के लेनेवाले **नमुचौ**=कभी भी अपने धारणात्मक व्रत को न छोड़नेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहता हुआ, अर्थात् कभी भी उस प्रभु से अपने को अलग न करता हुआ **वलं मघम्**=शक्ति व ऐश्वर्य को **बिभेद**=विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् किसी भी शक्ति से भयभीत नहीं होता और किसी के ऐश्वर्य से प्रलुब्ध नहीं होता। अथवा यह बल व मघ के रिकार्ड को तोड़नेवाला बनता है, अर्थात् सर्वाधिक बल व ऐश्वर्य को प्राप्त होनेवाला है। २. स्पष्ट है कि प्राणायाम व स्वाध्याय से 'हवि' की वृत्ति—त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति बढ़ती है। इस वृत्ति से मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता है, प्रभु का उपासक बनता है। इस उपासना से उसका बल व ऐश्वर्य बढ़ता है।

भावार्थ—हमारी प्राणासाधना व स्वाध्याय अविच्छिन्न रूप से चलें, हममें हवि व यज्ञ की वृत्ति हो, हम प्रभु के उपासक बनें और बल व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पशवः—अश्विना—सरस्वती

तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधानाऽअभ्यनूषत हविषा यज्ञऽइन्द्रियैः॥६९॥

१. गतमन्त्र के 'यं इन्द्रम्' शब्द का प्रस्तुत मन्त्र में 'तं इन्द्रम्' से उल्लेख करते हैं। **तम् इन्द्रम्**=उस इन्द्र को **पशवः**=काम-क्रोध आदि पशु **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान तथा **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता—ये सब **सचा**=मिलकर **दधानाः**=धारण करते हुए **यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **इन्द्रियैः**=(वीर्यैः) इन्द्रियशक्तियों से **अभ्यनूषत**=बढ़ाते हैं (नूषतिर्वृद्ध्यर्थम्) अथवा स्तुत करते हैं (नू स्तवने)। २. 'काम' शत्रु है, परन्तु यही नियन्त्रित हुआ-हुआ पुरुषार्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'क्रोध' शत्रु है परन्तु वही क्रोध विचारपूर्वक होने पर मन्यु होता है और वाञ्छनीय हो जाता है। ये काम व मन्यु जीवन में उन्नति के लिए सहायक होते हैं, इसीलिए मनु ने लिखा है कि **'न चैवेहास्त्यकामता'**=अकामता के लिए इस जीवन में कोई स्थान नहीं है। सब ज्ञान व यज्ञ काम से ही हुआ करते हैं। प्राणायाम इन्द्रियदोषों को दूर करता है। स्वाध्याय बुद्धि का शोधन करता है। ३. इस प्रकार ये पशु, प्राणापान व ज्ञान मनुष्य का धारण करते हुए उसका वर्धन करते हैं, उसके जीवन में हवि होती है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—हवि व इन्द्रिय-शक्तियों से हमारा जीवन स्तुत्य बने।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सविता-वरुणो-भगः

यऽइन्द्रऽइन्द्रियं दधुः सविता वरुणो भगः।
स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत॥७०॥

१. **ये**=जो **सविता**=निर्माण की देवता, **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता तथा **भगः**=(भज सेवायाम्) उपासना की वृत्ति **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **इन्द्रियम्**=वीर्य को, इन्द्रियशक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं तो २. **सः**=वह इन्द्र **सुत्रामा**=(सु+त्रा) बड़ी उत्तमता से अपना त्राण करनेवाला, अर्थात् नीरोग बनता है। यह ३. **हविष्पतिः**=हवि का रक्षक होता है। इसके मन में देकर खाने की वृत्ति होती है और यह इन्द्र ४. **यजमानाय**=इस सृष्टियज्ञ को चलानेवाले के लिए **सश्चत**=(सेवताम्) सेवन करनेवाला बने। ५. सदा निर्माण की क्रिया में लगे रहने से, निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहने से यह स्वयं सविता बनता है और अपने शरीर की रक्षा कर पाता है। एवं, यह सुत्रामा होता है। ६. ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर यह 'वरुण' होता है और सबके साथ प्रेम होने से मिलकर खाता है। इसी को यहाँ 'हविष्पति' बनना कहा है। ७. **भगः**=उपासना से यह उस यजमान को, सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सविता, वरुण व भग की कृपा से हम 'सुत्रामा, हविष्पति व प्रभुसेवी' बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वसु-बलम्-इन्द्रियम्

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम्॥७१॥

१. **सविता**=निर्माण की देवता तथा **वरुणः**=द्वेषनिवारण की देवता **यजमानाय**=यज्ञशील **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, देनेवाले के लिए **दधत्**=धारण करते हैं, अर्थात् यदि हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाते हैं तो हमारा जीवन यज्ञशील बनता है, हममें देने की वृत्ति बनी रहती है और इस प्रकार ये सविता व वरुण हमारा धारण करनेवाले हो जाते हैं। २. यह सविता व वरुण से धारण किया गया **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाला इन्द्र **नमुचेः**=धारणात्मक कर्म का कभी परित्याग न करनेवाले प्रभु से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को, **बलम्**=शक्ति को तथा **इन्द्रियम्**=वीर्य को **आदत्त**=ग्रहण करता है।

भावार्थ—निर्माणात्मक कार्यों में लगना व ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठना मनुष्य को यज्ञशील व दाश्वान् (दान देनेवाला) बनाते हैं। अपना त्राण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष 'वसु, बल व इन्द्रिय' को प्रभु से प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**इन्द्रसवितृवरुणाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यशसा-बलम्

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगेन सविता श्रियम्।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना यज्ञमाशत ॥७२॥

१. **वरुणः**=द्वेष के निवारण की देवता **क्षत्रं इन्द्रियम्**=रोगरूप क्षतों (प्रहारों) से त्राण करनेवाले बल तथा इन्द्रियशक्तियों को धारण करती है। हम द्वेष से ऊपर उठते हैं तो तेजस्वी व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न बनते हैं। २. **सविता**=निर्माण की देवता **भगेन**=उपासना के साथ **श्रियम्**=श्री को धारण करती है, अर्थात् हम निर्माण के कार्यों में लगे रहते हैं और प्रभु का स्मरण नहीं छोड़ते तो हमारे सब कार्य श्रीसम्पन्न होते हैं। ३. **सुत्रामा**=अपना उत्तम त्राण करनेवाले व्यक्ति **यशसा बलम्**=सदा यश के साथ बल को **दधाना** =धारण करने के हेतु से **यज्ञम् आशत**=यज्ञ को व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा यज्ञों में लगे रहते हैं। यह यज्ञों में लगे रहना ही उनके यश व बल का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें और बल व इन्द्रियशक्तिसम्पन्न हों। प्रभु-स्मरणपूर्वक निर्माण के कार्यों में लगे रहें और श्रीसम्पन्न बनें। सुत्रामा=अपने को रोगादि से बचानेवाला पुरुष यशस्वी बल के लाभ के लिए जीवन को सदा कर्मों में व्याप्त रखता है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

गौः-अश्व

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम्।
हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्द्धयन् ॥७३॥

१. **अश्विना**=प्राणापान **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अथवा वेदवाणियों के द्वारा **इन्द्रियम्**=बल को, इन्द्रियों की शक्ति को, **वर्धयन्**=बढ़ाते हैं। २. **अश्वेभिः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा अथवा कर्मों में व्यापन के द्वारा **वीर्यम्**=शरीर में रोगों का प्रतीकार करनेवाली शक्ति को तथा **बलम्**=बल को बढ़ाते हैं। ३. **सरस्वती** =ज्ञानाधिदेवता **हविषा**=हवि के द्वारा **यजमानम्**=यज्ञशील, यज्ञ के स्वभाववाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को बढ़ाती है। ज्ञान से मनुष्य के अन्दर अकेले खा लेने की वृत्ति नष्ट होती है और वह हविर्मय जीवनवाला बन जाता है। ४. प्राणापान की साधना ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को निर्दोष बनाकर उनकी शक्ति को

बढ़ाती है। प्राणापान के ठीक कार्य करने पर मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त किये रखता है। इस प्रकार इस प्राणसाधना से उसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणायाम से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष बन बढ़ी हुई शक्तिवाली होती हैं और ज्ञान-प्राप्ति से हमारी यज्ञियवृत्ति का विकास होता है, हम हविरूप हो जाते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

नासत्या

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥७४॥

१. **ता**=पिछले मन्त्र में बारम्बार उल्लिखित अश्विनीदेव **नासत्या**=(न असत्यौ) असत्य नहीं हैं। इनके उपासक की स्थिति सत्य-ही-सत्य होती है। इनका उपासक असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करता है। २. **सुपेशसा**=ये उपासक को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सुन्दररूप प्रदान करते हैं। ३. **हिरण्यवर्तनी**=ये उपासक के मार्ग को ज्योतिर्मय करते हैं (हिरण्यं वर्तनिर्यस्यां)। उपासक की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर उसे ज्योति प्राप्त कराते हैं। उसका जीवन-मार्ग अन्धकारमय नहीं होता। ४. **नरा**=(नेतारौ) इस प्रकार ये अपने आराधक को उन्नतिपथ पर आगे-और-आगे ले-चलते हैं। ५. इनके लिए **सरस्वती**=ज्ञान की देवता **हविष्मती**=प्रशस्त हविवाली होती है, अर्थात् ज्ञान इनके जीवन को हविर्मय बना देता है। ६. इस प्रकार प्राणसाधना से 'सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय-उन्नतिपथ' वाले बनकर तथा ज्ञान से हविर्मय जीवनवाले बनकर हे प्रभो! हम आपसे प्रार्थना करते हैं—हे **इन्द्र**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! **कर्मसु**=हमारे कर्म करने पर आप **नः**=हमें **अवत**=सुरक्षित कीजिए। हम कर्म करें और आपकी कृपा के पात्र बनें।

भावार्थ—प्राण हमें सत्य-सुन्दर-प्रकाशमय व उन्नत बनाएँ। ज्ञान हममें त्याग की भावना भरे। कर्मशील बनकर हम प्रभु की कृपा के पात्र बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वृत्रहा-शतक्रतुः

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥७५॥

१. **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के द्वारा, अर्थात् जब हम उत्तमता से कर्मों में व्याप्त रहते हैं तब **ता**=वे अश्विनीदेव **भिषजा**=हमारे चिकित्सक बनते हैं। कर्मशीलता से प्राणापान की शक्ति इस प्रकार बढ़ती है कि हमें रोग सताते ही नहीं, कोई रोग आता भी है तो शीघ्र नष्ट हो जाता है। २. इसी प्रकार **सुकर्मणा**=उत्तम कर्मों के होने पर **सा सरस्वती**=वह ज्ञानाधिदेवता **सुदुघा**=हमारा उत्तमता से पूरण करनेवाली बनती है। जब हम ज्ञान के अनुसार कर्म करते हैं तब हमारी सब बुराइयाँ दूर होकर हमारे अन्दर अच्छाइयाँ बढ़ती चलती हैं। ३. **सः**=वह उत्तम कर्मों से प्राणों व ज्ञान की साधना करनेवाला व्यक्ति **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरणभूत सब वासनाओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शत-क्रतुः**=यह सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बिताता है। ४. संक्षेप में, ये अश्विनीदेव तथा सरस्वती **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के लिए **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—जब हम उत्तमता से कर्मों में लगेंगे तब प्राणापान हमारे वैद्य होंगे। हमें ये नीरोग रखेंगे तथा ज्ञान हममें उत्तमता का पूरण करेगा। हम वासना को नष्ट कर यज्ञशील बनेंगे। हमारी सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न होंगी।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सुराम इन्द्र

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥७६॥

१. **अश्विना**=हे अश्विनीदेवो! **युवम्**=तुम दोनों तथा **सरस्वति**=ज्ञानाधिदेवते! **नमुचौ** =अपने धारणात्मक कर्म को न छोड़नेवाले **आसुरे**=प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **सुरामम्**=(सुष्ठु रमते) उत्तमता से रमण व क्रीड़ा करनेवाले, संसार के सारे व्यवहारों को क्रीड़ारूप में ग्रहण करनेवाले, अतएव न खिझनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **विपिपानाः** =विशेषरूप से रक्षित करते हुए **कर्मसु**=कर्मों में **आवत**=प्रीणित करो। यह इन्द्र कर्मों में आनन्द का अनुभव करे। २. इन्द्र वह है जो (क) संसार के सब व्यवहारों को करता हुआ प्रभु में स्थित होता है। यह प्रभु ही उसका वस्तुतः धारण कर रहे हैं और उसे सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। यह कभी खिझता नहीं। ३. इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ४. यह इन्द्र प्राणापान की साधना करता है और सरस्वती की आराधना करता है। 'प्राणायाम व स्वाध्याय' इसके नैत्यिक कर्त्तव्य हैं। ५. यह सदा कर्मों में लगा रहता है। कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के साथ रहें। किसी भी कर्म को करते हुए प्रभु को भूल न जाएँ। संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़ारूप में लें, क्रियाशील बनें।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

काव्य+दंसना

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥७७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **पितरौ पुत्रम् इव**=जैसे माता-पिता पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार **उभौ अश्विनौ**=ये दोनों अश्विनीदेव **काव्यैः**=तत्त्वज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करने पर तेरी बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्मविषयों का दर्शन करनेवाली बनती है और तेरी मानसवृत्ति पवित्र होकर तुझे सदा उत्तम कर्मों में झुकाववाला करती है और २. **यत्**=जब **सुरामम्**=इस (सुष्ठु रम्यम्) अत्यन्त रमणीय, हितकर सोम का तू **व्यपिबः**=पान करता है तब **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक होनेवाले कर्मों से हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्** =उपसेवित करती है। ३. शरीर में सोम की रक्षा का यह लाभ होता है कि (क) मनुष्य यज्ञियवृत्तिवाला बनता है (मघवन्) (ख) उसकी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह सदा प्रज्ञापूर्वक पवित्र कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—१. प्राणापान हमारी इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे माता-पिता पुत्र की। प्राणसाधना करने पर मनुष्य कवियों की दृष्टि प्राप्त करता है, उत्तम कर्मों में व्यापृत होता है। २. इस प्राणसाधना से सोम (वीर्य) का रक्षण होने पर ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवन को

प्रज्ञापूर्वक कर्मों से उपसेवित करती है और हम पापशून्य ऐश्वर्यवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अग्निहोत्र

**यस्मिन्नश्वासऽऋषभासऽउक्षणो वशा मेषाऽअवसृष्टासऽआहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये॥७८॥**

१. उस **अग्नये**=अग्नि के लिए **हृदा**=हृदय से, अर्थात् श्रद्धा से **चारुम्**=सुन्दर **मतिम्**=स्तोत्र को **जनय**=उत्पन्न कर, अर्थात् अग्निहोत्र करते हुए तू श्रद्धापूर्वक सुन्दर स्तवन करनेवाला बन। २. उस अग्नि के लिए **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(तरवी अश्वगन्धायां तुरगश्चिद्वाजिनोः) अश्वगान्धा नामक ओषधि **ऋषभासः**=(शृंगी तु, ऋषभो वृषः) काकड़ासिंगी नामक ओषधि **उक्षणः**=(One of the eight chief medicines आप्टे) सर्वोत्तम आठ ओषधियों में से एक, उक्षा नामक ओषधि **वशा**=(offering, कामिताहुतिः—द०) एक अत्यन्त वाञ्छनीय औषध **मेषाः**=(Small cardmons आप्टे) छोटी इलायची—ये **अवसृष्टासः**=(to form, create) सम्यक्तया तैयार की जाती हैं और **आहुताः** =आहुत की जाती हैं। ये सब ओषधियाँ रोगनिवारक व रोगकृमियों की संहारक हैं। इनके विशिष्ट गुणों के कारण इनकी सामग्री के साथ आहुतियाँ दी जाती हैं। २. उस **कीलालपे** =(कीलालं =रुधिरं) रुधिर की रक्षा करनेवाली अग्नि के लिए। यह अग्नि उत्तम ओषधियों के सूक्ष्म कणों से रुधिर को एकदम शुद्ध कर देती है। ३. **सोमपृष्ठाय** =सोम की आधारभूत अग्नि के लिए, अर्थात् शरीर में रुधिर आदि के शोधन के द्वारा यह अग्नि सोम (वीर्य) को सुरक्षित करती है। अथवा जिसमें सोमलता की आहुतियाँ दी जाती हैं (सोमाहुतयो यस्य पृष्ठे हूयन्ते) उस **वेधसे**=(विदधाति शुभं करोति, शुभमतिः) बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले अग्नि के लिए स्तोत्रों को कर।

भावार्थ—अग्निहोत्र से १. रोग दूर होते हैं। २. रुधिर शुद्ध होता है। ३. सोम की रक्षा होती है। ४. बुद्धि शुद्ध होती है।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

रयि-वीर्य-यश

**अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳरयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्॥७९॥**

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में आहुत अग्ने! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **हविः अहावि**=मुझ से घृत की आहुति दी जाती है। **स्रुचि इव घृतम्**=जैसे चम्मच में घी तथा **चम्वि इव सोमः**=यज्ञपात्र में जिस प्रकार सोम होता है। हवन की तैयारी के साथ ही 'हवि, घृत व सोम' आदि को एकत्र करता है और अग्नि से कहता है कि 'चम्मच में घृत है, यज्ञपात्र में सोम है और तेरे मुख में हवि है'। चम्मच में घृत सदा रहता है, चमू नामक यज्ञपात्र में सोम, इसी प्रकार तेरे मुख में मुझसे नित्य हवि डाली जाती है। मेरी यह होम की प्रक्रिया सतत रहती है, विच्छिन्न नहीं होती। २. हे अग्ने! इस प्रकार आहुत हुआ-हुआ तू (क) **वाजसनिम्**=अन्नादि आवश्यक सामग्री को प्राप्त करानेवाले **रयिम्**=धन को, (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=प्रशंसा के योग्य उत्तम शक्ति को, जिस शक्ति से मेरी प्रशंसा-ही-प्रशंसा होती है, उस शक्ति को तथा (ग) **बृहन्तं यशसम्**=सदा बढ़ते हुए यश को **अस्मे**=हमारे लिए

धेहि=धारण कर। अग्निहोत्र से वर्षा होकर अन्नादि की समृद्धि से धन बढ़ता है, रोगकृमियों के संहार से नीरोगता द्वारा बल बढ़ता है और त्यागवृत्ति की भावना बढ़ने से जीवन यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सतत होम के तीन लाभ हैं—१. समय पर वर्षा होने से अन्नादि के ठीक उत्पादन से धन की वृद्धि २. वायुशुद्धि व कृमिसंहार द्वारा नीरोगता से शक्ति की वृद्धि ३. तथा त्याग-भावना के वर्धन से यश की वृद्धि।

ऋषिः—**विदर्भिः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।

वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥८०॥

१. इस विदर्भि ऋषि के प्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि घरों में यज्ञादि के ठीक होने पर तथा वैयक्तिक रूप से 'प्राणसाधना-स्वाध्याय व जितेन्द्रियता के अभ्यास' के चलने पर **अश्विना**=ये प्राणापान **तेजसा चक्षुः**=तेजस्विता के साथ चक्षु-इन्द्रिय की शक्ति को **दधुः**=धारण करते हैं। प्राणापान की साधना से तेजस्विता की वृद्धि होती है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनती हैं। प्राणशक्ति की कमी होने पर आँख निर्बल हो जाती है और शरीर में अपान के कार्य के ठीक न होने पर आँख में मलिनता आ जाती है। एवं, आँख के ठीक रहने के लिए प्राणापान का कार्य ठीक रहना चाहिए। २. **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा 'प्र+अन्' उत्कृष्ट जीवन के साथ **वीर्यम्**=वीर्य को **इन्द्राय** =जितेन्द्रिय पुरुष के लिए धारण करती है। 'स्वाध्याय' मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट तो बनाता ही है, उसे वीर्यसंयम के योग्य भी बनाता है चूँकि उसका वीर्य उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर में उत्तमता से उपयुक्त हो जाता है। ३. इसी स्वाध्यायशील तथा प्राणसाधना करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **वाचा**=वेदवाणी के साथ तथा **बलेन**=उस वेदज्ञान को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति के साथ **इन्द्रियम्**=प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति व धन को धारण करता है। ४. यहाँ 'इन्द्र=इन्द्राय', 'इन्द्र' इन्द्र के लिए धारण करता है। इस वाक्य में कर्तृपद परमात्म-वाचक और सम्प्रदानपद जीव के लिए है। एवं, जीव व ब्रह्म का द्वैत स्पष्ट है। यह प्रभु अपने सखा जीव के लिए 'वेदवाणी, शक्ति व धन' सभी वस्तुएँ प्राप्त कराता है, जिससे वह जीव उन्नत होकर उस-जैसा बनने के लिए यत्नशील हो। यह जीव अपने में अधिकाधिक दिव्य गुणों का ग्रन्थन करनेवाला हो और अपने विदर्भि नाम को चरितार्थ करे।

भावार्थ—(क) प्राणापान की साधना हमें 'तेजस्विता व चक्षु' प्रदान करेगी, (ख) सरस्वती की आराधना से हमारा जीवन उत्कृष्ट वीर्यवान् होगा तथा (ग) प्रभु का उपासन हमें 'वेदवाणी, बल व जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन' प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमत्+अश्वावत्+नृपाय्य

गोमदू षु णासत्याश्वावद्यातमश्विना। वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम् ॥८१॥

१. पिछले मन्त्रों की भावना को क्रियारूप में लाने के लिए उत्तम राष्ट्र के आयोजन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अश्विना**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले राजा व सेनापति (सभासेनेशौ—द०) जोकि सदा जागरित होकर राजकार्यों में लगे हुए हैं, **नासत्या**=(न

असत्यौ) जो कभी असत्य व्यवहार नहीं करते तथा **रुद्रा**=(शत्रूणां रोदयितारौ) शत्रुओं के रुलानेहारे हैं। वे **वर्त्ती**=वेदप्रदिपादित मार्ग से उस राष्ट्र को **सुयातम्** =अच्छी प्रकार प्राप्त करें जो (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला है, जिसमें गोसंवर्धन के द्वारा उत्तम दूध की व्यवस्था से प्रजाओं की शारीरिक नीरोगता, मानस पवित्रता तथा मस्तिष्क की तीव्रता की व्यवस्था हुई है। (ख) **ऊ**=और **अश्वावत्**=जो उत्तम अश्वोंवाला है। राष्ट्र में उत्तम अश्वों के द्वारा जहाँ इधर-उधर जाने की व्यवस्था ठीक रहती है वहाँ ये उचित व्यायाम के साधन बनकर 'क्षात्रशक्ति' की वृद्धि का कारण बनते हैं। (ग) **नृपाय्यम्**=आप उस राज्य को प्राप्त कराओ जिसमें मनुष्यों का उत्तम रक्षण होता है। राष्ट्र में नियम-व्यवस्था इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें चोरी-डाके व हिंसा आदि उत्पातों का किसी प्रकार का भय न हो। लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करें।

भावार्थ—राष्ट्र गौवोंवाला हो, अश्वोंवाला हो, उसमें रक्षा का प्रबन्ध उत्तम हो, किसी प्रकार का भय न हो। राष्ट्र के अध्यक्ष कार्यव्यापृत, असत्य व्यवहार न करनेवाले व शत्रुओं के रोदक बलवाले हों। ऐसे राष्ट्र में ही सम्भव है कि 'गृत्समद' बनें (गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करें और प्रसन्न रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अनाधृष्ट

न यत्परो नान्तरऽआदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशꣳसो मर्त्यो रिपुः॥८२॥

१. राष्ट्र वही ठीक है **यत्**=जिसे **न परः**=न तो पराया, अर्थात् बाहर का शत्रु और **न**=न ही **आन्तरः**=अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=धर्षण करनेवाला बने या अभिभूत करके अपने वश में कर लें। राष्ट्र पर जहाँ बाह्य शत्रुओं का आक्रमण न होना चाहिए, वहाँ राष्ट्र को आन्तर शत्रुओं से सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। २. इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाले 'राष्ट्रपति व सेनापति' ही **वृषण्वसू**=राष्ट्र में उत्तम सुखों की वर्षा करनेवाले तथा प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाले होते हैं (वर्षतः वासयतः)। ३. इन 'वृषण्वसू' ने शत्रुओं का नाश करना है, शत्रुओं से राष्ट्र को बचाना है। बाह्य शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट ही है। आन्तर शत्रुओं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **दुःशंसः** =असद्वृत्त का शंसन करनेवाला और **मर्त्यः**=विषयों के पीछे मरनेवाला, उनके लिए अत्यन्त लालायित होनेवाला मनुष्य **रिपुः**=शत्रु है। एक व्यक्ति जुए, शराब या व्यभिचारादि को बड़े सुन्दर रूप में चित्रित करता है, तो राष्ट्रपति उसे रोके और उस व्यक्ति को दण्डित करे।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सेनापति का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की आन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें और राष्ट्र को अनाधृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

धन-श्री-ध्यान

ता नऽआ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम्॥८३॥

१. **ता अश्विना**=उल्लिखित प्रकार से राष्ट्र का निर्माण व रक्षण करनेवाले सभा व सेना के ईश राजाओ (शासको)! **नः**=हम सबके लिए **रयिम्**=धन व ऐश्वर्य को **आवोढम्**=सर्वत्र प्राप्त कराओ। यहाँ 'आ' शब्द प्रजा में सर्वत्र धन के उचित लाभ का उल्लेख कर रहा है। धन किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाए, इसकी

अपेक्षा यही ठीक है कि वह धन सारे राष्ट्र-शरीर में सर्वत्र समविभक्त होकर रहे। राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति निर्धन न हो। सभी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर सकें। २. 'यह धन कैसा हो?' इस प्रश्न का विवेचन करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गसन्दृशम्**=(पिशङ्गं पीतं सम्यक् दृश्यते, पीतवर्णं सुवर्णम् इत्यर्थः—म०) वह सुवर्णरूप हो। धन सुवर्ण के रूप में हो। अथवा जो धन हमारे जीवन को सुशोभित करनेवाला हो (पिश to adorn) तथा जिससे हमारा जीवन उत्तम दिखे। ३. यह धन **धिष्ण्या**=बुद्धि के साथ **वरिवोविदम्**=(येन परिचरणं विन्दति तम्—द०) उपासना को प्राप्त करानेवाला हो, अर्थात् यह धन हमारे अन्दर ज्ञान की रुचि को कम करनेवाला न हो जाए। इस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि में ही करें तथा इस धन से हमारे अन्दर उपासना की वृत्ति बढ़े, उसमें कमी न आये। एवं, धन 'ज्ञान व उपासना' का साधन बने। यह धन स्वयं साध्य बनकर ज्ञान व उपासना को समाप्त करनेवाला न हो जाए। धन को प्राप्त करके हम 'गृत्समद' बने रहें—उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा इस बात का ध्यान करे कि प्रजा में कोई भी निर्धन न हो। साथ ही धन को ही साध्य बनाकर कोई ज्ञान व उपासना को विलुप्त भी न कर दे। ऐसा व्यक्ति राष्ट्र के लिए हानिकर होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सरस्वती

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥८४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शासन किये गये सुव्यवस्थित राष्ट्र में **नः**=हमारे लिए **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **पावका**=पवित्र करनेवाली हो। हम सब ज्ञान की रुचिवाले हों। वेदवाणी को पढ़ें और यह वेदवाणी हमारे जीवनों को पवित्र कर दे। वस्तुतः ज्ञान के समान कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। २. यह ज्ञान **वाजेभिः**=शक्तियों के दृष्टिकोण से **वाजिनीवती**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो। इस ज्ञान के द्वारा उत्तम अन्नों का उत्पादन करके और उनका ठीक प्रयोग करके हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति को प्राप्त करनेवाले हों। इस ज्ञान से हमारे भोजन का मापक पौष्टिकता हो जाती है न कि स्वाद! ३. **धियावसुः**=(धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा—म०) ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा धन को प्राप्त करानेवाली यह सरस्वती **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् सरस्वती की कृपा से (क) हम समझदारी से कर्मों को करते हुए (ख) धनों को कमाएँ और (ग) यज्ञादि उत्तम कर्मों में उन धनों का विनियोग करें।

भावार्थ—सरस्वती, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। हमें पौष्टिक अन्नों को प्राप्त कराता है। बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए हम धनों को प्राप्त करते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृता-सुमती

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥८५॥

१. यह वेदवाणी **सूनृतानाम्**=(सु+ऊन्+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य वाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरणा देनवाली है, अर्थात् वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला

व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जो सत्य होने के साथ औरों के दु:ख को कम करनेवाली होती है तथा बड़ी मधुरता से बोली जाती है। संक्षेप में इसके बोलने का प्रकार 'सत्' होता है, सद्भाव से ही वह वचन बोला जाता है और वचन तो 'सत्' होता ही है। २. यह वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्कृष्ट मतियों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली है। इन ज्ञानवाणियों का अध्ययन करनेवाला कभी अशुभ तो सोचता ही नहीं। अध्ययनशून्य व्यक्ति दुर्मतियों का ही उत्पत्ति स्थान बन जाता है। 'नाश कैसे करना' इसी ओर उसका मस्तिष्क चलता है। स्वाध्याय सुमति का जनक होता है। ३. इस प्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता हमारे जीवनों में सुमतियों को चेताती हुई **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है, अर्थात् इस सरस्वती की आराधना की कृपा से हमारे सब कर्म यज्ञात्मक होते हैं। हमारे कर्मों में स्वार्थांश को प्रधानता नहीं मिलती।

भावार्थ—सरस्वती (क) हमारी वाणियों को सूनृत बनाती है, (ख) हमारे मनों व मस्तिष्कों में सुमति को जन्म देती है, (ग) हमारे जीवन को यज्ञरूप कर देती है।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा:**। देवता—**सरस्वती**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

सरस्वान् (महो अर्ण:)=महान् समुद्र

म॒होऽअर्ण॒: सर॑स्वती॒ प्र चे॑तयति के॒तुना॑। धियो॒ विश्वा॒ वि रा॑जति॥८६॥

१. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **महो अर्ण:**=एक महान् जल है। जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं दिखता, इसी प्रकार यह वेदवाणी भी एक महान् ज्ञान का समुद्र है। इसका भी अन्त नहीं है—**'अनन्ता वै वेदा:'**, यह उक्ति ठीक ही है। वेदज्ञान का कोई अन्त नहीं, इसीलिए इसको जितना ही मथेंगे उतना ही अधिक ज्ञान का नवनीत प्राप्त करेंगे। ३. यह वेदवाणी **केतुना**=उत्तम ज्ञान से **प्रचेतयति**=हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बनाती है। हमारा हृदयान्तरिक्ष इससे दीप्त हो उठता है। हमारे मनों में इस प्रकाश से उत्कृष्ट संकल्प उठते हैं। ३. यह वेदवाणी **विश्वा धिय:**=सब बुद्धियों को **विराजति**=(विराजयति) दीप्त करती है। यह हमें सब ज्ञानों को देती है। यह सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। मनुष्य के लिए आवश्यक सब ज्ञानों का यह प्रतिपादन करती है। सब उपादेय ज्ञान का वह कोश है। इसको प्राप्त करने की प्रबल कामना होनी चाहिए। यही सबसे उत्तम कामना है। इस कामना को करनेवाला ही इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है। वस्तुत: वेदाध्येता अमधुर इच्छा कर ही नहीं सकता।

भावार्थ—वेद ज्ञान का महान् समुद्र है। यह प्रकाश से हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बना देता है। इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा:**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**निचृद्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना

इन्द्रा या॑हि चित्रभानो सु॒ताऽइ॒मे त्वा॒यव॑:। अण्वी॑भि॒स्तना॑ पू॒तास॑:॥८७॥

१. वेदज्ञान की प्राप्ति की कामनावाला गतमन्त्र का 'मधुच्छन्दा' प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **चित्रभानो!**=चेतानेवाले (चित्+र), प्रकाशवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप मुझे प्राप्त होओ। मेरा जीवन इतना उत्तम हो कि मैं आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ। २. **इमे सुता:**=मुझमें उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **त्वायव:**=आपकी ही कामना करनेवाले हैं। इनका विषय-भोग में व्यर्थ का

अपव्यय नहीं किया जा रहा। ३. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के दृष्टिकोण से तथा **तना**=शक्तियों के विस्तार के दृष्टिकोण से **पूतासः**=पवित्र किये गये हैं, अर्थात् इन सोमकणों को मैंने वासना से अपवित्र नहीं होने दिया, चूँकि इन्हीं की रक्षा से मेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और बुद्धि सूक्ष्म बनती है और इन्हीं की रक्षा से मेरी सब शक्तियों का विस्तार होता है। ४. एवं, आपको वही प्राप्त करता है जो इन उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करता है। इनकी ऊर्ध्वगति के द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इनके सारे शरीर में व्यापन के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=मधुर इच्छावाला वह है जो प्रभु को प्राप्त करना चाहता है। इसी उद्देश्य से यह सोमकणों की रक्षा करता है, अपनी बुद्धि को तीव्र बनाता है, शक्तियों का विस्तार करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्राप्ति के पाँच उपाय

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥८८॥

१. प्रभु अपनी कामना करनेवाले जीवात्मा से कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **धिया** =बुद्धि से **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ **विप्रजूतः**=मेधावियों से अनुगत हुआ **आयाहि**=मेरे समीप आ, अर्थात् (क) यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि सदा बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले बनें। बुद्धि से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। इस बात को हम न भूलें कि मनु का यह वाक्य बिल्कुल ठीक है कि **'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'**=तर्क से अनुसन्धान करनेवाला ही धर्म को जानता है। (ख) प्रभु-प्राप्ति का दूसरा साधन यह है कि हम सदा मेधावी पुरुषों से सेवित हों। हमें मेधावियों का ही सङ्ग प्राप्त हो। २. इसके अतिरिक्त प्रभु कहते हैं कि तू **सुतावतः**=यज्ञों में सोमाभिषव करनेवाले, अर्थात् बड़े-बड़े सोमयज्ञों को करनेवाले **वाघतः**=मेधावी ऋत्विजों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों के **उप**=समीप रहनेवाला बन, अर्थात् यज्ञशील मेधावियों से किये जानेवाले स्तोत्रों को तू भी करनेवाला बन। तू भी यज्ञशील हो और प्रभु-स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम बुद्धिपूर्वक कर्म करें। २. सदा मेधावियों व ज्ञानियों का सङ्ग करें। उन्हीं से कर्मों के लिए प्रेरणा प्राप्त करें। ३. यज्ञों के करनेवाले बनें। ४. मेधावी हों। ५. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपाय-त्रयी

इन्द्रा याहि तूतुजानऽउप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥८९॥

१. गतमन्त्र के ही विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे आलस्यादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **आयाहि**=हमारे समीप आ। २. क्या करता हुआ? **तूतुजानः**=(त्वरमाणः) कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ। जीव स्वकर्म द्वारा ही प्रभु का अर्चन करता है। ३. **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले जीव! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा स्तोत्रों के समीप रहनेवाला हो, अर्थात् तू सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। यह प्रभु-स्तवन ही तेरी इन्द्रियों को विषयासक्त होने से बचाकर पवित्र रक्खेगा। ४. तू **सुते**=शरीर में सोम के उत्पादन के निमित्त **नः**=हमारे **चनः**=अन्न को **दधिष्व**=धारण कर।

प्रभु ने जीव के लिए जिन ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है, उनका बुद्धिपूर्वक प्रयोग करते हुए ही हम उस सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले बनते हैं जो सोम सुरक्षित होकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करेगा और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर अन्त में प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम (वीर्य) की रक्षा से ही हम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि १. हम शीघ्रता से कार्यों में व्यापनवाले हों। २. सदा स्तवन करते हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। ३. सोम के उत्पादन के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विसरस्वतीन्द्राः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सोम्यं-मधु-सेवन

अश्विना पिबतां मधु सरस्वत्या सजोषसा।
इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्ताᳬसोम्यं मधु॥९०॥

१. **सरस्वत्या**=ज्ञानाधिदेवता के साथ **सजोषसा**=समान प्रीतिवाले **अश्विना**=अश्वीदेव अर्थात् प्राणापान **मधु**=(मधुरस्वादं सोमम्—म०) मधुर स्वादवाले सोम का **पिबताम्**=पान करें। सोम (वीर्य) सब ओषधियों का सारभूत है। रुधिरादि क्रम से उत्पन्न यह सोम सचमुच 'मधु' है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्याय की वृत्तिवाले हों और प्राणापान के अभ्यासी हों। स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और यह सोम उसका ईंधन बनेगा। प्राणायाम से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता है। २. ऐसा होने पर यह जीव **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करता है। ३. **सुत्रामा**=यह बहुत उत्तमता से रोगों से अपना त्राण करनेवाला बनता है। ४. **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का यह विनाश करता है। ५. इसलिए जीव को चाहिए कि वह **सोम्यं मधु**=सोममय मधु का—ओषधियों के सारभूत वीर्य का, **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् सोम की रक्षा करे। इसी रक्षा पर शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य तथा मस्तिष्क की तीव्रता निर्भर करती है। एवं, सारी उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसी से अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त करना है।

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति के लिए चलनेवाला स्वाध्याय व प्राणापान की साधना के लिए होनेवाला प्राणायाम हमें सोम की रक्षा के लिए समर्थ बनाता है।

इस प्रकार यह बीसवाँ अध्याय 'मधुच्छन्दा' के मन्त्रों पर समाप्त होता है। सबसे मधुर इच्छा यही है कि मैं स्वाध्याय व प्राणायाम के द्वारा सोम का पान करनेवाला बनूँ। इस 'सोमपान' पर ही 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' निर्भर है। यही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है और सुखी जीवनवाला करता है। इसी सुखी जीवनवाले 'शुनःशेप' के मन्त्रों से अग्रिम अध्याय का प्रारम्भ होता है।

इति विंशोऽध्यायः॥